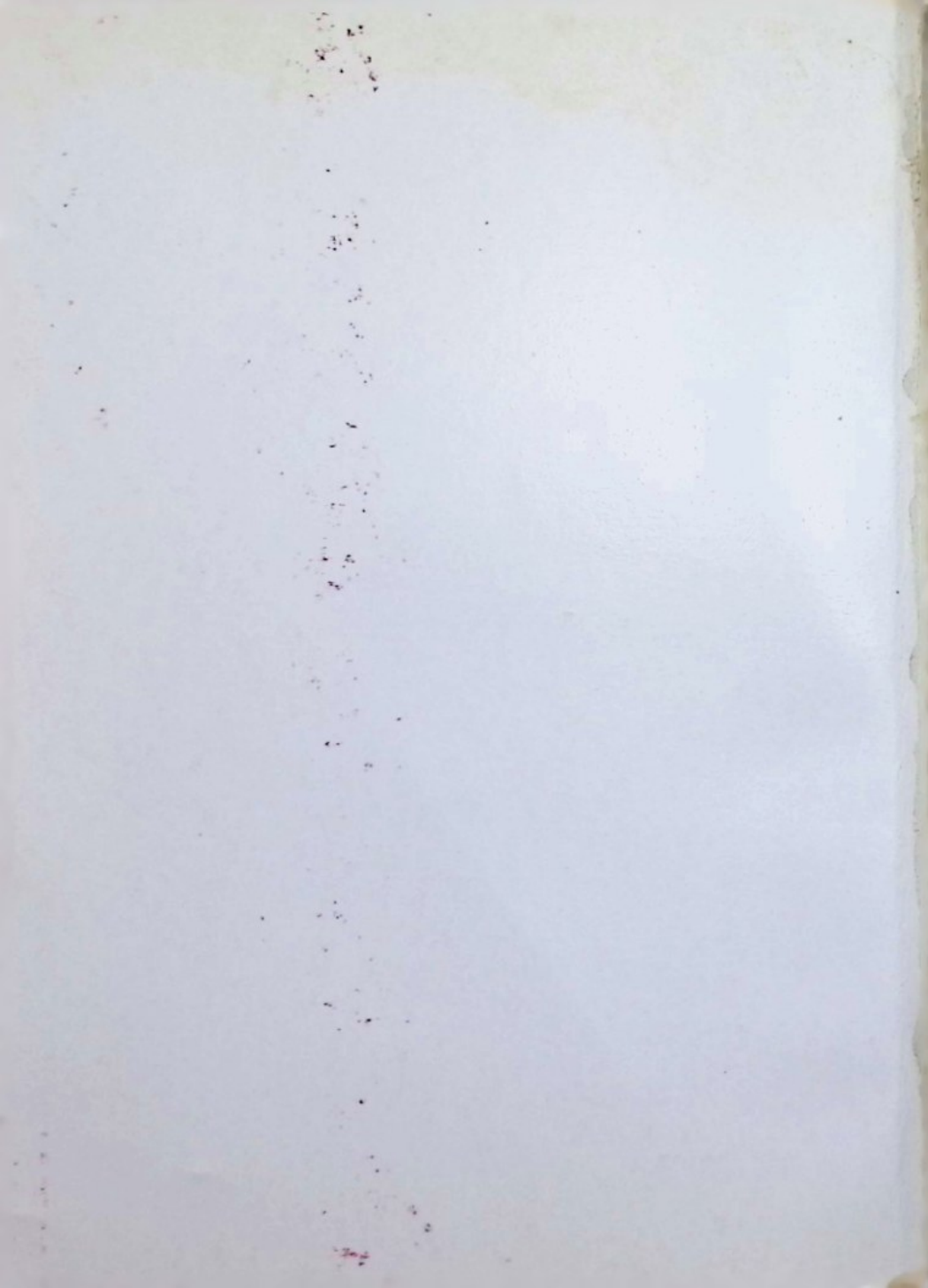


श्री श्री भक्ति रहस्य कणिका



श्रीमत् कानुप्रिय गोस्वामी



श्री श्री भक्ति रहस्य कणिका

(हिन्दी अनुवाद)

‘सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति—’

(काठके १।२।१५)

‘वेदैः सांगपद-क्रमोपनिषदै-

गायन्ति यम् सामगाः।’ (भागवत १२।१३।१)

‘वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो’ (गीता १५।१५)

गौण मुख्यवृत्ति कि अन्वय व्यतिरेके।

वेदेर प्रतिज्ञा केवल कहये कृष्ण के॥

(चरितामृत २।२०।१२८)

प्रथम संस्करण

श्री चैतन्याब्द

५१५

श्रीमत् कानुप्रिय गोस्वामी

प्रणीत

प्रकाशक :

श्री किशोर राय गोस्वामी
'श्री गौर किशोर शान्ति कुंज'
प्राचीन मायापुर
पो० नवद्वीप धाम
जिला-नदिया (पश्चिम बंगाल)

(मूल ग्रन्थकार—कर्तृक सर्व स्वत्व संरक्षित)

मूल्य : सौ रुपये मात्र

पुस्तक मिलने का पता :—

- | | |
|---|--|
| १. श्री गौर राय गोस्वामी
श्री गौर राय सेवाकुंज
प्राचीन मायापुर (दक्षिण)
पो० नवद्वीप, नदिया
(पश्चिम बंगाल) | ३. श्री शचिनन्दन दास
भक्ति भवन,
श्री शिवशंकर सहाय मार्ग
मो० मसवानी,
फतेहपुर (उ०प्र०) |
| २. श्री श्याम राय गोस्वामी
३-बी गांगुली पाड़ालेन
पाई का पाड़ा, कलकत्ता-२ | ४. श्री निमाई दास
४३ टैगोर टाउन,
इलाहाबाद (उ०प्र०) |

लेजर टाइप सेटिंग :

आनन्द क्वालिटी प्रिंटर

२/३ मलाकराज ए०डी०ए० कालोनी, इलाहाबाद, फोन ६०३४४७

मुद्रक :

जनरल आफसेट प्रिंटिंग प्रेस, नैनी, इलाहाबाद

❀ उपहार पत्र ❀

The image shows a page from an old manuscript, likely a ledger or account book, written in Devanagari script. The text is arranged in horizontal lines across the page. The handwriting is somewhat faded and the ink is dark, typical of older documents. The paper appears aged and slightly discolored. The text is organized into columns, suggesting a structured record-keeping system.

श्री गुरु गौरांगो जयतः

निवेदन

श्री श्री गौर राय महाप्रभु की प्रेरणा, शुभेच्छा और अचिन्त्य कृपा से 'श्री भक्ति रहस्य कणिका' ग्रन्थ का प्रकाश कार्य सुसम्पन्न हुआ है। इसलिये सबसे पहले उनके रातुल श्री चरणाम्बुज में सकृतज्ञ अशेष प्रणति निवेदन करता हूँ।

इस ग्रन्थ को लिखने में न तो मेरी स्पृहा थी, न मेरा आग्रह या संकल्प ही था। उन्हीं अनन्त लीलामय के किसी उद्देश्य से, जिसे मैं जानता नहीं, मैं इस ग्रन्थ के प्रकाश कार्य के लिये अप्रत्याशित रूप से ऐसे घटनाचक्र में फँसा कि उससे निकलने का कोई भी उपाय न मिल सका; किन्तु मुझ जैसे क्षुद्र और अज्ञ जीव के लिये अग्रसर होना भी यथेष्ट उद्वेग का कारण हो गया था।

विशेषतः इसकी सम्पूर्ण पाण्डुलिपि भी तैयार न हो पायी थी कि इसके मुद्रण का कार्य आरम्भ हो गया, इसलिये मुद्रण के कार्य के साथ ही साथ उनकी प्रेरणा से जो कुछ लिखा जा सका, वही छपता गया। इस तरह से यह ग्रन्थ परिसमाप्त हुआ है। जिस घटनाचक्र में फँसकर मैंने यह ग्रन्थ लिखा है, उसका विस्तारित उल्लेख अनावश्यक है।

मेरे यह कहने से कि मुझे अपने नियमित कार्य के पश्चात् ग्रन्थादि लिखने का अवसर नहीं है, काम तो चल जाता, किन्तु घटनाचक्र ऐसा था कि बाध्य होकर ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य करना अनिवार्य हो गया था। मुद्रण का कार्य साथ ही साथ चलते रहने के कारण उसे असम्पूर्ण अवस्था में छोड़ देने से भी तो काम नहीं चलता था। मैं तो इस अभिप्राय से लिखने बैठता था कि बस

इसी फर्मा में ही ग्रन्थ समाप्त कर दूँगा, किन्तु इसकी गति समाप्ति की ओर न जाकर विस्तार की ओर ही बढ़ती जान पड़ी। यह बात भी अज्ञात थी कि किस भाव में कहाँ जाकर यह पुस्तक समाप्त होगी इसलिये यह भी एक समस्या का विषय बन गया था।

नाना प्रकार की प्रतिकूलता की अवस्था में सामान्य अवसर समय देते हुए तीन वर्ष से अधिक काल तक अविरत भाव से इस कार्य में नियुक्त रहा जिससे पुस्तक के रूप में इसका प्रकाशित होना सम्भव हुआ है—दूसरों के लिये जो भी विवेचित हों, मेरे लिये तो उन करुणामय के एक प्रकार के खेल को छोड़कर और कुछ भी मानने का उपाय नहीं है।

मुझे पता नहीं है कि किस उद्देश्य से उन्होंने इस भारी बोझ को मेरे दुर्बल सिर पर लादा था परन्तु उन्हीं ने ही कृपापूर्वक सकुशल उसे उतार भी लिया है और स्वस्थिर निःश्वास लेने का अवसर दिया है। इस पवित्र भार को उठा सकने का सौभाग्य मात्र मेरो लिये आनन्द का विषय है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में इससे अधिक मेरे लिये और कुछ भी प्राप्य नहीं है।

यन्त्रचालित पुतली की तरह मुझ जैसा सब विषयों में अयोम्य और अनभिज्ञ क्षुद्र जीव इस ग्रन्थ की रचना में केवल लेखनी-धारक मात्र है, मेरा यह सुदृढ़ विश्वास है कि प्रेरक रूप में वहीं दीन वत्सल प्रभु ही इसके प्रणेता है। जो अपनी कृपा से पंगु को निर्विघ्न गिरिलंघन कराते हैं, उनकी करुणा की प्रवाहिनी प्रायः निम्नगामिनी होती है, इसलिये मुझ जैसे दीन जन के प्रति उनकी ऐसी करुणा असम्भव नहीं है।

अतएव इस पुस्तक के प्रकाशन में जिन्होंने मुझे केवल निमित्त मात्र करके स्वयं ही सब कुछ समाधान किया है; इसका समस्त कर्तृत्व उन्हीं इच्छामय का ही है। तब भी मुझ जैसे अयोम्य आधार

का अज्ञतादि-दोष इसमें संस्पृष्ट होना अस्वामिक नहीं है। सार ग्राही हंस स्वभाव; अदोषदर्शी सज्जनवृन्द कृपापूर्वक ऐसे हेयांश को वर्जन और उपेक्षा करके, गुणांश यदि कुछ है तो उसे ग्रहण करेंगे—यह विनीत प्रार्थना है।

वर्तमान समय में इस पुस्तक की कुछ प्रयोजनीयता विवेचित होगी कि नहीं अथवा यह व्यर्थता या सार्थकता वरण करेगी, इस विषय में विवेचना करने का कुछ भी सामर्थ्य मुझमें नहीं है। सहृदय चिन्ताशील सज्जन स्वयं विवेचना करके निर्धारण करेंगे। इसका विचार भार उन्हीं के ऊपर है।

इस पुस्तक का पाठ जो सज्जनवृन्द कृपापूर्वक अभिनिवेश और चिन्ता सहित करें, उन प्रत्येक की निरपेक्ष अभिमत यदि जान सकूँ तो उपकृत और अनुगृहीत दूँगा।

बंगला भाषा में रचित इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम हिन्दी भाषा में अनुवाद किया गया है। यह अनुवाद भक्ति भवन, श्री शिवशंकर सहाय मार्ग फतेहपुर निवासी श्रीयुत यदुनन्दन सहाय महोदय ने निःस्वार्थ भाव से अत्यन्त परिश्रम तथा उत्साह सहित किया है, अन्यथा मेरे लिये तो यह ग्रन्थ प्रकाशित करना सम्भव न था। अतः आपके प्रति अशेष सधन्यवाद शुभेच्छा प्रकट करता हूँ।

अन्त में सब वैष्णवगण के चरण में सकातर प्रार्थना करता हूँ कि इस व्यर्थ जीवन के अवशिष्ट कुछ दिन नामाश्रय रहकर अनर्थशून्य होकर अपने अभीष्ट भजन में नियुक्त रहूँ ऐसी इस जीवाधम पर अहैतुकी कृपा विस्तार करें। इति—

श्री धाम नवद्वीप

अक्षय तृतीया

३६शे वैशाख १३६६ साल

श्री चैतन्याब्द—४७३

श्री श्री गौर राय चरणाश्रित

दीनतिदीन

ग्रन्थकार

प्रथम संस्करण

—विज्ञप्ति—

श्री गौर राय हरि की अहैतुकी कृपा एवं साधु व सज्जन वृन्दों के आग्रह पर एवं सर्वोपरि गुरुवर श्रीमत् कानुप्रिय गोस्वामी जी के निर्देशों के अनुपालन में एवं ज्येष्ठ भ्राता श्री गौर राय गोस्वामी के आदेश पर हिन्दी भाषा में अनुवादित इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है पूर्व में हिन्दी अनुवाद में केवल ग्रन्थ का एक ही खण्ड प्रकाशित हो सका था परन्तु इस प्रथम संस्करण में सम्पूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है।

बंगला भाषा में रचित इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम अनुवाद हिन्दी भाषा में श्री यदुनन्दन सहाय ने किया था और पूर्व खण्ड भी श्री सहाय के अथक परिश्रम व भक्ति के कारण संभव हो सका था। श्री सहाय के बाद इस संस्करण को उन्हीं के द्वारा अनुवादित कार्य की सहायता से उनके दौहित्र प्रयाग निवासी श्री निमाई दास व उनके परिवार ने पूर्ण किया है।

इस प्रकाशन के कार्य में श्री यदुनन्दन सहाय के परिवार के भक्तगण श्री राजेन्द्र सहाय एडवोकेट, श्री शिवनन्दन सहाय-मुख्य महाप्रबन्धक स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, प्रो० राधिका दास, श्री प्रियरंजन-निदेशक आर्डिनेन्स फैक्टरी स्टाफ कालेज, श्री ध्रुव कुमार सिन्हा-महाप्रबन्धक टेलीफोन्स, श्री आनन्द श्रीवास्तव-उद्योगपति, श्री अनन्त जौहरी-संयुक्त कार्य पालक अधिकारी

आठ

उ०प्र० खादीबोर्ड आदि ने विशेष रुचि ली एवं सहयोग प्रदान किया है। इन भक्तगणों के परमार्थिक मंगल के लिए मैं श्री गौर राय जी के रातुल चरण कमलों में आन्तरिक प्रार्थना करता हूँ।

श्री धाम नवद्वीप

श्री गुरुदेव श्री नाम विज्ञानाचार्य

श्रीमत् कानुप्रिय गोस्वामी जी

की पच्चीसवीं पुण्य तिथि

श्रावण नवमी

चैतन्याब्द ५१५

१४०७ साल

भक्त कृपालव प्रार्थी

विनीत

प्रकाशक

समर्थन-पत्र

हिन्दी अनुवाद

(१)

लेखक—महामहोपाध्याय डाक्टर श्रील गोपीनाथ कविराज,
एम०ए०, डि०लिट्० महोदय वाराणसी।

आपका ग्रन्थ पढ़कर अत्यन्त प्रीति लाभ किया। भक्ति तत्व के सम्बन्ध में सुसम्बद्ध विस्तारित आलोचनात्मक एक ग्रन्थ के निर्माण और प्रकाशन की प्रतीक्षा बहुत दिनों से भक्त समाज कर रहा था। जगत् की वर्तमान परिस्थितियों में उसका एकान्त अभाव अनुभूत होता था। श्री भगवान ने आपको निमित्त करके यह अभाव दूर कर दिया।

इसमें आपका जो अपूर्व पांडित्य, परिश्रम, लिपिकौशल और विवेचना प्रणाली प्रदर्शित हुआ है उसके लिए आपको भूयोभूयः धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ। भक्ति और नाम-महात्म्य का प्रचार करके अपने युगोपयोगी जीव-सेवा का कार्य ही किया है। आशा करता हूँ कि आपका सुख-स्वप्न अदूर भविष्य में कार्य में परिणत होगा और श्री भगवत् प्रेम की वन्या में समग्र विश्व प्लावित होगा।

(२)

लेखक—श्री अभिराम दास शास्त्री, व्याकरणाचार्य,
साहित्याचार्य, वेदान्त शास्त्री, आदर्श श्री रामानन्द महाविद्यालय,
शंकुधारा, वाराणसी-३

बांछा कल्पतरुभ्यश्च कृपा सिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णोभ्यो नमोनमः॥

भक्ति, भक्त, भगवन्त, गुरु चतुर नाम वपु एक।

तिनके पदवन्दन किये, नाशहिं विघ्न अनेक॥

परम प्रियतम प्राणाधार श्री श्री भगवान की भक्ति के बिना प्राणी सर्वथा सुखी नहीं हो सकता। अतः मुझे परम प्रसन्नता है कि ऐसी पवित्रपावनी, भक्त मनोहारिणी, सकल सुख कारिणी श्री हरिभक्ति के प्रचार प्रसार के लिए प्रातः स्मरणीय, परमादरणीय पूज्यपाद, जीव-कल्याण परायण, भागवत शिरोमणि श्री श्रीमत् कानुप्रिय गोस्वामी जी ने बंग भाषा में “श्री भक्ति रहस्य कणिका” नामक ग्रन्थ रचकर मानव मात्र का बहुत बड़ा उपकार किया है।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रचार जन-जन में हो, ऐसी पवित्र भावना को लेकर अनुवादक महोदय ने, इन्ही नवद्वीप-निवासी स्वनामधन्य, नामविज्ञानाचार्य, अनन्त श्री विभूषित आकुमार ब्रह्मचारी सदाचार सम्पन्न गोस्वामी महाराज की कृपाशक्ति की प्रेरणा से, राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस पावन ग्रन्थ का अनुवाद करके ‘सोने में सोहागा’—इस युक्ति से सार्थक कर दिया है। इस अनुवाद में विशेषतः यह है कि इसमें ग्रन्थकार की लिखने की सुन्दर और चित्त आकर्षक शैली ज्यों की त्यों सुरक्षित है।

मैंने इस ग्रन्थ को और उपरोक्त गोस्वामी महाराज-प्रणीत दूसरी पुस्तक “श्री श्री नामचिन्तामणि” को जो बंग भाषा में है आद्योपान्त पढ़ा। पढ़ने से मुझे बड़ी शान्ति मिली है।

अन्त में शरणागत प्रतिपालक श्री सीता-नयन-चकोर-चन्द्र भगवान् श्री रामचन्द्र जी से प्रार्थना करता हूँ कि इस अनुपम ग्रन्थ के पठन-और मनन से जन-जन में श्री हरिभक्तिभाव का उदय हो।

॥ इति ॥

ग्यारह

॥ श्री हरिः ॥

उत्सर्ग पत्र

कलियुग पावनावतारी

‘आद्य हरि’

श्री श्री मन्महाप्रभू श्री कृष्ण चैतन्य चन्द्र प्रभु
श्रीमन् नित्यानन्दचन्द्र, प्रभु श्रीमदद्वैतचन्द्र

—त्रयी निगूढ़ तम—

मूर्ति मन्त प्रेमे सुधाकर त्रय

यह क्षुद्र

श्री भक्ति रहस्य-कणिका

निवेदनपूर्वक, वही प्रसादी निर्माल्य

श्री गौरचन्द्र चरण चन्द्रिकानुभर—सुधापायी

चकोर निकर—नित्य परिकर गण के

पवित्र स्मृति उद्देश्य से

और

कलिहत जगत के प्रति उनकी कृपाशीर्वादरूप अमृतवर्षन

कामना से इस अकिंचन दीन हीन कर्तक

समर्पित है।

जय जय श्री चैतन्य जय नित्यानन्द।

जयाद्वैत चन्द्र जय गौर भक्त वृन्द॥

॥ श्री हरिः ॥

उद्भाषन सूची

पृष्ठ

- १। शास्त्र के विचार से श्रीमद्भक्ति की सर्वमुख्यता,
सर्वात्मकता और सार्वत्रिकता १
- २। आनन्द के विचार से वृत्तिरूपा भक्ति की सर्वानन्दता
और परमानन्दता
- ३। कर्म व धर्म विषयक विचार से भक्ति की सर्वधर्मता
और परमधर्मता
- ४। देवता या उपास्य के विचार से श्री कृष्ण का
सर्वदेवत्व, परमदेवत्व एवं सर्वेश्वरत्व
- ५। ब्रह्म के विचार से श्री कृष्ण का पूर्ण ब्रह्मत्व,
निर्विशेष ब्रह्म का आश्रयत्व और श्रुति में कहे गये
ब्रह्म के सब लक्षणों का मुख्यतात्पर्य परोक्ष भाव से
ही कृष्ण में ही पर्यवसित
- ६। श्री भगवत् स्वरूप के विचार से श्री कृष्ण की ही
स्वरूपता या स्वयं भगवत्ता
- ७। उपासक के विचार से भगवत्भक्त या सर्वमूल
श्री कृष्ण के भक्त का मुख्यत्व
- ८। उपासना के विचार से सब वेदों की प्रच्छन्न भागवत् धर्मता
या श्रीभागवत् धर्म की ही एक मुख्यता
- ९। युगधर्म के विचार श्री कृष्ण चैतन्य प्रकटित कलियुग

तेरह

में सुदुर्लभ भक्ति की सहजलभ्यता रूप समुज्ज्वल
वैशिष्ट्य

- १०। वर्तमान युग में प्रेमोदय के परम कारण श्रीनाम' का
ही सारे भजनांग के अंगीरूप की एक मुख्यता और
सर्वश्रेष्ठता
परिशिष्ट

विषय सूची

प्रथम उद्भाषन

शास्त्र के विचार से श्रीमद्भक्ति की

सर्वमुख्यता, सर्वात्मकता और सार्वत्रिकता।

१-६३ पृष्ठ

विषय—प्रमाणों से शास्त्र प्रमाण ही सर्वश्रेष्ठ (पृष्ठांक—३) सब शास्त्रों का एक स्वर-एक तात्पर्य (५) त्रिगुण का तारतम्य ही जीव प्रकृति के पार्थक्य का कारण (६) जीव के स्वभाव की भिन्नता के अनुसार समस्त वेद विभक्त होने पर भी भक्ति ही सब वेदों का मुख्य तात्पर्य (८) अपरा और परा विद्या या परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान (१०) एक अद्वय ज्ञान का त्रिविध प्रकाश (११) स्व प्रकाश शुद्धा भक्ति या भागवत धर्म ही समस्त वेद वृक्ष का मुख्य फल (१२) शुद्धा भक्ति की सुदुर्लभता (१६) परतत्त्व की परिपूर्ण अनुभूति केवल शुद्धाभक्ति द्वारा ही साधित होती है (२०) भक्ति या मुख्य प्रयोजन के विषय में श्रद्धा के अभाव के समय ही गौण प्रयोजन की व्यवस्था (२२) मुख्य प्रयोजन के आनुगत्य में ही, अधिकार या श्रद्धानुरूप स्वधर्म का अनुष्ठान करना ही वेदादि शास्त्र का विधान (२४) मुख्य प्रयोजन की अवज्ञा या उसे अस्वीकार करने से किसी भी मंगल लाभ की सम्भावना नहीं (२५) भक्ति सम्बन्ध वर्जित कर्म ज्ञानादि का अनादर (२८) भक्ति ही सर्व शास्त्र वन्दनीया

और सर्व निरपेक्ष साधन (३२) भक्ति या भागवत धर्म ही सर्वगुह्यतम विद्या (३३) एक मात्र भक्ति के उदय होने से ही समस्त विधि निषेध का बन्धन टूट जाता है (३४) मुख्य या परमधर्म भक्ति के संयोग और वियोग के अनुसार ही समस्त धर्माधर्म का विचार (३६) भारतीय आचार्यगण सभी भक्ति के शरणार्थी थे (३८) ज्ञानी गुरु और योगेश्वर का भी भक्ति का आनुगत्य (४०) समस्त वेद जिनसे निकले हैं उन सर्वादिकारण श्री भगवान के अतिरिक्त वेद का यथार्थ अभिप्राय दूसरे किसी को भी ज्ञात होना सम्भव नहीं (४२) निःश्वास ध्वनि से श्री मुख की वाणी सुस्पष्ट होती है। "गीता" उन श्री भगवान की सुस्पष्ट वाणी और वेद का संक्षिप्त सारार्थ है (४३) सब वेदों में उन श्री भगवान का और उनकी अनुशीलता रूपा भक्ति का ही कीर्तन किये जाने पर भी, अस्पष्ट वेद ध्वनि से यह सब कुछ भी समझ में नहीं आता; गीता शास्त्र के बिना, जो वेद की सारार्थ है और भगवद्वाणी है (४४) गीतोक्त साक्षात् श्री भगवत्वाणी से ही सब वेदों के अस्पष्ट और परोक्षवाद से ढके समस्त अभिप्राय की यथार्थ उपलब्धि (४६) कर्मकाण्ड का निगूढ़ और यथार्थ अर्थ-श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण भक्ति; बाह्य अर्थ-कर्म और यज्ञादि (४७) देवता काण्ड का निगूढ़ और यथार्थ अर्थ-श्रीकृष्ण और उनकी आराधना या भक्ति; बाह्यार्थ-इन्द्रादि देवता और उनकी आराधना (४८) इन्द्रादि देवता वाचक सांकेतिक शब्दों से परमात्म वस्तु को ही निर्देश किया गया है। इसका बाह्यार्थ वही देवता विशेष (५०) सर्वान्तर्यामी

परमात्मा के श्रीकृष्ण ही परमावस्था (५१) ज्ञान काण्ड में वर्णित 'ब्रह्म' शब्द की मुख्याकृति श्री कृष्ण ही हैं। वही निर्विशेष ब्रह्म के प्रतिष्ठा या घनीभूत समूर्त ब्रह्म हैं (५२) सब वेदों के विस्तारार्थ भागवत में भी उन स्वयं भगवान के मुखवाणी द्वारा उक्त, अभिप्राय ही ऊँचे स्वर से जगत से विघोषित (५३) विद्वानों के अनुभव के प्रमाण से भी (५५) सिद्ध भक्तों के अपरोक्ष अनुभव से भी (५६) वेद विहित दूसरे सभी साधन भी भक्ति विशेष या भक्ति के प्रकार भेद (५७) वेद विहित दूसरे सभी साधनों के साधक लोग भक्ति विशेष (५८) बहुत प्रकार की भक्ति में से सत्त्वादि गुणों के भेद से त्रिविधा और निर्गुण या शुद्धा-इन चार प्रकार की भक्ति के विषय में शास्त्रोक्ति (६०) शुद्धा भक्ति ही सर्वोपरि अव्यर्थ और अचिन्त्य महिमा में महिमाम्विता (६२)

द्वितीय उद्भाषन

आनन्द के विचार से वृत्ति रूपा भक्ति की सर्वानन्दता और परमानन्दता।

६४-१०१ पृष्ठ

विषय—श्री भगवान की स्वभाविकी शक्तित्रय—अन्तरंग, तटस्था और बहुरंगा या स्वरूप वैभव, जीव वैभव, और माया वैभव (६४) आनन्दिनी शक्ति का विशुद्ध और विमिश्र स्वरूप भेद (६७) सुख और सुखाभास (६८) भाव-रस-आनन्द का परस्पर निरवच्छिन्न सम्बन्ध (७१) आनन्द की वृत्ति या सुखास्वादन का उपाय ही है भक्ति; भाव या प्रियता (७३)

सुख का विषय और आश्रय विद्यमान रहने पर भी भाव या प्रियता के अभाव से सुखास्वाद-असम्भव (७४) विषय के भेद से 'भाव' या 'वृत्ति' की भिन्नता (७५) जो विषय जिसको प्रिय है, वह उस विषय का 'भक्त' है अतएव प्रियता ही भक्ति का नामान्तर है (७७) सर्वमूल होने के कारण, भगवत् सम्बन्ध में ही भक्ति और भक्त नाम की प्रकृष्ट और परिपूर्ण सार्थकता (७७) प्राकृत भक्ति और आप्राकृत-निर्गुण भक्ति का पार्थक्य (७८) रस-आनन्द का मूल या आश्रय (८२) आनन्द की घनीभूत या समूर्त अवस्था ही रस है, सच्चिदानन्द घनमूर्ति रसराज श्रीकृष्ण ही सब रसों के मूल या आदि कारण हैं (८३) पूर्ववर्णित विषय का सारमर्म (८५) आप्राकृत शुद्धा भक्ति या 'भागवतीवृत्ति' और 'मायिकी भक्ति' या 'वैषयिकी वृत्ति' इन दोनों में कार्यतः एकता है किन्तु स्वरूपता पृथक् वस्तु है (८६) भगवद्वशी कार हेतुभूता शुद्धा भक्ति का स्वरूप निर्णय (८८) स्वरूपशक्ति के अन्तर्गत भक्ति निर्झरिणी निर्गुणा सगुणा दो पृथक् धारा से विश्व प्रपंच में नित्य प्रवाहिता (९०) जीव पूर्णानन्द से प्रादुर्भूत होने के कारण निरन्तर पूर्णानन्द के ही अन्वेषण में तत्पर (९३) भूमानन्द और अल्प अर्थात् परिछिन्न और क्षयशील विषयानन्द या वैषयिक सुख में पार्थक्य (९४) माया बद्ध जीव की दुःख निवृत्ति और सुख प्राप्ति के लिये ही सारी चेष्टा (९५) ब्रह्माण्ड के मायिक सुख का तारतम्य (९६) रसलोक या कृष्ण लोक ही निखिल 'रस', 'भाव' और आनन्द का सर्वमूल केन्द्रस्थल (९८) आनन्द की वृत्ति या भक्ति ही

रसास्वादन का उपाय (१००) शुद्धाभक्ति या भागवती
वृत्ति ही सर्वभक्ति का मूल या केन्द्र स्थल (१०१)

तृतीय उद्भाषन

कर्म और धर्म विषयक विचार से
भक्ति की सर्वधर्मता और परम धर्मता
प्रतिपादित होगी।

१०२-१४६ पृष्ठ

विषय—अस्थिर व संचल जगत, गति की मूर्ति (१०२) स्थिर वस्तु
होकर भी जीव के अस्थिर होने का कारण ; वासना और
कर्म चांचल्यरूप में ही जीव में गति का प्रकाश (१०२)
परमानन्द रूप परम स्थिरता या प्रकृष्ट स्थिति को प्राप्त
होना ही जीव की सभी गति का उद्देश्य (१०४)
शुद्धाभक्ति, प्रेम और परमानन्द का साक्षात्कार पृथक् वस्तु
नहीं; एक ही का क्रमिक उदय (१०५) जीव की गति
ऊर्ध्वस्त्रोतस्विनी या 'धर्म' और अधः प्रवाहिनी या 'अधर्म'
भेद से दो प्रकार की है; धर्म द्वारा जीव अधःपतन से धृत
होकर क्रम से ऊर्ध्व गति लाभ करता है; और अधर्म द्वारा
जीव अधोगति को प्राप्त होता है। भक्ति के बिना जीव की
गति या चांचल्य का विराम नहीं (१०६) एकमात्र भक्ति
को छोड़कर दूसरे किसी धर्म से परम स्थिति को प्राप्त नहीं
किया जा सकता (१०८) भक्ति की स्वप्रकाशता और
सुदुर्बोधता ही जन साधारण की स्वाभाविकी श्रद्धानुरूप
दूसरे धर्म में प्रवृत्ति का कारण (१०९) भक्ति या आत्मिक
धर्म की एक मुख्यता सारे दैहिक धर्मों में विभिन्नता

(१११) जीव की थोड़ी बहुत अधोगति रोकने के लिये ही शास्त्र द्वारा लाचारी में अन्य धर्म की व्यवस्था (११२) अन्य धर्म का अनुष्ठान भी थोड़ा बहुत सहज लभ्य सगुणा भक्ति के सहयोग से अनुष्ठित होने का निर्देश (११४) श्री भगवत् सम्बन्ध का संयोग ही सर्वसिद्धि का कारण (११५) बिना भक्ति की सहयोगिता के-कर्म ज्ञानादि सभी साधनों की विफलता निर्देश (११७) भक्ति ही जीव का परम धर्म या मुख्य प्रयोजन (११८) ज्ञान के पथ से भी जीव का प्रकृष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होता (११९) योगीगण भी भक्ति सुख में आकृष्ट होते हैं (१२०) ज्ञान और योग की उपेक्षा भक्त ही कर सकता है (१२१) अधः प्रवाहिनी गति का अनुगमन ही जीव का अधर्म (१२२) अधिकारी भेद से 'धर्म', 'स्वधर्म' और 'अधर्म'-इनकी विभिन्नता (१२३) गुणदोष के दर्शन की त्रिविध दृष्टि वैशिष्ट्य (१२५) शास्त्रोक्त विधि निषेध का पालन ही यथाक्रम से जीव के अशेष कल्याण का प्रवर्तक और अशेष अकल्याण का निवर्तक (१२८) जिसके सम्बन्ध के संयोग और वियोग से दूसरे सभी धर्म सिद्ध और असिद्ध होते हैं। वही स्वयं सिद्धा भक्ति ही जीव का परमधर्म है (१२९) यहाँ तक कि आलोचना का सारमर्म (१३०) धेनु (दुधारू गाय) दृष्टान्त (१३२) गोपाल नन्दन श्रीकृष्ण ही सर्वोत्तम सुनिपुण दोहन कर्त्ता। उननिषत् रूप गाय निःसारित वही दूध धारा ही गीतामृत (१३२) श्री गीता ही अव्यक्त और निगूढ़ निगम तात्पर्य का सुव्यक्त सारार्थ। समस्त गीता का भक्ति परता (१३३) 'केवला' और 'प्रधानीभूता' भक्ति ही भक्तियोग

के अन्तर्भुक्त (१३५) अन्तर्निहित प्राणधारा की तरह भक्ति ही समस्त सिद्धि की जीवन दायिनी (१३५) कर्म ज्ञानादि का भक्ति की मुखापेक्षिता (१३६) समस्त गीता का निचोड़ा सार मर्म कथा (१३८) बाह्य दृष्टि में कर्मकाण्ड के साथ भक्ति का संयोग और सम्मिश्रण दिखाई नहीं देता (१३९) वेदोक्त यज्ञकर्मादि के प्रधान ऋत्विक् 'ब्रह्मा' द्वारा सुकौशल से यज्ञादि के साथ भगवत् सम्बन्ध की संयोग व्यवस्था (१३९) वेदविहित समस्त अनुष्ठान ही ब्रह्म वाचक प्रणव के उच्चारण से अनुष्ठित होने की व्यवस्था। निर्विशेष प्रणव और सविशेष भगवन्नाम की अभिन्नता (१४०) अस्पष्ट वेदोक्त यज्ञादि कर्मों के त्रुटि आदि दोष निवारणार्थ प्रणवोच्चारण का सुस्पष्ट अर्थ—श्री भागवत् में प्रकाश। वह है सर्वश्रेष्ठ भक्त्यंग श्रीनाम संकीर्तन की ही व्यवस्था (१४१) वेदोक्त 'यज्ञ' और यज्ञानुष्ठानादि का निगूढ़ अर्थ ही है—श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णानुशील रूपा भक्ति (१४३)

चतुर्थ उद्भाषन

देवता या उपास्य के विचार से

श्री कृष्ण का ही सर्वदेवत्व व परम

देवत्व और सर्वेश्वरत्व ।

१५०-२२६ पृष्ठ

विषय—श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण भक्ति और श्रीकृष्ण भक्त—सर्वोपरि इन तीन की विजयवार्ता 'त्रयी' या 'वेद' का मुख्य तात्पर्य (१५०) परस्पर निरवच्छिन्न और नित्य सम्बन्ध से उक्त

तीनों ही एक और एक ही तीन (१५०) सब वेद किसके निःश्वास से प्रादुर्भूत-अस्पष्ट वेद से यह सुस्पष्ट रूप से नहीं जाना सकता—उनके सार रूप और गीता और विस्तारार्थ भागवत की सहायता के बिना (१५२) अवतारी श्रीकृष्ण और उनके सब अवतारों अंशी और अंशरूप से अभिन्न और एकात्म सम्बन्ध (१५४) परमेश्वर से प्रथम प्रादुर्भूत वेद के अस्पष्टता की बात और पश्चात् में देव और ऋषियों द्वारा सुसंस्कृत करने की बात वेदों की निजोक्ति से भी जानी जाती है (१५५) देवता और ऋषिगण कोई भी वेद के प्रणेता नहीं हैं—सभी स्मारक मात्र (१५६) अस्पष्ट सभी वेदों को मनुष्यों के बोधोपयोगी कुछ सुस्पष्ट किये जाने पर भी उनको फिर परोक्षवाद में आच्छादित कर दिया गया (१५७) श्रीकृष्ण और तदात्मक धर्म या भागवत धर्म ही सब वेदों की सर्वसार सम्पन्न होने पर भी परोक्षता के आवरण के कारण वाह्यदृष्टि द्वारा यह समझ में नहीं आता है (१५८) साक्षात् वेद वाक्य से ही उक्त परम सत्य का कहीं तो अल्प कहीं सुस्पष्ट प्रकाश दिखाई देता है (१६०) वेदोक्त वही अस्पष्ट परमात्म वस्तु ही श्रीकृष्ण है—उसके विशदार्थ श्री भागवत से ही यह बात सुस्पष्ट रूप में विदित हो जायेगी (१६१) वेदोक्त सभी देवता परव्योमाधीश किसी एक देवता के आश्रित है—श्रुति में भी इस बात का सुस्पष्ट उल्लेख है (१६३) श्रुति विशेष में सुस्पष्ट रूप से श्रीकृष्ण को ही वही परम देवता कहकर निर्देश किया गया है (१६४) श्रीकृष्ण परोक्षप्रिय होने के

कारण सभी श्रुतियों ने प्रायशः स्वरूप लक्षण से निर्देश न करके किंचित आवरणपूर्वक तटस्थ लक्षण से अर्थात् केवल कार्यद्वारा उनका परिचय दिया है (१६५) अनावृत वेद स्वरूप श्री भागवत द्वारा उनको सुस्पष्ट स्वरूप-लक्षण से निर्देश (१६७) श्रीकृष्ण ही ब्रह्म के सृष्टाव उपदेष्टा (१६८) वेद और भागवत की एकार्थ वाचकता (१६९) परोक्षवाद में आच्छादित भागवत ही 'वेद' से और अनाच्छादित वेद ही 'भागवत' नाम से ही कथित होते हैं (१७०) वेदादि सभी शास्त्रों में 'विष्णु' शब्द से श्रीकृष्ण को ही निर्देश (१७२) श्रीकृष्ण ही 'विष्णु' या सर्वव्यापक परम देवता है, इसलिये वेदादि शास्त्र में विष्णु का ही प्राधान्य कीर्तित हुआ है (१७४) वेदादि शास्त्र वर्णित 'विष्णु' परोक्षप्रिय श्रीकृष्ण का ही सांकेतिक नाम है—वेद के विस्तारार्थ श्री भागवत ने यह बात सुस्पष्ट रूप से विदित कर दी ही है (१७५) श्रीकृष्ण ही हैं—सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक विष्णु तत्त्व के लीलायित और सुस्पष्ट-समूर्त स्वरूप (१७६) श्रुति में परमात्मा द्वारा आलिंगन सुख की बात जो अस्पष्ट भाव से उक्त हुई है—श्री भागवत वर्णित रासलीला में उसके ही सुस्पष्ट-समूर्त अर्थ की अभिव्यक्ति (१७७) परमात्मा के आलिंगन सुख की पूर्ण अनुभूति भक्तों का ही प्राप्य विषय है और परिपूर्ण अनुभूति ब्रज के रागात्मिका और उनके अनुगत भक्तों को ही होती है; यह दूषण नहीं है बल्कि उसे अनिवर्चनीय भाग्य सापेक्ष जीवात्मा के लिये परमभूषण स्वरूप ही जानना चाहिये (१७८) वेदोक्त

समस्त देवता काण्ड का निगूढ़ मर्म और सारार्थ है—उन्हीं परम देवता स्वयं श्री भगवत द्वारा गीता में यह बात उनके मुख द्वारा प्रकाश (१७६) श्रीकृष्ण केवल सब यज्ञों के भोक्ता व फलदाता हैं— अन्य देवोपासकों के उपास्य देवता के प्रति श्रद्धा दाता भी वही हैं (१८१) सकाम भाव से होने पर भी श्रीकृष्ण की उपासना और श्रीकृष्ण से पृथक् बुद्धि से सकाम भाव से अन्य देवताओं की उपासना के फल में असमानता (१८२) श्रीकृष्ण की आराधना का और श्रीकृष्ण से स्वतन्त्र मननपूर्वक अन्य देव आराधना का यथाक्रम से नित्य, अनित्य फल में असमानता (१८४) श्रीकृष्ण चन्द्र ही सब वेदों के मुख्य तात्पर्य होने पर भी उनके परोक्षप्रिय होने के कारण परोक्षवाद रूप मेघमाला में उन्हें गुप्त रखने का प्रयास (१८६) उक्त वेद मंत्र का सुस्पष्ट और सारार्थ गीता में प्रकाश (१८८) परोक्षवाद में आच्छादित सभी वेदों का अर्थ केवल भागवतों के शुद्ध दृष्टि के सामने स्वयं ही खुल जाता है (१८६) 'सर्व' या सभी श्रीकृष्ण (१९०) 'सर्वमूल' होने के कारण, एक मात्र श्रीकृष्ण भजन से ही सर्वाराधना सुसिद्ध होती है (१९२) सर्वकारण होने से एक मात्र श्रीकृष्ण के प्रसन्नता से ही सर्व अनुकूल्य प्राप्त हो जाता है (१९२) श्रीकृष्ण ही परम उपास्य हैं इसलिये श्रीकृष्ण भजन प्रवृत्ति के उदय न होने तक ही दूसरे भजन की खोज रहती है (१९३) श्रीकृष्ण का परम देवत्व और सर्वेश्वरत्व सर्वशास्त्र सम्मत (१९४) श्रीकृष्ण सम्बन्ध वर्जित उपासना मात्र ही दैव बिडम्बना

(१६५) दूसरे देवताओं को श्रीकृष्ण के समान समझने में भी अपराध (१६६) श्रीकृष्ण के साथ ब्रह्मा रुद्र के समता के सम्बन्ध में समाधान (१६७) कार्यकारण की अभिन्नता अथवा प्रियता के सम्बन्ध से ही श्रीकृष्ण के साथ ब्रह्मा रुद्र की अभिन्नता तत्त्वतः भिन्नता या वैशिष्ट्य (१६८) यही कारण है कि पूर्वाचार्य श्री सनकादि मुनियों की श्री हरि भजन में प्रवृत्ति (२०१) श्री हरि के साथ तत्त्वतः ब्रह्मा रुद्रादि को बराबर समझना ही अपराध (२०२) श्रीकृष्ण का ही सर्वेश्वरत्व और सर्वसेव्यत्व शास्त्र प्रसिद्ध (२०२) श्रीकृष्ण ही 'वासुदेव' होने के कारण वेद की वासुदेव परता का अर्थ मूलतः श्रीकृष्ण परता (२०६) श्रीकृष्ण ही 'नारायण' होने के कारण वेद का नारायण परता का अर्थ मूलतः श्रीकृष्ण परता (२०७) तीन अवतार और महावैकुण्ठपति नारायण यह चार मूर्तियाँ 'नारायण' नाम से प्रसिद्ध हैं; श्रीकृष्ण ही उन सबके मूल कारण होने से वही हैं 'मूल नारायण' (२०८) विद्वदनुभव के प्रमाण से भी श्रीकृष्ण ही आदि पुरुषावतार और आद्यनारायण ही प्रमाणित (२०९) श्रीकृष्ण ही अक्षर ब्रह्म का परमावस्था या पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध (२१०) श्रीकृष्ण को सर्वश्रेष्ठ समझ जाना ही पराविद्या की परमावस्था (२११) ज्ञान शब्द से भक्ति पर्यन्त समझना चाहिए (२१२) जिन्हें श्रीकृष्ण के सर्वश्रेष्ठता का ज्ञान है वे ही 'सर्वज्ञ' हैं। उनके अतिरिक्त वेदादि शास्त्रज्ञ होने पर भी असर्वज्ञ है (२१३) 'परावर' शब्द के आवरण में श्रीकृष्ण को वेद में गुप्त रखा

जाने पर भी, अनावृत वेद श्री भागवत से उनका सुस्पष्ट प्रकाश (२१४) अतएव श्रीकृष्ण और उनका नाम प्रधान भक्ति ही वेदादि शास्त्रों का मुख्य तात्पर्य है यह सर्वभाव से निश्चित होता है (२१६) परत्तत्त्व विषयक समस्त शास्त्रीय प्रमाण श्रीमद्भुज द्वारा श्रीकृष्ण में प्रत्यक्ष देखे गये (२१६) साधारणतः श्रीकृष्ण की श्रेष्ठता का ज्ञान और उनकी आराधना में प्रवृत्ति न होने का कारण—उस विषय में प्रमाण का अभाव नहीं किन्तु उस विषय की निर्गुणा भागवती-श्रद्धा का अभाव है (२२२) जीव की स्वाभाविकी सगुणा श्रद्धा वशतः सगुण उपासना में और निर्गुणा श्रद्धा के उदय होने से निर्गुण भगवदाराधना में प्रवृत्ति (२२२) शास्त्राविद न होने पर भी भागवत विषय में प्रवृत्ति और शास्त्रविद होने पर भी अप्रवृत्ति का कारण—निर्गुणा भागवती श्रद्धा का उदय और अनुदय (२२४) श्री भगवान् एकमात्र 'भक्ति ग्राह्य' होने के कारण अपना तत्त्व व महिमादि स्वयं जगत के सामने प्रकाश करने पर भी वह केवल भक्त के अतिरिक्त किसी दूसरे के ग्राह्य विषय नहीं होते (२२४) त्रयी निहित उक्त परम निगूढ़ त्रितत्त्व का अलग-अलग शरीर प्रपञ्च में आविर्भाव ही है—'श्रीकृष्ण लीला' (२२६) श्रीकृष्ण के विषय में प्रकृष्ट चैतन्य व उनकी विषयाभक्ति प्रदान के निमित्त— उक्त त्रितत्त्व का एकीभूत रूप से जगत में आविर्भाव ही है—'गौर लीला' (२२७) चतुःश्लोकी (२२६)

पंचम उद्भाषन

ब्रह्म के विचार से श्रीकृष्ण का पूर्ण ब्रम्हत्व,
निर्विशेष ब्रह्म का आश्रयत्व और श्रुतिउक्त
सभी ब्रह्म लक्षणों का मुख्य तात्पर्य परोक्षभाव
से श्रीकृष्ण में ही पर्यवसित—
यही प्रतिपादित होगा।

२३०-३०६ पृष्ठ

विषय—अचिंत्य विरुद्धाविरुद्ध धर्माश्रय या सर्वशक्ति मत ब्रह्म ही
श्रुति प्रतिपाद्य ब्रह्म वस्तु (२३०) द्रव्य गुण व कर्म के
अनुसार शक्ति कार्य की त्रिविध अभिव्यक्ति का ही नाम
'भाव' या 'धर्म' है (२३१) अपने-अपने अविरुद्ध व विरुद्ध
भाव के साथ उक्त द्रव्य गुण व कर्म की ही समूर्त अवस्था
है—लौकिकालौकिक निखिल विश्व संसार (२३१) 'तटस्थ'
व 'स्वरूप'—इन दोनों लक्षणों से ब्रह्मवस्तु श्रुतियों में
निरूपित हुआ है (२३२) उक्त अविरुद्ध व विरुद्ध धर्म
का युगपत प्रकाश व अप्रकाश सामर्थ्य ही सर्वशक्तिमत्ता
की परिचायक है किन्तु केवल एक पक्षीय धर्म का प्रकाश
का सामर्थ्य नहीं (२३३) ब्रह्म के शक्तिगत अचिंत्य
विरुद्धाविरुद्ध धर्म के अतिरिक्त केवल अविरुद्ध अर्थात्
केवल सर्वकल्याणमय स्वरूपगत धर्म विशिष्ट ब्रह्म वस्तु ही
श्रुतियों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है; वही परोक्षवाद में
आच्छादित सर्वमूल-श्री कृष्ण है (२३४) सभी श्रुतियों ने
नाना भाव से वर्णित सभी तटस्थ लक्षणों का युगपत संयुक्त
व समन्वित भाव ही होता है—शक्ति व शक्तिमत ब्रह्म में

अचिन्त्य भेदाभेद लक्षण (२३५) ब्रह्म के स्वरूप धर्म में और धर्मी में अभेद लक्षण अर्थात् स्वरूपगत—रूप—गुणादि स्वरूप से सम्पूर्ण अभिन्न तत्त्व है और यह स्वरूप लक्षण ही है और भी परम अचिन्त्य लक्षण (२३७) श्रुति वर्णित ब्रह्म वस्तु के तटस्थ और स्वरूप लक्षणों का यथाक्रम से दृष्टान्त प्रदर्शन (२३७) समस्त विरुद्धाविरुद्ध धर्म का युगपत प्रकाश व अप्रकाश सामर्थ्य को छोड़कर ब्रह्म की सर्वशक्तिमता या सर्वसक्षमता सिद्ध नहीं होती (२४०) एक ही समय में इस प्रकार प्रकाश व अप्रकाश सामर्थ्ययुक्त विरुद्धाविरुद्ध धर्म का आश्रयत्व ही है सर्वशक्तिमता का और सर्वसक्षमता का प्रकृष्ट परिचायक और इसी का ही नाम है अचिन्त्य लक्षण (२४१) पूर्वोक्त १-४ संख्यक लक्षणों के सदृष्टान्त का पुनरुल्लेख और अद्भुततत्त्व और अचिन्त्यत्व में पार्थक्य निर्णय (२४२) ब्रह्म सामर्थ्य स्वभावतः ही हम लोगों के वाक्य व मन के अतीत सीमा में अवस्थित होने के कारण अचिन्त्य विषय है तब भी यथेष्ट रूप में शास्त्र प्रतिपाद्य और पूर्णरूप से भक्ति ग्राह्य है (२४३) अचिन्त्य ब्रह्म लक्षण जीव के वाक्य व मन के अतीत होने से भी वह शास्त्र वाच्य व शास्त्र वेद्य है (२४४) अधिकारानुसार एक ही तत्त्व वस्तु का त्रिविध प्रकाश—ब्रह्म, परमात्मा और श्री भगवान् (२४६) श्री भगवत् स्वरूप एकमात्र भक्ति ग्राह्य वस्तु (२४७) वाणी और मन जिन्हें पाकर लौट आते हैं—इस ढके हुए श्रुतिवाक्य का निगूढ़ तात्पर्य है—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण (२४७) एक ही साथ केवल विरुद्धा धर्म का आश्रय

होना ही अचिन्त्य नहीं है, ऐसा होकर भी फिर एक ही समय में न होने का सामर्थ्य रखना ही यथार्थ अचिन्त्य लक्षण है (२४८) शक्ति और शक्तिमत सम्बन्धीय भेदाभेद सिद्धान्त में और अचिन्त्य भेदाभेदवाद में ही सभी श्रुति वाक्य का समन्वय और परिपूर्ण ब्रह्म लक्षण का प्रकाश (२४९) श्रुत्युक्त सर्वधर्माश्रय ब्रह्म वस्तु ही श्री भगवत्तत्त्व है। श्रीकृष्ण ही भगवत्तत्त्व की परमावस्था या स्वयं भगवान है (२५२) सर्वधर्म युक्त ब्रह्म वस्तु के विषय में सभी मतवाद की आंशिक सत्यता (२५३) विरुद्धाविरुद्ध सर्वधर्मयुक्त ब्रह्म लक्षण के विषय में विभिन्न मतवादियों का वाद प्रतिवाद द्वारा निकला कोलाहल ही अचिन्त्य सर्वशक्तिमत श्री भगवत् महिमा का उपयुक्त परिचय (२५३) श्रुति द्वारा स्वरूप लक्षण से निर्देश्य ब्रह्म वस्तु ही—श्री भगवान या सर्वमूल—श्रीकृष्ण (२५४) एकमात्र शुद्धाभक्ति सार प्रेम के आलोक को छोड़कर श्री भगवत् वस्तु के साक्षात्कार का या उनकी उपलब्धि का दूसरा उपाय नहीं है (२५५) उनकी महिमा रूप ज्योति के अभ्यंतर में उन परम रमणीय स्वरूप के दर्शन के लिये स्वयं श्रुति की सकातर प्रार्थना (२५६) सत्य का मुख्यार्थ श्रीकृष्ण में ही पर्यवसित (२५७) अचिन्त्य शक्तिगत धर्म के भी उच्चस्तर में विराजित उस परमाचिन्त्य स्वरूप और स्वरूपान्तरंग अनन्त गुण के दर्शन से ब्रम्हा की विस्मय विह्वलता (२५८) एक ही साथ होना न होना, ऐसी सभी शक्तियों के आश्रय होने से, ब्रह्म-सामर्थ्य के लिये चिन्त्य या अचिन्त्य कुछ भी असम्भव नहीं

हो सकता (२६०) श्रीकृष्ण ही निर्विशेष ब्रह्म के प्रतिष्ठा या आश्रय है (२६२) निर्विशेष ब्रह्म श्रीकृष्ण का ही अंग प्रभान्यानीय (२६३) निर्भेद ज्ञानियों का ब्रह्म सायुज्यमुक्ति सुख-श्री हरि द्वारा मारे गये विरोधियों को भी प्राप्य (२६५) सविशेष भगवत् लोक और भगवत् स्वरूप की उपलब्धि केवल भक्ति को छोड़कर और किसी भी उपाय से सम्भव नहीं (२६६) श्रुत्युक्त ब्रह्म-लक्षण के सभी विरुद्धधर्मों का समावेश श्री भगवत्तत्त्व में ही या मूलतः श्रीकृष्ण में ही परिदृष्ट होता है; किन्तु निधर्मक और निर्विशेष ब्रह्म में नहीं (२६८) श्रुत्युक्त सभी ब्रह्म तत्त्व की लीलायित अवस्था ही श्री भगवत्तत्त्व (२६९) एक मूर्ति का बहुत मूर्ति में प्रकाश-श्री रासलीला और महिषी विवाह लीला में (२७०) युगपत् सबके अन्दर और सबके बाहर—मिट्टी खाने वाली लीला में प्रकाश (२७२) एक मुख होकर सर्वतोमुख पुलिन भोजन लीला में प्रकाश (२७३) एक मूर्ति का एक ही साथ बृहत्त्व और क्षुद्रत्व—दाम बन्धन लीला में प्रकाश (२७३) दूर होने पर भी निकट में, विश्राम किये रहने पर भी सर्वत्रगामी दुर्वासा अभिशाप से पाण्डवों की रक्षा करने की लीला में प्रकाश (२७५) श्री पाद शंकर कल्पित मायावाद के और निर्गुण व सगुण ब्रह्म के विषय में संक्षिप्त समालोचन (२७६) एक ही ब्रह्म का दो प्रकार का विरुद्ध धर्म श्रुति सम्मत, सगुण और निर्गुणों के भेद से द्विविध ब्रह्म—श्रुति विरुद्ध (२८०) सशक्तिक सविशेष ब्रह्म ही श्रुतिसम्मतः निःशक्तिक निर्विशेष ब्रह्म शंकर-

कल्पित हैं (२८१) प्रलय निद्रिता माया के जागने के पहले, परमेश्वर की सक्रियता और उनकी इच्छा और ईक्षण से माया का जागना—परमेश्वर का ज्ञान उनकी इच्छा और क्रियादि कभी इस माया के आधीन नहीं हो सकते (२८४) सर्वशक्ति और विशेषणहीन निर्गुण ब्रह्म मायावादियों का स्वकल्पित और श्रुति विरुद्ध है (२८७) सर्व शक्तिमत महामहिम मय ब्रह्म ही श्रुति सम्मत (२८८) श्रुति में सक्रिय या सविशेष ब्रह्म को ही माया से निर्लिप्त रहने की बात स्पष्ट ही दिखाई देती है (२९०) श्री पाद शंकर कल्पित निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा उनके द्वारा कही अनिर्वाच्या माया की ही अधिक महिमा दिखायी देती है जिससे उनका प्रचारित ब्रह्मवाद 'मायावाद' के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ (२९२) श्री भगवान के आदेश से ही श्री पाद शंकर द्वारा 'मायावाद' प्रवर्तित होने से, इस विषय में आचार्यपाद का दोष राहित्य (२९४) श्री भगवान की मायातीत श्री मूर्ति और उनके गुण-कर्मादि के अप्राकृत्य के विषय में शास्त्र प्रमाण (२९५) श्रुति का स्थल विशेष में ब्रह्म को 'अरूप' और निर्विशेष आदि कहने का तात्पर्य उनका प्राकृत रूप और मायिक विशेषणादि का निषेध है (२९६) श्री भगवान के सभी गुण भगवान के स्वरूप से अभिन्न (२९६) श्री भगवत् विषय में शास्त्र में 'निर्गुण', 'अनामा' और 'अरूप' आदि उक्ति का तात्पर्य (३००) विद्वदनुभव के प्रमाण से भी श्री भगवत् मूर्ति का चिदानन्दमयत्वा (३०२) मौषल-लीला, महिषी हरण, जरा व्याध—

निक्षिप्त शराघात से देहत्याग-लीला सभी माया रचित इन्द्र जालवत् मिथ्या (३०३) तटस्थ लक्षण में श्रुति वर्णित ब्रह्म वस्तु भी कृष्ण ही हैं,—यह स्वरूप लक्षण के सहित भागवत से स्पष्टतः जाना जाता है (३०५)

षष्ठ उद्भाषन

श्री भगवत्-स्वरूप के विचार से

श्रीकृष्ण की ही स्वयरूपता या

स्वयं भगवत्ता प्रतिपादित होगी।

३१०-३८० पृष्ठ

विषय—समस्त श्रुति का सारार्थ ब्रह्म-सूत्र में ग्रथित होने पर भी उसके दुर्बोध्य का कारण (३१०) अष्टादश पुराण और महाभारतादि की रचना करने पर भी भगवान् वेदव्यास के चित्त में अप्रसन्नता (३११) श्री नारद द्वारा इसका कारण निरूपण और विमल श्रीकृष्ण-यश और महिमादि का प्रधान्य रूप में कीर्तन का निर्देश और चतुःश्लोक भगवत्तार्थ का संक्षेप में उपदेश (३१२) शुद्धा-भक्तियोग के आश्रय से श्री व्यासदेव का समाधि में सशक्तिक श्रीकृष्ण-साक्षात्कार और श्री भागवत का आविर्भाव (३१४) श्री व्यासदेव का समाधिदृष्ट विषय और उसका सार मर्म (३१६) श्रीमद्भागवत ही ब्रह्म-सूत्र का और गायत्री का अकृत्रिम भाष्य (३१७) प्रणव से गायत्री, गायत्री से चतुःश्लोकी और चतुःश्लोकी से चतुर्वेद और श्रीमद्भागवत का क्रम विकास (३१८) धान और चावल की तरह भूसी में छिपा और भूसी रहित वेद और भागवत का पार्थक्य

(३२०) गायत्री से वेद के विकास की तरह श्री भागवत के मूल में भी उसी गायत्री के अर्थ का सन्निवेश (३२३) सूत्रोक्त ब्रह्म-जिज्ञासा का सुस्पष्ट अर्थ कृष्ण जिज्ञासा है। यह ऋषि प्रश्नोद्धाय नामक भागवत के प्रारम्भ में ही प्रकाश कर दिया गया है (३२६) समस्त भागवत ही कृष्णैक तात्पर्यमय है (३२८) पूर्वोक्त 'त्रयी' निगूढ़ त्रिधारा ही मुक्त धारा से समग्र भागवत में प्रवाहित (३२८) श्रीकृष्ण ही दशम या आश्रय पदार्थ होने से, भागवतादि वर्णित दूसरे नौ-पदार्थों को उनके आनुषंगिक विषय रूप में जानना आवश्यक है (३३०) श्रीकृष्ण ही आश्रयतत्त्व हैं उन्हें छोड़कर दूसरे सभी उनके आश्रित तत्त्व हैं (३३३) अवतार शब्द का द्विविध अर्थ है—प्रपञ्च में अवतरण और अवतारी का अंश कलादि (३३४) द्वितीय पुरुष प्रायशः सब अवतारों के आश्रय होने पर भी श्रीकृष्ण ही इनके भी आश्रय होने के कारण परमाश्रय है (३३६) भगवान् से पुरुषावतार; भगवान् ही पुरुष रूप में नहीं है (३३७) केवल बलराम और कृष्ण को उक्त 'भगवान्' संज्ञा में उल्लेख द्वारा पुरुष की अवतारीत्व का प्रकाश (३३८) 'भगवान्' संज्ञा में विशेष भाव से निर्देश्य तत्त्व। उनमें फिर सर्वाश्रय होने के कारण श्रीकृष्ण ही 'स्वयं भगवान्' है (३३९) अन्यत्र भी दूसरे अवतारों से आधिक्य वर्णन द्वारा श्रीकृष्ण का उक्त वैशिष्ट्य प्रदर्शन (३४०) श्रीकृष्ण के साथ दूसरे किसी को भी बराबर समझना अपराध है (३४०) भगवान् और भगवन्नाम अभिन्न होने के कारण श्री नाम के सहित भी दूसरे किसी साधनादि शुभक्रिया का तुल्यत्व

चिन्तन भी इसी प्रकार अपराधजनक है (३४२) इस वैशिष्ट्य द्वारा भगवद्वस्तु या सर्वमूल श्रीकृष्ण और साक्षात् उनके सभी सम्बन्धीय विषय की ही सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है (३४२) इसी कारण से श्री सूत महाशय की भी सतर्कता (३४३) इसी कारण से व्यासदेव के भी चित्त की अप्रसन्नता (३४३) शास्त्र प्रमाण छोड़कर भगवद्वस्तु के निर्णय करने का कोई भी दूसरा प्रमाण नहीं है (३४४) सर्वादि होने के कारण श्रीकृष्ण ही सर्वज्ञ हैं (३४५) श्रीकृष्ण के अवतारत्व के विषय में विभिन्न मतवाद और उसका समाधान (३४६) स्वयं भगवान् के शरीर में सभी अवतारों की स्थिति (३४७) श्रीकृष्ण चैतन्य और उक्त नाम धारण करने की सार्थकता (३४८) स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही आविर्भाव विशेष में श्रीकृष्ण चैतन्य हैं (३५०) श्री गौर कृष्ण 'छन्न' अवतार होने के कारण वेदादि शास्त्रों में 'छन्न' लक्षण से निर्देश (३५२) श्री राधिका के भाव और कान्ति द्वारा छन्न—श्री राधाकृष्ण एकीभूत तनु ही— श्री गौर-स्वरूप (३५३) श्री राय रामानन्द के दर्शन में उक्त आविर्भाव विशेष की क्रमिक अभिव्यक्ति (३५५) परतत्त्व की सीमाप्राप्त अवस्था ही—श्री गौर स्वरूप (३६०)) श्रीकृष्ण के श्रीगौरकृष्णरूप इस आविर्भाव विशेष का मुख्य प्रयोजन (३६१) श्रीकृष्णस्वरूप में अपूर्व तीन इच्छाओं का पूर्ण करना ही—श्रीगौरकृष्णरूप इस आविर्भाव विशेष का मुख्य प्रयोजन (३६३) आनुषंगिक या गौण प्रयोजन—जीव को श्रीनाम और प्रेमदान (३६४) श्री भगवान् के ऐश्वर्य से माधुर्य ही प्रधान है

(३६५) 'माधुर्य' का अर्थ 'पूर्णेश्वर्यमय श्री भगवान' के नरभाव का अनतिक्रम है (३६५) ऐश्वर्य का अर्थ है— श्री भगवान के नरभाव का व्यतिक्रम करके केवल ईश्वर में प्रकाश (३६६) श्री भगवान में केवल ऐश्वर्य ज्ञान में प्रेम का शैथिल्य (३६७) श्री भगवान के माधुर्यज्ञान में अर्थात् उनकी नरभाव की उपलब्धि में प्रेम की गाढ़ता (३६७) श्रीकृष्ण का 'माधुर्य' प्रचार ही श्री चैतन्य और उनके श्री चरणानुचरगण का प्रधान वैशिष्ट्य (३७१) कृष्ण लोक के साथ निखिल जीव लोको में मनुष्य लोक का ही सादृश्य होने से निकटतम सम्बन्ध (३७३) कृष्ण लोक का सब कुछ अप्राकृत चिदानन्द मय है और मनुष्य लोक का सबकुछ प्राकृत होने पर भी काया और छाया की तरह दोनों में निकटतम सादृश्य है (३७४) कृष्ण लोक के आदर्श में नरलोक तो है किन्तु नरलोक के आदर्श में कृष्ण लोक नहीं है (३७५) मनुष्य जन्म ही कृष्ण भजन के लिये सर्वाधिक अनुकूल (३७६) केवल ब्रज प्रेम को छोड़कर अन्य किसी उपाय से कृष्ण-माधुर्य की पूर्ण अनुभूति असम्भव (३७८)

सप्तम उद्भाषन

उपासक के विचार से भगवतभक्त का

या सर्वमूल श्रीकृष्णभक्त का

मुख्यत्व प्रतिपादित होगा।

३८१-४३२ पृष्ठ

विषय—सकाम पुरुषार्थ—भुक्ति और मुक्ति; तीन गुण—संस्पृष्ट जीव के लिये प्रकृष्ट निष्काम भाव धारणातीत (३८१) शुद्धा-

भक्ति ही यथार्थ निष्काम इसलिये यही परम पुरुषार्थ है (३८२) पुरुषार्थ चतुष्टय होते हैं—केतव या आत्मवचना रूप कपटता (३८३) कारण का सुख पोषण ही कार्य की सुख-पुष्टि का प्रकृष्ट उपाय (३८८) जीव की साधारणतः भक्ति के स्थान में भुक्ति और मुक्ति के विषय में प्रवृत्ति का कारण (३८९) पुरुषार्थ का प्रकृष्ट अर्थ—‘स्वार्थ’ नहीं है—परमपुरुषार्थ अर्थात् ‘कृष्णार्थ’ है (३९१) बहिर्मुख जीव में केवल कृष्णोन्मुखता के उन्मेष से ही परम पुरुषार्थ की उपलब्धि (३९३) पुरुषार्थ चतुष्टय के अतीत (परे) प्रेमभक्ति ही पंचम पुरुषार्थ (३९४) भक्तों के हृदय में केवल कृष्ण-सुख-तात्पर्य रूप शुद्धाभक्ति के उदय होने से समस्त स्वसुख-तात्पर्य का अवसान (३९५) आप्तकाम श्री भगवान में केवल विशुद्धा भक्ति या भालवासा (प्रेम) पाने की कामना (३९६) ‘रस’ और ‘भाव’ की सक्रियता से ही ‘आनन्द’ का विकास (३९७) केवल भक्त के साथ भगवान का सापेक्ष सम्बन्ध (३९८) समस्त श्रुति में प्रच्छन्नता के आवरण में निष्काम भगवद्भक्त की ही सर्वश्रेष्ठता कीर्तित हुई है (४०१) अस्पष्ट श्रुति में भागवतपद का इंगित और श्री भागवत में उसका सुस्पष्ट उल्लेख (४०८) भगवद्भक्तमण ही असमोर्द्ध महिमा में सुप्रतिष्ठित हैं (४११) सर्वोपरि श्री भगवत वशीकारित्व (४१५) उत्तम, मध्यम, कनिष्ठतीन प्रकार के भक्त (४१८) वैधी और रागानुगा भक्ति (४१९) एकान्ती भक्त की सर्वोत्तमता (४२२) चिन्मय जीव में, जड़ विषय

वासनारूप नित्यक्रिया या विजातीय भाव की अवस्थिति के समय तक ही समस्त विधि-निषेध रूप बन्धन की व्यवस्था है (४२३) केवल निर्गुणा भक्ति के उदय होने से ही जीव में कृष्ण-सुख-तात्पर्य रूप स्वाभाविकता का विकास होता है (४२४) केवल लालसा-प्रवर्तित रागानुमा भक्ति (४२५) ब्रज गोपिका के अनुगत मधुर भाव के उपासक या रसिक भक्तों का सर्वोत्कर्ष (४२५) जैसे महत्-संग, वैसी ही भक्ति का विकास (४२७) ब्रज प्रेमदान का अधिकार राधा-कृष्ण मिलित तनु श्री गौर सुन्दर को ही है (४२८) निखिल भगवत-स्वरूप ही 'भूमा' होने से उनके उपासक भी पूर्णानन्द के अधिकारी हैं। तटस्थ होकर विचार करने पर उनमें पूर्णतर और पूर्णतम निर्णय (४२९) भक्तगणों का तारतम्य (न्यूनाधिक्य); उनमें श्री राधिका ही सर्वाधिका (४३०)

अष्टम उद्भाषन

उपासना के विचार से सभी वेदों को प्रच्छन्न

भागवत धर्म परता और

भागवत धर्म की एक मुख्यता

प्रतिपादित होगी।

४३३-४६५ पृष्ठ

विषय—भागवत धर्म के विशेष लक्षण (४३३) देह और दैहिक

सम्बन्धीय सभी जड़-धर्म विज्ञादि दोष युक्त है (४३६)

आत्मधर्म—भक्ति का पथ विज्ञादि दोष रहित हैं (४३७)

शुद्ध भक्ति का पथ जड़ीय विधि-निषेध के अतीत (४३७)

समस्त वेद का प्रच्छन्न भागवत धर्म परता (४३६)
 त्रिकाण्ड वेद का ही श्रीकृष्ण परता (४४०) वेद का निगूढ़
 और गुप्त अर्थ भक्त के सामने छिपा नहीं रहता (४४२)
 वेद में भागवत धर्म को प्रच्छन्न (गुप्त) रखने का तात्पर्य
 (४४३) निर्गुणा भागवती श्रद्धा ही भागवत धर्म में प्रवृत्ति
 का कारण है (४४४) सुदुर्लभ महत्-संग और उससे
 आविर्भूत श्री हरि प्रसंग—एक साथ इन दोनों कारणों का
 संयोग ही भागवती श्रद्धा-मूलक शुद्धा-भक्ति के प्राप्त करने
 का एकमात्र उपाय है (४४५) आनुषंगिक सभी धर्मों के
 आत्मप्रकाश करने के उद्देश्य से ही वेद में भागवत धर्म गुप्त
 रखा गया है (४४३) भक्ति का आनुषंगिक या गौण फल
 जिसे भक्त त्याग देता है किन्तु वही सब फल कर्म-ज्ञानादि
 आनुषंगिक धर्म का मुख्य फल है (४४८) सूर्य और उसके
 सम्बन्धीय-ग्रह और प्रदीपादि के दृष्टान्त से वेद और भागवत
 का पार्थक्य निर्णय (४५०) मुख्य विषय से सम्पर्क शून्य
 होने से, फल देने में उसके आनुषंगिक विषय की अक्षमता
 (४५४) क्रिया भेद से एक भक्ति का मुख्य और गौणीरूप
 प्रकाश भेद (४५५) सृष्टि के आरम्भ में जीव समष्टि के
 प्रति सृष्टा श्री भगवान की साक्षात् वाणी ही भक्ति योग या
 भागवत धर्म है (४५६) श्री भगवत् के प्रोक्त कर्म, ज्ञान
 और भक्तियोग और उनका अधिकार-लक्षण (४५८)
 सकाम कर्म और कर्म योग में पार्थक्य (४६१) भक्ति योग
 के श्रद्धा का विकास होना ही महत्-कृपादि संचार का लक्षण
 है (४६२) महत्-कृपादि के संचार से ही केवल मुख्य विषय
 उसी रूप में ग्राह्य होता है, उसके अभाव में गौण विषय मुख्य

रूप में ग्राह्य होकर, उसकी सिद्धि के निमित्त निर्गुणा भक्ति ही सगुण रूप से प्रकाश होती है (४६३) कर्म-ज्ञानादि का फल; उसके साधन के बिना भी केवल सगुणा भक्ति द्वारा ही प्राप्त हो जाने पर भी साधारणतः जीव में ऐसे सौभाग्य का भी अभाव (४६४) केवल अपराध को छोड़कर भक्ति के फलोदय में दूसरी कोई बाधा नहीं है। अवश्य सभी क्षेत्र में निरपराध से ही भक्ति का अनुशीलन होना चाहिए (४६८) निष्काम, सकाम मोक्षकाम—सभी के लिये भक्ति ही अनुशीलनीय (४६९) श्रीकृष्ण विषयक सम्बन्ध अभिधेय और प्रयोजन; चतुःश्लोकी का अभिप्राय होने से समस्त वेद का भी यही अभिप्राय है (४७०) शुद्धा भक्ति ही परम पुरुषार्थ है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, रूप पुरुषार्थ स्वप्रयोजन वाले जीवों के लिये उसी का ही छद्म रूप है (४७४) शुद्धाभक्ति के अनुदय समय में भगवान् में सर्वकर्मार्पणपूर्वक अन्ततः (कुछ न कुछ) सन्निकटवर्ती होकर अवस्थिति ही शास्त्र विहित (४७७) शुद्ध भक्तों की सभी चेष्टा श्री भगवत्-सेवा और उनकी प्रीतिविधान के लिये होती है; उसे छोड़कर उन लोगों का कोई स्वप्रयोजन नहीं होता है (४७९) केवल शुद्ध भगवत् भक्तों को ही अपनी सुख की अपेक्षा सेवा का गौरव अधिक है, अतएव वह लोग सेवानन्द प्राप्त करने पर भी, सेवानन्द को त्याग करके केवल सेवाभिलाष करते हैं (४८२) तभी तो अपनी इच्छा से श्री भगवान् की भक्ताधीनता (४८५) समग्र ऋग्वेद वर्णित सोम-रहस्य और गुह्य मधु-विद्या ही प्रच्छन्न हुआ भागवती विद्या या श्रीकृष्ण-प्रेम रहस्य है (४८५)

श्रुति द्वारा वेदगुह्य उसी भागवत धर्म का इंगित और उसके समन्वय से श्री भागवत में उसका सुस्पष्ट समाधान (४७६) सब वेदों में भक्ति योग या भागवत धर्म की ही एक मुख्यता स्वयं भगवान द्वारा समर्थित (४६३)

नवम उद्भाषन

युगधर्म के विचार से
श्रीकृष्ण चैतन्य प्रकटित
कलियुग सुदुर्लभा भक्ति की
सहजलभ्यतारूप समुज्ज्वल वैशिष्ट्य
प्रतिपादित होगी।

४६६-५७० पृष्ठ

विषय—साधारणतः शुद्धाभक्ति की सुदुर्लभता (४६६) श्री गौरांग प्रकटित वर्तमान कलियुग का असाधारणत्व (४६७) सर्व भक्ति सारब्रज-प्रेम के दान में एकमात्र गौर जलधर का ही अधिकार (४६६) भागवत-धर्म का परमसार—‘प्रेम-धर्म’ और उसके प्रदाता श्री गौर-कृष्ण ही सब वेदों के निगूढतम विषय (५०१) श्री गौरावतार के समय में ही दूसरों द्वारा अदेय ‘ब्रज प्रेम’ का अबाध और अजल (अविच्छन्न) भाव से वितरण (५०५) जगत में यह प्रेमामृत की वर्षा ही उनके सीमाप्राप्त स्वयं भगवत्ता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है (५०७) एकमात्र ‘छन्न’ अवतारी—श्री गौरहरि को वेदादि शास्त्र में प्रायशः उसी तरह ‘छन्न’ लक्षण से ही निर्देश किया गया है (५०६) युगावतार और युगधर्म; साधारण और विशेष (५१३) साधारण

कलियुग का लक्षण और युगधर्म (५१७) प्रच्छन्न लक्षण से छन्न रूप में अवतीर्ण श्री गौर हरि का श्रीमद्भागवत में निर्देश (५२०) श्री गगोक्ति के समर्थन में श्री करभाजन वर्णित असाधारण चतुर्युग और उसमें द्वापर और कलियुग की विशेषता (५२०) रहस्यमय दो अर्थबोधक शब्द से साधारण कलियुगावतार और वर्तमान विशेष कलियुग में छन्न रूप में अवतीर्ण श्री गौरकृष्ण को प्रच्छन्न लक्षण से निर्देश (५२३) साधारण कलियुग से श्री गौर प्रकटित वर्तमान कलियुग का वैशिष्ट्य (५२७) श्री गौरहरि प्रकटित असाधारण कलियुग विशेष निदर्शन से निर्दिष्ट (५२८) शास्त्र सिद्ध विद्वदनुभव के प्रमाण से भी श्री चैतन्य और उनके परिकरगण के अतिरिक्त उनके पहले कोई भी श्रीकृष्ण और ब्रज परिकर के रूप में विनिर्णीत नहीं हुये (५३२) रहस्यमय वन्दना—दो श्लोकों में केवल विशेषण से महाप्रभु श्री गौरकृष्ण का ही निर्देश (५३३) महापुरुषाख्य वही महाप्रभु श्री गौरकृष्ण ही श्री रामादि निखिल अवतारों के अवतारी अर्थात् स्वयं भगवान् (५३५) यथाक्रम से साधारण कलियुग की और वर्तमान विशेष कलियुग की संकीर्तन रूप उपासना वैशिष्ट्य (५३८) सत्यादि तीनों युगों में श्री नाम विद्यमान रहने पर भी और साधारण कलियुग का युगधर्म होने पर भी जनसाधारण का उसके ग्रहण में उन्मुखता का अभाव (५४५) श्रीनामग्रहण के विषय में वर्तमान कलियुग में श्री गौर के प्रकट होने की पूर्ववर्ती अवस्था (५४६) युगधर्म

श्रीनाम के सहित श्री गौर के प्रकट होनी की परवर्ती अवस्था (५४८) श्री चैतन्य द्वारा श्री नाम के स्वरूप और महिमादि के विषय में जगत में यथार्थ चेतना और नामापराध से सतर्की करण (५५२) नवधा भक्ति में भी श्री नाम का सर्वोत्कर्ष व अंगीत्व प्रचार (५५६) श्री नाम से प्रेमोदय का क्रम (५५८) महत् रूप में प्रच्छन्न (छिपे हुये) श्री चैतन्य प्रवर्तित श्री नाम से प्रेमोदय, सुदुर्लभ महत् संगति की भी अपेक्षा नहीं (५५९) समस्त साधन भक्ति का 'अंगी' व कारण होने से, श्री नाम को 'परम उपाय' कहकर निर्देश (५६१) उक्त कारण से केवल नाम लक्षण से ही भक्त व वैष्णव लक्षण निर्देश (५६२) श्री गौर के प्रकट काल में अस्वाभाविक कृपा वैशिष्ट्य (५६५) ब्रह्माण्ड गत जीव समष्टि के उद्धार में वर्तमान वेतार विज्ञान की सूक्ष्म नीति अवलम्बित (५६७) श्री चैतन्य के अप्रकट काल में भी वर्तमान युग व्यापी उनका प्रवर्तित श्रीनाम से ही ब्रजप्रेमोदय—केवल निरपराध नाम ग्रहण की अपेक्षा (५६९)

दशम उद्भाषन

वर्तमान युग में प्रेमोदय का परम कारण श्री नाम की एक मुख्यता प्रतिपादित होगी जो सभी भजनाम का अंगी है।

५७१-६२५ पृष्ठ

विषय—श्री नाम के अव्यर्थ फलोदय में केवल नामापराध वर्जन की आवश्यकता (५७१) अंगी नाम से भजनों के विकास

में प्रेमोदय का क्रम (५७३) भजन के प्राण स्वरूप स्मरणांग का भी अंगी श्री नाम (५७५) महाप्रभावान्वित सब भजनांग के उदय में और सब विषय में प्रवृत्ति और निष्ठादि के विकास में भी अंगी श्री नाम (५७६) नामाश्रय लक्षण (५७८) नामाश्रय होने से अपराधादि अमंगल से श्री नाम द्वारा आश्रित रक्षण (५७९) श्री नाम को केवल एक भजनांग समझने से, समता बुद्धि के कारण नाम ग्रहण की अनर्थकारिता (५८०) श्री नाम के सर्वश्रेष्ठादि बोध विषय में पूर्व पक्ष और उसका समाधान (५८०) परीक्षित और शुकदेव के श्रवण और कीर्तन रूप भजनांग में भी नाम-प्रधान (५८६) वर्तमान कलियुग में अर्क (सूर्य) की भाँति समुदित श्री भागवत शास्त्र भी श्री नाम प्रधान (५८७) वर्तमान युग में परम मुख्य या अंगी श्री नाम की प्रसन्नता से ही सब भजनांग का सहज आविर्भाव (५८९) वर्तमान युग में नाम वर्जित कोई भी साधना सिद्ध नहीं होती (५९०) वर्तमान युग में एक मुख्य नामाश्रय से भजन ही अत्यन्त प्रशस्त (५९१) साधारण कलियुग धर्म रूप में श्री नाम का अंगीत्व व मुख्यता (५९२) श्री चैतन्य कर्तृक हरेनाम श्लोक का प्रकृष्ट तात्पर्य प्रचार द्वारा श्री नाम की एक मुख्यता घोषणा (५९४) श्री नाम की सर्वाध्यक्षता (५९६) महाभागवतो के आचरण में भी नामाश्रयता (५९८) श्रुति में भी प्रणव की उपलक्षण में श्री नाम का पारम्य कीर्तन (६०१) श्रुति में ब्रह्म और तद्वाचक प्रणव

की अभिन्नता समर्थित है (६०२) प्रणव का प्रच्छन्न अर्थ—
 श्री कृष्ण नाम (६०३) श्री नाम का सर्व बीजत्व व
 सर्वकारणत्व (६०३) प्रणव या नाम से ही वेदमाता
 गायत्री और समस्त वेद का विकास (६०५) वेद में परोक्ष
 भाव से नाम का प्राधान्य कीर्तित हुआ है वेद का विस्तारार्थ
 भागवत भी नाम प्रधान रूप में ही मालूम होता है (६०६)
 भागवत धर्म के आदि में अंगी श्री नाम है (६०७) निखिल
 विश्व संसार के बीज रूप में भी—श्री कृष्ण नाम (६०८)
 श्रीकृष्ण की कामता शिरोमणि श्रीराधिका का जप्य-
 श्रीकृष्ण नाम (६०९) परम साध्य होने पर भी परम
 साधन रूप में भी—श्रीकृष्ण नाम (६१०) साधन रूप में
 श्री नाम प्रधान भक्त्यंग ही सर्वश्रेष्ठ अर्थात् दूसरे भजनांग का
 अंगी (६१२) श्री नाम में सर्वश्रेष्ठता बोध होने से समता
 चिन्तन रूप अपराध घटित नहीं होता (६१२) श्री नाम
 के सम्बन्ध में निरपेक्ष अवस्था में उक्त अपराध की सम्भावना
 नहीं है किन्तु सापेक्ष अवस्था में ही सम्भावना है (६१३)
 नामाश्रय ही अपराधादि का प्रतिरोधक और सर्वकल्याण
 दायक (६१४) वर्तमान युग विशेष में जन्म पाना अति
 भाग्य का परिचायक (६१५) श्री नाम में अनुराग या
 आदर बुद्धि के अभाव को ही जीव का यथार्थ दुर्देव श्री नामी
 द्वारा कहा गया है (६१६) आगत प्रायः प्रेम युग के
 अभ्युदय की सूचना, असमय विदायोन्मुख कलि कर्त्तक
 अन्तिम प्रभाव विस्तार (६१६) वर्तमान समय में भजन
 पथ में नामापराध का संचार कलि प्रभावकृत है (६२०)
 नामाश्रय से विच्युत कराना कलि की श्रेष्ठतम प्रतारणा
 (६२०) केवल नामाश्रय ही कलिबाधा अपहारक

(६२१) श्री नाम परायण महतगन का कृपाशीर्वाद ही
हम लोगों के लिये नामाश्रित होने का उपाय (६२४)
वर्तमान भजनपथ निर्देशक आदर्शवाणी (६२४)

परिशिष्ट—

६२६-६३६ पृष्ठ

ग्रन्थ के सांकेतिक शब्दों का परिचय

ईश—ईशोपनिषद्

एतरेय—एतरेयोपनिषद्

काठके—कठोपनिषद्

कूर्म पु.—कूर्मपुराणम्

गीता गी—श्रीमद्भगवत् गीता

चरितामृत चै.च.—श्री चैतन्य चरितामृत

चैतन्य भा.—श्री चैतन्य भागवत

छान्दो—छान्दोपनिषद्

तैत्तरी—तैत्तरीयोपनिषद्

पाद्म—पद्मपुराणम्

भाः, श्री भाः, श्रीभागः—श्रीमद्भागवत

मुण्डक—मुण्डोपनिषद्

लघु भाः—लघुभागवतामृतम्

श्री गो.उः—श्री गोपाल तापिनी उत्तर

वृः आः वृहदा—वृहदारण्यकोपनिषद्

श्वेताश्व, श्वेता—श्वेताश्वतरोपनिषद्

हः भः विः हरिभः—हरिभक्तिविलासः

श्री गौरहरिर्जयति

श्री श्री भक्ति रहस्य-कणिका

प्रथम उद्भाषन

शास्त्र विचार से श्री भगवत भक्ति की
सर्वमुख्यता, सर्वात्मकता और सार्वत्रिकता।

पंगु लंघयते शैलम् मूकमावर्त्तयेत श्रुतिम् ।

यत्कृपातमहं वन्दे कृष्ण चैतन्यमीश्वरम् ॥

बिना प्रमाण कोई बात न तो कोई सुनना चाहता है और न स्वीकार ही करना चाहता है—प्रमाण ही सब प्रवृत्तियों का मूल है। प्रमाण से ही विश्वास या श्रद्धा पैदा होती है; विश्वास से प्रवृत्ति पैदा होती है; प्रवृत्ति ही सब कर्मों का पूर्ववर्ती कारण है। प्रमाण अनेक प्रकार के हैं किन्तु शास्त्र प्रधानतः तीन प्रमाण स्वीकार करते हैं। यथा—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द।

हम लोग अपनी आँखों से देख कर जो ज्ञान अर्जन करते हैं, यही प्रत्यक्ष ज्ञान है; जैसे प्रभात में उठकर पूरब की ओर सूर्योदय होता हुआ देखा, इससे ज्ञान हुआ कि सूर्य पूर्व की ओर ही उदित होता है,—इत्यादि। जिससे जो वस्तु हुई है या होगी या होती है—उसे यदि हम समझ सकें तो वही अनुमान है। जैसे मेघ देखकर वृष्टि होगी अथवा नदी की पूर्णता देखकर ज्वार हुआ है अथवा धुआँ देखकर अग्नि है—इस प्रकार निश्चय करने को 'अनुमान' कहते हैं।

लौकिक और अलौकिक सब प्रकार के ज्ञान के निदानभूत अभ्रान्त वेद और वेदानुगत समस्त शास्त्रों ने जो कहा है, वही है शब्द प्रमाण। उसे आप्तोपदेश भी कहते हैं।^१ 'आप्त' शब्द का अर्थ है यथार्थ वक्ता,^२ उनका जो उपदेश है, यही आप्तोपदेश कहलाता है।

प्रमाण प्रधानतः तीन प्रकार के होने पर प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की अपेक्षा शब्द प्रमाण ही श्रेष्ठ है; क्योंकि मायाधीन जीव के प्रत्यक्ष व अनुमान ज्ञान में भ्रम (किसी विषय को जैसा वह नहीं है वैसा जानना) प्रमाद (आलस्य) विप्रलिप्सा (ठगने की इच्छा) करणापाटव (इन्द्रियों में पूर्ण शक्ति का अभाव) यह चार दोष हो सकते हैं; किन्तु मायाधीश सर्वज्ञ ईश्वर के वाक्य स्वरूप शास्त्र वाक्य में इस प्रकार के दोष की सम्भावना नहीं है। यथा,—

“भ्रम प्रमाद विप्रलिप्सा करणापाटव।

ईश्वरेर वाक्ये नाहि दोष एई सब॥”

(श्री चैः आदि १।०७)

मनुष्यों का प्रत्यक्षादि ज्ञान, सर्वदा 'प्रमा' या अभ्रान्त ज्ञान न होने से, बहुत आसानी से ही दोष युक्त हो सकता है, यह बात दो एक साधारण दृष्टान्त ही से आसानी से समझ में आ सकती है। पृथ्वी की अपेक्षा बहुत गुना बड़े सूर्य को हम लोग एक स्वर्ण की थाल की तरह देख पाते हैं। जो देखते हैं, उसी को ही यदि हम सत्य मान लें, तो सूर्य का विस्तार एक थाल की तरह ही बताना पड़ेगा। जिन लोगों को सूर्य के विस्तार के सम्बन्ध में शास्त्र ज्ञान नहीं है। वह लोग अपने प्रत्यक्ष अनुरूप ही सूर्य का विस्तार मानते हैं; इसलिये

१. आप्तोपदेशः शब्दः—न्याय दर्शन, १।१।७

२. तर्क संग्रहः—४

प्रत्यक्ष ज्ञान सब समय 'प्रमा' या अभ्रान्त ज्ञान की तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

अग्नि को जल द्वारा बुझाई जाने पर भी कुछ देर तक धुआँ निकलता रहता है; इसलिये धुआँ देखकर अग्नि की कल्पना जिस तरह सब जगह अभ्रान्त अनुमान नहीं है, उसी प्रकार अनेक स्थलों में दूसरे अनुमानों के भी असत्य होने की सम्भावना है।

प्रमाणों में शास्त्र प्रमाण ही सर्वश्रेष्ठ

जबकि हम लोग प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान द्वारा सामान्य लौकिक विषय का भी बिना भ्रम के सब समय निर्णय नहीं कर सकते, तब ऐसे तुच्छ प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर कैसे अज्ञात अचिन्त्य, अलौकिक और अनन्त ब्रह्म वस्तु के निर्णय करने का साहस कर सकते हैं? ऐसा साहस पंगु के पहाड़ लॉघने के प्रयास की तरह एकदम युक्ति विरुद्ध है, इसलिये यह जान लेना आवश्यक है कि श्री भगवान के आदेश और उपदेश स्वरूप शास्त्र ही उन्हें निर्णय करने का एकमात्र उपाय है। अप्राकृत अचिन्त्य वस्तु के निर्णय में 'शब्द' या शास्त्र प्रमाण ही श्रेष्ठतम प्रमाण है।^१

वेद और पुराणादि सभी शास्त्र 'शब्द प्रमाण' के रूप में गिने जाते हैं। शास्त्र अति विशाल और विस्तृत, समुद्र की तरह अतल स्पर्शी है। इनका आदि मध्य अन्त, — इनका दिक् प्रान्त और सीमा अपने तुच्छ बुद्धि द्वारा हम लोग निर्णय नहीं कर सकते हैं। चारों ओर फैले हुए महासागर के अज्ञात वक्ष में जिस प्रकार नाविक के

१. इस विषय की विशेष आलोचना ग्रन्थकार कृत "श्री नाम चिन्तामणि" ग्रन्थ के प्रथम किरण के प्रथम उल्लास में देखना चाहिये। सुविस्तारित आलोचना श्रीमज्जीव गोस्वामी कृत 'तत्त्व सन्दर्भ' में देखना चाहिये।

आंतरिक्त कोई भी रास्ता निर्णय करने में समर्थ नहीं होता उसी प्रकार जो लोग स्थितिप्रज्ञ नहीं हैं, उनकी बुद्धि शास्त्र के प्रयोजन अभिधेय और सम्बन्ध के निर्णय करने में कभी भी समर्थ नहीं हो सकती; इसलिये शास्त्र वाक्य प्रमाण शिरोमणि तो है किन्तु 'बाँस के वन में डोम काना'* की तरह शास्त्र का क्या उद्देश्य है, क्या विधेय है, इसके निर्णय में साधारणतः हम लोग असमर्थ हैं तभी तो शास्त्र ने कहा है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतियो विभिन्ना

नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम् ।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां

महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(महाभारत। वनपर्व)

इसका अर्थ है— तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है बाह्य दृष्टि से सब श्रुति भी विभिन्न मत निर्देश करती देखी जाती है; इसलिये ऐसा कोई मुनि नहीं है जिसका मत दूसरे से भिन्न न हो, धर्म का तत्त्व अंधकार के गर्भ में ही छिपा है; अतः महाजन जिस रास्ते से गये हैं, उनके अनुसरण को छोड़कर कोई रास्ता नहीं है। शास्त्र का उद्देश्य निरूपण वास्तव में यही है। दूध पीने की चीज होने पर भी जिस प्रकार वह कपड़े से छानने के बाद ही पीने योग्य होता है उसी प्रकार शास्त्र प्रमाण ग्रहणीय होने पर भी सद्गुरु और साधुमुखनिःसृत शास्त्रोपदेश ही ग्रहणीय है, नहीं तो रास्ता भटकने की सम्भावना रहती है।

* यह बंगाल में कहावत है

साधारणतः हम यदि अपनी बुद्धि के बल पर वेदादि शास्त्र का तात्पर्य खोजने जाय तो देखेंगे कि कहीं तो कर्म की प्रधानता है कहीं ज्ञान, कहीं योग और कहीं भक्ति का प्राधान्य कीर्तित हुआ है इससे प्रयोजन और अभिधेय निर्णय करने में बुद्धि में विक्षेप उपस्थित होता है। किन्तु वेद विद सज्जनों ने हमें अधिकारी व क्रम के अनुसार जैसा वेद को उसका सुन्दर विभाग करके समझा दिया है, उसी आदर्श को सामने रखकर यदि हम शास्त्र तात्पर्य ग्रहण करने की चेष्टा करें तो हम निश्चय ही समझ सकते हैं कि एकमात्र श्री भगवद्भक्ति ही सब शास्त्रों का मुख्य तात्पर्य है—सकल निगम वल्ली (वेद रूपी वृक्ष) का सत्फल भक्ति है। जब तक यह भक्ति फल आस्वादित न होगा, तब तक जीव के सुख पिपासा की सम्पूर्ण निवृत्ति चाहे वह विषयी अथवा कर्मी, ज्ञानी, योगी जो भी हो, असम्भव है असलिये देखा जाता है कि परिछिन्न-अपूर्ण विषय सुखान्वेषी जीव की बात तो दूर रही—परमात्मदर्शी—पूर्णकाम आत्माराम मुनिगण भी श्री हरिपाद पद्म—सौरभलुब्ध कारिणी अमला भक्ति में आकृष्ट होते हैं। यथा—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।

कुर्वन्त्यहेतुकी भक्तिमित्यंभूतगुणो हरि॥

(श्रीमद्भागवत—१, ७, १०)

सब शास्त्रों का एक स्वर एक तात्पर्य।

अधिकारी भेद से साधना की विभिन्नता तो दिखाई देती है, किन्तु साध्य एक ही है—“एकमेवाद्वितीयम्”—उसी एक की ही विजयवार्ता को घोषित करने का—उसी एक को ही व्यक्त करने का,

सारे शाखों का सम्मिलित अभिप्राय है। जब तक बाजों के एक तान की मधुर ध्वनि कानों ने नहीं सुनी, तभी तक लोग एक-एक बाजे की अलग-अलग ध्वनि सुनकर ही परितृप्त रहते हैं। अपने रुचि के अनुरूप किसी एक प्रकार के बाजे को ही श्रेष्ठ समझकर अन्य प्रकार के बाजे की ध्वनि का त्याग करते हैं। उसी तरह सब शाखों की सम्मिलित ध्वनि की एक तान श्रुतिगोचर होने से फिर अलग-अलग ध्वनि सुनने की इच्छा नहीं होती; परन्तु तब यह इच्छा होती है कि सभी शाख वाक्यों को उसी एक तान की सम्मिलित झंकार में मिलाकर उसी मधुर ध्वनि के अमृत-तरंग में डूबते रहे।

त्रिगुण का तारतम्य ही जीव-प्रकृति के पार्थक्य का कारण।

केन्द्र स्थल से जो जितनी दूर अवस्थित है, केन्द्र के निकट और उससे दूरी के अनुसार केन्द्र की उपलब्धि और उसमें उपस्थिति का तारतम्य उतना होना ही युक्ति सिद्धि है। केन्द्र स्थल से जो जितनी दूर चला गया, उसे वहाँ वापस अपने में उतनी ही देर लगेगी। सत्व, रज और तम—इन तीन प्रकृति के गुणों के तारतम्यानुसार मनुष्यों के अधिकार का भी तारतम्य अवश्यम्भावी है। इन तीनों गुणों का तारतम्य—केवल जीव के प्रकृति और अधिकार का ही नहीं, अपितु सारी सृष्टि की विचित्रता का कारण है।

मनुष्यों के भी विभिन्न प्रकृति विभिन्न रूप और गुणादि का कारण भी इन त्रिगुणों का तारतम्य है। कोई सत्वगुण प्रधान है तो कोई रजोगुण प्रधान है या कोई तमोगुण प्रधान है। फिर इन

तीनों गुणों के कम, मध्य और अधिक भेद से असंख्य प्रकार के विभाग हो सकते हैं। वायु, पित्त और कफ इन तीनों दोषों के तारतम्यानुसार जिस तरह असंख्य व्याधि पैदा होती है और दोष के न्यूनाधिक शक्ति के अनुसार उनकी औषधि और चिकित्सा भी जिस तरह से एक प्रकार की न होकर बहुत प्रकार की होना ही युक्तियुक्त है, उसी तरह सत्व, रज और तमोगुण के असंख्य विकारानुरूप भवव्याधि भी बहुत प्रकार की है; इसलिये तीनों गुणों की कम व अधिक शक्ति के अनुसार उनके प्रतिकारोपाय भी एक प्रकार के न होकर बहुत प्रकार के होना ही युक्ति संगत है। सनातन धर्म के लीला निकेतन पुण्य भारत भूमि के अतिरिक्त दूसरे किसी भी देश में इस युक्ति का मूल्य अनुभव नहीं होता। त्रिदोष के कम व अधिक शक्ति के अनुसार देहरोग की औषधादि बहुत प्रकार है परन्तु त्रिदोष का साम्यभाव स्थापन करना और स्वास्थ्य सुख प्रदान करना जिस प्रकार चिकित्सा विद्या का मुख्यतम प्रयोजन है उसी प्रकार भवरोग की चिकित्सा अधिकारी भेद से बहुत प्रकार की दिखाई तो देती है किन्तु उद्देश्य एक है। त्रिविध दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और अनन्त सुख की प्राप्ति यही समस्त धर्म शास्त्रों का एक मात्र तात्पर्य है। इस उद्देश्य में केवल भक्ति ही जीव का मुख्य प्रयोजन है, एक साथ आत्यन्तिक दुख निवृत्ति के सहित परमानन्द प्राप्ति का भक्ति ही प्रकृष्ट पन्था या परमोपाय है। इस प्रकार की सुस्पष्ट रूप से उपलब्धि हम लोग निम्नोक्त विषयों की निरपेक्ष और गम्भीर भाव से पर्यालोचना करने पर ही कर सकेंगे। भक्ति ही समस्त वेदवृक्ष का मुख्यतम फल है एकमात्र भक्ति में ही ममग्र वेदवाणी का पर्यवसान है—यह बात

वद के यथा यथ विभाग अनुसार पर्यालोचना करने पर ही सरलता से ही समझ में आ सकती है।

जीव के स्वभाव की भिन्नता के अनुसार समस्त वेद विभक्त होने पर भी, भक्ति ही सब वेदों का मुख्य तात्पर्य।

वेद प्रधानतः तीन काण्डों में विभक्त है; यथा (१) कर्म काण्ड (२) देवताकाण्ड (३) ज्ञान काण्ड, फिर कर्मकाण्ड दो प्रकार के हैं—सकाम कर्म और निष्काम कर्म। सकाम कर्म फिर दो प्रकार के हैं—भोग की इच्छा मूलक और मुक्ति की इच्छा मूलक। विषय वासना शून्य मुक्ति की इच्छा, निष्काम कही जाने पर भी वह और भोग की इच्छा दोनों ही अपनी सुख की इच्छा वाली होने से सकाम कर्म के ही अन्तर्गत है। भुक्तीच्छामूलक सकाम कर्म फिर ऐहिक और पारलौकिक भेद से दो प्रकार की है। इसी संसार में धन-धान्य, पुत्र-कलत्र, राज्य-सम्पद यश-मान, प्रतिष्ठादि की प्राप्ति कामना को ऐहिक भुक्तीच्छा मूलक सकाम कर्म और परकाल में स्वर्ग सुखादि प्राप्ति कामना मूलक कर्म को पारलौकिक भुक्तीच्छा-मूलक सकाम कर्म कहते हैं। यह दोनों प्रकार के भुक्तीच्छा मूलक सकाम कर्म फिर हिंसायुक्त और हिंसा रहित भेद से दो प्रकार के हैं। ऐहिक या पारलौकिक इच्छा पूरी करने के लिये बकरी, भेड़ आदि की बलि प्रदान पूर्वक जो सब याग-यज्ञादि होते हैं उन्हीं को हिंसायुक्त और इनसे वर्जित को हिंसारहित कहते हैं—

(१) हिंसायुक्त ऐहिक या पारलौकिक भुक्तीच्छा मूलक सकाम

कर्म होते हैं।—तामसिक

(२) हिंसा रहित ऐहिक और पारलौकिक भुक्तीच्छा मूलक कर्म होते हैं—राजसिक

(३) मुक्तीच्छा मूलक सकाम कर्म।—सात्विक

(४) निष्काम कर्म (अर्थात् फल भोग वासना रहित—केवल भगवत् प्रीत्यर्थ अनुष्ठित कर्म ही) चित्त शुद्धि करने वाले निर्गुण ज्ञान के प्रापक है। उक्त कर्मकाण्ड के अनुष्ठान के साथ बहुत प्रकार के देवताओं की उपासना बताई गयी है। यही वेद के देवताकाण्ड का विषय है। अधिकारी भेद से यह उपासना भी फिर दो प्रकार की है। यथा—सगुण उपासना और निर्गुण उपासना। सात्विकादि अधिकारी भेद से विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना को सगुण उपासना और एकमात्र परब्रह्म या परमेश्वर की उपासना को ही निर्गुण उपासना कहते हैं। निर्गुण का अर्थ है—प्राकृत गुण-सम्बन्ध रहित। सात्विक, राजसिक, तामसिक अधिकारी भेद से अर्थात् उसी जाति की श्रद्धा के अनुसार विभिन्न सगुण देवताओं की उपासना विहित हुई है।^१ निष्काम कर्म के अनुष्ठान से जिनके चित्त वासना

१. त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।

सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।

(गीता १७।२, ४)

अर्थ—देहधारियों की स्वाभाविकी श्रद्धा तीन प्रकार की होती है; सात्विक, राजसिक और तामसिक—उसे सुनो सात्विक प्रकृति के लोग देवताओं की, राजसिक लोग यक्ष और राक्षसों की और तामसिक लोग भूत-प्रेतों की उपासना करते हैं।

शून्य हो चुके हैं। वही लोग परब्रह्म की उपासना के अधिकारी हैं; परब्रह्म के विषय में श्रद्धान्वित होने से ही उस विषय में अधिकार होता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही उन परब्रह्म के प्रतिष्ठा या परमाश्रय है। यथा—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्यास्य यस्य च।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४, २७)

इसका अर्थ—मैं ब्रह्म का प्रतिष्ठा या आश्रय हूँ अर्थात् घनीभूत ब्रह्म ही मैं हूँ; उसी तरह अमृत, अव्यय, नित्य, धर्म और एकान्तिक या अखण्ड सुख का भी मैं प्रतिष्ठा या आश्रय हूँ।

अधिकार या श्रद्धा अनुरूप सगुण कर्म और उपासना के द्वारा जीव की क्रमिक उन्नति या ऊर्ध्वगति लाभ हुआ करती है। केवल निष्काम कर्म द्वारा ही चित्त शुद्धि होती है और उसके फलस्वरूप ज्ञान का आविर्भाव होता है। यही से वेद के ज्ञानकाण्ड का प्रारम्भ है।

अपरा और परा विद्या या परोक्ष और

अपरोक्ष ज्ञान

यह ज्ञान फिर परोक्ष और अपरोक्ष भेद से दो प्रकार का है। केवल शास्त्र श्रवण और अध्ययनजनित ज्ञान परोक्षज्ञान या अपराविद्या है और उस परोक्षज्ञान का सारांश ही अपरोक्ष ज्ञान या पराविद्या के नाम से कहा जाता है। जैसे मानचित्र देखकर पृथ्वी की अनुभूति यह है परोक्ष ज्ञान; और पृथ्वी भ्रमण करके पृथ्वी की अनुभूति ही उस विषय का अपरोक्ष ज्ञान है। इस पराविद्या के आलोक में ही परत्तव्य वस्तु का साक्षात्कार होता है इसलिये यह

समस्त विद्या का फलस्वरूप माना गया है। यथा—“द्वि विद्ये वेदितव्य इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो सामवेदोऽथर्ववेदः “यजुर्वेदः सामवेदोऽधर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥”—मुण्डक (१।१।४-५)

इसका अर्थ—ब्रह्मविदगण कहते हैं कि विद्या दो है; परा और अपरा। उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा कल्प, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष प्रभृति (इन सबका श्रवण या अध्ययनादि जनित ज्ञान) का ही नाम अपराविद्या है और जिसके द्वारा उन अक्षर पुरुष को जाना जाता है, वही पराविद्या है। इस पराविद्या के आलोक में ही तत्त्व वस्तु का साक्षात्कार होता है। तत्त्व साक्षात्कार ही पराविद्या का प्रयोजन है।

एक अद्वय ज्ञान का त्रिविध प्रकाश

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दते॥

(श्री भागवत १।२।११)

इसका अर्थ—तत्त्वविद् गण एक अद्वय ज्ञान को ‘तत्त्व’ कहते हैं। यह अद्वय या अखण्ड ज्ञान तत्त्व निर्विशेष सत्ता मात्र रूप में प्रकाश होने पर, ज्ञानी लोग उसे ‘ब्रह्म’ कहते हैं; अन्तर्यामी रूप में प्रकाश होने पर योगीगण उसे ‘परमात्मा’ रूप में निर्देश करते हैं और सर्वशक्ति समन्वित सच्चिदानन्द घन श्री मूर्तिरूप में प्रकाश होने पर भक्त लोग उसे ‘श्री भगवान्’ कहते हैं।

अपरोक्ष ज्ञान के फलस्वरूप जो तत्त्व साक्षात्कार होता है वह

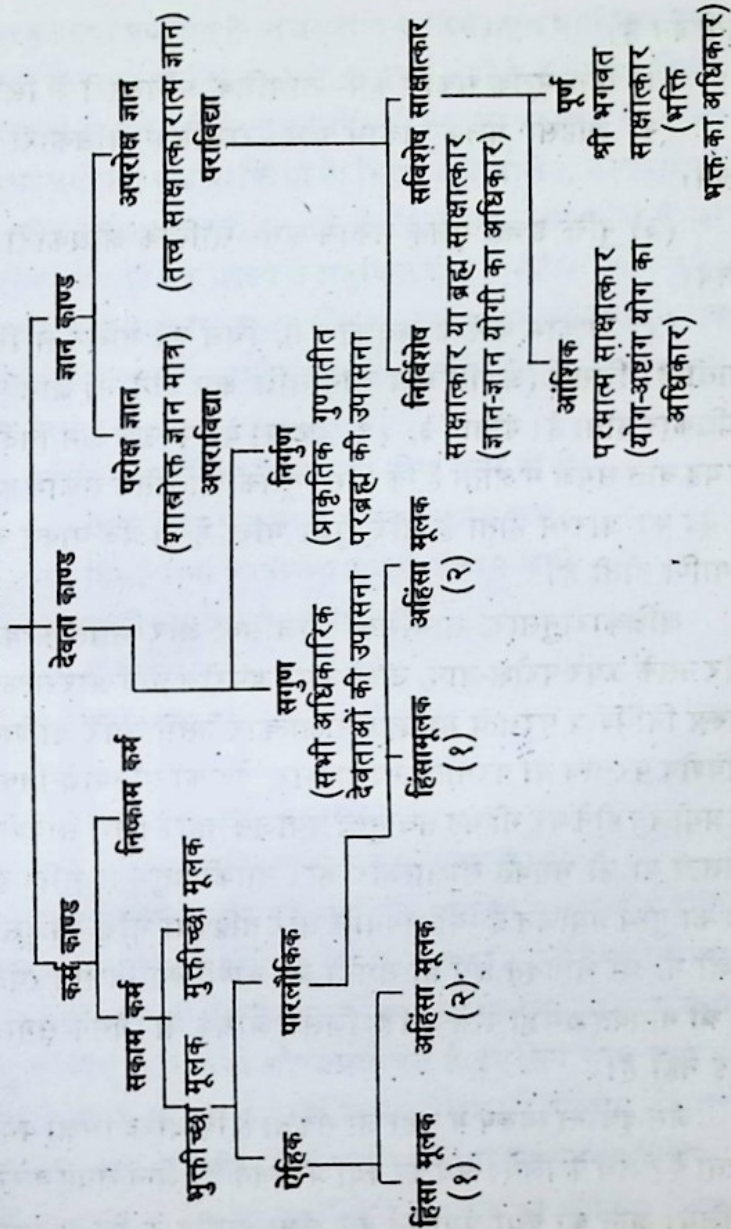
प्रधानतः दो प्रकार का है—(१) निर्विशेष या निर्विकल्प साक्षात्कार और (२) सविशेष या सविकल्प साक्षात्कार। निर्विशेष तत्त्व साक्षात्कार का दूसरा नाम ब्रह्म साक्षात्कार है; यह ज्ञान-योगी की अधिकार सीमा है। सविशेष तत्त्व-साक्षात्कार फिर आंशिक और पूर्ण भेद से दो प्रकार का है इसमें (१) परमात्म साक्षात्कार आंशिक तत्त्व साक्षात्कार है, यह अष्टांग योगी की अधिकार सीमा है और (२) श्री भगवत साक्षात्कार पूर्ण तत्त्व साक्षात्कार है, इसका अधिकार केवल भक्त योगी को ही है—“भक्त्याहमेकया ग्राह्यः”— (श्री भागवत ११, १४, २०)

स्वप्रकाश शुद्धा भक्ति या भागवत धर्म ही समस्त वेद वृक्ष का मुख्य फल।

भक्ति भी ज्ञान विशेष है (“भक्तिरपि ज्ञान विशेषो भवतीति” सिद्धान्त रत्नम—१, ३२)। यह कर्मयोगी, ज्ञानयोगी के या अष्टांग योगी के ज्ञान से भी विशेष ज्ञान है और योगादि द्वारा ढंका या स्पर्श भी नहीं है; यह विशुद्ध और स्वरूप सिद्धा, केवल या अनन्या प्रभृति नामों से प्रसिद्ध है।

एक ज्ञान विशेष या शुद्ध भक्ति का निष्काम कर्मादि भी कारण नहीं है यह एकमात्र यदृच्छालब्ध या अहैतुक भक्तमहत्संग और कृपादि से जीव के हृदय में संचारित होती है। यदि हम वेद विभाग की स्थिर भाव से पर्यालोचना करे तो यह समझेंगे कि,—भक्ति ही समस्त निगम कल्पतरु (वेदवृक्ष) का शेषफल है,—भक्ति ही समस्त वेदवाणी का विश्रामस्थल है; अतएव भक्ति ही सब जीवों का मुख्य

वेद का विभाग



प्रयोजन है।

(१) हिंसामूलक सकाम कर्म—तामसिक अधिकारी के लिये।

(२) अहिंसा मूलक सकाम कर्म—राजसिक अधिकारी के लिये।

(३) मुक्ति इच्छा मूलक सकाम कर्म—सात्विक अधिकारी के लिये।

(४) निष्काम कर्म के अनुष्ठान से, चित्त की मलिनता मिट जाती है। जिससे (अर्थात् फल भोगासक्ति क्षय होने से) ज्ञान का अधिकार होता है। गीता (३, १९, दृष्टव्य) वेद के उक्त क्रम निर्देश से यह बात समझ में आती है कि हिंसा मूलक, तामसिक सकाम कर्म से वेद का आरम्भ होता है और शुद्धा भक्ति में ही वेद वाक्य की समाप्ति होती है।

अधिकारानुसार, तामसिक, राजसिक और सात्विक कर्म और उसके ऊपर परोक्ष-ज्ञान, उससे ऊपर अपरोक्ष ज्ञान और तत्फल स्वरूप निर्विशेष परत्तत्त्व या ब्रह्म साक्षात्कार उससे ऊपर आंशिक सविशेष परत्तत्त्व या परमात्म साक्षात्कार, वेद का प्रतिपाद्य विषय या प्रयोजन होने पर भी यह सब मुख्य प्रयोजन नहीं है। पूर्ण सविशेष परत्तत्त्व या श्री भगवत् साक्षात्कार और उसकी हेतुभूता भक्ति ही वेद का मुख्य प्रयोजन है—श्री भगवान और तद्विषया भक्ति या दूसरे शब्दों में, श्री भागवत् धर्म ही समस्त वेद वाणी का विश्राम स्थल है। श्री भागवत् धर्म ही परम धर्म है; जिससे अधिक या जिसके समान कोई नहीं है।

जैसे दृष्टान्त स्वरूप में कहा जा सकता है कि दरिद्र भिक्षा क्यों करता है? अर्थ के लिये। अर्थ का क्या प्रयोजन है? अन्न संग्रह करने के लिये। अन्न का क्या प्रयोजन है? क्षुधा शान्ति के लिये। क्षुधा

शान्ति का क्या प्रयोजन है—सुख प्राप्ति के लिये। सुख प्राप्ति का क्या प्रयोजन है? सुख शान्ति का अन्य प्रयोजन नहीं है; यह दूसरे किसी प्रयोजन के अधीन नहीं है। सुख प्राप्ति ही सुख का प्रयोजन है। दरिद्र का मुख्य प्रयोजन सुख प्राप्ति ही है; भिक्षा अर्थोपार्जन, अन्नसंस्थान और भोजनादि भी प्रयोजन तो है किन्तु यह सभी गौण हैं जो एकमात्र सुख प्राप्ति के उद्देश्य से अनुष्ठित होते हैं, नहीं तो भोजनादि का न तो कोई प्रयोजन रहता और न उसकी सार्थकता रहती। वह सब मुख्य प्रयोजन के आधीन मात्र है, इसीलिये मुख्य प्रयोजन ही साध्य वस्तु है।

वेदादि शास्त्रों का उद्देश्य भी ठीक ऐसा ही है।

(१) हिंसा युक्त भुक्तीच्छा मूलक सकाम कर्म।

(२) हिंसा शून्य भुक्तीच्छा मूलक सकाम कर्म।

(३) मुक्तीच्छा मूलक सकाम कर्म।

(४) निष्काम कर्म।

(५) परोक्ष ज्ञान।

(६) अपरोक्ष ज्ञान।

(७) निर्विशेष ब्रह्म साक्षात्कार।

(८) आंशिक सविशेष परमात्म साक्षात्कार।

(९) सविशेष और परिपूर्ण श्री भागवत साक्षात्कार इतना सब प्रयोजन परिदृष्ट होने पर भी भगवत साक्षात्कार का एकमात्र कारण यह भक्ति ही वेदादि शास्त्रों का मुख्य प्रयोजन या परम साध्य वस्तु है और दूसरे सभी गौण प्रयोजन है इसलिये मुख्य प्रयोजन भक्ति के ही आधीन है; यहाँ तक कि सर्वाधीश श्री भगवान भी भक्ति के आधीन रहा करते हैं।—“अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।” (श्री भा० ६, ४, ६३) भक्ति निगम कल्पतरु का शेषफल है तभी

तो सर्वापेक्षा सुदुर्लभ सम्पद है। भक्ति की यह सुदुर्लभता भी उसके सर्वश्रेष्ठ होने का एक विशेष प्रमाण है।

शुद्धाभक्ति की सुदुर्लभता

जो वस्तु जितनी सुलभ होती है, उसके अधिकारी भी उतने अधिक होते हैं और जो जितनी दुर्लभ होती है। उसके अधिकारी की संख्या भी उसी तरह कम होती है। इस अनुपात में सकाम कर्मों की अपेक्षा निष्काम कर्मों की संख्या कम है; उसकी अपेक्षा ज्ञानी की और उसकी अपेक्षा योगी की संख्या कम है और भक्त की संख्या उनकी अपेक्षा और भी कम है; इसलिये भक्ति ही होती है—परम सुदुर्लभ। तभी शास्त्र में कहा है—

मुक्तानामपि सिद्धानाम् नारायण परायणः।

सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

श्री भा० (६. १४. ५)

इसका अर्थ—हे महामुने! जो लोग सिद्धि लाभ करके मुक्ति पद प्राप्त कर चुके हैं; ऐसे कोटि सिद्धों में एक भी हरि भक्त प्रशान्त चित्तवाला सुदुर्लभ है। उक्त श्लोक की व्याख्या में पूज्यपाद श्री चरितामृतकार ने भी लिखा है—

वेदानिष्ठ मध्ये अर्द्धेक वेद मुखे माने।

वेदनिषिद्ध पाप करे धर्म नाहि गने॥

धर्मचारी मध्ये बहुत कर्मनिष्ठ।

कोटि कर्मनिष्ठ मध्ये एक ज्ञानी श्रेष्ठ।

कोटि ज्ञानी मध्ये होय एक जन मुक्त ।

कोटि मुक्त मध्ये दुर्लभ एक कृष्ण भक्त। (श्री चैः। मध्य १६।)

इसलिये केवल भक्ति ही जीव का मुख्य प्रयोजन और भागवत धर्म ही वेदादि शास्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय तो है किन्तु शुद्धा भक्ति की सुदुर्लभता व स्वप्रकाशता के कारण सबको उसमें 'अधिकार' या 'श्रद्धा' लाभ करने का सौभाग्य नहीं होता; क्योंकि भक्ति या भागवत धर्म अनुष्ठान का वही 'अधिकारी' हो सकता है जिसने एक मात्र उसी जाति की भागवती श्रद्धा लाभ की है—(१)
 “श्रद्धावान जन होय भक्त्ये अधिकारी।—”

(श्री चै:।म।२२।३६)

इसके अतिरिक्त भक्ति के अनुशीलन में या श्रीकृष्ण भजन पथ में दूसरे किसी भी अधिकार का अर्थात् देश, काल, पात्रादि का विचार नहीं है। यथा

जेई भजे सेई बड़, अभक्त हीन छार।

कृष्ण भजने नाहि, जाति कुलादि विचार॥

(श्री चै: ३।४)

श्री हरि के भजन में सब देश, सब काल और सब अवस्था के लिये श्री भागवत में घोषित हुआ है—यथा (२।२।३६)

तस्मात् सर्वात्मना राजन हरिः सर्वत्रसर्वदा।

श्रोतव्यः कीर्तिवयश्च स्मर्त्तव्य भगवाननृणाम्॥

इसका अर्थ—हे राजन्! (श्री हरि सब-जीवों के अन्तर्यामी प्रियतम परमात्मा है) इसलिये श्री हरि ही सब देश, सब काल व सब अवस्था में सब मनुष्यों के लिये श्रवणीय कीर्त्तनीय व स्मरणीय है। च का प्रयोग ध्येय, पूज्य सत्सेव्य प्रभृति समझना चाहिये।

यदि किसी अनहोनी महा भाग्य के उदय होने से किसी ने भक्ति की मुख्य प्रयोजनीयता, उपादेयता और सर्वश्रेष्ठता समझकर, भक्ति

सम्बन्धीय श्रद्धा प्राप्त कर ली है, तो यह समझना चाहिये कि उसे भक्ति के अनुशीलन का अधिकार यदृच्छालब्ध भक्त महापुरुष के संग के कारण ही हुआ है। इसके अतिरिक्त इसका दूसरा कोई कारण नहीं हो सकता ।

इसलिये अहेतुकी महत-कृपादि-सापेक्ष भक्ति के अनुशीलन की प्रवृत्ति की अपेक्षा 'भुक्ति' 'मुक्ति' के अनुष्ठान की प्रवृत्ति साधारण जीवों में सहज ही होती है क्योंकि वह कर्मादि सापेक्ष है। तभी तो शास्त्र में कहा है—

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादि पुण्यतः।

सेयं साधन साहस्रैर्हरि भक्तिः सुदुर्लभाः॥

(भक्ति रसामृत सिन्धुधृत-तन्त्रोक्ति)

उक्त श्लोक का अर्थ है कि—निष्काम कर्मादि के अनुष्ठान से चित्त भोग की इच्छा से विरक्त होने पर, अभेद ब्रह्म चिन्तन रूप ज्ञान मार्ग के साधन द्वारा 'मुक्ति' सुलभ हो जाती है; या सकाम कर्मोक्त यज्ञादि पुण्य के अनुष्ठान द्वारा, इस लोक की सुख सम्पत्ति और परलोक में स्वर्ग सुख का भोग या भुक्ति सुलभ हो जाती है किन्तु यह हरि भक्ति इस प्रकार के अनेकों साधनों द्वारा भी प्राप्त नहीं हो सकती है।^१ अतएव जीव को जब तक अहेतुक महत संगीति के द्वारा भागवती श्रद्धा न उदय हो तब तक के लिये ही-गौण प्रयोजन के लिये सारे शास्त्रों को सचेष्ट होना पड़ा है। इसलिये जीव

१. अकामः सर्वकामो व मोक्षकाम उदारधी।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम। (श्री भा० २।३।१०)

को अधोगति से बचाने के लिये और क्रम से उन्नति के लिये 'भुक्ति' या कर्म का पथ है; फिर उससे क्रमशः निवृत्त कराकर उसकी अपेक्षा भी उन्नतर 'मुक्ति' या ज्ञान के पथ में जीवों को चलाने के लिये वेदादि शास्त्रों का प्रयास देखा जाता है। यही कारण है कि सभी शास्त्रों को जीव की स्वाभाविकी श्रद्धा अनुरूप तामसिक कर्म से लेकर मुक्ति पथ तक का उपदेश करना पड़ा है। श्री भगवान ने स्वयं भी उक्त व्यवस्था के अनुमोदन में श्री मदुद्धव को लक्ष्य करके कहा है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावत्ता।

मत्कथा श्रवणादौ व श्रद्धायावन्मजायते॥

(श्री भा० ११।२०।६)

इसका अर्थ—जब तक किसी विशेष भाग्य से अहैतुक महत्संगादि द्वारा) हमारी कथा (श्री हरि के नाम रूप गुण लीला कथा) के सुनने में श्रद्धा (निर्गुणी भागवती श्रद्धा) उदय न हो या (मुक्ति के उपाय स्वरूप) चित्तशुद्धि द्वारा भुक्तिच्छा की वासना नष्ट न हो तब तक (स्वाभाविकी श्रद्धानुरूप यथाक्रम से) वेद विहित कर्म करते रहो। इससे यह समझ में आ गया कि भक्ति य भागवत धर्म

अर्थ:—सुख वासना शून्य एकान्त भक्त या सब कामना वाले कर्मों अथवा मोक्षकामना वाले ज्ञानी जो भी हो, वह यदि (महत्संग के प्रभाव से) उदार बुद्धि है (अर्थात् सर्वोत्तमा शुद्धा भक्ति के अधिकारी) तो वह एकान्तिक भक्ति के साथ परम् पुरुष भगवान का ही भजन करेंगे।

(इस श्लोक में व्यक्त हुआ है कि इस विषय में श्रद्धा होने से ही सभी भक्ति के अधिकारी हो सकते हैं)

ही समस्त शास्त्रों का मुख्य तात्पर्य तो है किन्तु स्वप्रकाश भागवती श्रद्धा के सुदुर्लभता के कारण ही कर्मादि की व्यवस्था क्रम से संसार कूप मण्डूप जीव को 'भुक्ति' से क्रमशः मुक्ति समुद्र तक पहुँचाने की चेष्टा की गयी है परन्तु यह सब शास्त्रों का गौण अभिप्राय मात्र है। कुँए का भेदक जैसे मोचता है कि कुँए का विस्तार ही जगत की सीमा है। उसको जगत के विस्तार की सीमा का ज्ञान नहीं है।

जगत का यथार्थ विस्तार अनुभव कराने के लिये जिस तरह उसे क्रमशः वृहत से वृहत्तर जलाशय में रखते हुये अन्त में समुद्र में फेकना पड़ेगा—उसी तरह निम्नतम तामसिक अधिकारी को भुक्ति के पथ से क्रमशः सात्विक अधिकार उन्नमित कराकर या निष्काम कर्म के अनुष्ठान से, ज्ञान के अधिकार द्वारा 'मुक्ति' समुद्र में प्रतिष्ठित करने का सब शास्त्रों का गौण प्रयास है।

(श्री भा० ७।११।३२ दृष्टव्य)

ऐसा मुक्ति रूपी महासागर भी जिस शुद्धा भक्ति के उदय से गोष्पद जल तुल्य^१ तुच्छ लगता है—वही सब जीवों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

परत्तत्व की परिपूर्ण अनुभूति केवल शुद्धा भक्ति द्वारा ही साधित होती है

ज्ञान और अष्टांग योगादि के द्वारा परत्तत्व वस्तु का निर्विशेष और आंशिक साक्षात्कार तो हो सकता है किन्तु केवल शुद्धाभक्ति द्वारा ही परिपूर्ण साक्षात्कार लाभ किया जा सकता है—इस विषय में शास्त्र वाक्य यथा—

१. त्वत् साक्षात्कारणाहृद विशुद्धावस्थित तस्य में।

सुखानि गोष्पदायन्ते ब्रह्माण्यपि जगत गुरो।

यथेन्द्रिय पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः।

एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥

(श्री भा० ३।३२।३३)

इसका अर्थ—जिस तरह बहुत गुण वाले एक क्षीरादि द्रव्य चक्षु इत्यादि पृथक्-पृथक् इन्द्रिय द्वारा विभिन्न रूप में परिगृहीत होते हैं। उसी तरह एक ही भगवान् उपासना भेद से नाना रूप में प्रतिभात होते हैं।

उक्त भागवतीय श्लोक में भक्ति की प्रधानता और पूर्णता गूढ़ भाव से कही गयी है किन्तु स्थूल दृष्टि से सब उपासनायें समान कहने से भ्रम हो जाने की सम्भावना है। पूज्यपाद श्रीमद् रूप गोस्वामी कृत निम्नोद्धृत कारिका से उक्त श्लोक का अर्थ यथार्थ रूप से समझ में आता है। यथा—

तत्तत् श्री भगवत्येव स्वरूपं भूरिविद्यते।

उपासनानुसारेण भाति तत्तदुपासके॥

यथा रूपरसादीनां गुणानामाश्रयः सदा।

क्षीरादिरेक एवार्थो ज्ञायते बहुधेन्द्रियैः॥

दृशा शुल्को रसनया मधुरो भगवास्तथा।

उपासनाभिर्बहुधा स एकोऽपि प्रतीयते॥

जिह्वैव यथा ग्राह्यं तस्य नापरैः।

यथा च चक्षुरादीनि गृह्यन्त्यर्थं निज निजम्॥

(हरि भक्ति सुघोदय १४, ३६)

श्री नरसिंहदेव के प्रति प्रह्लाद की उक्ति—हे जगतगुरु। तुम्हारे साक्षात्कार जनित जिस विशुद्धानन्द समुद्र में मैं अवस्थित हूँ, उसकी तुलना में निर्विशेष ब्रह्मानन्द भी मुझे गोष्पद-जल की तरह बहुत ही कम बोध हो रहा है।

तथाऽन्या बाह्य करणस्थानीयोपासनाऽरिवला।

भक्तिस्तु चेतः स्थानीया तत्तत् सर्वार्थलाभतः॥

(लघुभागवतामृत १।४७७)

इसका अर्थ—एक भगवान में बहुत प्रकार के स्वरूप की विद्यमानता रहने पर भी उपासनानुसार प्रत्येक उपासक को उसके उपयोगी स्वरूप का ही प्रकाश होता है। जिस तरह रूप रसादि बहुत प्रकार के गुण वाले एक दुग्धादि द्रव्य पृथक् पृथक् इन्द्रिय द्वारा पृथक्-पृथक् रूप में प्रतीत होता है अर्थात् चक्षु द्वारा शुल्क, रसना द्वारा मधुर इत्यादि अनुभूत होता है। जिस तरह दुग्धादि की मधुरता केवल रसना ही ग्रहण करने में समर्थ है, दूसरी इन्द्रिय नहीं और जैसे आँखें आदि रूप रसादि में से अपने अपने विषय ग्रहण करने में समर्थ है किन्तु चित्त समस्त इन्द्रियों के ग्राह्य विषय को ग्रहण करता है। उसी तरह बाहरी इन्द्रिय स्थानीय अन्यान्य उपासना वर्ग केवल अपने उपयोगी स्वरूप को ही ग्रहण करने में समर्थ है—किन्तु चित्त स्थानीय भक्ति अपनी उपासना के विषय के समस्त स्वरूप को ग्रहण कर सकती है। तभी तो भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठता के सम्बन्ध में नारद भक्ति सूत्राकार ने कहा है—

“ऊँ सा तु कर्मज्ञान योगेभ्योऽसधिकतरा।”

(नारद भक्ति सूत्र २५)

इसका अर्थ—यह भक्ति कर्म-ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ है।

भक्ति या मुख्य प्रयोजन के विषय में श्रद्धा के अभाव के समय में ही गौण प्रयोजन की व्यवस्था।

भक्ति साधन-जगत की महारानी-स्वरूप तो है किन्तु जिसे

उसका अधिकार नहीं हुआ है, उसके लिये अपने अधिकारानुरूप साधन का आश्रय ग्रहण करना ही सर्वथा युक्ति संगत है। भक्ति या भागवत धर्म में केवल श्रद्धालु होना या न होना ही उस विषय में अधिकार और अनाधिकार का लक्षण है। इसके अतिरिक्त भक्ति के अनुशीलन में दूसरे किसी अधिकार का विचार नहीं है। 'मृत संजीवनी' सर्वरोगहारिणी और जीवनदायिनी तो है; परन्तु जिन लोगों ने उस विषय में श्रद्धान्वित होने का सौभाग्य लाभ नहीं किया, उनके लिये—जिनकी जैसी व्याधि है, उनके उपयुक्त दवा छोड़कर दूसरी दवा जैसे उपयोगी नहीं होती; उसी तरह जिनको जैसी 'श्रद्धा' है उसके अनुरूप धर्म ही उनके लिये उपयुक्त या रुचिकर हुआ करता है। स्वाभावानुरूप स्वधर्म के अनुष्ठान से किंचित चित्त शुद्ध होने पर उससे ऊपर के धर्माचरण में क्रमशः अधिकार लाभ होता है। तभी उसे उस धर्म की श्रेष्ठता की उपलब्धि होती है और उसके अनुष्ठान भी रुचिकर होते हैं। भक्ति स्वतन्त्रा व सर्वश्रेष्ठा है; भक्ति के समान व अधिक कोई साधन नहीं है क्योंकि सभी भक्ति के आधीन—भक्ति के अनुगत है, इसलिये यदि कोई भी व्यक्ति किसी भी अवस्था में भक्ति महारानी की शरण ले सका तो इसमें सन्देह नहीं कि वह साधन का चरम फल जो वेद में कहा मुख्य प्रयोजन है उसे लाभ कर सकता है। दूसरे साधनों के सभी फल आनुसंगिक रूप में ही प्राप्त हो जाते हैं। यथा—

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञान वैराग्यतश्च यत्।

योगेन दानदर्पेण श्रेयोभिरितरैरपि॥

सर्व मद्भक्ति योगेन मद्भक्तो लभतेऽन्जसा।

स्वर्गापवर्ग मद्भाम कथञ्चिद्यदिवान्छति॥

(श्री भा० ११।२०।३२-३३)

इसका अर्थ—कर्मद्वारा, तपस्या द्वारा, ज्ञान और वैराग्य द्वारा, योग द्वारा, दान-धर्म द्वारा अथवा अन्य तीर्थव्रतादि द्वारा जो कुछ लाभ होता है,—हमारे भक्त को उनकी कोई इच्छा नहीं रहती है, तब भी यदि कभी भजन की पुष्टि के लिये वह कभी स्वर्ग, मोक्ष या उसके अतिरिक्त वैकुण्ठ लोक आदि की प्रार्थना करता है तो वह हमारी भक्ति योग द्वारा अनायास ही पा जाता है।

किन्तु यह बात पहले कही जा चुकी है कि भक्ति की यथार्थ महिमा उपलब्ध करके उसमें श्रद्धालु होकर एक मात्र उसका आश्रय ग्रहण करना—किसी एक अनिर्वचनीय भाग्य का फल है।

मुख्य प्रयोजन के आनुगत्य में ही अधिकार या श्रद्धानुरूप स्वधर्म का अनुष्ठान करना ही वेदादि शास्त्र का विधान।

अधिकारी न होकर श्रेष्ठतर धर्म का अनुष्ठान अनिष्ट का कारण होता है, इसलिये पूर्वोक्त क्रमरीति ही वेद विहित है, किन्तु एक साथ ग्रहण नहीं करना चाहिए अधिकारी होने पर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्यों की भोग की प्रबल इच्छा रहने पर सकाम कर्म प्रतिपादक वेद ग्रहणीय है। विषय भोग सुख की इच्छा कम होने पर क्रमशः उसमें वितृष्णा होने पर निष्काम कर्म प्रतिपादक

वेदग्रहणीय है। इसके अनुष्ठान से चित्त शुद्ध होने पर ज्ञान प्रतिपादक वेद ग्रहणीय है या जब किसी अवस्था में यदृच्छालब्ध महत्कृपादिलाभ द्वारा मोक्ष की इच्छा भी समाप्त हो जाय तभी ज्ञान विशेष या भक्ति प्रतिपादक वेदग्रहणीय है। अधिकार के अनुसार इस प्रकार से उपदेश किये हुये वेद ग्रहणीय है। अनाधिकार चर्चा सर्वथा वर्जनीय है। निम्नाधिकारी के लिये अपने धर्म का अनुष्ठान ही उसके उन्नति का कारण होता है। इसलिये श्री भगवान ने स्वयं ही गीता में कहा है—

श्रेयान स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३।३५)

इसका अर्थ—दूसरे के उत्कृष्ट धर्म की अपेक्षा अपना अपकृष्ट धर्म का (अपने अधिकार के अनुसार) अनुष्ठान ही श्रेयस्कर (उत्तम) है। स्वधर्म के अनुष्ठान में मरना भी अच्छा है। किन्तु (बिना श्रद्धा के) दूसरे धर्म का अनुष्ठान भय देने वाला है।

मुख्य प्रयोजन की अवज्ञा या उसे अस्वीकार करने से किसी भी मंगल लाभ की सम्भावना नहीं।

अधिकार के अनुसार ही धर्म आचरणीय तो है किन्तु मुख्य प्रयोजन को अस्वीकार या उसकी अवज्ञा करने से कोई भी साधना फल प्रदान नहीं कर सकती।

अधिकारी के अनुसार उस समय वह साधना उपादेय होने पर भी और उस समय उसका प्रयोजन होने पर भी वह है तो गौण ही

साधना। मुख्य प्रयोजन तो सर्वदा मुख्य ही रहेगा।

किन्तु वेदादि शास्त्र ने किसी-किसी स्थान में सकाम कर्मादि को मुख्य प्रयोजन की तरह निर्देश किया है। उसे तो वैसा ही जानना चाहिए। जैसे माता बालक को अवस्थ अवस्था में औषधि सेवन कराने के लिये पहले थोड़ी मिठाई आदि द्वारा उसे प्रलुब्ध करती है।

वस्तुतः वेद विहित सकाम कर्मादि ने भी परम्परा सम्बन्ध से भक्ति को ही निर्देश पूर्वक, एकमात्र भक्ति ग्राह्य श्री भगवान की जयवार्ता घोषणा की है। “सर्वेवेदायत्पदमामनन्तीत्यादि” (कठोप० १।२।१५) अर्थात् सारे वेद, जिन पूज्यनीय का कीर्तन करते हैं, इत्यादि श्रुतिवाक्य ही इसका उज्ज्वल प्रमाण है। भक्ति का आसन सर्वदा सर्वोपरि विराजित है। भक्ति का सम्बन्ध छोड़कर भवरोग से मुक्त होने का कोई उपाय नहीं है। जैसे राजा की अवज्ञा करके कर्मचारियों की शरण लेने से किसी भी सुफल प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती है, किन्तु राजद्वेषी न होने से राज कर्मचारी लोग अपने सेवकों को अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार पुरस्कार आदि प्रदान करने में समर्थ होते हैं। वैसे ही महारानी स्वरूपिनी भक्ति की अवज्ञा करने वाले व्यक्ति को भक्ति के आधीन दूसरे साधनों का आश्रय ग्रहण करने पर भी वह सब साधनाएँ साधक के साधनानुरूप पुरस्कार प्रदान करने में समर्थ नहीं होती, अपितु तिरस्कार स्वरूप विपरीत फल ही देती है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि भक्ति के अनुगत होकर साधक अपने अधिकार के अनुसार, भक्ति के आधीन किसी भी साधना का आश्रय ग्रहण करे, तो अवश्य सुफल होगा और जो साक्षात् राजभक्त या राजा

के सेवक है। उन्हें पुरस्कार आदि जिस तरह स्वयं राजा द्वारा दिया जाता है राजकर्मचारियों को कोई अपेक्षा नहीं की जाती, उसी तरह जो साक्षात् भक्ति रानी के सेवक है, उन्हें पुरस्कार प्राप्ति के लिये दूसरे साधना की कोई अपेक्षा नहीं करनी पड़ती है। भक्ति रानी भक्त को श्रीभगवत् सेवारूप श्रेष्ठतम पुरस्कार प्रदान करती है— जिन्हें सालोक्यादि मुक्ति भी तुच्छातितुच्छ मालुम होती है यथा—

सालोक्य सर्षि समीप्य सारूप्यैक्त्वमप्युत।

दीयमान न ग्रहणन्ति बिना मत्सेवनं जनाः॥

(श्री भा० ३।२६।१३)

इसका अर्थ—कपिलदेव ने माता से कहा, हे माता! हमारे भक्त लोग केवल हमारी सेवा को छोड़कर, हमारे साथ एक लोक में वास, हमारे समान ऐश्वर्य हमारे समान रूप, हमारे समीप अवस्थान, हमारे संग सायुज्य—इन पाँच प्रकार की मुक्ति देने पर भी ग्रहण नहीं करते।

इसलिये यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि अधिकारानुरूप कर्म, ज्ञान, योग, किसी भी साधना के अनुष्ठान द्वारा जीव को यथोपयुक्त मंगल लाभ हो सकता है—यदि वह साधन किसी भी रूप में भक्ति की अवज्ञापूर्वक नहीं किया जाता है।

उक्त उद्देश्य की ओर लक्ष्य रखकर समस्त शास्त्र वाक्य कहे गये हैं। तभी तो देखने में आता है कि कर्मकाण्ड में यज्ञादि के साथ यज्ञेश्वर हरि ही जययुक्त है। तभी तो व्रत, श्राद्धादि, नित्य और नैमित्तिककर्म समूह के अनुष्ठान में मन्वादि के साथ भक्ति का प्रधान अंगस्वरूप श्री भगवन्नाम सर्वत्र जययुक्त रहता है। शास्त्र वाक्य यथा—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्द्रवस्तुतः।

सर्वं करोति निश्छिद्रं नामकीर्तनं तव॥

(श्री भा० ८।२३।१६)

इसका अर्थ—मन्त्र में स्वरभ्रंशादि द्वारा तन्त्र में क्रमविपर्य्यादि द्वारा और देश काल, पात्र और वस्तु में अशौचादि और दक्षिणा द्वारा जो सब दोष हो जाते हैं। वह सभी श्री भगवन्नाम कीर्तन से निर्दोष हो जाया करते हैं।

भक्ति सम्बन्ध वर्जित कर्मज्ञानादि का अनादर।

वर्णाश्रमाचार रूप स्वधर्म या कर्मकाण्डोक्त सभी धर्म यदि भक्ति सम्बन्ध को छोड़कर अनुष्ठित होते हैं तो वह अधर्म ही की तरह नीचे गिराते हैं शास्त्र का वाक्य यथा—

मुखबाहु रूपादेभ्यः पुरुषास्याश्रमैः सह।

चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणौर्विप्रादयः पृथकाः॥

य एषां पुरुषं साक्षादात्म प्रभवमीश्वरम्।

न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भृष्टाः पतन्त्यधः॥

(श्री भा० ११।५।२-३)

इसका अर्थ—“विराट् पुरुष के मुख बाहु जंघा और चरण से सत्त्वादि गुणों के तारतम्यानुसार, पृथक्-पृथक् चार वर्णों और आश्रमों की उत्पत्ति हुई है। जो उक्त समस्त वर्णाश्रमों के साक्षात् जनक स्वरूप ऐश्वर्यशाली पुरुष को नहीं भजते वह उस पुरुष की अवज्ञा करते हैं, इसलिये कर्म से प्राप्त अधिकार से च्युत और नीचे गिरते हैं।”

ज्ञानकाण्ड के सम्बन्ध में भी यही बात है। जो ज्ञान, भक्ति-

सम्बन्ध वर्जित है, वह मंगलकर न होकर प्रबल अनर्थ का ही कारण होता है। इस विषय में श्रुति ने स्वयं ही कहा है—

अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ (ईश १६)

इसका अर्थ—जो अविद्या अर्थात् भक्तिवर्जित कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वह लोग घोर तामस लोक में जाते हैं; और जो लोग भक्तिवर्जित ज्ञान में रत हैं, वह लोग उसकी अपेक्षा और घोरतर तामस लोक में गमन करते हैं। श्रीमद् भागवतोक्त ब्रह्म वाक्य; यथा—

श्रेयः सृतिं भक्तिं मुदस्य ते विभो।

क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये॥

तैषामसौ क्लेशल एव शिष्यते।

नान्यद्यथा स्थूल तुषावघातिनाम्॥

(श्री भा० १०।१४।४)

इसका अर्थ—जिसकी कृपा से अभ्युदय व अपवर्ग प्रभृति सब प्रकार का मंगल लाभ हुआ करता है, हे विभो! तुम्हारी ऐसी भक्ति को छोड़कर जो लोग केवल ज्ञान लाभ के लिये कष्ट स्वीकार करते हैं, जो लोग तुम्हारा सर्वेश्वरत्व अस्वीकार करके केवल आत्मज्ञान के लिये चेष्टा करते हैं, उन्हें कुछ भी लाभ नहीं होता, उनकी सत्तामात्र अवशिष्ट रह जाती है और कुछ भी संचय नहीं होता, केवल स्वाभाविक सत्ता ज्ञान ही रह जाता है, इसलिये यही कहना पड़ेगा कि ध्यान की थोथी भूसी कूटने वाले की तरह उन्हें क्लेश मात्र ही लाभ होता है।

शास्त्रों का सारांश यह है कि भक्ति के सम्बन्ध बिना, मन्त्री

का मन्त्र, तपस्वी का तप, कर्मी का कर्म, ज्ञानी का ज्ञान, योगी का योग कभी सुफल प्रदान नहीं कर सकते। भक्ति ही साधन जगत् की महारानी है; भक्ति ही सर्व प्रधान साध्य व साधना है। कर्म, ज्ञान और योग, सभी भक्ति के मुखापेक्षी हैं असलिये इनके फल भी भक्तिफल की तुलनामें अति तुच्छ है।

भक्ति मुख निरीक्षक कर्म योग, ज्ञान।

एई सब साधनेर अति तुच्छ फल।

कृष्ण भक्ति बिने ताहा दिते नारे बल॥

(श्री चै०। म० २२)

इसका अर्थ—कर्म, योग, ज्ञान भक्ति के मुख निरीक्षक है। इन सब साधनों का छोटा-सा फल भी बिना भक्ति के प्राप्त नहीं हो सकता।

भक्ति ही सब साधनाओं और सब सिद्धियों की जीवन-स्वरूपिणी है। प्राणहीन देह जैसे वर्जनीय है। उसी तरह भक्ति सम्बन्ध रहित साधना सर्वदा परित्यज्य है। शास्त्र वाक्य यथा—

जीवन्ति जन्तव सर्वे यथा मातरमाश्रिताः।

तथा भक्ति समाश्रित्य सर्वा जीवन्ति सिद्धयः॥

(ह०म०वि० ११।५६६ धृत बृहन्नारदीय वाक्य)

इसका अर्थ—जिस तरह जीवगण माता को अवलम्बन करके जीवन धारण करते हैं, उसी तरह भक्ति का आश्रय करके सब सिद्धियाँ भी जीवन धारण किया करती हैं।

जिस तरह स्वामी का सम्बन्ध त्याग करके, स्वामी के आत्मीय पुरुषों की सेवा कुल स्त्री के लिये व्यभिचार के समान है; उसी तरह भक्ति का सम्बन्ध वर्जित होने से श्रुति स्मृति विहित निखिल कर्म भी व्यभिचार में परिणत हो जाते हैं। इस विषय में शास्त्र वाक्य,

यथा—

विष्णुभक्ति विहीनानाः श्रौता स्मार्तश्राक्रियः।

काय क्लेश फलं तासां स्वैरणी व्यभिचारवतः॥

इसका अर्थ—विष्णु भक्ति विहीन होने से, श्रुति और स्मृति शास्त्र विहित सभी कर्म कुलटा की तरह व्यभिचार युक्त ही होते हैं; अतएव उनके करने से केवल कष्ट मात्र ही मिलता है।

उसी तरह शाखानुशीलन में जो विद्या, भक्ति के प्राप्ति करने में अनुकूल न हो, भक्ति की महिमा उपलब्धि न कराये, तो वह विद्या अतिशय निकृष्ट है। शास्त्र वाक्य, यथा—

अन्तं गतो अपि वेदानां सर्व शास्त्रार्थ वेद्यपि।

यो न सर्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम् ॥

(ह०म०वि० १०।३०३ धृत गारुड वाक्य)

इसका अर्थ—वेद का अन्त पाकर भी और सब शास्त्रों का अर्थ जानकर भी यदि श्री हरि में भक्ति नहीं हुई तो उसे पुरुष अधम ही जानना चाहिये।

यहाँ तक कि, जिन शास्त्रों में भक्ति सम्बन्ध वर्जित हुआ है, जिनमें भक्ति की प्रतिकूलता दिखाई देती है, वह शास्त्र शास्त्र कहे जाने योग्य नहीं हो सकते। ब्रह्मा की तरह भी यदि कोई रचयिता है, तब भी ऐसे शास्त्र अनुशीलन योग्य नहीं है, यह शास्त्र का अनुशासन है; यथा—

यस्मिन् शास्त्रे पुराणे वा हरिभक्तिर्न दृश्यते।

श्रोतव्यं नैव तत्शास्त्रं यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत्॥

(जैमिनि भारत)

इसका अर्थ—जिन शास्त्रों में या जिन पुराणादि में हरिभक्ति दृष्टि गोचर न हों, तो ऐसे शास्त्र यदि ब्रह्मा ने भी रचे हो तो भी सुनने योग्य नहीं है।

भक्ति ही सर्व शास्त्र वन्दनीया और सर्व निरपेक्ष साधन।

अतः यह सर्वशक्ति समन्वित स्वयं भगवत् साक्षात्कार कराने वाली भक्ति ही वेदादि सब शास्त्रों की वन्दनीया है। वेद का मुख्य प्रतिपाद्य और जीव का परम पुरुषार्थ—भक्ति ही है। इस परम शुद्ध और महामहिमान्विता भक्ति के उद्देश्य से ही सब शास्त्रों के विधि निषेध कहे गये हैं। किञ्चित सूक्ष्म भाव से चिन्ता करने से यह बात समझ में आ जाती है। शास्त्र में कहा है—

स्मर्त्तव्य सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचितः।

सर्वे विधि निषेधाः स्युरेतयोरेव किंकरा॥

(पद्म पुराण उत्तर खण्ड ४२ अःवृहत् सहस्रनाम
खोत्र ६७ श्लोक)

इसका अर्थ—सब शास्त्रों का विधि निषेध दो के ही अधीन है—(१) श्री हरि को सर्वदा स्मरण रखना (२) उन्हें कभी न भूलना।

इन समस्त शास्त्र-निर्देश से हम यह समझ सकते हैं कि जिन्हें समस्त वेदरूपी वृक्ष के सारफल भक्ति की सेवा का अधिकार नहीं प्राप्त हुआ उन्हें भक्ति के आनुगत्य में ही, भक्ति के आधीन कर्म ज्ञानादि दूसरे सब साधनों का अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है किन्तु जो भक्ति के अधिकारी हैं, वह दूसरे किसी भी धर्म के दूसरे किसी भी विधि निषेध के आधीन नहीं हैं। तभी तो सब शास्त्रों का सारमर्म यह है कि, हे जीव! यदि भगवान को वश में करने वाली तथा सब अभीष्ट पूर्ण करने वाली भक्तिरानी के अभय चरण कमलों को एकान्त भाव से हृदय में धारण कर सकते हों, तो फिर उनके परिजन स्वरूप दूसरे धर्म—दूसरे साधना के चरणाश्रय करने का प्रयोजन क्या है? किन्तु जब तक भक्तिरानी का सन्धान न पाओ, तब तक

उनकी ही कृपा पाने के लिये अपने अधिकारानुसार उनके परिजनों की सेवा में लगे रहो। इस उद्देश्य को व्यक्त करने के लिये वेद का विभाग किया गया है—इस उद्देश्य के प्रति लक्ष्य करके ही वेदादि शास्त्रों में विधि निषेध का वर्णन किया गया है। इसलिये जिन्हें किसी अनिवर्जनीय भाग्योदय होने से भक्ति देवी की सेवा का अधिकार प्राप्त हो गया है उनके लिये तो सब कर्म, ज्ञान, योग यहाँ तक कि वर्णाश्रमादि सारे अनुष्ठान भी निष्प्रयोजनीय है—किन्तु कोई भी अवज्ञा के योग्य नहीं।

भक्ति या भागवत धर्म ही सर्वगुह्यतम विद्या।

सारे उपनिषद का सार गीता में करुणामय भगवान ने अर्जुन को लक्ष्य करके जगत को इसी तत्त्व का उपदेश किया है यही समस्त गीता का सार है, इसलिये इसको ही अपने सभी उपदेशों में “सर्वापेक्षा गुह्यतम परम वाक्य” बताकर श्री भगवान ने प्रतिज्ञापूर्वक उल्लेख किया है; यथा—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु में परमं वचः।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

मन्मना भव मदभक्तो मद्याजी माँ नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वाम् सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इसका अर्थ—“सर्वापेक्षा गुह्यतम हमारा परम वाक्य फिर सुनो—तुम हमारे प्रिय हो, हमारे वाक्य पर दृढ़ विश्वास रखते हो, इसलिये हम तुम्हारे हित की बात कहेंगे। तुम हममें चित्त लगाओ, हमारे भक्त बनो और हमारा अर्चन (पूजन) करो; हमें नमस्कार

करो, हमें ही प्राप्त होंगे। हम प्रतिज्ञा करके कहते हैं, तुम हमारे प्यारे हो। तुमने जिन हमारी पूर्व आज्ञा को धर्म समझ कर स्थिर किया है, उन सभी धर्मों का परित्याग करके एकमात्र हमारी ही शरणापन्न हो। हमारी इस शेष आज्ञा को ही बलवती समझकर ग्रहण करो। हम तुम्हें इन सब धर्मों के त्याग के कारण जो पाप हैं उससे मुक्त कर देंगे, तुम शोक न करना।”

मीमांसा शास्त्र का यही नियम है कि पूर्वविधि की अपेक्षा परविधि बलवान होती है। तभी तो श्री चरितामृतकार ने लिखा है—

पूर्व आज्ञा वेद धर्म, कर्म योग ज्ञान।

सब साधि शेष आई आज्ञा बलवान॥

आई आज्ञावले भक्त्ये श्रद्धा यदि होय।

सर्व कर्म त्याग करि से कृष्ण भजय॥

इसका अर्थ—वेद में पहले कर्म, योग, ज्ञान का उपदेश किया है बाद में यह उपदेश किया कि कृष्ण भजन ही श्रेष्ठ है। बाद की आज्ञा को बलवान समझकर यदि भक्ति में किसी को श्रद्धा हो तो वह कर्म योग ज्ञान को छोड़कर भक्ति ही करेगा।

एकमात्र भक्ति के उदय से ही समस्त विधि निषेध का बन्धन टूट जाता है।

इसलिये उस समय तक ही वेदोपदिष्ट धर्म कर्मादि की सार्थकता है जब तक कि भक्ति देवी की सेवा का अधिकार प्राप्त नहीं होता है। शुद्धा भक्ति का अधिकारी होने से फिर वह किसी विधि निषेध का बाध्य नहीं है। जिनके लिये सब विधि निषेध है उनकी शरण लेने पर वह सब आप ही क्षीण हो जाते हैं। एकमात्र

भक्ति के अनुष्ठान से सभी अनुष्ठान सुसम्पन्न होते हैं। जो भक्ति के अनुष्ठाता हैं, वह श्री हरि को छोड़कर किसी के ऋणी नहीं हैं, वास्तविक स्वतन्त्रता उन्हीं को है तभी तो शास्त्र ने कहा है—

देवर्षि भूताप्त नृणां पितृणां।

न किंकरो नाय मृणी च राजन ।

सर्वात्मना य शरणम् शरण्यं।

गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तुम॥ (श्री भा० ११।५।४१)

इसका अर्थ—जो शास्त्र विहित कर्मों का परित्याग करके सम्पूर्ण रूप से शरणागत प्रतिपालक मुकुन्द के शरणापन्न हों गये हैं वह देव, ऋषि, प्राणी, कुटुम्ब और पित्रादि के फिर ऋणी नहीं रहते, श्री भगवान का दास किसी का भी दास नहीं होता।

उक्त सब शास्त्र वाक्य का सार मर्म यह है कि स्वधर्म त्याग करने से ही लोग शुद्धा भक्ति के अधिकारी नहीं हो जाते अपितु यदृच्छालब्ध शुद्धाभक्ति का अधिकार उत्पन्न होने से सब स्वधर्म आप ही छुट जाते हैं। जो लोग भक्ति के अधिकारी हैं उनका कोई दूसरा कृत्य न रहने पर भी कहीं-कहीं उन्हें कर्म करते देखा जाता है। उससे यह समझना चाहिए कि उनका उद्देश्य केवल यही है कि निम्नाधिकारियों की बुद्धि विचलित न हो और लोग स्वधर्म में लगे रहे।^१

१. यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते॥ (गीता ३।२१)

अर्थ—श्रेष्ठ व्यक्ति जो आचरण करते हैं, साधारण लोग उनका ही अनुष्ठान किया करते हैं और महत् लोग जो कुछ प्रमाण कर देते हैं, साधारण लोग भी उसके अनुसार करते हैं। इसलिये तुम लोकरक्षा के लिये कर्मों का अनुष्ठान करो।

मुख्य या परम धर्म भक्ति के संयोग और वियोग के अनुसार ही समस्त धर्माधर्म का विचार।

यह कहना ही यथेष्ट होगा कि शास्त्रों में जो कुछ धर्माधर्म उक्त हुआ है वह सभी एकमात्र भक्ति के उद्देश्य में ही पर्यवसित है भक्ति का परित्याग करके जो सब धर्म कर्म किये जाते हैं उन्हें अधर्म ही जानना चाहिए। और भक्ति में जिन्हें अधिकार प्राप्त हो चुका है। उनका आचरित अधर्म भी धर्म हो जाता है, इसलिये भक्तिका उत्कर्ष और भक्ति की प्रयोजनीयता जानने के लिये और अधिक प्रमाण की क्या आवश्यकता है? शास्त्रों ने कहा है,—

धर्मो भवत्याधर्मोऽपि कृतो भक्तैस्तवाच्यत।

पापं भवति धर्मोऽपि तवाभक्तैः कृतो हरे॥

(ह० भा० वि० १०।६१ धृत स्कंद रेवा खण्ड)

इसका अर्थ—हे हरे! आप के भक्त का किया हुआ अधर्म भी धर्म के निमित्त हो जाता है; और आपके अभक्त का किया हुआ धर्माचरण पाप मानने योग्य है।

अधिक क्या कहें, हरि भक्ति के संयोग और वियोग सम्बन्ध से जीव का यथाक्रम से दैव और असुर भाव का निर्णय होता है। इसीलिये शास्त्र में विष्णुभक्ति हीन जन स्पष्टतः 'असुर'रूप में ही कहे गये हैं।

द्वौभूतसर्गो लोकहस्मिन् दैव आसुर एव च।

विष्णुभक्ति परो दैव आसुरस्तद विर्पययः॥

(हरि भ० १५।३६६ धृत अग्नि पुराण)

इसका अर्थ—दैव असुर भेद से इस लोक में दो प्रकार की जीव सृष्टि है विष्णु भक्त गण दैव और इसके विपरीत अर्थात् जो भक्तिहीन है वे असुर हैं।^१

तभी तो देखने में आता है कि भक्ति सम्बन्ध छोड़कर तपस्या, ज्ञान और योगादि का प्रबल अनुष्ठान करने पर भी रावण, वाण, वृक, पौण्ड्रक, कंस, क्रौन्च, अन्धक प्रभृति नृपति गण अपने व जगत के अमंगल स्वरूप ही हुए हैं और उनकी गिनती असुर में ही हुई है और दूसरी तरफ केवल भक्ति का सम्बन्ध लाभ करके, बच्चा होने पर भी ध्रुव, विद्याहीन होने पर भी राजेन्द्र, कुरुपिणी होने पर भी कुब्जा, निर्धन होने पर भी सुदामा विप्र, वंश गौरव वर्जित होने पर भी विदुर और शौर्यहीन होने पर भी उग्रसेन श्री भगवान को प्राप्त करके समस्त जगत द्वारा प्रणाम किये जाने योग्य और मंगलस्वरूप हुए। न तो ज्ञान की अपेक्षा है न योग की अपेक्षा—देवता, गन्धर्व, मनुष्य, पशु, स्थावर, जंगम, जो भी हो विद्याहीन होने पर भी यदि उन्होंने किसी भाग्य से केवल इस विषय में श्रद्धालु होकर भक्ति का आश्रय ग्रहण किया है, तो वही पूर्णकाम हो गये हैं, उन्होंने सब कुछ पाने योग्य पा लिया है—जगत को और अपने को धन्य कर दिया है। अहो! भक्ति की ऐसी महिमा। जाति विद्यारूप, कुलादि, किसी की भी अपेक्षा न करके, सर्वनिरपेक्ष भक्तिरानी अपने अनुगत जनो को सर्वाभीष्ट प्रदान करती है।

तभी तो नारद जी ने अपने भक्ति सूत्र में कहा है

ॐ नास्ति तेषु जाति विद्यारूप कुल धनक्रियादिभेदः।

(७२) अर्थात् भक्त की जाति, विद्या, रूप कुल धन और क्रियादि किसी की भी अपेक्षा नहीं है। ऊँ स तरति स तरति स लोकान्तारयतीत्॥ (५०) अर्थात् यह बात नहीं है कि वह लोग स्वयं ही उद्धार हो जाते हैं किन्तु सब लोगों की रक्षा भी किया करते हैं। उं मोदन्ति पितरो नृत्यन्ति देवता सनाथा चेयं भूर्भवति। (७१) तब उनके सौभाग्य से पितृलोग आनन्दित होते हैं, देवता नृत्य करते हैं, यह पृथ्वी अपने को सनाथा समझती है।

भारतीय आर्य और आचार्यगण सभी भक्ति के शरणार्थी थे।

तभी तो शास्त्र में देखा जाता है कि भारत के सर्वप्रधान गौरव के वस्तु प्राचीन आर्य ऋषियों में ऐसा कोई नहीं था, जिसने अमला भक्ति का आश्रय न ग्रहण किया हो। बृह्मादि देवगण से लेकर, चतुःसेन नारद, विश्वामित्र, भृगु, जमदग्नि भरद्वाज, गौतम, अत्रि, शुक, व्यास, वशिष्ठ, पिप्पलायन, आर्विहोत्र, कश्यप लोमहर्षण, शौनक, गर्ग, दालभ्य, वैशम्पायन, अंगिरा, पराशर, पौलस्त्य, मार्कण्डेय, अगस्त्य, आदि सभी परम भागवत थे। इन सबने भक्ति की महिमा प्रचार की है।

भक्ति ही भुवनमान्य, ब्राह्मणों का स्वधर्म है। शास्त्रोक्ति यथा—

ब्राह्मणाम् स्वधर्मश्च सन्ततं कृष्णसेवनं।

नित्य ते भुज्यते सन्तस्तनैवेद्यं पादोदकम्॥

(श्री नारद पञ्चरात्र १।२।४२)

इसका अर्थ—ब्राह्मणों का स्वधर्म है—निरन्तर श्री कृष्ण सेवा; ऐसे साधु लोग प्रतिदिन उनका नैवेद्य और पादोदक सेवन करते हैं।

शिव—परम वैष्णव—परम भक्त; “वैष्णवानां यथा शम्भूः” (श्री भा० १२।१३।१६) इसलिये वह भक्त के उज्ज्वल दृष्टान्त स्थल है। पार्वती—महावैष्णवी है। उनका गौरव का नाम नारायणी है। वह श्री कृष्ण के इच्छानुसार कार्य में है सदा लगी रहती है^१ सूर्य ने श्री हरि को अपने हृदय में धारण कर रखा है।^२ आदित्य मण्डलान्तर्गत पुरुष उन्हीं भगवान के तेज से सूर्य ज्योतिर्मय हो जगत् को प्रकाशित करते हैं।^३

१. सृष्टि स्थिति प्रलय साधन शक्तिरेका,

छायेव यस्य भुवनानि विभर्ति दुर्गा।

इच्छानुरूपमपि यस्य च चेष्टते सा,

गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

(बृहत् संहिता ५।४४)

अर्थ—चित्शक्ति की छाया स्वरूपिनी—प्रापंचिक जगत् की सृष्टि स्थित, प्रलय साधिनी, मायाशक्ति की अधिष्ठात्री भुवन पूजिता ‘दुर्गा’,—जिनकी इच्छानुवर्तिनी होकर कार्य करती है,—उन्हीं आदि पुरुष श्री गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

२. यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नी तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ (गीता १५।१२)

अर्थ—सूर्य में जो निखिल भुवन प्रकाशक तेज है चन्द्रमा में और अग्नि में जो तेज है। वह हमारा ही तेज मानो।

३. यच्चक्षुरेव सविता सकल ग्रहानाम राजा समस्त सुर मूर्ति रोप तेजाः

यस्याज्ञया भ्रमति संभृतकालचक्रोगोविन्दमादि पुपं तमहं भजामि

(बृहत् संहिता ५।५२)

अर्थ—सर्वलोक चक्षु सूर्य के भी चक्षु अर्थात् प्रकाशक—सब ग्रहों के राजा, देवमूर्ति, अशेष तेजोदीप्त सूर्य जिनकी आज्ञा से काल चक्रारूढ़ होकर भ्रमण करते हैं उन्हीं आदिपुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

विघ्न विनाशक गणपति प्रणाम करते समय श्री भगवत्पाद पद्म युगल अपने मस्तक के दोनों कुम्भों पर धारण करके तीनों जगत् के विघ्नों को नष्ट करने में समर्थ होते हैं।^१ इसलिये यह परिचय देना व्यर्थ है कि वे भी परम भक्त हैं।

ज्ञानी गुरु और योगेश्वर का भी भक्ति का आनुगत्य।

ज्ञानि गुरु आचार्य शंकर के जगत् विख्यात अद्वैतवाद का वास्तविक मर्म हम उतना समझ सके या न भी समझ सके, किन्तु यह बात तो समझ में आ ही जाती है कि उन्होंने ज्ञानी श्रेष्ठ होकर भी भक्ति का आदर किया है, उपेक्षा नहीं की; क्योंकि हम देखते हैं कि उन्होंने गोविन्द भजनहीन मूढ़ मतियों को पुकार कर “भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़ मते” (चर्प टपन्जरिका स्तोत्र) का उपदेश दिया है। भक्ति का प्रधान भजनांग श्री भगवन्नाम की शरण छोड़ देने से अपना अभीष्ट अपूर्ण रहता है, ऐसा समझकर जिन्होंने विष्णु के सहस्रनाम स्तोत्र के भाष्यकरणोपलक्ष में भी नामाश्रय ही किया है, उनके लिये यह कैसे स्वीकार किया जाय कि उन्होंने भक्ति का आश्रय ग्रहण नहीं किया? दूसरों के लिये वह जो

१. यद पाद पल्लव युग विनिधाय कुम्भ

द्वन्द्वे प्रणाम समये स गणाधिराजः।

विघ्नान् विहन्तुमलमस्य जगत्त्रयस्य,

गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥ (बृहत् संहिता ५/५०)

अर्थ—त्रिजगत् के विघ्नों के नष्ट करने के निमित्त गणपति, अपने इस कार्य में शक्ति प्राप्त करने के लिये जिनके पाद पद्मों को अपने मस्तक के दोनों कुम्भों पर सब समय धारण किये रहते हैं, उन्हीं आदि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

भी मतवाद प्रचार करे, परन्तु परम वैष्णव श्री शम्भू अवतार—श्री शंकराचार्य का, अपने लिये, भक्ति का आश्रय ग्रहण करना कुछ विचित्र बात नहीं है,—उनके द्वारा किया श्लोक इसका सुस्पष्ट प्रमाण है;—

सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न माम कीनस्त्वम्।

सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

अनुवाद—“जगत मे और तुम में भेद न रहने पर भी, हे नाथ! हम जानते हैं कि हम आपके आधीन हैं—हमने आपसे ही जन्म ग्रहण किया है, किन्तु आप हमारे आधीन नहीं हैं,—आप हमसे उत्पन्न नहीं हुये। तरंग और तरंगमय समुद्र में परस्पर पार्थक्य न होने पर भी, यह सुनिश्चित है कि तरंग तो समुद्र का है किन्तु समुद्र तरंग का नहीं। (षट्पदी स्तोत्र)

अष्टांग योग के महागुरु भगवान पतञ्जलि ने योग शिरोमणि होने पर भी भक्ति की शरण ली है—उनके योग शास्त्र के सभी सूत्र इसका यथेष्ट प्रमाण है; यथा “ईश्वर प्राणिधानाद्वा॥”^१ इस सूत्र में भगवद्भक्ति कीर्तित हुई है। ‘तस्य वाचकः प्रणवः’^२ और “तज्जपस्तदर्श भावनम्”^३ इन दोनों सूत्रों में भक्ति का प्रधान अंग जो नामाश्रय है। वही सूचित हुआ है। “तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः”^४ इस सूत्र में श्री भगवान में कर्म फलार्पण

१. प्रभूपद श्रीमत अतुल कृष्ण गोस्वामी सम्पादित ‘श्री चैतन्य भागवत। अन्त्य ३य से उद्धृत’।

२. ‘योगसूत्र १।२३; २ ऐ १।२७

३. ऐ-१।१८

४. ऐ-२।१

व्यक्त हुआ है। इस तरह भक्ति के प्राधान्य ज्ञापक बहुत सूत्रों से उक्त योगशास्त्र विभूषित है। बहुत हो जाने के भय से और अधिक नहीं लिखे गये। अतएव इन भक्तिवश पुरुष—श्री भगवान और उनका साक्षात्कार कराने वाली भक्ति ही वेदादि निखिल शास्त्रों का मुख्य तात्पर्य है, भक्ति ही श्रुति-स्मृति-पुराणादि सब शास्त्रों की सर्वसार सम्पद है—भक्ति ही सब जीवों का परम प्रयोजन या पुरुषार्थ शिरोमणि है। उसके प्रमाण के विषय में निम्नोक्त विषय से अधिक उल्लेख निष्प्रयोजन है।

समस्त वेद जिनसे निकले हैं, उन सर्वादि-कारण श्री भगवान के अतिरिक्त वेद का यथार्थ अभिप्राय दूसरे किसी को भी ज्ञात होना सम्भव नहीं।

निःश्वास ही तरह अनायास वेद जिनसे प्रकट हुये हैं^१ एकमात्र उन देवमय पुरुष श्री भगवान को छोड़कर, देवता महर्षि या मनुष्यादि जो भी हों, किसी को भी वेद का यथार्थ अभिप्राय पता नहीं है क्योंकि वही सबके आदि कारण हैं। उनका आदि दूसरा कोई या कुछ नहीं है; यह बात स्वयं श्री भगवान ने अपने श्रीमुख से ही श्री गीता में घोषित की है यथा—

१. अस्य महतोभूतस्य निश्चसितमेतद् यद्गवेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथ वांगिरसः इतिहासः पुराणम्। (बृहदारण्यके २।४।१०)

अर्थ—ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद इतिहास और पुराणादि उन व्यापक और पूज्य परमेश्वर के निःश्वार्थ स्वरूप हैं। जो उससे अनायास ही निकले हैं।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

अहमादिर्हि देवानाम् महर्षीणां च सर्वशः॥ (१०।२)

इसका अर्थ—मेरा प्रभाव सुरगण या महर्षिगण कोई भी नहीं जानते, क्योंकि देवता और महर्षियों की उत्पत्ति और बुद्धि आदि की प्रेरणा के सम्बन्ध में मैं ही आदि कारण हूँ।

इसलिये यही सूचित होता है कि उनके अनुग्रह बिना उन्हें कोई जान नहीं सकता—

(श्री स्वामिपादकृत टीका का तात्पर्य)

तभी तो शास्त्र में कहा गया है,—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।

अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारण कारणम्॥

(ब्रह्म संहिता ५।१)

इसका अर्थ—सच्चिदानन्द मूर्ति श्री कृष्ण ही परमेश्वर है। यह श्री गोविन्द ही अनादि के भी आदि और सब कारणों के भी सर्वमूल कारण है।

अतएव यह समझना अब कठिन नहीं रह जाता कि जो सबके आदि कारण है, एकमात्र उनके अतिरिक्त उनके निःश्वास स्वरूप वेद का प्रकृष्ट मर्म जानना, देव ऋषि महर्षि मनुष्यादि समस्त जीवों के लिये कठिन है।

निःश्वास ध्वनि से श्री मुख की वाणी सुस्पष्ट होती है; “गीता” उन श्री भगवान की सुस्पष्ट वाणी और वेद का संक्षिप्त सारार्थ है।

यह आसानी से अनुमान किया जा सकता है कि अस्पष्ट ध्वनि

से साक्षात् श्री मुख की वाणी अवश्य ही सुस्पष्ट होगी। विशेषतः जैसे अर्थ पुस्तक देखकर मूल ग्रन्थ का कठिन तात्पर्य पता चल जाता है वैसे ही अस्पष्ट वेद का सुस्पष्ट सारार्थ ही है "श्रीमद्भगवद् गीता—यह श्री भगवान की साक्षात् वाणी है। यही कारण है कि गीता के भाष्यकारों में अनेकों ने गीता को वेद का सारार्थ कहकर ही निर्देश किया है। आचार्य श्री शंकर ने भी कहा है—

—“तदिदं गीता शास्त्र समस्त वेदार्थसार संग्रहेत्यादि—”
(गीता भाष्य सूचना) अर्थात् सब वेदों का संग्रहीत सारार्थ ही यह गीता है।

वेदों का अस्पष्ट, दुर्बोध्य और निगूढ़ सभी तात्पर्य उनके सारार्थ स्वरूप गीता से जैसा सुव्यक्त हुआ है उसे केवल दृष्टान्त स्वरूप उनके दो एक विषय मात्र का यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है।

सब वेदों में उन श्री भगवान का और उनकी अनुशीलन रूपा भक्ति का ही कीर्त्तन किये जाने पर भी, अस्पष्ट वेद ध्वनि से यह सब कुछ भी समझ में नहीं आता;—गीता शास्त्र के बिना, जो वेद की सारार्थ है और भगवद्वाणी है।

वेदशिर श्रुति कहती है—“सर्वे वेदा यत्पादमामनन्ति”। (काठके २/१५) अर्थात् समस्त वेद जिन पूजनीय का कीर्त्तन करते हैं। समस्त वेद कहने से त्रिकाण्ड में विभक्त निखिल वेद को ही निर्देश किया गया है अर्थात् कर्म, देवता और ज्ञान—इन तीनों काण्डों में सर्वत्र ही वह सर्वपूजनीय ही कीर्त्तित हुए हैं, यही उक्त श्रुतिवाक्य का अभिप्राय है किन्तु वेद का कर्मकाण्ड उलट-पलट कर देखने से,

वहाँ केवल स्वधा औषधि मन्त्र, घृत, अग्नि आदि समस्त यज्ञ के उपकरण के साथ यज्ञ की जयगान के अतिरिक्त स्थूल दृष्टि में दूसरा और कुछ भी दिखाई नहीं देता; उपासना या देवता काण्ड में किसी-किसी विशेष स्थान में तो विष्णु की सर्वश्रेष्ठता प्रकाशित होती है किन्तु इन्द्र, सूर्य, अग्नि, अश्विनी कुमार मित्र, वरुण, विश्वदेव आदि समस्त विभिन्न देवताओं की स्तुतिगान में ही यह काण्ड मुखरित होते देखा जाता है। ज्ञानकाण्ड में भी अद्वैत ब्रह्मवाद की जय बोली गई है किन्तु वह वेद स्वयं ही कहते हैं:—“समस्त वेद जिन पूजनीय का कीर्त्तन करते हैं” कीर्त्तन करते हैं यह तो सत्य ही है; किन्तु वह कीर्त्तन की ध्वनि समुद्र की बड़े जोरों की कोलाहल ध्वनि की तरह निःश्वास स्वरूप अस्पष्ट वेदवाणी के किसी अगम्यतली—(पेंदी) में विलीन होकर रह गयी है, उसका पता एकमात्र उन देवमय—सर्वादित्, सर्वज्ञ पुरुष के श्री मुख की वाणी द्वारा ही पता चल सकता है। दूसरा कोई भी उसका पता नहीं लगा सकता। जो तीनों काल में भी वर्तमान रहकर एक ही समय में तीनों काल के देखने वाले हैं—उनके अतिरिक्त उनको भली प्रकार से और कौन जान सकता है? क्या और कोई भी उस विषय में प्रकृष्ट ज्ञान प्रदान कर सकता है।^१

वास्तविक बात तो यह है कि वेद जिनके निःश्वास है (महतो भूतस्य निःश्वसितम् “वृहदा २।४।१०) जो साक्षात् वेदमय पुरुष है (“—ऋक सामयजुरेव च”—गीता ६।१७) जो वेद के उत्पत्ति स्थल

१. वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।

भविष्ययाणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ (गीता ७।२६)

अर्थ—हे अर्जुन! मुझे भूत भविष्यत वर्तमान इन तीनों काल के विषय विदित है; किन्तु मुझे कोई नहीं जान सकता।

है, (“—तदब्रह्मयोनिम ।—श्वेताश्व ५।६) सब वेदों का यथार्थ अभिप्राय एकमात्र वही सम्पूर्ण रूप से जानने योग्य है, (वेदाविदेव चाहम्)”—गीता १५।१५) यह बात उनके श्रीमुख की सभी उक्तियों से पता चलता है। जो सभी कुछ जानते हैं किन्तु जिनको कोई भी नहीं जानता, (माम तु वेद न कश्चन—गीता।७।२६) उन सर्वज्ञ सर्वदर्शी सर्वादिकारण-स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के साक्षात् श्री मुखपद्य से निकली वाणी ही श्री भगवत् गीता है। पद्यपुराण के गीता महात्म्य में भी इसका सुस्पष्ट उल्लेख देखा जाता है। यथा,—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्याद्विनिर्गता॥

इसका अर्थ—जो स्वयं पद्मनाभ श्री हरि के मुखपद्य से निकला है उस गीता शास्त्र का ही सम्यक् रूप से कीर्तनादि करना उचित है ऐसा करने पर फिर दूसरे बहुत शास्त्रनुशीलन की आवश्यकता की क्या रह जाती है।

गीतोक्त साक्षात् श्री भगवत् वाणी से ही सब वेदों के अस्पष्ट और परोक्षवाद से ढके समस्त अभिप्राय की यथार्थ उपलब्धि।

एक तो सब वेद अस्पष्ट हैं उस पर फिर उन्हीं भगवत् प्रेरणा से ऋषियों द्वारा परोक्षवाद के आवरण से ढका गया है।^१ इसलिये

१. वेदा बृहदात्म विषया त्रिकाण्ड विषया इमे।

परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रिय॥ (श्री भा० ११।२१।३५)

अर्थ—कर्मादि त्रिकाण्ड वेद बृहदात्म या परमेश्वर विषयक हैं, मन्त्रदृष्टा = ऋषिलोग उसे स्पष्ट न कहकर परोक्ष भाव से अर्थात् आवरण करके कहते हैं क्योंकि उक्त विषय में परोक्षवाद मुझे प्रिय है।

इतने कठिन वेद के अभिप्राय की या अर्थ की अनुभूति साक्षात् वेद से लाभ करना एक प्रकार से असम्भव ही है किन्तु अब उन समस्त वेद के सारार्थ और वेदमय पुरुष की साक्षात् वाणी स्वरूप गीता शास्त्र से वेद के उक्त कठिन समस्त विषय का सुस्पष्ट अर्थ सरलता से ही हम समझलेंगे। “समस्त वेद जिनका कीर्तन करते हैं”—यह वेद वन्दित पुरुष कौन है? यह बात स्पष्ट रूप से वेद के सारार्थ गीतोक्ति से मालुम हो जाती है, यथा

वेदेश्च सर्वैरहमेव वेद्यो।

वेदान्त कृद्वेदविदेव चाहम् ॥ (१५।१५)

इसका अर्थ—समस्त वेद को और उसमें वर्णित समस्त देवतारूप को (हे अर्जुन। तुम्हारे सामने समूर्त यही जो मैं हूँ) और एक मात्र मैं ही जानने योग्य हूँ और उन वेदों का मैं ही कारण हूँ और उस सम्प्रदाय का प्रवर्तक व सर्वज्ञान दाता गुरु भी मैं हूँ। इसलिये समस्त वेद का यथार्थ वेदविद भी मैं ही हूँ।

(श्री स्वामीपादकृत टीका का तात्पर्य)

इससे अब यह समझ में आ गया कि श्रुति में पूर्वोक्त ‘यत्पदम्’ इस निर्विशेष उक्ति द्वारा जिसे निर्देश किया गया है। उसी का ही सविशेष या समूर्त अर्थ है—श्रीकृष्ण-स्वयं रूप परत्तत्त्व या स्वयं भगवान् (जो अपने श्री नाम से सम्पूर्ण अभिन्न स्वरूप है।)

कर्मकाण्ड का निगूढ़ और यथार्थ अर्थ—श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण भक्ति बाह्य अर्थ कर्म और यज्ञादि।

इतना समझ लेने पर भी यह बात अभी भी समझने के लिये रह जाती है कि-यद्यपि वही समस्त वेद द्वारा जानने योग्य है, किन्तु

कर्मकाण्ड में यज्ञ, मन्त्र यज्ञोपकरणादि के शब्दों के अतिरिक्त और दूसरी कोई भी बात तो सुनने में नहीं आती; देवता काण्ड में इन्द्र सूर्य अग्नि और अश्विन्यादि देवता और उनके स्तव और मन्त्रादि छोड़कर वहाँ कुछ और तो दिखाई नहीं देता। इसका अर्थ हम लोग क्या समझेंगे।

उन्हीं वेदविद पुरुष के गीतोक्ति रूप मुख की वाणी से ही उक्त प्रश्न का ठीक उत्तर और समाधान प्राप्त हो जाता है—यथा

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।

मन्त्रोऽहमं हमे वाज्य महमग्निरहंहुतम् ॥ (६।१६)

इसका अर्थ—मैं ही क्रतु हूँ, मैं ही स्वधा हूँ, मैं ही औषधि हूँ, मैं ही अग्नि हूँ होम प्रभृति समस्त यज्ञीय उपकरण मैं ही हूँ (केवल यही नहीं) यज्ञ का भी यथार्थ अर्थ मैं ही हूँ। (तात्पर्य यह है कि उक्त यज्ञोपकरणादि के नाम यज्ञ शब्द से परोक्षवाद में ढककर मुझे ही संकेत किया है।)

स्वयं श्रुति ने भी 'यज्ञो वै विष्णुः' अर्थात् यज्ञ ही विष्णु कहकर निर्विशेष भाव से जिसको निर्देश किया है। उसका ही सुस्पष्ट व सारार्थ गीता से यह जाना जाता है कि यज्ञ और यज्ञोपकरणादि के नाम से कर्मकाण्ड में जो कुछ उक्त हुआ है, उन सबके निर्देश्य वस्तु है—श्रीकृष्ण। ये सब केवल उन्हें ही संकेत करते हैं। स्थूल दृष्टि से तो इन शब्दों के बाह्यार्थ द्वारा यज्ञादि की ही उपलब्धि होती है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इसका निगूढ़ अर्थ श्री कृष्ण ही हैं। इसलिये जो स्थूल दृष्टि से देखते हैं उनके लिये वेद का कर्मकाण्ड 'यज्ञमय' है और वे यज्ञ करते हैं पर सूक्ष्मदर्शी उसको 'श्री कृष्णमय' समझ कर श्री कृष्ण अनुशीलन रूपा भक्ति का ही आश्रय ग्रहण करने

का सौभाग्य लाभ करते हैं इसलिये वेद का सुस्पष्ट और सारार्थ गीता से यह जाना जाता है कि यज्ञानुष्ठान का अर्थ श्री कृष्ण अनुशीलन है और श्रीकृष्ण भक्ति ही समस्त कर्मकाण्ड का निगूढ़ अभिप्राय है।

देवता काण्ड का निगूढ़ और यथार्थ अर्थ— श्रीकृष्ण और उनकी आराधना या भक्ति— वाह्यार्थ इन्द्रादि देवता और उनकी आराधना।

देवता काण्ड में भी इन्द्रादि देवता के उद्देश्य से जो कुछ अनुष्ठान है— निगूढ़ वेद के वाह्य अभिप्राय से वह उस रूप में बोध होने पर भी इन्द्र, सूर्य या सविता प्रभृति सभी नामों के निर्देश्य वस्तु श्रीकृष्ण ही हैं,—परोक्षवाद के आवरण में ढका देवता काण्ड का यह निगूढ़ रहस्य कि समस्त देवताओं की उपासना श्रीकृष्ण उपासना का ही वाह्य अर्थ है, वेद के सारार्थ गीता से साक्षात् वेदमूर्त उन्हीं सर्वादि पुरुष की श्री मुख की सुस्पष्ट उक्ति द्वारा, हम लोग जान सकते हैं यथा—

येऽप्यन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्य-विधिपूर्वकम् ॥

अहं हि सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।

न तु मामभिजानन्ति तत्वेनातश्चयवन्ति ते॥

(श्री गीता ६।२३-२४)

इसका अर्थ—हे कौन्तेय। जो श्रद्धा और भक्ति से अन्य देवताओं की आराधना करते हैं, वह अज्ञानपूर्वक मेरी ही आराधना

करते हैं। मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता हूँ और फलदाता भी मैं ही हूँ किन्तु ऐसे लोगों को मेरा यथार्थ स्वरूप विदित न होने के कारण (संसार चक्र में) बार-बार आना पड़ता है।

यहाँ विवेच्य बात यह है कि यज्ञ या आराधना तो की जाती है इन्द्रादि देवताओं के उद्देश्य से, किन्तु उसके भोक्ता और फलदाता श्रीकृष्ण होते हैं। यह कभी सम्भव हो नहीं सकता, यदि उक्त 'इन्द्रादि' शब्द के श्री कृष्ण ही निर्देश्य या इन्द्रादि देवता के अन्तर्यामी रूप से जिनकी स्थिति है अर्थात् जो इन्द्रादि देवताओं के अन्तर्यामी है, वही श्री कृष्ण उनके भोक्ता होकर प्रेरणा द्वारा उसका फलदान न करते। जो लोग ऐसा जानकर इन्द्रादि की आराधना करते हैं। वे परम धाम जाते हैं और फिर उन्हें आवागमन का चक्कर नहीं रहता किन्तु जो इसे न जानकर पृथक् भाव से इन्द्रादि देवताओं की आराधना करते हैं उनको बार-बार आना जाना (आवागमन) पड़ता है। इसी को अविधि पूर्वक श्री कृष्ण अनुशीलन कहते हैं। अतएव देवता काण्ड का भी मुख्य तात्पर्य है-श्रीकृष्ण का और श्रीकृष्ण भक्ति का अनुशीलन।

**इन्द्रादि देवता वाचक सांकेतिक शब्दों
से परमात्म वस्तु को ही निर्देश किया गया है।
इसका वाह्यार्थ वही देवता विशेष।**

इन्द्रादि शब्दों के वाह्यार्थ से तो उन देवता विशेष की उपलब्धि होती है किन्तु सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही उनका निगूढ़ और वास्तविक अर्थ है किन्तु परोक्षवाद के आवरण के कारण उसका पता

लगाना कठिन हो जाता है। श्रुति में भी इसका संकेत है—यथा
“तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम। तभिदन्द्रं सन्तमिन्द्रं इत्याचक्षते
‘परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः॥”

(ऐतरेय १।१४।३)

इसका अर्थ—इस कारण से परमात्मा का नाम इन्द्रन्द हैं
अर्थात् जो सभी को देखते हैं (सर्वदृष्टा) उनका नाम इन्द्र है। इन्द्रन्द
होने के कारण ब्रह्मवादी गण उनको परोक्षवाद से ‘इन्द्र’ कहते हैं
क्योंकि देवता परोक्षप्रिय है।

इसी तरह वेद में सूर्य शब्द के बाह्य अर्थ से चाहे देवता विशेष
की ही उपलब्धि होती है। किन्तु उसका अन्तरंग अर्थ—सर्वान्तर्यामी
परमात्मा ही है। महामति सायनाचार्य कृत भाष्य से इसका संकेत
मिलता है, यथा—

हे सूर्य = अन्तर्यामीतया सर्वस्य प्रेरक परमात्मनः।

तरिनः = संसाराब्धेस्तारकोऽसि

(ऋग्वेद १।५०।४र्थ सूक्त का भाष्य)

इसका अर्थ— जो अन्तर्यामी रूप से हम सबको परमधाम में
भेजते हैं—जो दुःखमय संसार समुद्र के निस्तारक हैं,—वहीं सूर्य नाम
से कहे जाते हैं।

इसी तरह वेदोक्ति दूसरे देवताओं के सम्बन्ध में भी समझना
चाहिए। अधिक हो जाने के भय से यहाँ १, २ दृष्टान्त मात्र
दिग्दर्शनार्थ प्रदर्शित किये गये हैं।

सर्वान्तर्यामी परमात्मा के श्रीकृष्ण ही

परमावस्था।

यहाँ उक्त इन्द्र सूर्यादि द्वारा निर्देश्य वह सर्वान्तर्यामी

परमात्मा वस्तु कौन है? इसका प्रकृष्ट परिचय या समूर्त अर्थ,—वेद के सारार्थ गीता से सुस्पष्ट रूप में ज्ञात होगा। यथा;

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

अहमादिश्च मध्यंच भूतानामन्त एव च॥ (१०।२०)

इसका अर्थ—हे गुडाकेश, सब प्राणियों के अन्तःकरण में सर्वज्ञत्वादि और सर्व नियन्त्रित्वादि रूप में अवस्थित परमात्मा मैं ही हूँ। सब जीवों की उत्पत्ति स्थिति और विनाश रूप आदि मध्य और अन्त का भी मैं ही कारण हूँ।

(श्री स्वामीपादकृत टीका का तात्पर्य)

ज्ञान काण्ड में वर्णित 'ब्रह्म' शब्द की मुख्याकृति श्रीकृष्ण ही है। वही निर्विशेष ब्रह्म के प्रतिष्ठा या घनीभूत समूर्त ब्रह्म है।

अब ज्ञानाकाण्डोक्त और निगूढ़ अद्वैत ब्रह्मवाद का जो सविशेष और सुस्पष्ट अर्थ है, वह भी वेद के सारार्थ और समूर्त पूर्ण ब्रह्म के श्री मुख की वाणी रूपा गीता से ही विदित हो सकेगा; यथा—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ (१४।२७)

इसका अर्थ—क्योंकि मैं निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिष्ठा हूँ अर्थात् घनीभूत या समूर्त ब्रह्म मैं ही हूँ। जिस तरह समूर्त सूर्यखण्डल निर्विशेष तेजोराशि का घनीभूत प्रकाश है,—मैं भी उसी तरह हूँ। उसी तरह मैं परमानन्द स्वरूप होने के कारण नित्य, अमृत, शाश्वत, धर्म और अखण्ड सुख का प्रतिष्ठा भी मैं हूँ।

(श्री स्वामीपादकृत टीका का तात्पर्य)

इस तरह उक्त संक्षिप्त आलोचना द्वारा भी यह समझ में आता है कि, सर्वान्तर्यामी रूप से वही एक परमात्मवस्तु सब जीवों में निहित रहने पर भी 'स एव सर्वं परमात्मभूतः'।—(श्री भा० १०।४६।४३) जिस तरह स्थूल दृष्टि में उस परमात्म वस्तु को छोड़कर दूसरी सभी वस्तु की उपलब्धि होती है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि में केवल परमात्मा मुख्य भाव से प्रतिभात होता है, उसी तरह परमात्मा की परमावस्था यह श्रीकृष्ण ही सब वेदों में परिव्याप्त होने पर भी, तिल में अवस्थित तेल की तरह या दही में अवस्थित घी की तरह,—स्थूल दृष्टि के सामने केवल उनका परोक्ष वाह्य अर्थ ही दिखाई देता है। किन्तु कर्म उपासना और ब्रह्म—यह त्रिकाण्डात्मक सब वेद ही श्रीकृष्णात्मक के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। यह केवल उनकी कृपाप्राप्त सूक्ष्मदर्शी का ही दर्शनीय विषय होता है। तभी तो श्रुति ने भी इस भिन्न दृष्टि की बात स्वयं ही व्यक्त कर दी है यथा—

एष सर्वेषुभूतेषु गूढाऽत्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(काठके० १।३।१२)

इसका अर्थ—यह परमात्मा सब जीवों में छिपे हुये हैं, प्रकाश नहीं होते हैं किन्तु जो लोग सूक्ष्मदर्शी हैं, वह तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धि द्वारा उनका दर्शन करते हैं।

सब वेदों के विस्तारार्थ भागवत में भी उन स्वयं भगवान की श्री मुख वाणी द्वारा उक्त अभिप्राय ही ऊँचे स्वर से जगत में विधोषित।

सब वेदों के सारार्थ श्री गीता से यहाँ तक हमें जो कुछ ज्ञात

हुआ, वही तात्पर्य सब वेदों के विस्तारार्थ "वेदार्थ परिवृंहित"—सर्वशास्त्र शिरोमणि श्रीमद् भागवतमें भी उन सर्वादि सर्वविद वेदमय पुरुष द्वारा विधोषित होते देखा जाता है। सब वेदों का मुख्य तात्पर्य क्या है? उन्होंने स्वयं ही इस विषय में प्रश्न करके इसका ठीक-ठीक उत्तर ऊँचे स्वर से जगत में घोषित कर दिया है। यथा,—

किं विद्यते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।

इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्देदकश्चन॥

माँ विधतेऽमिधते माम् विकल्पा पोह्यते ह्यहम्।

एतवान्सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाय॥

माया मात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्धय प्रसीदति॥

(श्री भा: ११।२१।४२-४३)

इसका अर्थ—श्रुति कर्मकाण्ड में विधिवाक्य द्वारा किसका विधान करती है। देवताकाण्ड में मन्त्र वाक्य द्वारा किसका अभिधान करती है और ज्ञान काण्ड में किसका अनुवाद करके विकल्प और तर्क करती है—यह सब अभिप्राय मेरे अतिरिक्त कोई नहीं जानता।

श्रुति मेरा ही यज्ञरूप में विधान करती है मुझे ही देवताकाण्ड में निरूपण करती है और मुझे ही तर्क करके निराकरण करती है। यही सब वेदों का तात्पर्य है वेद मेरा आश्रय करके प्रथमतः मायामात्र जगत का निषेध करते हैं। मध्य में मेरे अवतारादि रूप भेद का अनुवाद (समर्थन) करते हैं। अन्त में यह बता कर निवृत्त हो जाती है कि जैसे अंकुर गत रस काण्ड शाखादि में फैला रहता है वैसे ही प्रणवार्थभूत एक मात्र श्रीकृष्ण ही समस्त काण्ड शाखादि में घुसे.

हुये हैं।^१

वेद के विस्तारार्थ—शास्त्र शिरमणि श्री भागवत में साक्षात् स्वयं भगवत के श्री मुख की उक्तिरूप में—पराकाष्ठा प्राप्त शास्त्र प्रमाण द्वारा भी श्री कृष्ण और श्री कृष्ण भक्ति का ही सर्वमुख्यत्व प्रदर्शित होकर यहाँ उस विषय को समाप्त किया गया है।

विद्वानों के अनुभव के प्रमाण से भी।

अब विद्वानों के अनुभव के प्रमाण से भी उक्त तात्पर्य समर्थित होगा—यथा

कृष्णभक्ति अभिधेय सर्वशास्त्रेक्य।

अतएव मुनिगण करियाछे निश्चय॥

अर्थ—सारे शास्त्र कृष्णभक्ति को अभिधेय कहते हैं इसलिये मुनिजनों ने भी यह निश्चित किया है। तथाहि मुनिवाक्य—

श्रुतिर्माता पृष्टा दिशति भवदाराधन विधिम्।—

यता मार्तुवाणी स्मृतिरपि तथा व्यक्त भगिनी॥

पुराणाद्या मे वा सहजनिवहास्ते तदनुमा।

अतः सत्य ज्ञातं मुरहर भवानेव शरणम् ॥

(श्री चरितामृत धृत २।२२)

इसका अर्थ—माता स्वरूपिनी श्रुति से जिज्ञासा करने पर वह आप ही की आराधना की विधि का उपदेश करती है, इन माता के जो उपदेश हैं भगिनी स्मृति भी वही बताती है। पुराणादि सहोदरगण भी माता और भगिनी के ही अनुगत हैं; (श्रुति स्मृति

१. प्रभूवाद श्री श्यामलाल गोस्वामी कृत 'श्री गौर सुन्दर' से उद्धृत।

पुराण सभी श्रीकृष्ण भक्ति का ही उपदेश करते हैं) इसलिये हे मुरहर! यही सत्य समझ में आया कि आप ही एक मात्र आश्रय हैं।

सिद्ध भक्तों के अपरोक्ष अनुभव से भी।

श्री नारदादि सिद्ध भक्तों के अनुभव से भी उक्त अभिप्राय का समर्थन होता —

आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम् ।

नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम् ॥

अन्तर्वहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम् ।

नान्तर्वहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम् ॥

(श्री नारद पञ्चरात्र)

इसका अर्थ—यदि श्री हरि^१ ही आराधित होते हैं तो अन्य तपस्या का क्या प्रयोजन? और यदि श्री हरि ही आराधित नहीं होते तो ऐसी तपस्या का क्या प्रयोजन? यदि भीतर बाहर में श्री हरि विहार करते हैं तो फिर और तपस्या का क्या प्रयोजन? यदि श्री हरि बाहर भीतर में विहार नहीं करते, तब भी ऐसी तपस्या का प्रयोजन क्या?

इस तरह से यहाँ तक आलोचना द्वारा हमने यही प्रतिपन्न करने की चेष्टा की है कि भक्ति को निर्देश और उसको चलाने और

१. सब अवतारों के श्रीकृष्ण ही आदि होने के कारण जिस तरह उनको 'अवतारी' या स्वयं भगवान कहा जाता है उसी तरह 'हरि' शब्द वाच्य सब भगवत् स्वरूपों के वह आदि होने के कारण, श्री भागवत में (१०।०२।१५) उनको आद्य हरिः कहा गया है। इसकी टीका में श्रीधर गोस्वामी पाद ने लिखा है, "आद्यो हरिः श्रीकृष्णः इत्येषा"—। अर्थात् श्रीकृष्ण ही आद्य हरि है।

उससे वंचित न होने के लिये ही सब वेदादि शास्त्रों में समस्त विधि और निषेध का वर्णन किया गया है। भक्ति से अधिक या उसके समान कोई साधना नहीं है। वेद विहित धर्म, कर्म, ज्ञान, योग और तपस्यादि सभी साधनायें भक्ति के आधीन हैं— भक्ति की सहायता के बिना कोई भी सिद्धि प्राप्त करने में असमर्थ है और स्वाधीना भक्ति-दूसरे किसी साधना की कुछ भी अपेक्षा न करके भक्त को सर्वश्रेष्ठ फल प्रदान करने में समर्थ हैं। इस तुल्य की घोषणा वेद और वेदानुगत सभी शास्त्र एक स्वर से करते हैं

वेद विहित दूसरे सभी साधन भी भक्ति विशेष या भक्ति के प्रकार भेद।

अतः अब हम यह उपलब्धि करने की चेष्टा करेंगे कि दूसरी साधनायें केवल भक्ति की मुखापेक्षी ही नहीं अपितु सभी साधनायें प्रकार भेद से भक्ति ही है अर्थात् भक्ति के अतिरिक्त कोई साधन है ही नहीं।

भक्ति प्रधानतः दो प्रकार की होती है; यथा सगुणा और निर्गुणा। सगुणा भक्ति फिर तामस राजस और सात्विक भेद से तीन प्रकार की होती है। वेदविहित हिंसा मूलक ऐहिक या पारलौकिक भोगवासना युक्त सकाम कर्म का नाम तामस भक्ति है। अहिंसा मूलक ऐहिक और पारलौकिक भोगवासना युक्त सकाम कर्म का नाम राजसी भक्ति है। मोक्षवासना युक्त सकाम कर्म का नाम सात्विकी भक्ति है। तामस और राजस भक्ति का दूसरा नाम सकामा भक्ति है। आर्त और धन की इच्छा वाले सभी व्यक्ति उसके अधिकारी है

और स्वर्ग सुखादि प्राप्ति उनकी सिद्धि है। सात्विकी भक्ति सकाम भक्ति न कही जाकर निष्कामा भक्ति कही जाती है। मुमुक्षु या मोक्षकामी सब निष्काम सात्विकी भक्ति के अधिकारी है।

फिर यही मोक्षकामना युक्त निष्कामा भक्ति प्रायः कर्म ज्ञान और योग द्वारा मिश्रित रहा करती है। कर्म द्वारा मिश्रित होने से कर्ममिश्रा भक्ति, ज्ञान द्वारा, मिश्रित होने से ज्ञान मिश्रा भक्ति और अष्टांग योग द्वारा मिश्रित होने से योगमिश्रा भक्ति कहलाती है।

कर्ममिश्रा भक्ति का फल चित्त शुद्धि है, ज्ञानमिश्रा भक्ति का फल ब्रह्म साक्षात्कार के बाद सद्योमुक्ति है और योग मिश्रा भक्ति का फल परमात्म साक्षात्कार के बाद क्रम मुक्ति है। कर्ममिश्रा भक्ति के अन्तर्गत सभी निष्काम कर्मानुष्ठान साक्षात् भक्ति नहीं है किन्तु चित्त शुद्ध करती है और भक्ति के आरोप का कारण है तथा आकार में भी एक प्रकार होती है अतः उसे आरोप सिद्धा भक्ति कहते हैं और ज्ञान व योग मिश्रा भक्ति साक्षात् भक्ति न होने पर भी भक्ति के संग से सिद्धि प्राप्त करने के कारण संगसिद्धाभक्ति कहलाती है।

और जो कर्म, ज्ञान, और योगादि से सम्पूर्ण अलग या अनावृत है—वही श्री भगवत् साक्षात्कार की एकमात्र कारण है वही निर्गुणा या शुद्धा भक्ति है। इसी का दूसरा नाम स्वरूप सिद्धा, उत्तमा, केवला, अनन्या अकिंचना इत्यादि है^१। यह अनुसंगिक रूप में कर्म

१. श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीपाद ने सब भक्ति को गुणीभूता, प्रधानीभूता और केवला, इस तीन श्रेणी में बाँटा है। जिसमें भक्ति की अपेक्षा कर्म ज्ञानादि की अधिकता है वही गुणी भूता जिसमें कर्म ज्ञानादि की अपेक्षा भक्ति की अधिकता है वही प्रधानीभूता है और कर्मज्ञानादि द्वारा जो सम्पूर्ण रूप से स्पर्श नह। की गई वही केवला भक्ति है।

का फल, ज्ञान का फल और योग का फल प्रदान करके मुख्य फल श्री भगवत साक्षात्कार और सेवादि सब कुछ देती है।^१

वेद विहित दूसरे सभी साधनों के साधक लोग भक्त विशेष

इसलिये अब यह बात सहज में ही हमारे समझ में आ गयी है कि चाहे सकाम कर्म हो या निष्काम कर्म हो, ज्ञान हो या योग हो, सभी सगुणा भक्ति विशेष है। इस तरह पूर्ववर्णित वेदविहित हिंसामूलक सकाम कर्म से लेकर परमात्म साक्षात्कार का कारण क्रम मुक्ति देने वाला अष्टांग योग पर्यन्त सभी साधनायें जबकि प्रकारान्तर भक्ति विशेष है और कुछ भी नहीं है। तब यह भी कहा जा सकता है कि इन साधनाओं के साधक लोग भी भक्त विशेष है चाहे किसी भी भाव से हो। अतएव तामसी भक्ति विशेष के साधक लोग तामस भक्त विशेष राजसी भक्ति विशेष के साधक लोग राजस भक्त विशेष, निष्काम कर्मिगण—आरोप सिद्धा भक्ति के साधन करने के कारण कर्मिभक्ति विशेष, ज्ञानीगण ज्ञानमिश्रा भक्ति के साधन हेतु ज्ञानी भक्त विशेष और योगीगण योगमिश्रा भक्ति के साधना करने के कारण ज्ञानी भक्त विशेष के नाम से ही कहलाने योग्य है उसी तरह आश्रमी लोगों को गृहादि आश्रम के अनुसार गृहिभक्त, यतिभक्त आदि रूप में जानना चाहिए। अतः जो लोग वेद विहित जिस किसी भी धर्म कर्म का अनुष्ठान करते हैं वह सभी भक्ति विशेष है और उनके सभी अनुष्ठाता भक्त विशेष है। इसमें सन्देह नहीं है जो लोग शुद्धा भक्ति के अनुष्ठाता है वह कर्मी

१. "यत कर्मभियेत, तपसा—" (श्री भा० ११।२०।३३)

ज्ञानी और योगी से भी श्रेष्ठ है—वह पूर्ण काम है और वही होते हैं शुद्ध भक्त। उक्त प्रकार से सभी भक्त विशेष तो है किन्तु वह लोग कर्मों ज्ञानी योगी आदि नामों से ही प्रसिद्ध होने की इच्छा करते हैं। केवल शुद्धाभक्ति के अधिकारी ही भक्त नाम से विख्यात होते हैं।

बहुत प्रकार की भक्ति में से सत्त्वादि गुणों के भेद से त्रिविधा और निर्गुण या शुद्धा—इन चार प्रकार की भक्ति के विषय में शास्त्रोक्ति

भक्ति के उक्त प्रकार के भेद के सम्बन्ध में शास्त्र वाक्य, यथा—
भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भाविनि भाव्यते।

स्वभावगुणमार्गेण पुसांम् भावो विभिद्यते॥

(श्री भा० ३।२६।७)

इसका अर्थ—भगवान कपिल देव ने माता देवहूति से कहा—हे भाविनि! प्रकार भेद से भक्ति योग बहुत प्रकार की है। यह भक्ति सत्त्वादि गुणों के भेद से पुरुषों के स्वाभानुरूप विशेष विशेष मार्ग द्वारा विविध भेद विशिष्ट हो जाती है।

अब श्री भगवान पहले सगुण भक्ति विशेष निर्देश करने के लिये उनके अन्तर्गत सकाम तामस भक्ति और भक्त के लक्षण बताते हैं,—

अभिसंधाय यो हिंसा दम्भं मात्सर्ययेव वा।

संरम्भी भिन्न दृशभांव नयि कुयत्ति नामसः॥

(श्री भा० ३।२६।८)

इसका अर्थ—जो क्रोधी भेददृष्टि व्यक्ति हिंसा दम्भ और

मात्सर्यादि के वश में होकर हमारी भक्ति करता है वह तामस भक्त है।

अनन्तर सकाम राजस भक्ति और भक्त के लक्षण कहते हैं यथा—

विषयानभिसंघाय यशः ऐश्वर्य मेव वा।

अर्चादावर्चयेद्यो माम् पृथग्भाव स राजसः॥

(श्री भा० ३।२६।६)

इसका अर्थ—जो व्यक्ति विषय, यश ऐश्वर्य आदि की कामना से भेददर्शी होकर विभिन्न प्रतिमादि में मेरी अर्चना करता है वह राजस भक्त है।

तदन्तर सात्विकी भक्ति के विषय में कहते हैं, —(या निष्काम-
अरोपसिद्धाभक्ति और भक्त के विषय में) यथा

कर्मनिहारियुद्दिश्य परस्मिन्वा तदर्पणम्।

यजेद्यष्टव्यमिति या पृथग्भावः स सात्विकः॥

(श्री भा० ३।२६।१०)

इसका अर्थ—जो कर्मक्षय करने के विचार से भगवान की प्रीति सम्पादन के उद्देश्य से या भगवान में कर्मफल अर्पण करने के उद्देश्य से यज्ञादि द्वारा कर्तव्य समझकर मेरी अर्चना करते हैं उन्हें सात्विक भक्त कहते हैं। यथा—

मद गुण श्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।

मनोगतिरविच्छन्ना यथा गंगाम्भसोम्बुधौ॥

जलणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति पुरुषोत्तमे॥

(श्री भा० ३।२६।११-१२)

इसका अर्थ—समुद्र में मिलने के लिये गंगा की धारा की तरह मेरे गुणों के श्रवण मात्र से मुझ अन्तर्यामी में अव्यवहित (ज्ञान कर्मादि द्वारा स्पर्श की हुई नहीं और सम्पूर्ण कलाभि सन्धि रहिता निर्विच्छिन्न मनोवृत्ति का होना, श्री भगवान में निर्गुण भक्ति योग का लक्षण है।

शुद्धा भक्ति ही सर्वोपरि अव्यर्थ और अचिन्त्य महिमा में महिमान्विता

इसलिये यह बात स्पष्ट ही प्रमाणित होती है कि भक्ति के सम्बन्ध के कारण सभी साधनायें भक्ति विशेष है और उस भक्ति से सम्बन्धित साधन के कारण सब साधक भी भक्त विशेष है। जिस मणि के स्पर्श से लोहा भी सोना हो जाता है, उस मणि का स्थान जैसे सोना से बहुत ऊँचा है। वैसे ही जिस भक्ति की कृपा से अन्य साधनायें भी भक्तित्व प्राप्त करती हैं। उस शुद्धा भक्ति का स्थान सब साधनो से कितना ऊँचा है। यह लौकिक भाषा में प्रकाश नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि उसे अनुभव करने पर भी भाषाके अभाव से प्रकृष्ट रूप में कोई भी प्रकाश नहीं कर सका। तभी तो श्री नारद जी ने कहा है—“ॐ मूकास्वादनवत।”

(नारद भक्ति सूत्र-५२)

साधन जगत में सर्वोत्तमा होने के कारण उसका नाम उत्तमा भक्ति है। स्पर्शमणि स्पर्श द्वारा लोहा को सोना तो कर देती है परन्तु उसे स्पर्शमणि नहीं बना सकती, अर्थात् लोहा को अपने स्वरूप में बदल नहीं सकती किन्तु भक्ति स्पर्श की बात तो दूर रही, आभास

अथवा आरोप के द्वारा अन्य साधनों को केवल संजीवित ही नहीं करती बल्कि भक्तित्व के अधिकार तक प्रदान कर देती है। सगुण आरोप सिद्धा और संगसिद्धा भक्ति, शुद्धा भक्ति के ही कृपालेश से महिमान्विता है किन्तु शुद्धा भक्ति अपनी महिमा से आप ही चमकती रहती है। इसलिये ही उसका नाम अनन्या या स्वरूप सिद्धा है और साधनजगत में सर्वोत्तमा होने के कारण उसका दूसरा नाम 'उत्तमाभक्ति'।

किंचित एकाग्रचित्त से चिन्ता करने पर हमारे यह भी समझ में आ सकता है कि केवल इतना ही नहीं कि सब साधनायें भक्ति विशेष है—बल्कि भक्ति ही सब जीवों का परमधर्म है।^१ भक्ति ही सब जीवों का आत्मधर्म या स्वधर्म है। भक्ति की नींव पर ही सारा जगत सुप्रतिष्ठित और रक्षित है—अतएव

भक्ति बिना जगतेर नहीं अवस्थान

(श्री चै० १।३।१४)

अर्थ—भक्ति बिना जगत की कोई स्थिति नहीं है।

१. "स वै पुंसा परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे" इत्यादि (श्री भा० १/२/६)

द्वितीय उद्भाषन

आनन्द के विचार से वृत्ति रूपा भक्ति की सर्वानन्दता और परमानन्दता।

विषय—शास्त्र और शास्त्रानुकूल युक्ति द्वारा प्रमाणित होगा कि भक्ति की नींव के ऊपर स्वरूप वैभव से लेकर जीव वैभव हो या माया वैभव हो—प्राकृत और आप्राकृत निखिल चराचर सभी विश्व संसार सुप्रतिष्ठित है।

श्री भगवान की तीन शक्ति है अन्तरंगा (स्वरूप वैभव) तटस्था (जीव वैभव) बहिरंगा (माया वैभव)।

शास्त्र कहते हैं भगवान की स्वाभाविकी तीन शक्तियाँ मृगमद और उसके गन्ध की तरह या सूर्य और उसके किरन की तरह है। वह उससे भिन्न होने पर भी अभिन्न है अतः अचिन्त्य है।^१

इन तीनों शक्तियों का नाम अन्तरंगा, तटस्था और बहिरंगा

१. तस्मात् स्वरूपादभिन्नत्वेन चिन्तयतु।

मशक्यत्वाद्भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयतु

मशक्यत्वादभेदः प्रतीयत इति शक्ति

शक्तियतोर्भेदा वे वांगीकृतौ तौ च अचित्त्यौ इति श्रीमतजीव पादकृत श्री भगवदीय सर्वसम्वादिनी।

इसका अर्थ—इसलिये स्वरूप से अभिन्न रूप में शक्ति की चिन्ता न कर सकने के कारण उनमें भेद प्रतीत होता है और भिन्नरूप में भी चिन्ता न कर सकने के कारण उनमें अभेद प्रतीत होता है। अतः शक्ति और शक्तिमान का भेदाभेद अचिन्त्य है।

हैं। श्री भगवान के स्वरूप वैभव का नाम अंतरंगा शक्ति है। जीव वैभव का नाम तटस्था शक्ति और माया वैभव का नाम बहिरंगा शक्ति है एक ही वैदूर्यमणि (लहसुनिया रत्न) में व्याप्त नील पीतादि वर्ण की तरह एक ही श्री भगवान की तीन नित्य विशेष शक्तियाँ हैं।^१

पहली चिदवस्था दूसरी चिदचिदावास्था और तीसरी अचिदावस्था है। सच्चिदानन्दमय श्री भगवान की एक ही स्वरूप जगत सत्ता, चैतन्य और आनन्द त्रिधारा की तरह उक्त तीनों शक्तियों में प्रवाहित होने पर भी स्वरूप वैभव में ही उनकी अधिकता है और विशुद्धता पूर्णरूप से है इसलिये स्वरूप वैभव जो भगवान की शक्ति है उसमें यथा क्रम से अन्य वैभव शक्तियों से शुद्धत्व और अशुद्धत्व का तारतम्य है और स्वरूप वैभव अन्य दो शक्तियों का मूल कारण भी है स्वरूप वैभव के अन्तर्गत तीन शक्तियाँ हैं। सन्धिनी, संवित, हलादिनी।^२ यह तीनों शक्तियाँ फिर उत्तरोत्तर

१. विष्णु शक्ति परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।

अविद्या कर्म संज्ञान्या तृतीय शक्तिरिष्यते॥ (विष्णु पुराण ६।७।६१)
अर्थ—श्री भगवान की परा, क्षेत्रज्ञा और अपरा नाम थी तीन शक्तियाँ हैं। विष्णु की स्वरूप भूता शक्ति को पराशक्ति, क्षेत्रज्ञा शक्ति को जीव शक्ति और अविद्या जिसका कार्य है, इस प्रकार की शक्ति को अपरा या माया शक्ति कहते हैं। उक्त तीनों शक्तियों का नाम ही यथाक्रम से, अन्तरंगा तटस्था और बहिरंगा है।

२. सदात्मपि यया सत्तां धत्ते ददाति च सा सर्वदेश काल द्रव्य व्याप्ति हेतुः सन्धिनी। संविदात्मपि यया संवेत्ति संवेदयति च सा सम्बित् हलादात्मपि यया हलादते हलादयति च सा हलादिनीति (सिद्धान्त रत्नम् १।४३)
अर्थ—‘विद्यमान है’ इस प्रकार नित्य सत्ता विशिष्ट भगवान जिसके द्वारा सत्ता धारण करते हैं और द्रव्य, काल, कर्म, प्रकृति और जीव—इन सबको सत्ता या कार्य सामर्थ्य प्रदान करते हैं उसका नाम सन्धिनी है शक्ति है। वह सर्वदेशकालादिकी व्याप्ति हेतु है।

एक दूसरे से उत्कृष्टतर है। यथा "तत्र सन्धिनी सन्वित हलादिन्यो यथोत्तरमुत्कृष्टा ज्ञेयाः।" (सिद्धान्त रत्न १।४३)

अर्थात् सन्धिनी से सन्वित और सम्बित से ह्यालादिनी शक्तियों को श्रेष्ठ जानना चाहिए।

श्रीभगवान् आनन्दमय होने पर भी जिस शक्ति विशेष द्वारा स्वयं आनन्दित होते हैं और अपने भक्तों को और दूसरे सभी को आनन्दित करते हैं। उसका नाम ह्यालादिनी शक्ति है; यथा—

"ह्लादिक रूपोऽपि भगवान् यथा ह्यालादते।

ह्यालादयति च सा ह्यादिनी॥"

(श्री भगवत्सन्दर्भः ११७ अनुः)

श्री भगवान् की यह निरवच्छिन्न आनन्द धारा गोलोक, स्वर्गलोक, भूलोक समस्त जीवलोक परिव्याप्त करके नित्य विराजमान रहती है। सूत्र जिस प्रकार सब मणियों को धारण किये रहता है, उसी प्रकार मूलतः एक ही आनन्द सूत्र में समस्त जीव समस्त विश्व बँधा है। उस आनन्द के अभाव में विश्व का कोई भी पदार्थ एक क्षण के लिये भी विद्यमान नहीं रह सकता। आनन्द से ही समस्त जीवों की समस्त भूतों की उत्पत्ति, आनन्द ही में अवस्थिति और आनन्द में ही पर्यवसान है तभी तो श्रुति ने कहा है—

ज्ञान स्वरूप होने पर भी जिसके द्वारा भगवान् ज्ञान विशिष्ट के रूप में प्रकाश होते हैं और सब जीवों को ज्ञान विशिष्ट करते हैं उसका नामसम्बित शक्ति है। श्री भगवान् आनन्द स्वरूप होने पर भी जिस शक्ति द्वारा आनन्द विशिष्ट होते हैं और भक्तों को व अपने सामुख्य प्रदान से सब जीवों को आनन्दित करते हैं उसका नाम ह्यादिनी शक्ति है।

“आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्द प्रयन्त्यमिसंविशन्ति)”

(तैत्तिरी उ:३।६।१)

अर्थात्—आनन्दस्वरूप से ही यह समस्त भूत (जीव) उत्पन्न होते हैं, उत्पत्ति के बाद आनन्द द्वारा ही जीवन धारण करते हैं, प्रलय में आनन्द स्वरूप में ही लीन हो जाते हैं।

आनन्दिनी शक्ति का विशुद्ध और विमिश्र स्वरूप भेद।

वही एक आनन्दिनी शक्ति श्री भगवान में भगवत आनन्द रूप में जीव में जैव आनन्द रूप में और विश्व में प्राकृत आनन्द रूप में प्रकाशित तो रहती है किन्तु आनन्दमय श्री भगवान व उनके भक्तों को आनन्द देने वाली अपने विशुद्ध स्वरूप-ह्लादिनी शक्ति ही समस्त आनन्द धारा की मूल निर्ररणी है (झरना से निकलने वाली नदी है) शैल प्रवाहिनी गोमुखी से निकली गंगा जिस प्रकार स्वच्छ और शुद्ध होने पर भी भूखण्ड में प्रवाहिता होने पर मिट्टी के मिश्रण से मटमैली हो जाती है। उसी तरह शैल प्रवाहिनी धारा की तरह अप्राकृत प्रदेश प्रवाहिनी आनन्द धारा साफ शुद्ध है और सुनिर्मल दर्पण की तरह स्वच्छ व समुज्ज्वल है। तब वही आनन्द धारा जब प्राकृत प्रदेश में प्रवाहित होती है तो माया के त्रिगुण रंग में रंगकर स्वतन्त्र रूप और नाम धारण करती है। वस्तुतः सभी आनन्द ह्लादिनी सोता की एक ही धारा की अवस्था विशेष है। सभी आनन्द की मूल-श्रोत ह्लादिनी चिन्मय धाम प्रवाहिनी है। गोलोक धाम से लेकर वैकुण्ठ धाम तक ही इसकी स्वाभाविकी सविशेष सक्रियता .

की सीमा है फिर विरजा तक भी स्वच्छ और विशुद्ध है। इसके नीचे सिद्धलोक या महेश धाम तक इसकी निर्विशेष और निष्क्रियता की सीमा है फिर उसके नीचे अर्थात् विरजा के उस पार स्थित देवी धाम^१ या प्राकृत प्रदेश में प्रवाहित होने वाली गन्दी और आनन्द धारा की आभास मात्र या छाया सदृश्य हो जाती है।^२ इसलिये क्षणभंगुर या दुःख में लिप्त है। यही प्राकृत आनन्द है यही विषयानन्द है यही विषयेन्द्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ परिछिन्न जागतिक सुख है।

सुख और सुखाभास

काया सदृश्य स्वरूपानन्द से छाया की तरह संसार का आनन्द सम्पूर्ण भिन्न पदार्थ नहीं है। स्वरूप सुख से विषयसुख कुछ भिन्न पदार्थ न होने पर भी विषय सुख—मायामिश्रित, परिछिन्न और 'अल्प' है यह 'भूमा' नहीं है। भूमा का आभास मात्र है। जीव इस

१. गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य देवी महेश हरिधामसु तेषु तेषु। ते ते प्रभाव निचय विहिताश्च येन गोविन्द मादि पुरुषं तमहंभजामि॥ (ब्रह्म संहिता-४३)

अर्थ—सबके ऊपर गोलोक नामक निजधाम है? उसके सबसे नीचे देवी धाम है। जिसके ऊपर महेश धाम और उसके ऊपर हरिधाम है—इन इनधामों में जिनके द्वारा वही वही प्रभाव विहित हुआ करते हैं उन्हीं आदि पुरुष श्री गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

२. वैषयिकन्व सुखं तत्प्रतिछवि-रूपमेवेति। श्रुतिराह-एतस्यैवानन्दस्या न्यानि भूतानि मात्रामुपजीव वन्तीति। (सिद्धान्तरत्नम्) (१म पाद ५७ अनुः।) अर्थात्—प्राकृत विषय सुख स्वरूपानन्द की प्रतिछवि है। श्रुति में भी उक्त हुआ है—इस भगवदानन्द का किञ्चित् आभास मात्र—स्वर्ग के आनन्द का आधार है।

अल्प परिच्छिन्न दुःखमय विषय सुख का जो कि बहुत कम है। उसीका निरन्तर खोज करता रहता है। यह लगातार-सुख प्राप्ति की उसकी इच्छा-भूमानन्द प्राप्ति का ज्ञापक है। किसी प्यासे सूखे कण्ठ वाले को अल्प अपवित्र और गन्दा जल पीते हुए देखने से जिस तरह उसकी अफुरन्त विशुद्ध और सुनिर्मल जल पीने की आकांक्षा ही का पता चलता है। उसी तरह क्षणभंगुर अल्प और परिच्छिन्न विषय सुखान्वेशी जीव मात्र ही अनन्त और पवित्र भूमानन्द का प्रार्थी है। इसमें संशय नहीं। जिस आनन्द के कण किम्बा आभासमात्र के आस्वादन से ही जगत विमुग्ध है। उसका पूर्णभाव कैसा है। प्राकृत बुद्धि इसके अनुमान करने में समर्थ नहीं है। स्वच्छ अनन्त आनन्द की स्रोत धारा की कण मात्र सारे विश्व संसार को जीवित रखे है। तभी तो श्रुति ने कहा है—

एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

(वृ० आ० ४।३।३२।)

अर्थात्—इस आनन्द का अंश या आभास मात्र पाकर सभी जीव आनन्दित होते हैं।

इसलिये सुख का स्वरूप जिन्हें विदित हो चुका है। अर्थात् उन्होंने विषय सुख-शीकर (सुख की जलबिन्दु) का स्रोत कहाँ है—यह पता लगा लिया है। वह बिन्दु को छोड़कर सुखसिन्धु की ओर ही मुख करके दौड़ते हैं। विश्व पाँवनी गंगा जैसे विरजा की एक बिन्दु है उसी तरह जिस उत्स धारा की एक बिन्दु के आभास से विश्व विमोहित है। ह्लादिनी ही उसी अखिल आनन्द की निर्झरणी है और शुद्ध भक्ति उसी ह्लादिनी का सार है या उसी ह्लादिनी की ही वृत्ति

विशेष है यथा—

“सकल भुवनः सौभाग्यसार सर्वस्वमूर्तो मुरमर्दने परिचय प्रचयादनपेक्षित विधिः स्वरसत एव समुल्लसन्ती विषयान्तरैरव्यवच्छिद्यमाना वृत्तिभार्गवती वृत्तिर्भक्तिरिती”। (श्री भगवन्नाम कौमुदी ३५ पः)।

इसका अर्थ—निखिल भुवन सौभाग्यसार सर्वस्व मूर्ति एकमात्र श्रीकृष्ण में स्वाभाविकी अर्थात् घनिष्ठ प्रणय का कारण विधि बाध्य से रहित अपने अभीष्ट रस में उल्लासमयी विषयों द्वारा अव्यवहिता-भगवती वृत्ति ही है—भक्ति।

“गुरु उपदिष्य मन्त्रवती, भक्ति शास्त्रोक्त विध्यनुसारिणी अन्याभिलाषिता शून्या ज्ञान कर्मादि रहिता भगवती श्रोतादीन्द्रियाणां वृत्तिर्भक्तिः” (श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत श्री भा० टीका ३।२५।३२)

इसका अर्थ—श्री गुरुपदिष्ट मन्त्र उपदेशयुक्त भक्तिशास्त्र विधि अनुसारिणी, श्री भगवान की सेवाभिलाष छोड़कर अन्य अभिलाष शून्य, कर्म ज्ञानादि का आचरण छोड़कर श्री भगवान में श्रवणादि इन्द्रियों की वृत्तिका ही नाम है ‘भक्ति’।^१

आनन्द के स्वरूप का कुछ हमें ज्ञान हुआ अब आनन्द की वृत्ति

१. श्रीमद्भागवत का ३।२५।३२ श्लोक और उसकी श्रील चक्रवर्त्तिपाद कृत सारार्थ दर्शनी टीका और गीता के १=१५५ श्लोक का श्रील चक्रवर्त्तिपाद कृत टीका दृष्टव्य। श्रीमदजीव गोस्वामीपाद कृत प्रीति सन्दर्भ का ६० अनुच्छेद दृष्टव्य।

के सम्बन्ध में आलोचना करने से ही हम सहज में यह समझ सकेंगे कि भक्ति ही आनन्द की वृत्ति है। भक्ति के बिना कोई किसी प्रकार सुख का अनुभव नहीं कर सकता, अतएव आनन्द के नित्यदास—नित्यसेवक जीव का भक्ति ही स्वाभाविक और नित्य धर्म है।

भाव रस और आनन्द का परस्पर निरवच्छिन्न सम्बन्ध

श्रुति ने कहा है “यद्वैतत् सुकृतम रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्धवानन्दी भवति” (तैत्तिरी २।७)।

इसका अर्थ—इसलिये उनको सुकृत (अर्थात् स्वयं कर्तृ स्वयं रूप) कहा जाता है। जो सुकृत है वही रस स्वरूप है। यह (जीव) रसस्वरूप को पाकर ही सुखी होता है।

उक्त श्रुति वाक्य का तात्पर्य यह है कि स्वयं रूप या स्वयं भगवान ही है रस स्वरूप। उन रसस्वरूप को ही पाकर जीव सुखी होता है।

यह बात नहीं है कि आनन्द का विषय रहने से ही आनन्द प्राप्त होता है आनन्द के आश्रय द्वारा भाव की उच्छ्वास (ऊपर को खींची हुई साँस) विषय में पड़ने से उसके ही स्पर्श से विषय रसता प्राप्त करके आश्रय को आनन्द दान करता है। “भाव” आनन्द की वृत्ति है इस भाव का ही दूसरा नाम ‘भक्ति’ ।^१ भाव व रस और रस व

१. “श्री लिंगादिषु च ‘स्वरनेत्रांग-विक्रिया।’—

इत्यत्रानुभावानामनुक्रान्तत्वात्तेषां च भावांग

भावादंगी भाव एवं भक्तिरिति।” (श्री भगवन्नाम कौमुदी ३ य पः)

अर्थ—लिंग पुराण में भी ‘गदगदस्वर अश्रु रोमांचादि’—इस वाक्य से भक्ति के अनुभाव की गणना की गई है। अनुभाव भाव का ही अंग है। अतएव यह समझ में आता है कि अनुभाव का अंगी भाव ही है भक्ति।

भाव इसमें परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध है। भावहीन रस या रसहीन भाव—यह कल्पना ही किया नहीं किया जा सकता है यथा—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रस वर्जितः।

परस्पर कृता सिद्धिरनयो रस भावयो॥

(भरत कृत नाट्यशास्त्र)

अर्थ—भावहीन रस अथवा रस हीन भाव कल्पना नहीं किया जा सकता है इस तरह रस और भाव दोनों में परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध ही सिद्ध होता है।

भाव के स्पर्श से विषय में रसता तो आती है किन्तु सब भाव द्वारा सब विषय में रसता नहीं आती। जो भाव जिस जातीय का है। उसके द्वारा उसी जातीय विषय या वस्तु को ही रसता प्राप्त कराकर, वह उसी जातीय सुख या आनन्द का आश्रय हो जाता है। एक जातीय भाव द्वारा अन्य जातीय विषय को रसता प्राप्त नहीं कराया जा सकता इसलिये 'भाव' और 'रस' निर्गुण और सगुण भेद से दो है और फिर सगुण में भी सत्त्वादि भेद से बहुत प्रकार के या बहुत जातीय होने पर भी भाव ही विषय को रसता प्राप्त कराकर आनन्द का आश्रय हो जाता है भाव ही आनन्द की वृत्ति है। सुखानुस्वादन की यह प्रणाली सभी जगह प्रयोग होती है।

मूलतः वह एक भाव फिर विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, व्याभिचारिभाव आदि रूप में बदलकर ही 'रस' का सृजन करता है; इस विषय की विस्तारित आलोचना रस शास्त्र आदि में देखना चाहिए। हमने इस समय केवल सहज व संक्षेप में आनन्द की वृत्ति की बात समझाने के लिये केवल 'भाव' की बात का ही उल्लेख किया है। अब यह भी उपलब्धि करने की चेष्टा करेंगे कि यह 'भाव' और

‘भक्ति’ अभिन्न है और यही है आनन्द की वृत्ति या सुखास्वादन का उपाय। इसके समझने के लिये पहले यह अनुसन्धान करना होगा कि किस प्रकार जीव आनन्दित होता है—सुखोपभोग की प्रणाली क्या है?

आनन्द की ‘वृत्ति’ या सुखास्वादन का उपाय ही है भक्ति ‘भाव’ या ‘प्रियता’

आनन्दिनी ह्लादिनी शक्ति ही सर्वानन्द की मूल है और आनन्द और भक्ति यह दोनों भिन्न वस्तु नहीं हैं, ह्लादिनी जब भगवान के भीतर अवस्थान करती है तब उसी का ही नाम है—‘शक्ति’ और जब वही आनन्द सक्रिय अवस्था में भगवान के बाहर अवस्थान करती है, तब उसी का नाम है ‘भक्ति’। आनन्दमय होकर भी श्री भगवान जिस आनन्दवृत्ति द्वारा स्वयं आनन्दित होते हैं और दूसरे को आनन्दित करते हैं,—आनन्द को आनन्दित करने की यह निज सामर्थ्य विशेष या वृत्ति ही है ‘भाव’ या ‘भक्ति’। आनन्द से भक्ति की यही विशेषता है इसलिये ‘भक्ति’ ह्लादिनी का सार या ‘वृत्ति’ कहते हैं। इसका ही दूसरा नाम—‘भाव’, ‘प्रियता’, ‘भालवासा’ आदि है।

निश्चल वायु जिस सामर्थ्य द्वारा अपने को संचालित करके सब जीवों को शीतलता प्रदान द्वारा परितृप्त करती है—वायु से अभिन्न वायु की इसी सामर्थ्य विशेष को जिस प्रकार उसकी वृत्ति कहा जा सकता है,—आनन्द और भक्ति में यद्यपि दोनों एक है,—इसी प्रकार की विशेषता समझना चाहिये। सुख का विषय सचमुच

वर्तमान रहने पर भी जिस 'वृत्ति' या भाव की सहायता के बिना उसकी अनुभूति नहीं होती, आनन्द का विषय विद्यमान रहने पर भी हम जिसके अभाव से आनन्दित नहीं हो सकते, आनन्द की उसी वृत्ति विशेष का ही नाम है भाव या भक्ति। भक्ति का प्रचलित अर्थ है भालवासा (अच्छा लगना) या प्रियता।

पुत्र के प्रति प्रियता का नाम स्नेह है। स्त्री के प्रति प्रियता का नाम प्रणय है। बन्धु के प्रति प्रियता का नाम संख्य है गुरुजनों के प्रति प्रियता का नाम श्रद्धा है इत्यादि। विभिन्न वस्तु के प्रति भावाख्य 'अच्छा लगना' विभिन्न नाम से उक्त होने पर भी वह सभी नाम प्रियता या भक्ति के ही नामान्तर मात्र है। इस प्रियता के बिना किसी भी विषय से किसी को भी आनन्द ग्रहण करना सम्भव नहीं है। एक वाक्य में इसका नाम है 'भाव' भाव न रहने से कोई भी विषय प्रिय या सुख देने वाला नहीं होता।

सुख का विषय और आश्रय विद्यमान रहने पर भी भाव या प्रियता के अभाव से सुखास्वाद असम्भव।

हम जिस विषय से आनन्द ग्रहण करते हैं उसे आनन्द या सुख का विषय कहते हैं और जो आनन्द ग्रहण करता है उसे आनन्द या सुख का आश्रय कहते हैं। जिस तरह से किसी भी विषय सुख के अस्वादन करने के लिये सुख का विषय और सुख का आश्रय यह दोनों प्रयोजनीय हैं उसी तरह साथ ही साथ, विषय से आश्रय को आनन्द ग्रहण करने के लिये यन्त्र या उपायस्वरूप, आनन्द के विषय के प्रति प्रियता रूप एक अनुकूल मानसिक भाव या मनोवृत्ति की भी

विद्यमानता अवश्य प्रयोजनीय है, नहीं तो आनन्द का विषय विद्यमान रहने पर भी कोई भी उससे आनन्दनुभव करने में समर्थ नहीं हो सकता। सन्दूक में बन्द धन दौलत का अधिकारी होने पर भी, चाभी के अधिकार के बिना वह धन-दौलत जैसे उपयोग नहीं कर सकता वैसे ही आनन्द का विषय वर्तमान रहने पर भी, उस विषय के प्रति प्रियता रूप चाभी के न होने से उससे सुखास्वाद का अनुभव नहीं कर सकता इसलिये प्रियता ही आनन्द की 'वृत्ति' या उसके आस्वादन का उपाय है।

माता पुत्र से स्नेह करके आनन्द का उपभोग करती है। पुत्र से माता आनन्दिता होती है इसलिये पुत्र आनन्द का विषय और माता आनन्द का आश्रय है और उस पुत्र के प्रति प्रियता द्वारा ही माता सुखानुभव कर सकती है इसलिये 'भाव' या प्रियता को ही सुख प्राप्ति का उपाय या उस आनन्द की 'वृत्ति' जानना चाहिये। प्रियता न रहने से माता पुत्र से आनन्द नहीं प्राप्त कर सकती। सभी पुत्र आनन्द के विषय होने पर भी, माता को अपने पुत्र की तरह दूसरे के पुत्र में प्रेम न रहने से, वह उस पुत्र से आनन्दिता नहीं होती, इसलिये यह समझ में आता है कि आनन्द का विषय रहने पर भी, जिनके प्रति प्रेम नहीं है उससे आनन्द भी नहीं है। भक्ति या प्रियता ही सुखास्वादन का उपाय या यन्त्रस्वरूप है।^१

विषय के भेद से 'भाव' या 'वृत्ति' की भिन्नता।

जिस प्रकार एक ही चाभी से सब सन्दूकें नहीं खोली जा

१. भक्ति यन्त्रितः—भक्ति ग्रहीतः सन् (सिद्धान्त रत्नम् १।८६) टीका दृष्टव्य

सकती; किन्तु चाभी जिस जातीय या जिस प्रकार की होती है उससे उसी जातीय या उसी प्रकार की सन्दूक खुलती है, उसी प्रकार आनन्द की वृत्ति, गुण, कर्मादि के अनुसार से जिसकी जैसी है उसके लिये उसी प्रकार का या वही जातीय सुख ग्रहण योग्य होता है। आनन्द से ही उत्पन्न होने के कारण सभी विषय में सुख है। मनुष्य और शूकर दोनों ही विषय भोग करके सुखी होते हैं किन्तु शूकर जिस विषय से सुख प्राप्त करता है वह मनुष्य के लिये घृणित है और मनुष्य के लिये जो सुख का विषय है। शूकर के लिये वह निकृष्ट है। शूकर की आनन्दवृत्ति या प्रियता जिस जातीय की है, उसी जातीय आनन्द के विषय से ही उसे आनन्द प्राप्त होता है और मनुष्य की आनन्द वृत्ति या प्रियतानुरूप उसी जातीय आनन्द का जो विषय है। उससे ही उसे आनन्द होता है इसमें सन्देह नहीं कि यदि मनुष्य की वृत्ति शूकर को और शूकर की वृत्ति मनुष्य को प्राप्त करने की सम्भावना होती तो परस्पर के विपरीत विषय से, तुरन्त परस्पर आनन्द लाभ कर सकते। स्त्री के प्रति प्रियता विधानपूर्वक स्वामी आनन्द प्राप्त करता है किन्तु प्रियता के अभाव के कारण यही स्त्री अपने सपत्नी को किञ्चित् मात्र भी आनन्द का विषय न होकर विष की तरह प्रतिभात होती है और किसी भी एक विषय से बहुतों को आनन्द प्राप्त होने पर भी, आनन्द ग्रहण वृत्ति के या प्रेम के पार्थक्यवशतः वृत्तिअनुरूप आनन्द भी पृथक्-पृथक् अनुभव होता है। जैसे—एक रमणी के प्रति प्रियता की भिन्नता वशतः उसके पिता, उसके पुत्र, उसके स्वामी, उसके भ्राता, उसके देवर सभी उससे सुखानुभव तो करते हैं परन्तु सुख की विभिन्नता रहती है। उक्त प्रकार किसी भी जागतिक दृष्टान्त की पर्यालोचना करने

से हम यह सरलता से समझ सकते हैं कि आनन्द की वृत्ति ही आनन्दास्वादन का उपाय है, भक्ति भाव या प्रेम की भिन्नता ही विभिन्न जातीय सुखानुभूति का कारण है; और साथ ही साथ यह भी प्रकाश हो जाता है कि प्रियता या भाव-भक्ति का ही नामान्तर है।

जो विषय जिसको प्रिय है वह उस विषय का 'भक्त' है। अतएव प्रियता ही भक्ति का नामान्तर है।

किसी को किसी विषय के सुखास्वादन में अधिक प्रेम देखने से, लोग उसे उस विषय का 'भक्त' कहकर उल्लेख करते हैं। जैसे मिष्ठान्न जिसे अधिक प्रिय है, उसे मिष्ठान्न भक्त, मछली जिसे अधिक प्रिय है उसे मत्स्य भक्त, अर्थ जिसे अधिक प्रिय है उसे अर्थभक्त, माता जिसे अधिक प्रिय है उसे मातृभक्त, प्रभु जिसे अधिक प्रिय है उसे प्रभु भक्त कहकर उल्लेख किया जाता है—इस प्रकार जिस विषय में जिसकी प्रियता अधिक देखी जाती है। उसे उस विषय का 'भक्त' कहा जाता है।

सर्वमूल होने के कारण, भगवत सम्बन्ध में ही भक्ति और भक्त नाम की प्रकृष्ट और परिपूर्ण सार्थकता।

इसलिये आनन्द की वृत्ति का ही नाम भाव, प्रियता या भक्ति है। भक्ति कहने से साधारणतः हम लोग भगवत प्रियता ही समझते हैं और भक्त कहने से यह समझते हैं कि उसे भगवत प्रीति है। वास्तव में एकमात्र भगवत सम्बन्ध से ही भक्ति और भक्त नामों का अर्थ

प्रसिद्ध है और इसी सम्बन्ध में ही उसकी पूर्ण सार्थकता है।

भक्ति जीव का ऐसा स्वाभाविक धर्म है कि “श्री भगवान की भक्ति के अतिरिक्त जीव का दूसरा कुछ प्रयोजनीय या करणीय नहीं है।” यह तत्त्व हम जानें न जानें, तब भी प्रत्येक जगत् के व्यवहार में भी यह सत्य आप ही आप प्रकाशित हो जाता है। प्राकृत विषय भी उस भगवत शक्ति विशेष की परिणति (रूपान्तरित्व) है। इसलिये प्राकृत विषय के सुख की इच्छा उसी भगवत विषय सुखस्पृहा की ही परिचायक है और इसमें संन्देह नहीं है कि प्राकृत विषय में प्रियता या भक्ति, उसी भगवत भक्ति का निदर्शन मात्र है। दोनों में काया और छाया की तरह पार्थक्य है। पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है, अतएव जो प्राकृत आनन्द हम लोगों का नित्य अस्वादित विषय सुख है वह अल्प है और क्षण भंगुर व अविशुद्ध है और जो अप्राकृत प्रदेश प्रवाहित आनन्द है—वह भूमा, विशुद्ध और नित्य है, इसलिये यही यथार्थ सुख कहलाने योग्य है।

भक्ति या प्रियता के बिना प्राकृत या अप्राकृत किसी भी प्रकार के आनन्द का आस्वादन नहीं किया जा सकता। यह बात भी हमने समझ लिया कि जिस प्रकार की भक्ति है उसी प्रकार का आनन्द का ही आस्वादन होता है।

प्राकृत भक्ति और आप्राकृत निर्गुणा भक्ति का पार्थक्य।

अतएव जो आप्राकृत आनन्द है, वही परमानन्द है। और उसके आस्वादन का उपाय भक्ति है किन्तु उस भक्ति को उसी जातीय

का होना आवश्यक है। इसी कारण से ही उसका नाम शुद्धा भक्ति है। काया और छाया की तरह प्राकृत भक्ति, शुद्धा भक्ति का मलिनाभास मात्र है इसलिये यह मायिकी भक्ति है। शुद्धा भक्ति ही दूसरी भक्ति विशेष की मूल या मुख्य कारण है इसलिये उसका दूसरा नाम मुख्या भक्ति है। भक्ति जैसी परिशुद्ध होगी, उसी जातीय विषय से वैसी ही परिशुद्ध आनन्द लाभ करना सम्भव होगा, यहाँ तब पहले भी हम समझ चुके हैं। श्री भगवान् सर्वपेक्षा विशुद्ध आनन्द के विषय है, इसलिये उस आनन्द के प्राप्त करने के लिये उसी प्रकार सर्वपेक्षा विशुद्धा भक्ति अर्थात् शुद्धा भक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है। तभी तो श्रुति ने कहा है—

“विज्ञान घन आनन्द घनः सच्चिदानन्दैकरसे भक्ति योगे तिष्ठति”।

(श्री गोपालोत्तर तापिणी—७६)

विज्ञान घन स्वरूपा और आनन्द घन स्वरूपा श्री भगवन्मूर्ति एकमात्र सच्चिदानन्दैकरस स्वरूप भक्ति योग द्वारा ही ग्राह्य होती है। एकमात्र शुद्धा भक्ति ही श्री भगवत् साक्षात्कार की हेतुस्वरूपा है।

यदि किसी के पास सन्दूक की चाभी नहीं है तो जैसे वह उसके भीतर की सुखकर वस्तु का उपभोग नहीं कर सकता, उसी तरह परमानन्द स्वरूप भगवत्दर्शन प्राप्त करने की उपयुक्त भक्ति जिसमें नहीं है उसके लिये श्री भगवान् का, यद्यपि वह सर्वत्र विद्यमान रहते हैं, तब भी भगवत् रूप में अनुभव करना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि भगवान् के प्रगट काल में भक्ति के अभाव के कारण अनेक ज्ञानी मानी व्यक्ति भी देखने पर भी उन्हें देख नहीं पाये, किन्तु

साधारण दृष्टि से जो लोग तुच्छ, नगण्य माने जाते थे। उनमें से भी अनेकों ने भक्ति होने के कारण भगवत्सन्दर्शन का सौभाग्य लाभ किया। इस सम्बन्ध में श्री चैतन्य भागवतकार ने जो लिखा है, उसी का कुछ अंश लिखा जाता है,—

(प्रभूर आश्वास शुनि कान्दये मुकुन्द।
 धिक्कार करिया आपनारे बोले मन्द॥)
 'भक्ति' न मानिलूँ मुई एई छार मुखे।
 देखिलेई, भक्तिशून्य कि पाइब सुखे॥
 विश्वरूप तोमार देखिल दुर्योधन।
 जाहा देखिवारे वेद करे अन्वेषण॥
 देखियायु सवंश मरिल दुर्योधन।
 ना पाइल सुख-भक्ति शून्येर कारण॥
 हेन भक्ति न मानिल आमि छार मुखे
 देखिले कि, हैव आर मोर प्रेम सुखे॥
 जखने चलिला तुमि रुक्मणी हरणे।
 देखिल नरेन्द्र सब गरुण वाहने॥
 अभिषेक हैल, राज राजेश्वर नाम।
 देखिल नरेन्द्र तोमा महा ज्योतिर्धाम॥
 ब्रह्मादि देखिते जाहा करे अभिलाष।
 विदर्भ नगरे ताहा करिल प्रकाश॥
 ताहा देखि मरे सब नरेन्द्रेर गण।
 ना पाइल सुख भक्ति शून्येर कारण॥
 सर्वयज्ञमय रूप-कारण शूकर।
 आविर्भाव हैला, तूमि जलेर भीतर॥

अनन्त पृथ्वी लागि आछये दशने।
 जे प्रकाश देखिते देवेर अन्वेषणे॥
 देखिलेक हिरण्य अपूर्व दरशन।
 ना पाइल सुख भक्ति शून्येर कारण॥
 आर महाप्रकाश देखिल तार भाई।
 जाहा गोप्य हृदयेते कमलार ठाई॥
 अपूर्व नरसिंहरूप कहे त्रिभुवने।
 ताहर देखि मरे भक्ति शून्येर कारणे॥
 हेन भक्ति मोर छार मुखे ना मानिल।
 एक बड़ अद्भुत-मुख खसि ना पड़िल॥
 कुब्जा, यज्ञपत्नी, पुरनारी मालाकार।
 कोथाय देखिल तारा प्रकाश तोमार॥
 भक्तियोगे तोमारे पाइल तारा सेब।
 सेई खाने मरे कंसदेखि अनुभव॥

(श्री चै० भा० मध्य १०)

अर्थ—प्रभु का आश्वासन सुनकर श्री मुकुन्द अपने को धिक्कार करके और बुरा कहकर रोने लगे और बोले—मैंने इस नीच मुँह से भक्ति नहीं मानी तो भक्ति शून्य होकर आपका दर्शन करके मुझे क्या सुख होगा। दुर्योधन ने आपके विश्वरूप का (महाभारत में) दर्शन किया था। जिसके दर्शन के लिये वेद भी अन्वेषण करते रहते हैं। देखकर भी वह संवश मारा गया। भक्तिशून्य होने के कारण उसे कोई सुख न मिला। ऐसी भक्ति को मैंने इस नीच मुँह से नहीं माना इसलिये आपको देखकर भी मुझे क्या प्रेम सुख मिलेगा। जब आप रुक्मणी हरण करने चले थे तब आप गरुड़ वाहन का राजाओं

ने दर्शन किया था। आप राजराजेश्वर महा ज्योतिर्धाम जिसको देखने को ब्रह्मादि भी अभिलाषा करते रहते हैं। उस रूप को देखकर भी सारे राजा मारे गये थे और भक्ति शून्य होने के कारण उन्हें कोई सुख नहीं प्राप्त हुआ था। आपका सर्वयज्ञमय रूप शूकर अवतार—जब जल के भीतर हुआ था। आप पृथ्वी को अपने दाँतों से दबाये थे जिस रूप को देखने के लिये देवता अन्वेषण करते रहते हैं, उस अपूर्व रूप को देखकर भी हिरणाक्ष भक्ति शून्यता के कारण कोई सुख नहीं पा सका था और एक महाप्रकाश उसके भाई हिरण्यकशिपु ने देखा था जो लक्ष्मी जी के लिये गोप्य है। त्रिभुवन में अपूर्व नरसिंह रूप को देखकर भी भक्ति की शून्यता के कारण हिरण्यकशिपु सुख नहीं पा सका था। ऐसी भक्ति को मैंने इस नीच मुख से नहीं माना। यह बहुत ही आश्चर्य है कि मेरा मुँह टूट कर गिर क्यों नहीं गया। कुब्जा, यज्ञ पत्नी, मथुरा की स्त्रियाँ, माली ने पहले कब आपका प्रकाश देखा था पर उस समय भक्ति होने के कारण इन सब ने आपको प्राप्त किया। उसी जगह कंस अनेक प्रकार भगवत्ता के अनुभव करके भी भक्तिशून्यता के कारण मारा गया।

रस—आनन्द का मूल या आश्रय।

जीव मात्र—जब किसी भी विषय से उसके प्रति भक्ति या भाव या प्रियता के द्वारा आनन्द उपभोग करता है। तब वह आनन्द का विषय ही उसके लिये रस रूप में बदल जाता है। रस से ही आनन्द उत्पन्न होता है। जहाँ आनन्द है वहाँ उसके मूल में अवश्य ही रस की अवस्थिति समझना चाहिये। रस ही आनन्द का आधार है। रस

ही आनन्द का मूल या आश्रय है। रस के बिना आनन्द नहीं है। यह बात भी हम पहले बता चुके हैं कि किसी विषय के प्रति उसी जातीय भक्ति या भाव या प्रियता चित्त में उदित होने से ही वहीं जातीय आनन्द अनुभव होता है किन्तु और भी स्पष्ट रूप में बताने के लिये यह भी कहना पड़ेगा कि किसी भी विषय के प्रति उसी जातीय भक्ति भाव या प्रियता चित्त में उदय होते ही वह विषय 'रस' रूप में बदलकर उसी जातीय आनन्द की अनुभूति कराता है। रस से ही आनन्द की उत्पत्ति होती है। लौकिक व्यवहार में भी इसकी स्पष्ट उपलब्धि होती है यथा काव्य श्रवणादि का आनन्द जिससे अनुभव होता उसे हम 'काव्य रस' कहते हैं। काव्य के प्रति जिसकी 'भाव' या भक्तिरूप अनुकूल मनोवृत्ति है, उसी के ही संयोग से काव्य रस रूप में बदलकर उस काव्यामोदी को आनन्दित करता है। 'रस' न होने से केवल 'काव्य' किसी के लिये भी आनन्द का विषय नहीं होता। उसी तरह विषयानन्द अनुभव होता है—विषय रस से, संगीत का आनन्द अनुभव होता है संगीत रस से, सख्यता का आनन्द अनुभव होता है सख्य रस से, नाट्यामोद अनुभव होता है नाट्यरस से क्रीडामोद अनुभव होता है—क्रीडारस से, इसी तरह सर्वत्र ही समझना चाहिये।

आनन्द की घनीभूत या समूर्त अवस्था ही 'रस' है, सच्चिदानन्द घनमूर्ति रसरज—श्रीकृष्ण ही सब रसों के मूल या आदि कारण है।

'रस' आनन्द का घनीभूत या सविशेष भाव है,—अर्थात् मूल

या आश्रय है और आनन्द रस का निर्विशेष भाव या रस का कार्य विशेष है। श्रीकृष्ण ब्रह्म के सविशेष भाव या ब्रह्म के आश्रय है, — ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहम्”^१ इसलिये वही रस स्वरूप है ‘रसराज’ नाम उनसे ही सार्थक है, रसो वै स।^२” और ब्रह्म श्री भगवान का निर्विशेष भाव है इसलिये वह आनन्दस्वरूप है, — ‘आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्’ “आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्”^३। सब रसों के मूल, सभी आनन्द के आश्रय, सब सुखों के सार स्वयं भगवान श्री कृष्ण ही यथार्थ रसराज या महारसमय हैं। इस रस के कण मात्र के आभास से ही चराचर निखिल विश्व विमुग्ध है।

इसलिये आनन्द ही ब्रह्म है, और उस आनन्द की समूर्त घनीभूत अवस्था या ‘रस’ ही रसराज श्री कृष्ण या श्री भगवान का स्वरूप है यही कारण है कि शास्त्र श्री भगवान को आनन्दघन रूप में वर्णन करते हैं। सच्चिदानन्दमूर्ति, रसराज—स्वयं भगवान श्री कृष्ण ही श्रुति वर्णित “रसो वै सः” हैं। वह अनन्यापेक्षी सुकृत अर्थात् स्वयंकर्त्ता या स्वयं रूप श्री कृष्ण ही भाव भेद से ब्रह्म, परमात्मा और श्री भगवान रूप में प्रकाशित होते हैं। अतएव श्री कृष्ण ही मूल और विशुद्धरससिन्धु है, और श्री भगवान की माया शक्तिमिश्रित अविशुद्ध रस बिन्दु ही प्राकृत विषय रस है। उसी से ही परिछिन्न, दुख से पूर्ण विषयानन्द ग्राह्य होता है। दोनों का उपादान भिन्न है पर आस्वादन प्रणाली एक है।

१. गीता १४/२७/२

२. तैत्तिरि २।७

३. तैत्तिरि ३।६।१

पूर्व वर्णित विषय का सारमर्म।

यहाँ तक आलोचना करने से हमारे जो कुछ समझ में आया है, उसका सारमर्म यह है कि—

(१) आनन्द से जीव की उत्पत्ति है, आनन्द में ही अवस्थिति है और आनन्द में ही जीव लौट जाता है। आनन्द के बिना जीव मुहूर्तकाल मात्र भी विद्यमान नहीं रह सकता।

(२) आनन्द मय से उत्पन्न होने के कारण विषय मात्र में आनन्द विद्यमान तो है किन्तु किसी विषय के प्रति वही जातीय भाव यदि नहीं है तो उस विषय से आनन्द लाभ नहीं किया जा सकता। गुण कर्म के अनुसार से जो जिस जातीय भाव का अधिकारी है, उसे उसी जातीय विषय से उसके अनुरूप सुख का अनुभव होता है।

(३) भाव का ही दूसरा नाम प्रियता या भक्ति है। भक्ति ही आनन्द अनुभव करने का यन्त्र या उपायस्वरूप है, इसलिये इसे आनन्द की वृत्ति विशेष कहते हैं। विशुद्धानन्द अनुभव करने का उपाय विशुद्धा भक्ति है, अविशुद्धानन्द अनुभव करने का उपाय अविशुद्धाभक्ति है। सात्विक भक्ति द्वारा सात्विक सुख, राजसी भक्ति द्वारा राजसिक सुख और तामसी भक्ति द्वारा तामस सुख की उपलब्धि होती है।

(४) रस के अवलम्बन से ही आनन्द का अनुभव होता है। आनन्द के विषय का ही नाम रस है; रस के बिना आनन्द होता नहीं। धूप-बत्ती से जैसी सुगन्ध निकलती है वैसे ही रस से आनन्द की उत्पत्ति होती है।

(५) भाव या भक्ति का संयोग ही, विषय को 'रस' रूप में परिणत करता है। विषय जब रस रूप में अनुभव होता है। तभी उस रस से आनन्द की उपलब्धि होती है। भक्ति या भाव के संयोग के बिना कोई भी विषय 'रस' रूप में नहीं परिणत होता।

(६) जीव मात्र ही जब आनन्द को अवलम्बन करके ही विद्यमान है और 'रस' से ही जब आनन्द अनुभव होता है और 'भाव' या 'भक्ति' ही जब विषय को रस रूप में अनुभव कराने का एकमात्र उपाय है। तब इस विषय में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता कि भक्ति ही आनन्द की नित्य सेविका है और जीव का साहजिक और स्वाभाविक धर्म है।

अप्राकृत शुद्धा भक्ति या 'भागवती वृत्ति' और 'मायिकी भक्ति' या 'वैषयिकी वृत्ति' इन दोनों में कार्यतः एकता है किन्तु स्वरूपतः पृथक् वस्तु है।

अतएव यह बात समझ में आ गई कि भाव या वृत्तिरूपा भक्ति ही सब जीवों का आत्मधर्म है, भक्ति ही जीव का नित्यधर्म है, भक्ति के बिना जीव सुख हीन होकर मुहूर्तकाल मात्र भी विद्यमान नहीं रह सकता; किन्तु इसके साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्राकृत विषय रस से विषयानन्द आस्वादन की उपाय स्वरूप भक्ति या भाव,—यथार्थ भक्ति की ही किञ्चित मलिनाभास मात्र है।

काया और छाया की तरह कथंचित सादृश्य तो है किन्तु दोनों जिस तरह भिन्न वस्तु है, उसी तरह रसराम श्रीकृष्ण के या रसमय

समस्त भगवन्मूर्ति के सेवानन्द आस्वादन की हेतुभूता निर्गुणा शुद्धाभक्ति और प्राकृत विषयानन्द अस्वादन की हेतुभूता मायिकी भक्ति, इन दोनों में सुखास्वादन की प्रणाली तो एक है परन्तु स्वरूपगत यह दोनों 'वृत्ति' या भाव संपूर्ण पृथक् है। एक है अप्राकृत चिन्मयी "भागवती वृत्ति" या शुद्धा भक्ति दूसरी है—प्राकृत गुणमयी "वैषयिकी वृत्ति" या जड़ीया भक्ति। एक कृष्णोन्द्रिय प्रीति इच्छामयी या 'प्रेम' नामक भक्ति दूसरी है आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छामयी या 'काम' नामक भक्ति। सोना और लोहा में या निर्मल सूर्य और घने अन्धकार में जिस प्रकार भेद है। उक्त दोनों वृत्ति या दोनों भक्ति में उसी प्रकार ही भेद है। यथा,—

“काम, प्रेम दोहाकार, विभिन्न लक्षण।
लौह आर हेम जैछे स्वरूप विलक्षण॥
आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे बुलि काम।
कृष्णोन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम॥
कामेर तात्पर्य निज सम्भोग केवल।
कृष्ण सुख तात्पर्य होय प्रेम तो प्रबल॥
अतएव काम प्रेमे बहुत अन्तर।
काम अन्धतम्, प्रेम निर्मल भास्कर॥

(श्री चै० १।४)

अर्थ—काम और प्रेम दोनों के भिन्न भिन्न लक्षण है। जैसे लोहा और सोने के रूप में विलक्षणता होती है। अपने इन्द्रिय के सुख के लिये जो प्रीति होती है। उसे 'काम' कहते हैं। श्रीकृष्ण की इन्द्रिय के सुख के लिये जो प्रीति है उसे प्रेम कहते हैं। काम का तात्पर्य केवल

अपना ही सुखभोग है और प्रेम का तात्पर्य श्रीकृष्ण की सुख देने की ही प्रबल इच्छा है अतएव काम और प्रेम में बहुत अन्तर है। काम अन्धकार है तो प्रेम निर्मल सूर्य है।

भगवद्वशीकार हेतु भूता शुद्धा भक्ति का स्वरूप निर्णय।

एक मात्र शुद्धा भक्ति द्वारा ही श्री भगवान वशीभूत होते हैं, श्रुति और स्मृति आदि सभी में इसका प्रमाण मिलता है।^१ इसलिये भौंरा जिस प्रकार शहद की लालच में अपनी इच्छा से फूल के अन्दर बन्द हो जाता है,—रसिक तरुण जिस प्रकार रसिका तरुणी के प्रेमपाश में खुशी से बंध जाता है। उसी तरह श्री भगवान भी भक्त के प्रेम डोर में अपनी इच्छा से प्रसन्नतापूर्वक आबद्ध हो जाते हैं। भक्ति ही भगवान के वश करने का एकमात्र कारण स्वरूप है। निखिल विश्व जिसके वश में रहकर चालित होता है, ऐसे श्री भगवान को भी जो वशीभूत करती है,—महाप्रभावशालिनी उसी भक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में अवगत होना प्रयोजनीय है। इस विषय में सुप्रसिद्ध सिद्धान्त—रत्नाकर के संक्षिप्त और सुरम्य विचार नीचे

१. “भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसीति—।”

(गोपाल ता. श्रुति)

अर्थ—श्री भगवान भक्ति के ही वश है। भक्ति ही भगवत्प्राप्ति का परम उपाय है।

“अहम् भक्तपराधीनोऽह्यास्वतन्त्र इव द्विज—”

(श्री भा० ६।४।६३)

अर्थ—मैं भक्ताधीन हूँ। भक्त के पास मेरी स्वतन्त्रता नहीं रहती इत्यादि।

लिखे जाते हैं। यथा,—अत्रैवं पुनश्चिन्त्यते, भगवद्वशीकार हेतु भूता भक्तिः किं स्वरूपेति। किं प्राकृत सत्त्वमय ज्ञानानन्द रूपा किम्बा भगवज्ज्ञानानन्दरूपा-अथवा जैव ज्ञानानन्द रूपा, उत ह्यादिनी सार समवेत् सम्बितसाररूपेति। नाद्यः भगवतो मायावश्यत्वा श्रवणात्, स्वतः पूर्णत्वाच्चन द्वितीयः अतिशया सिद्धेः नापि तृतीयः, जैवयो—स्तयोः क्षोदिष्ठत्वात्। किन्तु चतुर्थ एवासौ भवेत्। (१/३८)

इसका अर्थ—यहाँ फिर चिन्तनीय यह है कि भगवद्वशीकारिणी भक्ति का स्वरूप क्या है? वह क्या प्राकृत सत्त्वमय ज्ञानानन्द रूपा है? किम्बा भगवान के स्वरूप भूत ज्ञानानन्द रूपा है? अथवा जीव में अवस्थित ज्ञानानन्द रूपा है? अथवा श्रीभगवान के स्वरूप शक्ति अन्तर्गत—ह्यादिनी सार—समवेतसम्बित सार रूपा है? इसके उत्तर में कहते हैं,—

प्रथम पक्ष—अर्थात् उसे कभी प्राकृत—सत्त्वमय ज्ञानानन्द नहीं कहा जा सकता क्योंकि श्री भगवान स्वतः पूर्ण होकर भी जब भक्ति के वशीभूत होते हैं, तब भक्ति ऐसा कहने से भगवान की मायावश्यता स्वीकार करनी पड़ेगी किन्तु माया तो भगवान के सामने आने में भी विलज्जिता होती है,^१ इसलिये भगवान कभी ऐसी माया के वशीभूत नहीं हो सकते।

द्वितीय पक्ष भी अतिशय असिद्ध है, क्योंकि भगवान जब भक्त की भक्ति से अधिक आनन्द अनुभव करते हैं तब यदि भक्ति उनकी स्वरूपानन्द होती तो उससे पूर्ण होने के कारण^२ ऐसे ज्ञानानन्द का

१. विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।” इत्यादि

(श्री भा० २।५।१३)

२. “पूर्णमदः पूर्णमिदमित्यादि श्रुतिभ्यः।”

(वृ०आ० ५।१)

आधिक्य प्राप्ति सम्भव न होती।

तृतीय पक्ष भी स्वीकार किया नहीं जा सकता क्योंकि जीव का ज्ञानानन्द क्षुद्र और अल्प है, परिछिन्न और क्षयशील है इसलिये इसकी गिनती कभी अखण्ड और विपुल ज्ञानानन्द रूपा नित्या भक्ति रूप में नहीं हो सकती। अतएव चतुर्थ पक्ष ही स्वीकार करना पड़ेगा; अर्थात् श्री भगवान की स्वरूप शक्ति के अन्तर्गत ह्लादिनी और सम्बितशक्ति की सम्वेत् सार भाग या परमावस्था ही होती है 'भक्ति'।

इस भक्ति को भगवदानन्द की 'वृत्ति' भी कहते हैं क्योंकि यह आनन्द स्वरूप होने पर भी श्री भगवत् सम्बन्धीय निखिल सुखास्वादन का एक मात्र उपाय स्वरूप होती है। इसी कारण से शुद्धाभक्ति का ही दूसरा नाम 'भागवती वृत्ति' है। यह तत्त्वतः 'शक्ति' रूप से भगवान में नित्य विद्यमान तो रहती है किन्तु स्वरूपतः जब तद्विषया वृत्ति रूप में उनके बाहर रहती है तब इनका नाम होता भक्ति। इस भक्ति या भागवती वृत्ति के विक्षेप से ही भगवान रस रूप में परिणित होकर नित्य ही अपने को और अपने भक्तों को आनन्दित करते हैं। समस्त वृत्ति, समस्त रस और समस्त आनन्द का निखिल सुखास्वादन प्रणाली का यही मूल केन्द्र है।

**स्वरूप शक्ति के अन्तर्गत भक्ति निर्झरिणी—
निर्गुणा और सगुणा दो पृथक धारा से विश्व
प्रपंच में नित्य प्रवाहिता।**

श्री भगवान के स्वरूप वैभव की परमसम्पदा वह भक्ति

निर्झरिणी दो अलग-अलग धारा से विश्व प्रपंच में नित्य प्रकटित रहती है। इनमें से पहली धारा स्वरूप वैभवस्थ नित्य परिकरो से लेकर भुवन पावनी मन्दाकिनी प्रवाह की तरह भक्त परम्परारूप आवरण में आधुनिक भक्तगण पर्यन्त सर्वत्र परिव्याप्त है।^१ केवल यादृच्छिक महत संग के द्वारा ही इसका लाभ होना सम्भव होने के कारण से ही इसे सदुर्लभा कहा जाता है महतसंग और उनके मुख से निकली हरिकथा श्रवण कीर्तनादिरूपा भक्ति-एक साथ इन दोनों कारणों के संयोग से ही शुद्धाभक्ति जीव के हृदय में संचारित होती है और अनादि बहिर्मुख जीव को कृष्णोन्मुख कराकर शृद्धादि क्रम से साधन, भाव और प्रेम भक्ति रूप में उदित होकर निज मुख्य फल श्री कृष्ण सेवादि प्रदान करती है। इसका ही नाम है निर्गुणा—शुद्धाभक्ति या 'भागवती वृत्ति'।—शास्त्र वाक्य यथा—

सत्तां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो

भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि

शृद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

(श्री भा० ३।२५।२५)

इसका अर्थ—श्री भगवान ने कहा साधुओं के प्रकट संग द्वारा, हृदय और कानों को तृप्ति देने वाली मेरी वीर्य प्रकाशक कथा (अर्थात् श्री भगवन्नाम रूप गुण लीलादि कथा) आविर्भूत होती है। उसी कथा के आस्वादन से अववर्गवर्त्मस्वरूप (अर्थात् जिनके पास

१. "एषा तु भक्तिस्तन्नित्य परिकरणगदारभ्ये दानीन्त नेवपि तद्भक्तेषु मन्दाकिनीव प्रचरति।"

(सिद्धान्त रत्नम् । १ म पाद ५६ अनुः।)

जाने के रास्ते में पहले ही मुक्ति को देखा जाता है ऐसे भगवान) मुझ में शीघ्र श्रद्धा अर्थात् पहले श्रद्धा फिर साधन भक्ति रति (अर्थात् भावभक्ति) और प्रेम भक्ति यथा क्रम से उदित हो जाती है।

दूसरी धारा भक्त आवरण में प्रवाहित न होकर उन्मुक्त भाव से ही अर्थात् शास्त्रोक्त और साधारणतः कथित श्री हरिकथादि रूप से जगत में नित्य ही स्वप्रकाश रहती है। अनावृत्त भाव से प्राकृत विश्व प्रपंच के नाना गुण सम्बन्ध के भीतर से प्रवाहित होकर स्वयं निर्मल और विशुद्ध होने पर भी, सत्त्वादि त्रिगुण रंग के मिलने से रूपान्तरित होकर "सगुण भक्ति" के नाम से सब जीवों के लिये सहज लभ्य रूप में जगत में अवस्थान करती है। भक्ति सम्बन्ध के बिना दूसरा कोई भी साधन फल प्रदान नहीं कर सकता इसलिये यह भक्ति चिन्तामणि की तरह निखिल सकाम साधकों के साधना के अंग रूप में निहित रहकर, उनकी भुक्ति मुक्ति सिद्धि कामनायें पूर्ण करने के लिये उन सब साधनों को प्राणदान करती रहती हैं। पूर्वोक्ति प्रथम धारा के संयोग न होने तक दूसरे किसी भी उपाय से अनादि बहिर्मुखजीव के हृदय में कृष्ण उन्मुखता अर्थात् "श्री कृष्ण ही सबके प्रभु हैं—मैं उनका नित्य दास हूँ"—यह शुद्ध बुद्धि उदय नहीं होती। यही कारण है कि सगुण भक्ति के ग्रहण काल में भी जीव के हृदय में "मैं कर्त्ता हूँ", "मैं भोक्ता हूँ" ऐसा प्रभुत्व बोध विद्यमान रहने से, सगुण भक्ति ऐसे सकाम साधकों को उनके इच्छानुरूप पापनाश, नरक निवारणादि से लेकर भुक्ति, मुक्ति, सिद्धि तक अपना गौरव फल मात्र ही प्रदान करती है किन्तु मुख्य फल श्री कृष्ण सेवानन्द केवल शुद्धभक्ति के रूप में ही प्रदत्त होता है।

इस तरह से अब हमारे यह समझ में आ गया कि केवल आनन्द

ही आनन्दास्वादन का कारण नहीं है अपितु 'रस' 'आनन्द' और 'भाव' या भक्ति इन तीनों के एकत्र समावेश से समस्त आनन्द की उपलब्धि हुआ करती है।

जो सर्वमूल, विशुद्ध और पूर्णरस है—यही हैं रसराज स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण।

जो सर्वमूल, विशुद्ध और पूर्ण आनन्द है वही है ह्लादिनी शक्ति। जो सर्वमूल, विशुद्ध और पूर्ण भाव है—वही है शुद्धाभक्ति।

**जीव पूर्णानन्द से प्रादुर्भूत होने के कारण निरन्तर
पूर्णानन्द के ही अन्वेषण में तत्पर।**

प्राकृत विषय रस, प्राकृत आनन्द और प्राकृत भाव या भक्ति, यह सब उसी विशुद्ध और पूर्ण रस, आनन्द और भक्ति की बिन्दुमात्र के मलिनाभास हैं इसलिये क्षणभंगुर, दुःखमय और अल्प है।

जीव उसी पूर्ण से उत्पन्न होने के कारण—जीव उसी पूर्ण की सन्तान होने के कारण पूर्णता को प्राप्त होने के लिये ही निरन्तर व्याकुल रहता है। पूर्णानन्द का आस्वादन करना ही जीव का स्वभाव या स्वपद है। इस स्वभाव या स्वपद से विच्युति ही जीव के सब अभाव और विपद का कारण है। संसारी जीव मात्र ही अभाव या विपद ग्रस्त है। इसका कारण यह है कि जीव अपने स्वरूप को भूल गया है, इसलिये आत्म वंचित है, माया प्रतारित है (अर्थात् माया द्वारा छला गया है)। विषय सुख सभी जीव अधिक चाहते हैं,—इस अधिक चाहने का मतलब ही होता है, जीव की पूर्णानन्द प्राप्ति की पिपासा।

अल्प और क्षयशील, प्राकृत विषय सुख पूर्णानन्द पिपासातुर जीव की पूर्ण प्यास को बुझाने के लिये काफी नहीं है। तभी तो सब जीव हर समय संचंचल है। यह चांचल्य ही अहर्निश कर्मशीलता रूप से जीव में प्रकाश होता है। जानकार हो या न जानकार हो, ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र कीटाणु पर्यन्त सभी सर्वदा संचंचल है या सचेष्ट है। आस्तिक को चाहे नास्तिक हो हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई, जैन, जोरेखान, चाहे कोई भी क्यों न हो, चाहे किसी भाव से हो सभी का वही पूर्णानन्द प्रयोजन है न कि परिछिन्न विषय सुख। चिकित्सा, ज्योतिष, व्याकरण, रसायन विज्ञान, दर्शन, शिल्प, साहित्य, सभी विद्या का भी यही एक मिलित उद्देश्य है?—आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति और पूर्ण सुख प्राप्ति यह बात सभी चिन्ताशील व्यक्ति के समझ में आ सकेगी।

भूमानन्द और अल्प अर्थात् परिछिन्न और क्षयशील विषयानन्द या वैषयिक सुख में पार्थक्य—

किन्तु पूर्णानन्द के बिना, भूमा के बिना, अल्प, क्षणिक और मलिन विषयानन्द से जीव की अनन्त सुख पिपासा मिटने की सम्भावना कहाँ? तभी तो परमकरुणामयी श्रुति देवी ने जीव को भूमा और अल्प इन दोनों प्रकार के आनन्द का परिचय प्रदान करके जो अल्प है उसे त्याग और जो भूमा है उसके अनुसन्धान में ही अग्रसर

१. श्री भगवान में ही सब शास्त्रों का समन्वय है। इस विषय में श्रीमज्जीव गोस्वामी कृत श्री भगवत्सन्दर्भीय सर्वसम्वादिनी ग्रन्थ के शेषांश में "सर्वेश्व वेदैः परमोहि देवो जिज्ञास्यः"—इत्यादि उपक्रम से लेकर परवर्ती अंश देखना चाहिये।

होने के लिये निर्देश किया है, यथा—“यद वै भूमा तत् सुखमानाल्ले सुखमस्ति भूमैव सुखम् । यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् श्रोणोति नान्य द्विजानाति सभूमा । अथ यत्रान्यत् पश्यति अन्यत् श्रोणोति अन्याद्विजानाति तदल्पम् । यो वै भूमा तदमृतम् । अथ यदल्पं तन्मर्त्तम् ।” (छन्दो ७।२३-२४)

इसका अर्थ—अल्प में सुख नहीं, ‘भूमा ही सुख’ है। भूमा क्या है? इसे बताते हैं; जिसे देखने पर फिर और कुछ देखना शेष नहीं रहता, जिसके सुनने पर फिर सुनना बाकी नहीं रहता और जिसके जानने पर फिर कुछ जानना बाकी नहीं रहता,—वही ‘भूमा’ है। और जिसके देखने पर कुछ देखना रह जाय, कुछ और जानना और सुनना बाकी रहे वही ‘अल्प’ है। जो भूमा है वही है अमृत और जो अल्प है वही है चिरतप्त संसार मरु मृगतृष्णा।

माया बद्ध जीव की दुःखनिवृत्ति और सुख प्राप्ति के लिये ही सारी चेष्टा।

अनादि काल से संसार कारावद्धजीव दुःख छुड़ाने और सुख पाने के लिये ही अशेष प्रकार से चेष्टा करता रहता है। जो कोई जो कुछ करता है, उसमें उसका लक्ष्य रहता है—दुख और दुःख के कारण विषयों से छुटकारा पाना और सुख और सुख के कारण विषयों की प्राप्ति की इच्छा। अतएव त्याग, इच्छा और ग्रहण इच्छा सब कर्मों के दो ही उद्देश्य रहते हैं। त्याग, इच्छा और ग्रहण इच्छा के अतिरिक्त जीव की कोई दूसरी इच्छा नहीं रहती। त्याग और ग्रहण को छोड़कर कोई दूसरा कार्य नहीं है। सभी जीवों के सभी कार्य त्याग

ग्रहणात्मक है, किन्तु क्या त्याग करना चाहिये, क्या ग्रहण करना चाहिये हम मायाहत जीव अपनी परिछिन्न बुद्धि द्वारा उसके निर्णय करने में असमर्थ है, इसलिये करुणामयी श्रुति माता हम लोगों को 'भूमा' और 'अल्प' का सम्बाद अनेक प्रकार से बता कर, इस सार सत्य की घोषणा करती है कि उसी पूर्ण की प्राप्ति के अतिरिक्त अपूर्ण जीव के चिर अभाव-चिर अपूर्णता की निवृत्ति का दूसरा उपाय नहीं है।

ब्रह्माण्ड के मायिक विषय सुख का तारतम्य।

वैषयिक सुख परमानन्द से बिल्कुल भिन्न पदार्थ न होने पर भी, अल्प या परिछिन्न व क्षयशील और माया विमिश्रित है और भूमा या परमानन्द, पूर्ण और माया सम्बन्ध से परिशून्य है। निखिल ब्रह्माण्डान्तर्गत ब्रह्मलोक से भूलोक तक और भूलोक से नीचे के दूसरे सभी लोक पूर्णानन्द की मात्रा या आभास मात्र अवलम्बन करके अवस्थान करते हैं। ऊपर के सभी लोकों के आनन्द क्रम से अधिकतर और ब्रह्मलोक का आनन्द दूसरे लोगों की अपेक्षा सर्वाधिक होने पर भी 'भूमा' या परमानन्द सिन्धु की तुलना में वह बिन्दु मात्र है, इसलिये यह स्थिर भाव से चिन्ता करके समझने का विषय है कि हम जिस विषय सुख पाने के लिये सदा लालायित रहते हैं, वह मनुष्य लोक का आनन्द, पूर्णानन्द की तुलना में कितना अल्प, कितना तुच्छ और कितना नगण्य है। किस लोक में परमानन्द की कितनी मात्रा लोग उपयोग करते हैं, यह बात हम श्रुति देवी की कृपा से कुछ जान सकते हैं।

श्रुति ने कहा है, — “स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धौ भवत्यन्येषा-
मधिपतिः सर्वेर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः मनुष्यानां परम आनन्दोऽथ

ये शतं मनुष्यानामानन्दाः स एकः पितृणा जितलोकानामानन्दोऽथ
ये शतं पितृणा जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्व लोक
आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो
ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्तेऽथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दः स एक
आजान देवानन्दो यश्च श्रोतियोऽवृजिनोऽकामत् तोऽथ ये
शतमाजान—देवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो
यश्चश्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापति लोक आनन्दाः
स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोतियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैस
एव परम आनन्दः।” (वृआ० ४।३।३३)१

इसका अर्थ—मनुष्य लोक में जो अविकलांग समृद्ध अर्थात् सब
समजातीय के अधिपति—स्वतन्त्र, सब प्रकार के मानवीय
भोजोपकरण सम्पन्न (मनुष्यों में यदि कोई ऐसा हो) हैं, वही मनुष्य
लोक का आनन्द उपभोग करते हैं—मनुष्यों में यही परम सुखी है ऐसे
मनुष्य परमानन्द की जो मात्रा उपभोग करते हैं, उससे सौ गुना
अधिक जित लोकवासी पितृगण का आनन्द है; और जितलोक
वासी पितृगण जिस परिमाण में आनन्द उपभोग करते हैं, उससे
गन्धर्वलोक का आनन्द शतगुणा अधिक है; गन्धर्व लोक वासी का
जिस परिमाण में आनन्द है, उससे कर्म देवता गण का आनन्द
शतगुना अधिक है फिर कर्मदेव लोक वासी के आनन्द से शतगुना
अधिक अजानदेवगण का आनन्द है; आजानदेवलोक में जिस
परिमाण में आनन्द है—उससे प्रजापति के लोक का आनन्द शतगुना
अधिक है जिसे अपाप विद्ध अकामहत वेदविद् उपभोग करते हैं फिर

१. उक्त आनन्द श्री मीमांसा की दूसरी पूर्ण तालिका तैत्तिरोयोपनिषद्—
में (२/८) दृष्टव्य

प्रजापति लोकवासी जो आनन्द उपभोग करते हैं—उससे ब्रह्मलोक का आनन्द शतगुना है जिसे निष्पाप और निष्काम वेदज्ञगण भोग करते हैं। यही है परमानन्द।

रसलोक या कृष्णलोक ही निखिल 'रस' 'भाव' और आनन्द का सर्वमूल केन्द्रस्थल।

त्रिभुवन पावनी गंगा जिस तरह बिरजा या कारणार्णव की एक बूँद से निकली है, उसी तरह ब्रह्मानन्द रूप परमानन्द भी कृष्णानन्द सिन्धु का एक बूँद है।^१ प्रमाण सहित इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

रस व भाव को और भाव व रस के परस्पर विक्षेप या आवर्तन से ही निखिल आनन्द का विकास होता है। जो सर्वमूल 'भाव' जो सर्वमूल 'रस' और जो सर्वमूल 'आनन्द' है। वह केवल रसलोक या श्रीकृष्ण लोक की ही सम्पद है।

१. कारणार्णव की एक बूँद से ही पतित पावनी गंगा का आविर्भाव हुआ है; यथा—

वैकुण्ड बाहिरे जेई ज्योतिर्मय धाम;

ताहार बाहिरे कारणार्णव नाम॥

वैकुण्ड बेड़िया एक आछे जलनिधि।

अनन्त अपार तार नाहिक अवधि॥

चिन्मय जल सेई परम कारण

जार एक कण गंगा पतित पावन

(श्री चै० आदि १५ यः)

अर्थ—वैकुण्ड के बाहर एक ज्योतिर्धाम है। उसके बाहर कारणार्णव नाम से एक समुद्र है। जो वैकुण्ठ को चारों ओर से घेरे हैं। अनन्त है अपार है उसकी सीमा नहीं है उसमें चिन्मय जल है। उस परम कारण का एक कण पतित पावनी गंगाजी हैं।

(१) सर्वमूल रस की मूर्त्त अवस्था ही है श्री कृष्ण।

(२) सर्वमूल भाव की मूर्त्त अवस्था ही है—महाभाव स्वरूपिणी श्री राधिका और उनकी काय व्यूह—स्वरूपा श्री ब्रजरामागण।

(३) सर्वमूल आनन्द की मूर्त्त अवस्था ही है ह्लादिनी की विलास भूमि—श्री रासमण्डल।

रसलोकस्थ उक्त त्रिधारा के उत्स के आवर्तन (चक्कर घुमाव) से सर्व मूलआनन्द निरन्तर उत्सारित होता रहता है, उसके ही एक बिन्दु से ब्रह्मानन्द सिन्धु का आविर्भाव हुआ है। उस आनन्द की यात्रा या आभास का तारतम्य ही चौदह भुवन के सभी प्राकृत लोकों का उपजीव्य है^१ (आधार या आश्रय)। ऊर्ध्वलोक वासी का आनन्द कैसा है, इसकी धारणा करने में हम लोग असमर्थ हैं। हम लोगों के इस अक्षमता या अयोग्यता का कारण है—श्रेष्ठतर जातीय विषय रस से श्रेष्ठतर जातीय आनन्द के अनुभव करने का उपाय स्वरूप

१. श्रीकृष्ण लोकस्थ ह्लादिनी ही जिस तरह सर्वमूल पूर्णानन्द है; जिस आनन्द के एक बिन्दु से ब्रह्मानन्द सिन्धु की उत्पत्ति है और जिसके ही आभास का तारतम्य ही सब लोकों में स्थित सभी जीवों का उपजीव्य (आधार है, उसी तरह ज्ञान के सम्बन्ध में भी वही एक ही धारा समझना चाहिये अर्थात् श्री कृष्णलोकस्थ सम्वित शक्ति की सार रूप वृत्ति ही है—सर्वमूल पूर्ण ज्ञान, जिसके द्वारा कृष्ण में स्वयं भगवत्ता ज्ञान उदय होता है। उसी सम्वित के अंश द्वारा—सम्वित सिन्धु के एक बिन्दु से ब्रह्म परमात्मादि के ज्ञान का विकास होता है फिर उसका ही आभास का तारतम्य ही सब लोकों के सब प्रकार के ज्ञान रूप में प्रकाश होता है। यथा—

कृष्णो भगवत्ता ज्ञान सम्विदेर सार।

ब्रह्मज्ञान आदि सब जार परिवार॥ (श्री चै० १।४)

सन्धिनी शक्ति के सम्बन्ध में भी उक्त प्रकार एक ही धारा समझना चाहिये।

श्रेष्ठतर जातीय 'भाव' या भक्तिरूप श्रेष्ठतर वृत्ति का अभाव। 'भाव' या 'भक्ति' है आनन्दास्वाद की वृत्ति या उपाय गुणाकर्मानुसार जो जीव जिस जातीय वृत्ति का अधिकारी है, उसी जातीय विषय रस से उसको वही जातीय आनन्द उपभोग करने का अधिकार है। निकृष्ट जातीय वृत्ति द्वारा उत्कृष्ट जातीय और उत्कृष्ट जातीय वृत्ति द्वारा निकृष्ट जातीय विषयानन्द उपभोग करना असम्भव है। अतएव मनुष्य, गुणकर्मानुसार जिस जातीय भाव या भक्ति का अधिकारी है, उसी वृत्ति द्वारा अस्वादित, वही जातीय विषय रस ही उसे सर्वोत्कृष्ट सुखकर पदार्थ या परमानन्द अनुभव होना और उससे अपकृष्ट जातीय विषय सुख उसे त्यागने योग्य मालुम होना सम्पूर्ण युक्तिसंगत ही है। निकृष्ट जातीय वृत्ति के अधिकारी के उत्कृष्ट जातीय विषय रस में स्थापन करने पर भी उससे रसबोध न होगा अर्थात् उसकी उपलब्धि उसको आनन्द न दे सकेगी इसलिये उत्कृष्टतर आनन्द के उपभोग करने के लिये उत्कृष्टतर वृत्ति का होना आवश्यक है, भाव या भक्ति ही आनन्द प्राप्त करने की वृत्ति है। तभी तो वृत्ति अनुरूप विषय रस के अस्वादन में ही जीव की प्रवृत्ति देखी जाती है।

आनन्द की वृत्ति या भक्ति ही रसास्वादन का उपाय।

तैल पायिका (तेला पोका)^१ कूड़ा से भरे अन्धकार गृहस्थित टूटे घड़े में रहने के सुख को ही परमानन्द समझता है। संगमरमर के बने राजगृह में रहने का सुख उसके लिये निरर्थक है। उसके अधिकार अनुरूप जो जातीय वृत्ति या भाव है, वही जातीय विषय सुख ही उसके लिये परम प्रिय है।

१. एक प्रकार की कीड़ा है जिसे काला गोबरैला कहते हैं।

काले गोबरैला कीड़ा के लिये तो संगमरमर निर्मित सुसज्जित राजगृह बेकार है किन्तु मनुष्य को वह जैसे सुख का विषय है और अन्धकार पूर्ण टूटे कलस में रहने का सुख, जैसे हेय व घृणा के योग्य बोध होता, उसी प्रकार ऊर्ध्वलोक वासी को मनुष्य लोक का विषय सुख अत्यन्त हेय और उनके उच्चतर वृत्ति के अधिकार अनुरूप उच्चतर भाव लब्ध, उच्चतर विषय सुख उपयोगी अनुभव होते हैं और ऊर्ध्वतर लोकवासियों का जो आनन्द का विषय है, उसी जातीय वृत्ति के अभाव के कारण वह मनुष्यों की धारणा के अतीत है—बुद्धि के अगम्य है इसलिये उनके लिये निरर्थक है अतएव यह समझना चाहिये कि उत्कृष्टतर सुख का विषय विद्यमान रहने पर भी ऐसा नहीं है कि वह सभी को ग्राह्य या सुखकर होगा—उत्कृष्टतर सुख सुखास्वादन की वृत्ति या अधिकार रहने से ही उस आनन्द के उपभोग की सम्भावना है, नहीं तो नहीं।

शुद्धा भक्ति या भागवती वृत्ति ही सर्वभक्ति का मूल या केन्द्रस्थल।

अतएव आनन्द ही जब सब जीवों का आधार है तब उसके आस्वादन का उपाय स्वरूप भक्ति ही सब जीवों का नित्यधर्म और नित्य प्रयोजन है। भक्ति ही सर्वानन्द आस्वादन की वृत्ति या उपाय है। भक्ति के विशेषत्व के अनुसार ही विशेष विशेष आनन्द ग्राह्य होते हैं जो सर्वमूल 'रस' और 'आनन्द' है यही रसशेखर श्रीकृष्ण है और श्रीकृष्ण सेवानन्द प्राप्ति का एकमात्र उपाय का नाम ही 'शुद्धा भक्ति' या 'भागवती वृत्ति है'—सब जीवों का मुख्य प्रयोजन होने पर भी इस विशुद्ध वृत्ति से अनादिबहिर्मुख जीव चिरबंचित है, यह एकमात्र महत्संगादि से जीव के हृदय में संचारित होती है।

तृतीय उद्भाषन

अब कर्म या धर्म? विषयक विचार द्वारा
भक्ति की सर्व धर्मता और परम धर्मता प्रति
पादित होगी।

अस्थिर या संचंचल जगत गति की मूर्ति।

कुछ स्थिर भाव से सोचने से यह समझ में आ सकता है कि, जगत गति की मूर्ति है। जीव जड़ात्मक निखिल विश्वसंसार का सभी कुछ गतिशील है, सभी अस्थिर है—संचंचल है। प्राकृत या जड़ जगत में निरन्तर उत्पत्ति जन्मान्तर स्थिति, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और विनाश,—इन छय भाव विकार के चक्र रूप में अस्थिरता दिखाई देती है। हर समय परिणामशील प्राकृत जगत का यह चांचल्य जड़ का स्वाभाविक धर्म है। अनादि और अनन्त काल में किसी एक दिन भी इस बिगाड़ने बनाने की गति या चांचल्य में विराम असम्भव है। नश्वर जड़ का यही स्वधर्म है। प्रलय में भी अव्यक्तरूप में यह अस्थिरता निहित रहती है और सृष्टि के समय फिर व्यक्त हो जाती है।

स्थिर वस्तु होकर भी जीव के अस्थिर होने का कारण।

वासना और कर्म चांचल्य रूप में ही जीव
में गति का प्रकाश।

दूसरी ओर चिदवस्तु होने के कारण जीव स्वभावतः स्थिर

या अचंचल है। जन्मादि रहित, नित्य, शाश्वत और अपरिणामी है।^१ ऐसा होने पर भी माया बद्ध सभी जीवों में एक क्षण के लिये भी स्थिरता लक्षित नहीं होती, कृष्ण विस्मृत जीव की अनादि चिद-वैमुख्य और जड़ सामुख्य ही इसका कारण है अर्थात् स्थिर व चिदवस्तु जीव, अस्थिर या अचिद-जड़ वस्तु के सहित देहात्म बोधरूप तादात्म्य प्राप्त होने से अनित्यता या अस्थिरतादि सभी जड़ धर्म जीव में आरोपित हो जाते हैं इसलिये जीव जगत में भी निरन्तर वासना^२ के कारण कर्म चांचल्य परिदृष्ट होता है। तभी तो सभी जीव कर्मशील है। जीव साधारण आधे क्षण भी कर्मशून्य होकर अवस्थान करने में असमर्थ है।^३

१. न जायते भ्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २।२०)

अर्थ—यह आत्मा जन्महीन, मृत्युहीन है—यह पुनः पुनः उत्पन्न होती नहीं, बढ़ती नहीं, यह जन्मरहित नित्य, अविनश्वर और अपरिणामी है। शरीर के विनाश से यह विनष्ट नहीं होती।

२. पुरुषः प्रकृतिस्यो हि भुक्ते प्रकृतिं जानुणान।

कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ (गीता १३।२१)

अर्थ—पुरुष (जीवात्मा) अपने को शरीर समझकर शरीर अधिष्ठत होने से देहजनित सभी प्राकृत गुण भोग करता है। प्राकृत गुण का संग ही उसके सत (देवतादि) या असत (तियर्गादि) योनि में जन्म लेने का कारण होता है।

३. न हि कश्चित्तक्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्म कृत।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्व प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (गीता ३।५)

अर्थ—कोई कर्मत्याग करके एक क्षण भी अवस्थान करने में समर्थ नहीं होता क्योंकि जीव की इच्छा न रहने पर भी प्रकृति या स्वभाव से उत्पन्न राग द्वेषादि सभी गुण उससे कर्म कराते हैं।

अनादि बहिश्चरता वशतः 'भूमा' या पूर्ण की ओर पीठ करके 'अल्प' या अपूर्ण और अस्थिर जड़ में अभिनिवेश अर्थात् जड़ सामुख्य और जड़ तदात्म्य होना ही जीव के सभी अभाव और अपूर्णता का कारण है। दिक् भ्रान्ति वशतः सुनिर्मल-सुशीतल अनन्तजल राशि की ओर पीठ कर प्यासे व्यक्ति के लिये जैसे मरु मरीचिका के अनुसरण द्वारा कभी भी प्यास का मिटना सम्भव नहीं होता उसी तरह चिद वैमुख्य वशतः 'भूमा' या परमानन्द की प्यास से व्याकुल जीव के लिये 'अल्प'—क्षणभंगुर जड़ीय विषय सुखा-भास मरीचिका के अनुसरण से कभी भी सुख पिपासा परितृप्ति की या पूर्णता प्राप्ति की सम्भावना नहीं है। तभी तो प्रापन्चिक विश्व संसार में सभी जीव सभी पदार्थों को अपूर्ण समझकर, प्रतिक्षण प्रति-नियत पूर्णता प्राप्ति की कामना से अस्थिर रहते हैं, इसीलिये देखा जाता है कि जगत गतिशील गति की मूर्ति है। जगत का कुछ भी एकक्षण के लिये भी सुस्थिर नहीं है। जड़ जगत का यह चांचल्य तो स्वाभाविक है परन्तु स्थिर जीव जगत की यह अस्थिरता तो अस्वाभाविक ही समझना चाहिये।

परमानन्द रूप परम स्थिरता या प्रकृष्ट स्थिति को प्राप्त होना ही जीव की सभी गति का उद्देश्य।

इस अस्वाभाविकता के कारण के सम्बन्ध में कुछ और स्थिर भाव से विचार करने में समझ में आ सकता है कि अस्थिरता के लिये ही कोई अस्थिर नहीं होता; सुस्थिर होने के लिये ही—स्थिरता न मिलने तक ही अस्थिर होना पड़ता है। उसी तरह गति के लिये गति नहीं है; स्थिति ही गति मात्र का उद्देश्य है। अभीष्ट विषय प्राप्त होकर अचंचल होना या गन्तव्य स्थल में पहुँचकर स्थिरता पाना ही

सभी चांचल्य और अस्थिरता का उद्देश्य है। जो पूर्ण है—जो अपरिवर्तनीय भाव है। उसे ही पाने के लिये अपूर्ण जीव जगत निरन्तर व्याकुल रहता है। संसार दुःख दूर करने वाले, चिरशान्तिमय, निरतिशय सुख स्वरूप श्री भगवान ही पूर्ण और नित्य वस्तु की परमावस्था है। जानकर या न जानकर, जिस भाव से भी हो उसी पूर्ण और अपरिवर्तनीय भाव के समीपवर्ती होना ही जीव के सभी गति का लक्ष्य है,—सारी अस्थिरता का उद्देश्य है। अतएव जो गति जिस परिणाम में उस अपरिवर्तनीय के भाव या स्थिति के समीपवर्तिनी है—वही गति उसी परिमाण से प्रकृष्ट है, वही भाव या धर्म उसी परिमाण में उत्कृष्ट है और केवल शुद्धा भक्ति के उदय होने से जब उनकी श्री चरण सेवा की प्राप्ति होगी, तभी सभी गति की स्थिति, सभी अस्थिरता का विराम, सभी चंचलता का अवसान समझना चाहिये।

शुद्धाभक्ति, प्रेम और परमानन्द का साक्षात्कार पृथक् वस्तु नहीं! एक ही का क्रमिक उदय।

शुद्धा भक्ति परमावस्था ही है 'प्रेमभक्ति'। प्रेमोदय और परमानन्द स्वरूप—श्री भगवत्साक्षात्कार एक ही बात है। सूर्य के उदयमात्र से ही जिस तरह उसके आनुषङ्गिक फल में अन्धकार नाश और मुख्य फल में धर्मकर्मादियुक्त मंगलमय जगत का प्रकाश होता है, उसी तरह प्रेम के उदय मात्र से अनुसङ्गिक फल से सब दुःखों की आत्यान्तिक समाप्ति हो जाती है और साथ परमानन्द स्वरूप श्री भगवत् साक्षात्कार रूप मुख्य फल का विकास हो जाता है। अतएव शुद्धा भक्ति प्रेम और परमानन्द साक्षात्कार पृथक् वस्तु नहीं है। एक ही शुद्धा भक्ति का क्रमिक विकास है।

इसलिये शुद्धाभक्ति ही है—परमस्थिति या परम शान्ति। अनादि विषय वासना चंचल अपूर्ण जीव की गति या अस्थिरता को परम स्थिति या परिपूर्णता प्रदान करने में भक्ति सर्वोत्तम है।

कृष्ण भक्त निष्काम अतएव शान्त।

भुक्ति, मुक्ति, सिद्धिकामी सकलि अशान्त॥

(श्री चै० २।१६)

अर्थ,—कृष्णभक्त निष्काम होता है अतएव शान्त रहता है। भुक्ति मुक्ति सिद्धि चाहने वाले सभी अशान्त रहते हैं।

जीव की गति, ऊर्ध्वस्रोतस्विनी या धर्म^१ और अधः प्रवाहिनी या 'अधर्म' भेद से दो प्रकार की है। धर्म द्वारा जीव अधःपतन से 'धृत' होकर क्रम से ऊर्ध्व गति लाभ करता है और अधर्म द्वारा अधोगति को प्राप्त होता है। भक्ति के बिना जीव की गति या चांचल्य का विराम नहीं।

इस तरह से यह समझ में आ गया कि सभी कर्म चंचल जीव गतिशील है। जीव की यह गति दो प्रकार की है। एक ऊपर की ओर बहने वाली और दूसरी नीचे की ओर बहने वाली। पहली साधारणतः धर्म नाम से और दूसरी अधर्म नाम से कही जाती है। ऊर्ध्व स्रोतस्विनी गति या धर्म को अवलम्बन (आश्रय) करके, स्थिति

१. धारणात् धर्म मित्या हु धर्मो धारयते प्रजाः (महाभरत) अर्थ—अधोगति से सुरक्षित रखने को 'धर्म' कहते हैं। धर्म द्वारा सभीजीव 'धृत' रहते हैं।

या अपरिवर्तनीय भाव के अन्वेषण में अग्रसर होने की अवस्था ही धर्म का लोक—प्रसिद्ध अर्थ है। इसी का दूसरा नाम है पुण्य। यह पुण्यात्मक धर्म अधोगति को रोककर जीव को ऊर्ध्व गति के रास्ते 'धृत' या धारण करते हुये क्रमोन्नति प्रदान तो करता है किन्तु इसके द्वारा परमस्थिति लाभ करना सम्भव नहीं होता। यहाँ तक कि सत्यलोक नामक ब्रह्मलोक तक प्राप्त होने पर भी भोग के अन्त होने पर जीव को फिर लौटना पड़ता है (क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति—गीता ६, २१) इसलिये इससे जीव के आने जाने (आवागमन) का रूप अस्थिरता का विराम नहीं होता। केवल भक्ति ही परमस्थिति स्वरूप परमानन्द मय श्री भगवत् पदाम्बुज प्राप्त कराकर, जीव का सब चांचल्य—उसकी सभी अस्थिरता—सब अपूर्णता सदा के लिये समाप्त कर देती है। स्वयं श्री भगवान ने स्वयं ही गीता में कहा है,—

आवृह भुवनाल्लोका; पुनरार्वर्तनोऽर्जुन।

मामु पेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(गीता ८।१६)

इसका अर्थ,—हे अर्जुन प्राणियों को ब्रह्म लोक पर्यन्त सब लोक प्राप्त होकर भी, वहाँ से संसार में फिर लौटना पड़ता है किन्तु मुझे प्राप्त कर लेने से फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता।

उन्हीं भगवान ने स्वयं अपने मुख से ही गीता में दूसरी जगह भी कहा है—

यान्ति देववृत्ता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम्॥

(गीता ६।२५)

इसका अर्थ,—जो इन्द्रादि पूजक है—वह देवव्रत गण देवलोक

को प्राप्त होते हैं; पितृ परायण अर्थात् श्राद्धादि क्रियारत जो लोग हैं। वह पितृलोक में जाते हैं; जो सब विनायक मातृगणादि भूत के पूजने वाले हैं। वह उसी-उसी लोक में जाते हैं किन्तु उक्त सभी लोगों को फिर लौटना होता है किन्तु मेरे (श्री भगवान् के) यजनशील अर्थात् मत्परायण या मेरे भक्त जो हैं, वह अक्षय परमानन्दस्वरूप मुझे ही प्राप्त करते हैं।

(स्वामिपादकृत टीकानुसार)

एक मात्र भक्ति को छोड़कर दूसरे किसी धर्म से परम स्थिति को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

अतएव केवल भक्ति पंथ की गति की सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि भक्ति ही जीव को श्रेष्ठ रूप में परमस्थिति प्राप्त कराकर उसकी चंचलता और आवागमन निरोधकर परमस्थिरता प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त दूसरी सभी गति और उसके फलस्वरूप सभी प्राप्ति जीव को आवागमन के चक्कर में डालती है। स्वयं श्री भगवान् के मुखाम्बुज की उक्ति से भी यही बात जानी जाती है, यथा

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमला।

महर्जनस्तप सत्यं भक्ति योगस्य मदगतिः॥

(श्री भा० ११।२४।१४)

इसका अर्थ,—योग तपः और संन्यास के फलरूप में (अर्थात् अष्टांग योग और ज्ञान आदि सभी साधन के फल तारतम्य के कारण) महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक आदि उत्तमगति प्राप्त होती है और भक्तियोग के फल से मेरे विषय में गति अर्थात् अक्षय अच्युत परमधाम लाभ होता है (सत्य लोक तक जाने से जीव को

फिर लौटना पड़ता है, किन्तु भक्ति द्वारा श्री भगवान को प्राप्त कर लेने पर फिर पुर्नजन्म नहीं होता यह बात पूर्व श्लोक में श्री भगवान ने स्वयं ही उल्लेख कर दी है। यहाँ भी वही अभिप्राय समझना चाहिये।

इसलिये यह समझ में आ जाता है कि क्षणभंगुर—चिरचंचल जड़ में अभिनिवेश के फलसे ही अर्थात् जड़—में तादात्म्य वशतः अचंचल स्थिर वस्तु होकर भी जीव अस्थिर होकर निरन्तर स्थिरता के ही अन्वेषण में लगा रहता है। एक मात्र भक्ति के अतिरिक्त श्रेष्ठ स्थिति के प्राप्त करने का, परमानन्द और परमाशान्ति लाभ करने का दूसरा रास्ता न होने के कारण, भक्ति ही सब शास्त्रों का मुख्य तात्पर्य है अर्थात् वेदादि शास्त्रों की एकमात्र विधि ही है—भक्ति का अनुशीलन। इसे छोड़कर दूसरे धर्मकर्मादि का जो कुछ निर्देश है वह सभी लाचारी में करने योग्य विषय है। प्रश्न हो सकता है कि जब भक्ति ही जीव का परमधर्म है और इसी कारण से सब शास्त्रों का मुख्य तात्पर्य एकमात्र विधि है तब शास्त्र केवल भक्ति के अतिरिक्त उसके साथ दूसरे कर्मादि के निर्देश का उद्देश्य क्या है?

भक्ति की स्वप्रकाशता और सुदुर्बोधता ही जन साधारण की स्वाभाविकी श्रृद्धानुरूप दूसरे धर्म में प्रवृत्ति का कारण।

इसका उत्तर है श्रृद्धा ही सब प्रवृत्ति का मूल है, यह बात पहले बताई जा चुकी है। जिस श्रृद्धा के उदय होने से ही, भगवदनुशीलन—प्रवृत्ति का विकास होता है—वह भी निर्गुणा है। निर्गुणा भागवती श्रृद्धा के उदय हुये बिना सगुणा और स्वाभाविकी श्रृद्धा द्वारा

शुद्धाभक्ति के अनुशीलन के विषय में किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।^१ इसलिये अहैतुकी महत्कृपा सापेक्ष होने के कारण जैसे उस भाव से भगवती श्रद्धा उदय नहीं होती, वैसे ही फिर भक्ति या भागवत धर्म की दुर्वोधता भी उस विषय में जनसाधारण की अप्रवृत्ति का दूसरा कारण है। रजस्तम गुण द्वारा परिपूर्ण सगुण भाव वाले और देह को ही आत्मा मानकर विमुग्ध जीव साधारण की स्वामिविकी^२ श्रद्धा के अनुसार इसलोक या पर लोक के भोग देने वाले सगुण धर्म कर्मादि के विषय में स्वाभाविक श्रद्धा देखी जाती है। शुद्धा भक्ति निर्गुणा और यथार्थ निष्कामा है इसलिये विशुद्धा अर्थात् अपने सुख तात्पर्य से शून्य और केवल भगवत सुख तात्पर्यमयी है यह विशुद्धा भक्ति ही जीव का मुख्य प्रयोजन या एक मात्र प्रयोजन होने पर भी और आत्मसुख की जगह परमात्म वस्तु के सुख विधान के अनुसंगिक या गौण फल से ही श्रेष्ठरूप में आत्मसुख लाभ होने पर भी, अज्ञान के कारण जीव को अपने सुख के तात्पर्य

१. सात्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्म श्रद्धा तु राजसी।
तामस्य धर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा॥

(भा० ११।२५।२७)

अर्थ—(श्री उद्धव के प्रति श्री भगवान की उक्ति) आध्यात्मिक वेदान्तादि के विषय में जो श्रद्धा है वह सात्विकी है कर्मकाण्ड में जो श्रद्धा है वह राजसिक है परधर्मादि अधर्म में जो श्रद्धा है वह तामसिक है और मेरी सेवा में जो श्रद्धा है वह निर्गुणा है।

२. स्वभाव का अर्थ है—पूर्व कर्मसंस्कार। पूर्वजन्मकृत कर्म संस्कार से जीव की जो सात्विकादि त्रिविधा सगुणा श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसे ही स्वाभाविकी श्रद्धा कहते हैं। भागवती श्रद्धा निर्गुणा है इसलिये पूर्वकर्म संस्कार जनित नहीं है अपितु स्वप्रकाश या यादृच्छिकी है।

से शून्य सी बोध होती है और यदि कहा जाय कि वह यह धारण भी नहीं कर सकते हैं कि भक्ति से आत्म सुख अधिक मिलता है तो यह अत्युक्ति न होगी।

भक्ति या आत्मिक धर्म की एक मुख्यता—सारे दैहिक धर्मों में विभिन्नता।

इसलिये देखा जाता है कि भक्त के अतिरिक्त कर्मी, ज्ञानी, योगी या अन्य कोई भी उपासक हो। उनकी उपासना अपने मतलब की सिद्धि के लिये होती है। उपास्य का कोई प्रयोजन नहीं होता है। शुद्ध भक्तों की उपासना केवल उपास्य अर्थात् भगवान के सुख के लिये होती है। स्वसुख का लेश भी नहीं होता है। यही सम्पूर्ण शुद्ध और बिना कपट की उपासना है। ऐसे भक्तों की अहैतुकी कृपा या संग के अतिरिक्त जीव के हृदय में निर्गुणा या भागवती वृत्ति का संचार होना, किसी अन्य उपाय से सम्भव नहीं है। स्वभावतः सत्त्व गुणादि युक्त स्वप्रयोजन पर जीव को ऐसा स्व प्रयोजन शून्य निष्काम भाव उपलब्ध होना कठिन है। इसीलिये वेदादि शास्त्रों ने परमगुह्य विद्या के रूप में इसे छिपाकर रखा है। उसके स्थान पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग या भुक्ति मुक्ति को ही सगुण भावापन्न या स्वप्रयोजन पर जीव के लिये पुरुषार्थ रूप से जीव जगत में प्रसिद्ध या प्रचार किया है। शास्त्रों के लिये यह अपरिहार्य (मजबूरी) है। यह समझना चाहिये।

अनादि बहिर्मुख जीव को जब महत के संग से कृष्ण उन्मुखता प्राप्त होती है, उसी समय से उसके हृदय में कर्तृत्व, भोक्तृत्व और प्रभुत्व आदि का बोध मिट जाता है और परमात्म वस्तु का

परमस्वरूप श्रीकृष्ण सम्बन्धीय दास्य भाव उत्पन्न हो जाता है। जड़ विमुक्त विशुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि से सारे जड़सम्बन्धों से छूटने की इच्छा और एकमात्र अपने आश्रय और सर्वकारणस्वरूप उन्हीं परम परमात्म वस्तु या श्री कृष्णास्वरूप के प्रीति विधान की इच्छा रूप भक्ति और उसके आश्रित जीव का आत्म धर्म आविर्भूत हो जाता है सारे जीवों की अभिन्नता रूप आत्मधर्म एकता या एकमुखता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। इसलिये यही सर्वत्र सारे जीवों का परम् पुरुषार्थ या परमधर्म है।

इसके अतिरिक्त सारे धर्म दैहिक अर्थात् देह सम्बन्धीय अथवा स्व प्रयोजन पर हैं। और देह के सम्बन्ध से ही गुण कर्मादि, स्त्रीपुरुषादि और वर्ण आश्रमादि बहु प्रकार के भेद से हैं, इसीलिये चतुर्वर्ग पुरुषार्थ के साधन रूप में सारे धर्मों में बहुत भिन्नता होती है।

जीव की थोड़ी बहुत अधोगति रोकने के लिये

शास्त्र द्वारा लाचारी में अन्य धर्म की व्यवस्था।

सकाम जीव साधारण के लिये, भक्ति यथार्थ निष्काम होने के कारण दुर्वोध्य है और इसीलिये उसकी अनुशीलन प्रवृत्ति भी सुदुर्लभ है। ऐसी अवस्था में यदि इस निष्काम भक्ति को ही एकमात्र 'विधि' या कर्तव्य बताकर निर्देश किया जाता तो सब सुख प्रयोजन वालों की अर्थात् सकाम जनों की उसमें प्रवृत्ति न होती और यदि उनको उनकी स्वाभाविकी शृद्धानुरूप अन्य किसी कल्याणकर पन्थ का भी निर्देश न किया जाता तो सब मनुष्य स्वेच्छाचारिता द्वारा चालित होकर 'अधर्म' या अधोगति को ही प्राप्त होते रहते इसलिये स्वभाव या स्वधर्म से गिरे जीव के लिये 'अधर्म' या अधःपतन रूप

अनर्थ से थोड़ी बहुत रक्षा के उद्देश्य से भक्ति के अतिरिक्त दूसरे धर्म कर्मादि की जो कुछ व्यवस्था देखी जाती है,—वह सभी 'परिसंख्या' अर्थात् अपाततः 'मन्देर माल' (मन्द तो है पर इस अवस्था में यह अच्छा) के विचार से लाचारी में करने की व्यवस्था है अतएव यादृच्छिक महत्कृपादि के संयोग से निर्गुणा भागवती श्रद्धा के उदय न होने तक रजस्तम गुण द्वारा परिपूर्ण अहंकारादि विमूढ़ साधारण मनुष्य की सहसा बुद्धि विचलित करने का प्रयासन करके उस समय में सगुणा श्रद्धा के अधिकारानुरूप वेदविहित सकाम कर्मादि में उनकी प्रवृत्ति कराना आवश्यक होता है। सब वेदों का यह उद्देश्य गीता में स्वयं भगवान् के वाक्य से प्रतिपादित होते देखा जाता है यथा—

प्रकृतिगुण संमूढा सज्जन्ते गुण कर्मसु।

तान् कृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥

(गीता ३, २६)

इसका अर्थ,—प्रकृति के गुण प्रभाव से विमूढ़ होकर जो लोग इन्द्रियों और उनके कार्य में आसक्त हैं, तत्त्वज्ञ व्यक्ति को ऐसे अल्पदर्शी मन्दमतियों की बुद्धि (सहसा) विचलित नहीं करना चाहिये।

इसलिये सर्वकारण श्री भगवान् ने स्वयं ही गीता में इस घोषणा द्वारा कि अन्य देवताओं की उपासना अज्ञान पूर्वक उनकी ही उपासना है ("तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्य विधि पूर्वकम्।"—६/२३) यह निर्देश किया है कि ऐकान्तिक भाव से एकमात्र उनकी आराधना रूपा भक्ति ही समस्त वेद की 'विधि' अर्थात् व्यवस्था या अवश्य कर्तव्यता है,—यह अभिप्राय स्पष्ट रूप से व्यक्त करने पर भी (१८/६५-३६) फिर उन्हीं श्री भगवान् ने ही महत् कृपैकलभ्य

भागवती श्रद्धा के उदय की अनिश्चयता की और भागवत धर्म की दुर्वोधता की बात को भी ध्यान में रक्खा है, इसलिये यह देखा जाता है कि उन्होंने उसके अनुदय काल में, कम से कम, कुछ मंगल लाभ के लिये, सकाम लोगों की विषय निष्ठ बुद्धि को सहसा चालित न करके लाचारी में या परिसंख्या स्वरूप उनकी स्वाभिविकी श्रद्धा अनुरूप केवल कर्म का ही नहीं अपितु इन्द्रादि देवता की आराधना का भी निर्देश किया है। यथा—

देवान भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्त श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(गीता ३।११)

इसका अर्थ,—तुम यज्ञ द्वारा सब देवताओं की उन्नति करो, देवगण भी वर्षा आदि द्वारा तुम लोगों का अभीष्ट पूर्ण करें। इस तरह आपस में उन्नति करते हुये, तुम लोग मोक्षतक परम कल्याण लाभ कर सकोगे।

अतः वेद के सारार्थ श्री गीता से यह जाना जाता है कि ऐकान्तिक श्री कृष्ण आराधना रूपा भक्ति या भागवत धर्म ही समस्त वेदों की विधि अर्थात् एकमात्र व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त दूसरे सभी भक्ति विषया श्रद्धा के उदय न होने के समय ही लाचारी में करने योग्य विषय है।

अन्य धर्मादि का अनुष्ठान भी थोड़ा बहुत
सहज लभ्य सगुणा भक्ति के सहयोग से
अनुष्ठित होने का निर्देश।

केवल यही नहीं, अपितु निर्गुणा शुद्धा भक्ति के अनुदय तक

दूसरे धर्म कर्मादि का जो कुछ अनुष्ठान है, वह सभी यदि अन्ततः (कुछ-कुछ) सहज लभ्या सगुणा भक्ति के सहयोग से—किसी प्रकार से श्री कृष्ण में समर्पणादि रूप उनका सम्बन्ध जोड़कर या उनका सम्बन्ध आरोपित करके अनुष्ठित हो, तभी उन उन साधनों द्वारा यथोपयुक्त सिद्धि लाभ हो सकती है,—वेद का यह निगूढ़ मर्म भी श्री गीता में स्वयं श्री भगवान् द्वारा प्रचारित हुआ है।—यथा

यत करोषि यदश्नासि यज्जु होवि-ददासियत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म बन्धनैः।

संन्यास योगयुक्ततात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ६।२७।२८)

इसका अर्थ;—हे अर्जुन! तुम जिस किसी कर्म का अनुष्ठान करो, जो कुछ खाओ, जो होम करो जो कुछ दान करो और तपस्या करो वह सब मुझे समर्पण पूर्वक करना।

इस प्रकार करने से तुम शुभाशुभ फल से विमुक्त हो जाओगे और कर्मापणरूप^१ योग युक्त होकर मुझे प्राप्त कर लोगे।

श्री भगवत् सम्बन्ध का संयोग ही सर्वसिद्धि का कारण।

कर्म, ज्ञान, योग आदि दूसरे सब साधनों के वही एकमात्र

१. "मेरे इस कर्म द्वारा सर्वव्यापक और सर्वात्मा परमेश्वर परितुष्ट हो।" इस प्रकार मनन पूर्वक श्री भगवान् में अर्पित कर्म को कर्मापण या कर्म द्वारा अभ्यर्चन (पूजन) कहते हैं। (गीता १८/४६) श्री चक्रवर्ती पाद और श्री बलदेव पाद कृत टीका देखना चाहिये।

सर्वमूल कारण है,—अस्पष्ट वेद का निगूढ़ तात्पर्य,—उनके विशदार्थ श्री भागवत से भी साक्षात् श्री भगवतवाणी द्वारा सुविदित हो जाता है। यथा—

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभु।

अहंयोगस्य सांख्यस्य धर्मस्य बृह्मवादिनाम्॥

(भी भा० ११।१५।३५)

इसका तात्पर्यार्थ,—मेरे स्मरणादि द्वारा सभी सिद्धि भी सिद्ध होने के कारण मैं सब सिद्धियों का कारण हूँ, केवल यही नहीं अपितु उन सबका पालयिता भी मैं हूँ और प्रभु अर्थात् फलदाता भी मैं हूँ। केवल सब सिद्धियों का नहीं अपितु मेरे ध्यान योग का, ज्ञान का और निष्काम कर्मादि योग का और उन सब धर्मों के उपदेष्टाओं का भी प्रभु मैं ही हूँ। (श्री-स्वामिवाद और श्री चक्रवर्तीपाद कृतटीका का भावार्थ)

इसलिये केवल धर्मादि साधन के विषय ही नहीं—मनुष्य के दैनिक सभी कर्म उन्हीं श्री भगवान के थोड़ा बहुत श्री नाम स्मरणादि के साथ सम्बन्ध युक्त होकर ही अनुष्ठित होने का विधान शास्त्र में यथेष्ट रूप से परिदृष्ट होता है। इसकी विस्तारित आलोचना मूल ग्रन्थ में देखना चाहिये। बहुत हो जाने के भय से उसका केवल एक दृष्टान्त प्रदर्शित किया जाता है, यथा,—

औषधे चिन्तये द्विष्णुं—भोजने च जनार्दनम्।

शयने पद्मनाभञ्च विवाहे च प्रजापतिम्॥

संग्रामे चक्रिणं क्रुद्धं स्थानभ्रंशे त्रिविक्रमम्।

नारायण वृषोत्सर्गे श्रीधरं प्रियसंगमे॥

जलमध्ये तु वाराहं पावके जलशायिनम्।

कानने नरसिंहं च पर्वते रघुनन्दनम्॥

दुःस्वप्ने स्मर गोविन्दं विशुद्धौ मधुसूदनम्।

मायांषु वामनम् देवं सर्वकार्येषु माधवम्॥

(श्री हरिभक्ति विलास धृत विष्णुधर्मोत्तर ११।१३७)

इसका अर्थ—औषधि सेवन के समय विष्णु का नाम, भोजन के समय जनार्दन का नाम, शयन के समय पद्मनाभ, विवाह के समय प्रजापति युद्ध में चक्रधारी, स्थान भ्रंश के समय त्रिविक्रम बृषोत्सर्ग (बछड़े को दागकर सांड बनाकर छोड़ने की क्रिया) में नारायण, प्रिय संगम के समय श्रीधर, जल में वाराह, अग्नि के भय के समय जलशायी नाम की चिन्ता करना चाहिये। वन में नरसिंह, पर्वत में रघुनन्दन, दुःस्वप्न में गोविन्द, शुद्धिकार्य में मधुसूदन, मायामोह में वामन और सभी कामों में माधव का नाम स्मरण करना चाहिये।^१

बिना भक्ति की सहयोगिता के कर्म ज्ञानादि सभी साधनों की विफलता निर्देश।

अतएव वेद का केवल वाह्यार्थ ग्रहण पूर्वक भक्ति या भगवत

१. स्वयं रूप श्रीकृष्ण ही सब अवतारोंके अवतारी हैं; इसलिये निखिल अवतार उनके ही आंशिक प्रकाश विशेष है। अतएव उक्त सभी नामों का मुख्य तात्पर्य श्रीकृष्ण ही है। यथा—

रामादि मूर्तिषु कला नियमेन तिष्ठन

नानावतारमकरोद्भवनेषु किन्तु।

कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमानयो

गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥ (ब्रह्म संहिता ५/३६)

अर्थ—रामादि निखिल भगवन्मूर्ति में अंश मात्र से अवस्थान करके प्रपंच में जिन्होंने अपने अंश से बहुत प्रकार के अवतार प्रकट किये हैं किन्तु जो स्वयं श्री कृष्ण रूप में आविर्भूत परम पुरुष हैं,—उन्हीं सर्वादि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

सम्बन्ध छोड़कर वेदोक्त धर्मकर्मादि अनुष्ठित होने से, वह सभी व्यर्थ होते हैं, इस विषय में शास्त्र में बहुत प्रमाण दिखाई देते हैं। बहुत बढ़ जाने के भय से, भक्ति या भगवत सम्बन्ध वर्जित ज्ञान और कर्मादि सभी साधनों की व्यर्थता के विषय का केवल एक निर्देश नीचे लिपिबद्ध किया जाता है। यथा—

नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाव वर्जितं,

न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्॥

कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे,

न चार्पित कर्म यदप्य कारणम् ॥

(श्री भा० १।५।१२)

इसका अर्थ—उपाधिरहित विमल ब्रह्मज्ञान भी जब अच्युत भाव वर्जित अर्थात् भक्तिहीन होने से शोभनीय नहीं होता, तब दुःखस्वरूप और दुःखप्राय काम्यकर्म और निष्काम कर्म के फल यदि श्री भगवान में अर्पित नहीं होते तो वह कैसे सिद्धिप्रद होंगे? अर्थात् सिद्धि प्रदान के अयोग्य ही हुआ करते हैं।

भक्ति ही जीव का परम धर्म या मुख्य प्रयोजन।

इससे हमारे समझ में आ गया कि भक्ति ही अपने आश्रित जीव को प्रकृष्ट रूप से धारणापूर्वक परमस्थिति में पहुँचाती है अतएव भक्ति ही 'परमधर्म' है। भक्तिरूप परमधर्म ही साधुओं द्वारा हर समय आचरित होने के कारण, उसे सद्धर्म कहते हैं। यही गतिशील जीव की प्रकृष्ट गति है। इस गति-पथ का आश्रय करने से ही परमानन्द या परमस्थिति प्राप्त की जा सकती है। एकमात्र भक्तिग्राह्य—सर्वकारण कारण, आनन्दघन—श्री कृष्ण के शान्ति

शीतल श्री चरणाम्बुज सेवा की प्रप्ति से ही सभी गति की स्थिति या विश्राम है। उसी अपरिवर्तनीय या अच्युतभाव के प्राप्त होने से जीव फिर धर्माधर्म—पाप-पुण्य किसी भाव में सम्बद्ध नहीं होता। तब वही यथार्थ मुक्त है—यथार्थ स्वाधीन है। कृष्णाधीनता, कोटि स्वाधीनता के सुख से भी श्रेष्ठ और निरापद है। तब वही सब दुःख, भय, भावना-सभी विपद अतिक्रम करके, परमपद प्राप्त करते हैं, “तद्विष्णोः परमम्यदम्”। (काठके ३।६)

ज्ञान के पथ से भी जीव का प्रकृष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

ज्ञान के साधन द्वारा मुक्ति की प्राप्ति से जीव की गति और उसके फल से आवागमन रूप संसारावर्तन निरोध हो जाने से भी, इसके द्वारा मुख्य प्रयोजन साधित नहीं होता, यहाँ तक कि उसके साधन अवस्था में जो कुछ सुखानुभूति होती भी है, सिद्धावस्था में विलीन हो जाती है, यद्यपि परमानन्द के नित्य सेवक जीव को मुक्ति से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति तो हो जाती है किन्तु निर्विशेष—निधर्मक ब्रह्म में, सुखास्वादन के हेतु स्वरूप सुखवृत्ति के अभाव से, सुखधर्म निष्क्रिय रहता है, और सायुज्य मुक्ति प्राप्त जीव को तो अपने पृथक् सत्ता की भी अनुभूति नहीं रहती, उस अवस्था में सुख सेवन की अनुभूति कहाँ? सोने के आनन्द की तरह (‘सुखमहमस्वाप्सम्’) दुःख-सुख हीन एक निर्विशेष अवाच्य सुख विशेष ही मुक्त जीव को प्राप्त हुआ करता है, इसलिये इसे दुःख

के भय से प्रकृष्ट सुख और उसके साथ आत्मसत्ता विसर्जन रूप आत्मनाश भी कहा जा सकता है क्योंकि सारे दुःख के लेशाभास से भी वर्जित सविशेष या वैचित्रमय अलौकिक परमानन्द सेवन ही जीव का मुख्य प्रयोजन है और वह एकमात्र भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है।

इस परमानन्द के साथ बराबरी की बात दूर रही, सोने (सुषुप्ति) की निर्विशेष और अवाच्य सुखस्मृति मात्र यदि अन्ततः प्राकृत सविशेष विषय सुखों से श्रेष्ठ होती तो ऐसा होने से मनुष्य लोक में जनसाधारण विषय सुख खोजने की चेष्टा की अपेक्षा सोने के अवाच्य सुख को प्राप्त करने की ही चेष्टा करते, क्योंकि सोने के सुख का अनुभव तो सभी जीव को होता है, किन्तु ऐसा तो नहीं देखा जाता अपितु उसके विपरीत ही देखा जाता है।

योगीगण भी भक्ति सुख में आकृष्ट होते हैं।

योग के विषय में भी “आत्मारामाश्चमनुयो” इत्यादि श्लोक के सम्बन्ध में ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है। जो लोग यह समझते हैं कि ज्ञान और योग के साधना की सिद्धि लाभ करने पर और पूर्णानन्द के अधिकारी होने पर चित्त की परम स्थिरता प्राप्त हो जाती है, उनके सम्बन्ध में यह देखा जाता है कि अधिक नहीं, केवल भगवान के श्री चरण संलग्न तुलसी सौरभ के आकर्षण से ही उनके चित्त मधुपप्रलुब्ध होकर उन्हीं श्री चरणाम्बुज के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं, इसलिये ब्रह्मानन्द और आत्मानन्द से भी श्री भगवत सेवानन्द की या भक्ति सुख की अत्यन्त अधिकता ही प्रतिपन्न होती

है। इसके दृष्टान्त शास्त्र में कम नहीं हैं, यथा—

तस्यारविन्द नयनस्य पदारविन्द—

किञ्जल्क मिश्र तुलसी मकरन्द वायु।

अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां

संक्षोभमक्षर जुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्री भा० ३।१५।४३)

इसका अर्थ—(सनकादि मुनिगण अवनत होकर श्री भगवान को प्रणाम करते समय) कमल नयन श्री भगवान के पादपद्म संलग्न किञ्जल्क (कमल के फूल) मिश्र तुलसी की सुगन्धि से सुवासितवायु मुनियों के नाक में प्रवेश होने पर, यद्यपि वह लोग आत्मा नन्द में निमग्न थे, तब भी उनके चित्त तनु संक्षोभित हो गये और इससे वह बहुत हर्षित हुए और उन्हें रोमांचादि का विस्तार होने लगा।

ज्ञान और योग की उपेक्षा भक्त ही कर सकता है।

दूसरी तरफ यह देखा जाता है कि जो लोग भक्ति लाभ करके परमानन्द मय की सेवारूप परम पूर्णता परमस्थिरता प्राप्त कर चुके हैं—उनके चित्तभृङ्ग उस परम स्थिति या अच्युत स्वरूप को प्राप्त करने पर अर्धनिमेष काल के लिये भी श्री भगवत्पदारविन्द से किसी के द्वारा भी विचलित नहीं होते। “न चलति भगवत्पदारविन्दात् लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्रः”। (भा० ११।२।५३)

दूसरे विषय की बात तो दूर रही मुक्ति व सिद्धि स्वरूप ब्रह्मानन्द और आत्मानन्द उनके सामने बिल्कुल ही प्रभाहीन मालुम

होते हैं।^१ बहुत अधिक न हो जाय, इसलिये इस विषय का केवल एक दृष्टान्त नीचे लिखा जाता है। उनके पदाम्बुज के नित्य भृङ्ग महा भागवतो की परिपूर्णता की बात और क्या उल्लेख की जाय,—असुर जन्म होकर भी पूर्वजन्मार्जित भक्ति के प्रभाव से वृत्रासुर की उक्ति मात्र ही उल्लेख की जाती है यथा—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं,

न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।

न योग सिद्धीरपुनर्भवं वा,

समञ्जस त्वा विरह्य्य कांक्षे॥

(श्री भा० ६।११।२५)

इसका अर्थ—हे सर्व सौभाग्य निधे, मैं आपको परित्याग करके ध्रुवपद, ब्रह्मपद समस्त पृथ्वी का आधिपत्य, पाताल की अधीश्वरता अथवा अणिमादि सब योगसिद्धि अथवा मोक्षपद भी नहीं चाहता।

अतएव यही समझ में आता है कि एकमात्र भक्ति को छोड़कर प्रकृष्ट स्थिरता प्राप्त करना दूसरे किसी से सम्भव नहीं हो सकता।

तभी तो श्री भगवान ने, कर्मी, तपस्वी, ज्ञानी और योगी से भी भक्त की सर्वश्रेष्ठता स्वयं ही स्वीकार की है। ("तपस्विभ्यो" इत्यादि गीता ६।४६ श्लोक देखना चाहिये)।

अधः प्रवाहिनी गति का अनुगमन ही जीव का अधर्म।

जीव की अधः प्रवाहिनी गति का नाम 'अधर्म' है। यह

१. श्री हरिभक्ति विलास १।२।२५-५४ तक देखना चाहिये विचारल संस्करण।

साधारणतः 'पाप' नाम से प्रसिद्ध है। जो गति—जो परिवर्तन जीव को उसके स्वभाव या स्वधर्म से नीचे की ओर ले जाय, वहीं विच्युत की अवस्था ही उसके लिये 'अधर्म' है, यही उसके लिये धर्म की विपरीत गति है। अधोगति द्वारा परिचालित जीव, अपरिवर्तनीय भाव या परमानन्द के—परमपद के विपरीत की ओर जितना ही अग्रसर होता है उतना ही विपद पर विपद—अनन्त विपद अविराम यातायात की अधिकता होती जाती है।

अधिकारी भेद से 'धर्म', 'स्वधर्म' और 'अधर्म'—इनकी विभिन्नता।

इसलिये समझ लेना चाहिये कि 'धर्म' 'स्वधर्म' और 'अधर्म' की ऐसी कोई एक निर्दिष्ट सीमा की रेखा नहीं है, जो एक ही समय में सभी के लिये प्रयुक्त हो सके। सत्त्वादि गुण भेद से जिसका जो भाव है वही उसका 'स्वधर्म' है। जिस धर्म में जो शृद्धान्वित है, उसके लिये उस समय, उसी धर्म के अनुष्ठान के अनन्तर योग्यतर होने से क्रमशः ऊपर जाने वाली गति के अनुसरण का नाम 'धर्म' है; और 'स्वधर्म' से नीचे जाने वाली गति का नाम 'अधर्म' है और अधिकारानुसार किसी भाव या किसी धर्म के अवलम्बन से अधःपतन से 'धृत' होकर अवस्थिति करने का नाम 'स्वधर्म' है। धर्म और अधर्म के लक्षण का निर्णय शास्त्र में उक्त हुआ है—यथा—

विहित क्रियया साध्यो धर्मः पुंसाम् गुणो मतः।

प्रतिषिद्ध क्रिया साध्यः स गुणोऽधर्म उच्यते॥

(धर्म दीपिका)

इसका अर्थ—अधिकारानुसार शास्त्र विहित कर्म के अनुसरण

करने को धर्म कहते हैं और जो शास्त्र निषिद्ध कर्म है। उनके ही अनुसरण करने का नाम 'अधर्म' है।

अपरिवर्तनीय भाव या स्वपद प्राप्ति की कारण स्वरूपा भक्ति ही सब जीवों का परम उद्देश्य या मुख्य प्रयोजन है। भक्ति ही अस्थिर जीव को परमस्थिरता या पूर्णता प्रदान करती है क्योंकि वह भी अपरिवर्तनीया, निर्विकारा और नित्या है, इसलिये अपने पूर्णभाव से नित्य ही विराजमान रहती है। इसके अतिरिक्त, — उस भक्ति या भागवती श्रद्धा के अनुदय काल तक गुण की भिन्नता से अधिकारी की विभिन्नता है इसलिये अस्थिरता स्वाभाविक है और इसी कारण से दूसरे धर्म और उसके सभी साधन भी अस्थिर हैं और विभिन्न प्रकार के हैं। ऐसा होने से यह निश्चय है कि धर्माधर्म, पाप-पुण्य, दोष-गुण, सबके लिये एक प्रकार नहीं हो सकते। यही कारण है कि तामसिक अधिकारी के लिये स्वधर्मानुष्ठान के अनन्तर यथाक्रम से राजस अधिकार का प्राप्त होना ही 'धर्म' है। किन्तु सात्विक अधिकारी के लिये राजसिक भाव का प्राप्त होना 'अधर्म' है। इसलिये एक ही राजस अधिकार जिस तरह किसी के लिये गुण और किसी के लिये दोष है। उसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिये। तभी तो शास्त्र में उक्त हुआ है,—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।

विपर्यस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निर्णयः॥

(श्री भा० ११।२१।२)

इसका अर्थ—श्री भगवान ने कहा हे उद्धव! जिस व्यक्ति ने जिस विषय में अधिकार लाभ किया है उसका उस विषय में निष्ठा ही 'गुण' है और इसके विपरीत होने से ही उसे 'दोष' कहते हैं वस्तुतः दोष गुण का निर्णय केवल यही है।

गुण दोष के दर्शन की त्रिविधि दृष्टि वैशिष्ट्य।

उक्त दोष-गुण का विचार अस्थिर कर्ममार्गीय धर्म के विषय में ही अथवा जीव के प्राकृत भाव के संयोग के समय ही होगा। ज्ञान धर्म में—निर्विशेष बृह्मानुभूति की अवस्था में गुण दोष का विशेषत्व भी फिर दिखाई नहीं देता, उस अवस्था में गुण-दोष का भेद दर्शन दोष माना जाने योग्य है। शास्त्रोक्ति यथा—

किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुण दोषयोः।

गुण दोषदृष्टिर्दोषो गुणस्तूभय वर्जितः॥

(श्री भा० ११।१६।४५)

इसका अर्थ—श्री भगवान ने कहा, हे उद्धव! गुण दोष के लक्षण के विषय में और अधिक क्या वर्णन करें—गुण और दोष, इन दोनों का दर्शन ही दोष है, अपितु इन दोनों का न देखना ही गुण जानो।

गुण दोष युक्त भुक्ति धर्म और गुण दोष मुक्त मुक्ति धर्म की सीमा अतिक्रमपूर्वक किसी अतिभाष्य से यदि किसी को भक्ति रूप परमधर्म लाभ हुआ तो उस परम धर्म की परमावस्था में अर्थात् परम भागवतो की दृष्टि में सर्वत्र—सर्वदोष विवर्जित—केवल अशेष कल्याण गुणमय श्री भगवद्रूप ही दिग्गता है तब इस परमानन्द मय

१. सर्वेनिमेषा—(तैः नारा १ अ) इत्यादिषु परस्य ब्राह्मणः प्राकृत हेयगुणान् प्राकृत हेय देहसम्बन्ध तन्मूल कर्मवश्यता सम्बन्धश्च प्रीतिषिध्य कल्याण गुणान् कल्याण रूपश्च वदन्ति"। (भगवत सर्वसम्बादिनी)

अर्थ—सर्वे इत्यादि श्रुति वाक्य में परब्रह्म के प्राकृत हेय गुण समूह (अर्थात् दोष, हेय, देह सम्बन्ध और उससे कार्यवश्यता सम्बन्ध प्रतिषेध करके उनके केवल कल्याण गुण और कल्याण रूप के सम्बन्ध में कहा गया है—

के सम्पर्क से जो कुछ है, यही सभी सुन्दर, सुखमय छोड़कर कहीं भी किसी दोष का लेशमात्र भाव भी लक्षित नहीं होता। यहाँ तक कि उस समय दोष से परिपूर्ण प्राकृत विश्व प्रपञ्च का सभी कुछ भक्त की भक्ति विभावित इन्द्रिय के सामने पूर्ण सुखस्वरूप अनुभव होता है। “विश्वं पूर्ण सुखायते—” (श्री चै० चन्द्रामृत ६५)।

तब उस अनन्त गुणाकार के गुण सम्बन्ध के आभास से ही स्थावर जङ्गमात्मक निखिल भुवन सुन्दर और सुखमय भगवद्भाव से ही भरा हुआ सा जान पड़ता है और सब शक्ति में शक्तिमान रूप से अपना अभीष्ट देव ही दिखाई देता है। यथा—

महा भागवत देखे स्थावर जङ्गम्।

ताहाँ ताहाँ होय तार श्रीकृष्ण स्फुरण॥

स्थावर जंगम देखे, न देखे तार मूर्ति।

सर्वत्र होय निज इष्टदेव स्फूर्ति॥

इसका अर्थ—महाभागवत जहाँ जहाँ भी स्थावर जंगम देखते हैं वहाँ ही उनसे श्रीकृष्ण का ध्यान आता है। स्थावर जंगम को स्थावर जंगम के रूप में नहीं देखते। उन्हें हर जगह अपने इष्टदेव श्री कृष्ण की ही स्फूर्ति होती है।^१

१. सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भगवत्तोत्तमः॥

(श्री भा० ११।२।४५)

अर्थ—जो सब भूतों में निजाभीष्ट भगवद्भाव का दर्शन करते हैं और निजाभीष्ट श्री भगवान में सब भूतों को देखते हैं—यही होते हैं—भगावतोत्तम।

प्राकृताकृत निखिल विश्व के मध्य केन्द्र में विराजित और सौन्दर्य माधुर्यादि अनन्त गुणों के उत्स रूप में उत्सारित होकर, जो उसी उत्स धारा के सौन्दर्य और सुख कणिका के मोहन स्पर्श दान द्वारा भुवन को सुन्दर और सुखमय कर देते हैं उन्हीं परम सुखस्वरूप की अनुभूति और उनका साक्षात्कार जब प्राप्त हो जाता है, तभी केवल उसी भक्ति विभावित शुद्ध दृष्टि में ही सब कुछ पुन्दर मधुर और आनन्दमय रूप में ही प्रतिभात हुआ करता है। अन्धकार जहाँ है, चाहे वहाँ ही क्यों न रहे किन्तु प्रज्वलित मशाल जो लिये है। उसके सामने जिस प्रकार किसी अंधकार का अस्तित्व ही अनुभव नहीं होता, उसी प्रकार शुद्धाभक्ति के आलोक से जो हृदय प्रकाशित है और उसके फल से परमानन्द रसमय श्री भगवत्साक्षात्कार लाभ हो गया है। उन लोगों की उन्हीं भागवतो की भक्ति विभावित शुद्ध दृष्टि में सभी सुन्दर,—सभी मधुर, सभी अशेष कल्याण गुण^१ के अतिरिक्त कहीं भी किसी दोष का लेशमात्र भी दिखाई नहीं देता। भक्ति इतने ऊँचे स्थान में विराजमान हैं। तभी तो भक्त कवि ने गाया है—

“सौन्दर्ये र उत्स मांझे,

तुमि मध्यकेन्द्र ताय,—

आपन सौन्दर्य वारि

छड़ातेछ विश्व गाय।

ताई फूल मुग्ध करे मन,—

ताई चाँद सुधार आकर,

१. “समस्त कल्याण गुणात्मकोहि”—(विष्णु पुराण ६।५।८३) श्री भगवान का स्वरूप केवल अशेष कल्याण गुण विशिष्ट है।

ताई गृह आनन्द भवन—

ताई विश्व एत मनोहर।”^१

इसका अर्थ—तुम सौन्दर्य के उत्स के बीच में मध्य केन्द्र हो और तुमने अपने सौन्दर्य रूपी जल को विश्व के शरीर में उड़ेल दिया है। इसीलिये फूल मन को मुग्ध करता है, चन्द्रमा अमृत का सागर है। घर आनन्द भवन हो गया है और इसीलिये विश्व इतना मनोहर है।

इससे यह समझ में आ गया कि जीव की प्राकृत अवस्था में—गुण दोष और भेद दर्शन है, मुक्ति के अधिकार में गुण दोष का अभेद दर्शन है और भक्ति के उदय होने से केवल आप्राकृत गुण दर्शन है। सब धर्मों में परम धर्म भक्ति का यही वैशिष्ट्य है।

**शास्त्रोक्त विधि निषेध का पालन ही यथाक्रम से
जीव के अशेष कल्याण का प्रवर्तक और
अशेष अकल्याण का निवर्तक।**

जीव के परम कल्याण के साधन के उद्देश्य से साक्षात् श्री भगवान के आदेश उपदेश ही पुण्य वेद और वेदानुगत शास्त्रों के रूप में हमारे सामने विराजमान है। भगवान का संस्थापित “आईन” (संविधान) ही वह शास्त्र है जिनमें समस्त विधि-निषेध वर्णित है। अधिकारानुरूप शास्त्रोक्त विधि ही मनुष्यों के अशेष कल्याण का प्रवर्तक और शास्त्रोक्त सब निषेध मनुष्यों के अशेष अकल्याण का

१. परमपूज्यपाद श्रीमान सुरेन्द्रनाथ गोस्वामी महोदयकृत ‘पुष्पाञ्जलि से उद्धृत

निवर्तक है। इसलिये शास्त्रोक्त विधि निषेध मान्य करके चलना ही जीव के लिये मंगल का विषय अर्थात् गति प्राप्त कराने वाला होता है, किन्तु शास्त्रादेशों का उल्लंघन करके स्वेच्छाचारी होकर जीवन व्यतीत करने के बुरे फल से ऐसे सभी जीवों को अवश्य ही अधःपतित होना पड़ेगा। तभी तो श्री भगवान ने सब जीवों को स्वेच्छाचारिता से सावधान रहने के लिये गीता में स्वयं ही श्रीमुख से उपदेश दिया है। यथा—

यः शास्त्रविधि मुत्सृत्य वर्तते काम कारकः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न पराम् गतिम्॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणम् ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६।२३।२४)

इसका अर्थ—जो व्यक्ति शास्त्र विधि परित्याग करके स्वेच्छाचार से प्रवृत्त होता है। वह सिद्धि सुख या परमगति कुछ भी लाभ नहीं कर सकता अतएव इस विषय में क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये शास्त्र ही तुम्हारे लिये प्रमाण है, इसलिये इस कर्मभूमि में शास्त्रविधान की जानकारी प्राप्त करके उसके अनुसार सब कर्म करना उचित है।

जिसके सम्बन्ध के संयोग और वियोग से दूसरे सभी धर्म सिद्ध और असिद्ध होते हैं, यही स्वयं सिद्धा भक्ति ही जीव का परम धर्म है।

उन शास्त्रोपदिष्ट सभी धर्मकर्मादि में परम धर्म क्या है? और

दूसरे सभी धर्म कर्मादि का मुख्य तात्पर्य क्या है? इसका उत्तर शास्त्र ही स्पष्ट रूप से जगत के सामने घोषित करते हैं; यथा—

स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहैतुक्य-प्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

(श्री भा० १।२।६)

इसका अर्थ—जिस धर्म से श्रीकृष्ण में निष्काम और विघ्नशून्य भक्ति (भगवत्कथा श्रवणादि में श्रद्धा या रति) उत्पन्न होती है वही धर्म मानव मात्र का परमधर्म है। इससे पूर्ण रूप से आत्म प्रसन्नता प्राप्त होती है।

दूसरी तरफ—जिन धर्म कर्मादि के अनुष्ठान द्वारा श्री कृष्ण-भक्ति रूप परम प्रयोजन नहीं सिद्ध होता, ऐसे धर्मों का आचरण निष्फल वृक्षों को जल से सींचने की तरह व्यर्थ प्रयास मात्र होता है। इस विषय में शास्त्रोक्त यथा,—

धर्मं स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासुयः।

नोत्पादयेद्यदि रति श्रम एव हि केवलम् ॥

(श्री भा० १।२।८)

इसका अर्थ—पूरे यत्न के साथ अनुष्ठित होने पर भी जिस धर्म के द्वारा श्रीकृष्ण कथा में रति उत्पन्न न हो, तो ऐसा अनुष्ठान पुरुषों के लिये केवल निष्फल परिश्रम मात्र है।

यहाँ तक की आलोचना का सारमर्म।

इस तरह यहाँ तक की आलोचना द्वारा हम यही समझ सके हैं कि एक सर्वमूल सर्वकारण, (“अनादिरादि गोविन्दः सर्व कारण कारणम्।” ब्रह्मसंहिता।) स्वयं श्रीकृष्ण ही वेद के कर्मकाण्ड में

यज्ञादि शब्दों से सांकेतिक हुए और सभी यज्ञ और यज्ञ के उपकरणादि सर्वात्मक स्वरूप वही है। उनकी शक्ति विशेष की परिणति होने के कारण किसी स्थान में या यज्ञादि के आवरण में उनकी ही उपासना परिकल्पित हुई है। ("तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्" गीता ३।१५) इसी तरह देवताकाण्ड में भी इन्द्रादि शब्द से कहीं तो वह साक्षात् सांकेतिक हुए हैं और कहीं इन्द्रादि देवता उनकी विभूति के ही विभिन्न प्रकाश होने के कारण उन्हीं देवतारूपी इन्द्रादि की उपासना में उनकी ही उपासना कल्पित हुई है; अतएव सब वेदों का मुख्य अभिप्राय उन्हीं एक स्वयंरूप परतत्त्व—श्री कृष्ण और उनके विषयक प्रेम भक्ति में ही पर्यवसित होने पर भी सकामहत साधारण जीव के किसी मंगल के उद्देश्य से ही यही अभिप्राय अपरोक्ष भाव में अर्थात् साक्षात् रूप में व्यक्त न होकर सांकेतिक शब्द में अथवा अस्पष्टता के आवरण में—परोक्ष भाव में ही प्रकाश हुआ है, उस समय श्री भगवान का ऐसा ही अभिप्राय होने के कारण ("परोक्षञ्च मम प्रियम्।" भा० ११।२१।३५) उनके ही प्रेरणा से वैदिक ऋषिलोग भी परोक्षवादी हुए हैं। इसीलिये ही कर्मकाण्ड प्रभृति में स्थूल दृष्टि से परतत्त्व या श्री भगवत् सम्बन्धीय प्रसंग मात्र का भी कहीं उल्लेख देखा नहीं जाता किन्तु वेदरूप अस्पष्ट निःश्वास ध्वनि द्वारा जो व्यक्त नहीं होता—सभी वेदों का यही यथार्थ तात्पर्य गीतारूप साक्षात् श्रीमुख की वाणी द्वारा उन्हीं श्री भगवान ने स्वयं ही विश्व में सुप्रकाश कर दिया।

अतएव यही प्रतिपन्न होता है कि वेद में गुह्य और सभी उपनिषत् में निगूढ़ भाव से जो छिपा हुआ है ("यद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढम्।—(श्वेताश्व ५।६) वह श्री भगवद्वस्तु, और श्री भागवतधर्म और उनकी ही परमावस्था, श्रीकृष्ण और उनके विषयक 'प्रेम धर्म'

ही है जिनमें ही सब वेदों का मुख्य प्रयोजन समाप्त होने पर भी परोक्षवाद में आवृत्त और अनेक स्थान में हेयाली भाषा में लिखा रहने से, स्थूल दृष्टि में उनका वाह्य अर्थ देखकर उस विषय का यथार्थ मर्म समझ में नहीं आता।

धेनु (दुधारु गाय) का दृष्टान्त।

सभी गायों में जिस प्रकार दूध छिपा रहने पर भी और उनमें सब गायों की पूर्ण सार्थकता सम्पादित होने पर भी दूध के विषय में जो लोग नहीं जानते उनकी वाह्य दृष्टि में जैसे उनसे निकला हुआ गोबर और गोमूत्र के अतिरिक्त दूध के सत्ता का अनुभव नहीं होता; गोमय आदि की भी पवित्रता और कथंचित सार्थकता होने पर भी, जैसे गायों का मुख्य प्रयोजन या परम सार्थकता दूध से ही साधित होती है, उसी तरह वेदोक्त कर्म और देवताकाण्ड का केवल वाह्यार्थ देखकर उसमें स्वर्गादि सुख भोग के निमित्त विविध याज्ञ यज्ञादि की व्यवस्था और इन्द्रादि विभिन्न देवताओं की उपासना और उस उद्देश्य से निवेदित 'सोम' नामक लता विशेष की मादकता शक्ति सम्पन्न रसपान आदि की बात के अतिरिक्त स्थूल दृष्टि से यह बिल्कुल ही अनुभव नहीं होता कि समस्त वेदों का मुख्य अभिप्राय श्री भगवान और भागवत धर्म में या और भी सुस्पष्ट भाषा में स्वयं भगवान और उनके विषयक 'प्रेम धर्म' में ही पर्यवसित है।

गोपाल नन्दन श्रीकृष्ण ही सर्वोत्तम सुनिपुण
दोहन कर्त्ता। उपनिषत्स्वरूप गाय निःसारित वही
दूध धारा ही गीतामृत।

फिर सब गायों की परम सार्थकता जिससे है यही अन्तर्निहित

दूध की धारा जिस प्रकार किसी सुनिपुण दोहन कर्त्ता ही पूर्ण रूप से दोहन पूर्वक उसे लोगों के उपयोग करने के योग्य करता है। उसी प्रकार सभी वेद जिनके निःश्वास रूप से कथित हुये हैं—उन्हीं साक्षात् स्वयं भगवान् गोपेन्द्र नन्दन श्रीकृष्ण ही ने वेदोपनिषत् रूप सभी धेनु को दुहकर गीतामृत रूप सुव्यक्त और सुमिष्ट दूधधारा से जगत् को डुबा करके कठिन वेदार्थ को सुस्पष्ट और साधारण लोगों के उपयोग लायक कर दिया। यह बात उसी महती गीता के उपक्रम भाग (भूमिका) से ही विदित हो जाती है। यथा,—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत॥

इसका अर्थ,—सब उपनिषद् गाय की तरह है। उसके दुहने वाले हैं गोपनन्दन श्रीकृष्ण, पार्थ बछड़ा की तरह है, सुधिगण उसके भोक्ता हैं और महत् गीतामृत ही वही दूध है; इसलिये कठिन वेद का सुस्पष्ट सारार्थ गीतारूप में ही प्रकाशित है, यह बात उसी गीता से ही जानी जाती है।

श्री गीता ही अव्यक्त और निगूढ़ निगम तात्पर्य का सुव्यक्त सारार्थ समस्त गीता का भक्ति परता।

सूक्ष्म दृष्टि सम्पन्न वेदविद् महामनीषियों के निर्देश से यह बात हम लोग अति सुस्पष्ट रूप से जान सकते हैं कि श्री गीता ही, अव्यक्त निखिल वेद तात्पर्य का सुव्यक्त सारार्थ स्वरूप है। गीता भाष्यकारों में अनेकों ने उक्त अभिप्राय ही प्रकाश किया है। अधिक के भय से उस विषय में केवल दिग्दर्शनार्थ परमपूज्यपाद श्रीलविश्वनाथ

चक्रवर्त्तिपादकृत गीता भाष्य की सूचना से कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

“श्रीमदर्जुन लक्ष्यीकृत्वा काण्डत्रितयात्मक सर्ववेद तात्पर्य—पर्यवसितार्थ रत्नालंकृतं श्री गीता शास्त्रमष्टादशाध्यामन्तर्भूताष्टादश विद्या साक्षाद्विद्यमानीकृतमिवं परमपुरुषार्थ माभिर्यावयाम्बभूव। तत्राध्याना प्रथमेन षटकेन निष्काम कर्म योगः द्वितीयेन भक्तियोगः तृतीयेन-ज्ञानयोगो दर्शितः। तत्रापि भक्तियोगस्याति रहस्यत्वादुभय सञ्जीवकत्वेनाभ्यर्हितत्वात् सर्वदुर्लभत्वाच्च मध्यवर्त्ती कृतः। कर्मज्ञानयो भक्ति राहित्येन वैयर्थात् ते द्वे भक्ति मिश्रे एवं सम्पत्तिकृते। भक्तिस्तु द्विविधा केवला प्रधान भूताच। तत्राद्या स्वतः एव परम् प्रबला। ते द्वे विनैव विशुद्ध प्रभावतीअकिंचना अनन्यादि शब्द वाच्या। द्वितीयातु कर्मज्ञान मिश्रेति।”

उक्त भाष्य तात्पर्य—स्वयं भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र ने प्रिय सखा श्रीमदर्जुन को लक्ष्य करके तीन काण्ड वाले सर्व वेद के पूर्ण तात्पर्य को महारत्न से अलंकृत करके अट्टारह अध्याय के अन्तर्गत अट्टारह विद्या से पूर्ण साक्षात् परमपुरुषार्थ स्वरूप श्री गीताशास्त्र आविर्भूत कराया है। जिस प्रकार सब वेद कर्मकाण्डः देवता या उपासना काण्ड और ज्ञान काण्ड भेद से त्रिकाण्डात्मक है उसी तरह उन्हीं तीनों काण्डों का ही सारार्थ अट्टारह अध्याय वाली श्री गीता भी तीन षटक में विभक्त है। हर षटक में ६ अध्याय है उनमें से पहले षटक में ६ अध्याय है उनमें से पहले षटक में प्रधानतः कर्मकाण्ड का यथार्थ तात्पर्य निष्काम कर्म योग रूप में दूसरे षटक में प्रधानतः उपासना काण्ड के साथ सब वेदों का मुख्य तात्पर्य भक्तियोग रूप में तीसरे षटक में प्रधानतः ज्ञानकाण्ड को यथार्थ तात्पर्य ज्ञानयोग रूप में प्रदर्शित हुआ है। (अष्टांग योग ज्ञान योग के अन्तर्गत ही

है 'योग' का अर्थ है परमात्मा के साथ जीवात्मा के संयोग का उपाय या कौशल। इन तीनों य... भक्ति योग अतिशय गुह्यत्व और कर्म और ज्ञान की जीवनदाता हाने के कारण सर्वातिशय श्रेष्ठ और सुदुर्लभ है इसलिये सम्पुटस्थित महारत्न की तरह गीता के मध्यवर्ती ६ अध्यायों में सन्निवेशित किया (रखा) गया है। कर्म और ज्ञान भक्ति वर्जित होने से व्यर्थता को प्राप्त होते हैं। इसी कारण भक्ति के साथ मिश्रित करके उनके साधन का विधान उपदिष्ट हुआ है भक्ति के मिश्र होने से वह गौण भक्तित्व प्राप्त होकर यथोपयुक्त फलप्रद हो जाते हैं। भक्ति का सम्बन्ध छोड़कर जीव को किसी प्रकार श्रेय लाभ की सम्भावना नहीं।

'केवला' और 'प्रधानी भूता' भक्ति ही भक्ति योग के अन्तर्भुक्त।

यह भक्ति फिर दो प्रकार की है,—केवला और प्रधानीभूता। उनमें से पहली स्वतः ही परम प्रबला अर्थात् स्वतन्त्रा है। कर्म और ज्ञान की सहायता बिना स्वतः ही विशुद्ध प्रभावती है। इस विशुद्धा भक्ति को ही अकिंचना, अनन्या प्रभृति नाम से निर्देश करते हैं। यही निर्गुणा या मुख्या भक्ति है। श्री भगवत् चरण में निष्काम प्रेम सेवा ही उसका मुख्य फल है। दूसरी अर्थात् प्रधानीभूता भक्ति ही कर्म मिश्र और ज्ञानमिश्रादि नामों से कथित होती है।

अन्तर्निहित प्राणधारा की तरह भक्ति ही समस्त सिद्धि की जीवनदायिनी।

अतएव इससे यह समझ में आता है कि एकमात्र शुद्धा भक्ति

ही सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है। अन्तर्निहित प्राण धारा की तरह, उपासना काण्ड के सहित सब वेदों के अन्दर गुप्त भाव से रहकर सभी गौण पुरुषार्थ को जीवित रखती है और परम स्वतन्त्ररूप आत्म महिमा में आप ही चमकती है। जीवनदायिनी शक्ति की तरह यह भक्ति ही सर्वमध्यस्थ रूप में अवस्थान करके, अपने सम्बन्ध और सहयोग द्वारा एक तरफ कर्म योग को दूसरी तरफ ज्ञान योग को नियन्त्रित करती है और अपना गौण फल रूप सिद्धि दान करती है किन्तु बाह्य दृष्टि में आत्म प्रकाश नहीं करती; जीव का यही सर्ववेद गुहा मुख्य पुरुषार्थ या परम प्रयोजन रूपा शुद्धा भक्ति गीता में भक्ति योग प्रधान मध्य षट्क में मणिहार की मध्यमणि की तरह चमकती हुई समस्त वेदार्थ को आलोकित करती है।^१

वह स्वतन्त्र, केवला, या शुद्धाभक्ति ही वेद निर्देश्य मुख्य प्रयोजन है। इसमें ही समस्त वेदविधि पर्यवसित है।

कर्म ज्ञानादि का भक्ति की मुखापेक्षिता।

शुद्धा भक्ति के विषय में श्रुद्धालाभ का सौभाग्य उदय न होने तक अगत्या कर्म ज्ञानादि की व्यवस्था है और उसमें भी फिर भक्ति

१. गीता की भक्ति व्याख्या की विस्तारित आलोचना,—श्री मद्भिश्चनाथ चक्रवर्ती पादकृत (सारार्थ वर्षिनी) नामक गीता की टीका में देखना चाहिये। 'ज्ञान' शब्द से गीता में बहुत जगह भक्ति का निर्देश है। (६/४) टीका देखना चाहिये।

की सहायता और सम्मिश्रण का प्रयोजन है।^१

श्री चरितामृत में भी उक्त हुआ है,—

कृष्ण भक्ति होय अभिधेय प्रधान।

भक्ति मुख निरीक्षक कर्म योग ज्ञान॥

एई सब साधनेर अति तुच्छ फल।

कृष्ण भक्ति बिने ताहादिते नारे बल॥

केवल ज्ञान मुक्ति दिते नारे भक्ति बिने।

कृष्णोन्मुखे सेई मुक्ति होय बिना ज्ञाने॥

(श्री चै०च० २।२२)

श्री कृष्ण भक्त को बिना चेष्टा के ब्रह्मज्ञान हो जाता है।

इसका अर्थ—जीव का अभिधेय कृष्ण भक्ति ही है। कर्मयोग और ज्ञान योग भक्ति का मुँह देखने वाले हैं अर्थात् भक्ति की अपेक्षा रखते हैं। इन सब साधनों का तुच्छ से तुच्छ फल भी भक्ति बिना नहीं प्राप्त हो सकता। केवल ज्ञान भक्ति के बिना मुक्ति नहीं दे सकता और यही मुक्ति बिना ज्ञान के कृष्णोन्मुख भक्त को अनायास हो सकती है।

१. तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्र विदः सुमंगला।

क्षेयं न विन्दन्ति बिना यदर्पणम् तस्यै सुभद्र श्रवसे नमो नमः॥

(भा० २।४।१७)

अर्थ—(श्री कृष्ण को लक्ष्य करके ब्रह्मा की उक्ति) तपस्वीगण दानशील गण, यशस्वीगण, मनस्वीगण, मन्त्रविद् गण और सदाचारिगण, जिन भगवान को अपनी तपस्यादि अर्पण न करने से मंगल लाभ में समर्थ नहीं होते उन्हीं सुमंगल यशस्वी श्री भगवान को बारम्बार नमस्कार है।

ज्ञान का फल मोक्षलाभ भक्ति की सहायता से ही सिद्ध होता है;—यह बात ज्ञानी गुरु आचार्य शंकर ने भी स्वयं स्वीकार की है। यह किसी और का कथन नहीं है।

“मोक्षकारणं सामग्यां भक्तिरेव गरीयसी।”

(विवेक चूड़ामणि)

अर्थात्—मोक्ष प्राप्ति के सभी साधनों में भक्ति ही गरीयसी अर्थात् अतिशय गौरवान्विता या सर्वश्रेष्ठा।

इससे यही निश्चित होता है कि परमेश्वर की निःश्वास ध्वनि स्वरूप वेद में,—परोक्षवाद के अस्पष्टता के मध्य में जो मुख्य अभिप्राय निगूढ़ भाव से छिपा है—समस्त वेद के उसी गुह्य तात्पर्य का सुव्यक्त सारार्थ है—श्रीमद्भगवद् गीता, जो श्रीकृष्ण भगवान के ही साक्षात् श्रीमुख वाणी है; (योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयं)”—गीता १८।७५) इसलिये वेद का यथार्थ अभिप्राय श्रीमद्भगवद्गीता से जैसे सुस्पष्ट रूप में विदित होने की सम्भावना रहती है, वैसा साक्षात् वेद से नहीं।

समस्त गीता का निचोड़ा सार मर्म कथा।

उसी पूरी गीता का निचोड़ा हुआ सार मर्म यह है कि—

(१) कर्म ज्ञान, योग, यज्ञ, दान, तप, त्याग व्रत, उपासना आदि जो कुछ धर्म कर्म का अनुष्ठान है, उन सबका मुख्य अभिप्राय श्रीकृष्ण में ही पर्यवसित होने के कारण, वह जब श्रीकृष्ण भक्ति सम्बन्ध युक्त होकर अनुष्ठित होते हैं। तभी उन साधनों द्वारा यथोपयुक्त फल प्राप्त हो सकता है।

(२) वह सभी यदि भक्ति सम्बन्ध से वर्जित होते हैं तो वह

शून्य गर्भ सभी साधन व्यर्थता को ही वरण करते हैं।

(३) यदि उन सब धर्म कर्मादि को छोड़कर ऐकान्तिक भाव से श्री कृष्ण के ही अनुगत होकर, केवल भक्तियोग का अनुशीलन किया जाय तो फिर किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रह जाती और उसके द्वारा ही सारे अनर्थ दूर होने के साथ-साथ जीव को परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जाती है।

**वाह्य दृष्टि में कर्मकाण्ड के साथ भक्ति का संयोग
और सम्मिश्रण दिखाई नहीं देता।**

अब एक दूसरा विवेच्य विषय यह है कि, जब रजस्तमोगुण परिपूर्ण मनुष्यों की श्रद्धा या अधिकार के अनुरूप सकाम यागयज्ञादि कर्मों में वाह्यतः भगवत्सम्बन्धीय किसी बात का उल्लेख न रहने से परोक्षवाद में छिपे हुये वेद के वाह्यार्थ से और सब स्थानों में भक्ति या भगवत् विषय की लेशमात्र उपलब्धि करने की कोई सम्भावना देखी नहीं जाती, तब उन्हीं सब यज्ञादि कर्मों के साथ भगवत्सम्बन्ध का संयोग किस प्रकार से संघटित होकर, उनकी मिश्रा भक्तित्व सिद्ध हो सकती है।

**वेदोक्त यज्ञकर्मादि के प्रधान ऋत्विक्—‘ब्रह्मा’
द्वारा सुकौशल से यज्ञादि के साथ भगवत् सम्बन्ध
की संयोग व्यवस्था**

ऐसे संशय के समाधान के लिये यहाँ यह बताना उचित है कि वेदोक्त यज्ञादि के अनुष्ठान में अध्वर्यु, होता, उद्गाता और ब्रह्मा

प्रधानतः यह चार ऋत्त्विक की आवश्यकता होती है। उनमें से 'ब्रह्मा' नामक ऋत्त्विक ही सबसे प्रधान और ब्रह्मविद्या में विशेष पारदर्शी होना आवश्यक होता है। (छान्दो० ४।१७।६-१० देखना चाहिए) दूसरे ऋत्त्विकों को यज्ञ सम्बन्धीय विभिन्न कार्यों में नियुक्त करके, ब्रह्मा को उनके कार्यादि की देखभाल और किसी भी दोष होने से उनकी शुद्धि सम्पादन आदि करना होता है और विशेष भाव से यज्ञ के तात्पर्यादि और उसके साथ-साथ परमदेवता—परमेश्वर के सम्बन्धादि के विषय में यजमान के अधिकार अनुरूप ऐसे सुकौशल से उसे उपदेश करना होता है कि जिससे उस सकाम यज्ञकर्त्ता की यज्ञ विषयक निष्ठा विचलित न हो किन्तु परोक्षभाव से परमेश्वर के ही उद्देश्य में यज्ञफल अर्पणादि द्वारा उसके साथ यथोपयुक्त भगवत्सम्बन्ध का या भक्ति का संयोग हो जाता है और इस रूप में वेदविहित उन सब कर्मादि की भी परोक्ष भाव से गौणी भक्तित्व सिद्ध हो जाती है।

वेद विहित समस्त अनुष्ठान ही ब्रह्म-वाचक-प्रणव के उच्चारण से अनुष्ठित होने की व्यवस्था।

निर्विशेष प्रणव और सविशेष भगवन्नाम की अभिन्नता।

विशेषतः श्रुति से यह भी स्पष्टतः जाना जाता है कि परमेश्वर या परब्रह्म वाचक 'प्रणव' अर्थात् ॐकार उच्चारण करके ही त्रयी

विद्या अर्थात् वेदत्रय विहित समस्त अनुष्ठानादि प्रवर्तित हुये हैं, ("तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ॐ मित्या श्रावयत्य" इत्यादि छान्दो १।१।१०) यज्ञादि कार्य में ॐकार यह अक्षर उच्चारणपूर्वक आश्रावण करना होता है, 'ॐ उच्चारण करके ही स्तवन करना होता है, ॐ उच्चारण करके ही उद्गान करना होता है यहाँ तक कि 'अनुमति' (छान्दो० १।१।१६) अर्थात् निखिल कर्म के अनुभूतिज्ञापक अक्षर रूप में भी 'ॐकार' उच्चारण सर्वत्र ही विहित हुआ है।

इसलिये अब आसानी से यह बात समझ में आ सकेगी कि जब प्रणवोच्चारण छोड़कर वेद विहित कोई कर्म ही अनुष्ठित नहीं होता और अब ब्रह्म और तद्वाचक प्रणव अभेदतत्त्व है, ॐ मिति ब्रह्म" (तैत्ति० १।७) अर्थात् 'ॐ' ब्रह्म है,— और जब परतत्त्व या परमेश्वर विषयक वाच्य और वाचक या नामी और नाम अभिन्न तत्त्व ही कहकर सब शास्त्रों में निरूपित हुये? तब प्रणव या प्रणवोपलक्षित परमेश्वर के नाम के संयोग से ही नामी का सम्बन्ध जुड़ जाता है और इस रूप में वेदविहित निखिल कर्मादि भक्तित्व को प्राप्त होकर ही यथोपयुक्त शुद्ध और सिद्धिप्रद हो जाते हैं।

अस्पष्ट वेदोक्त यज्ञादिकर्मों के त्रुटि आदि दोष निवारणार्थ प्रणवोच्चारण का सुस्पष्ट अर्थ—श्री भागवत में प्रकाश। वह है सर्वश्रेष्ठ भक्त्यंग श्री नामसंकीर्तन की ही व्यवस्था।

१. ग्रन्थकार कृत "श्री नाम चिन्तामणि" ग्रन्थ का प्रथम किरण, चतुर्थ उल्लास देखना चाहिये।

और भी देखा जाता है कि यज्ञादि के अनुष्ठान में होता द्वारा अशुद्ध मन्त्रोपचारणादि के उस कर्म में असम्पूर्णता या त्रुटि आदि दोष हो जाने से, उसकी परिशुद्धि के लिये उन स्थलों में भी प्रणवोच्चारण का ही विधान विहित हुआ है। “अथ खलु य उदगीथः स प्रणवः स उदगीथ इति होतृषद्नाद्धै वापि दुरुद् गीत मनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति।” (छान्दो १।५।५)

अर्थात्—जो उदगीथ है प्रणव भी वही है और जो प्रणव है यही उदगीथ है। इस तरह से प्रणव और उदगीथ की अभिन्नता चिन्ता करना चाहिये। होता द्वारा मन्त्रोपचारणादि कर्म में यदि ‘दुरुदगीत’ अर्थात् अशुद्ध उच्चारणादि के कारण दोष हो जाते हैं, तो उदगीथ अर्थात् प्रणव उच्चारण द्वारा यह सभी दोष मिट जाते हैं। उनकी विशुद्धि सम्पादित हो जाती है। इस समाधान या व्यवस्था को दृढ़ निश्चय करने के निमित्त ‘अनुसमाहरति’ इस पद की द्विरुक्ति की गई है।

यहाँ उदगीथ का अर्थ प्रणव या ॐकार अथवा प्रणवोपलक्षित श्री भगवन्नाम ही समझना चाहिये। प्रणव जैसे ब्रह्मात्मक अर्थात् वाच्य ब्रह्म से अभिन्न है (“ॐ मिति ब्रह्म”) (तैत्ति १।८) भगवन्नाम भी वैसे ही भगवदात्मक अर्थात् भगवान से अभिन्न तत्त्व है; (अभिन्नोत्वान्नामनामिनोः।”) (—प्राच्यो) ‘ब्रह्म’ जैसे सविशेष और परिपूर्ण श्री भगवत्तत्त्व का ही निर्विशेष प्रकाश है, तद्वाचक प्रणव भी वैसे ही सविशेष और परिपूर्ण श्रीकृष्णादि सभी भगवन्नाम का निर्विशेष प्रकाश है। प्रकाश भेद से भिन्न होने पर भी ‘प्रणव’ और ‘श्रीनाम’ अभिन्न तत्त्व ही है,—अस्पष्ट होने पर भी उक्त श्रुति का यह अभिप्राय श्री भागवत में सुस्पष्ट रूप से देखा जाता है—

मन्त्रस्तन्त्रतश्छिद्रं देश कालार्हं वस्तुतः।

सर्वं करोति निश्छिद्रं नाम संकीर्तनं तव॥

(श्री भा० ८।२३।१६)

इसका अर्थ—मन्त्र में स्वरभ्रंशादि द्वारा, तन्त्र में क्रम विपर्यादि द्वारा और देश, काल, पात्र और वस्तु में अशौचादि और अवैध दक्षिणादि द्वारा जो छिद्र या दोष हो जाते हैं, (हे हरे!) आपके नाम संकीर्तन से वह सब निर्दोष हो जाते हैं।

(श्रीमत् सनातन गोस्वामी चरणकृत टीका का तात्पर्य।
हरिभक्ति विलास १.१)

अतः यह बात समझ में आ जाती है कि सभी वेदोक्त कर्मकाण्ड का भी मुख्य अभिप्राय या अन्तर्दृष्टि श्री भगवान में या भागवत धर्म में ही सूक्ष्म या निगूढ़ भाव से प्रसारित है, इसलिये वह स्थूल दृष्टि का ग्राह्य विषय न होने पर भी, वैदिक प्रत्येक अनुष्ठान के साथ 'प्रणव' या तदोपलक्षित भक्ति का प्रधान अंग अर्थात् 'अंगी' (स्वरूप श्री नाम के थोड़ा बहुत संयोग स्थापन के रहस्य से भी उक्त निगूढ़ अभिप्राय अनेक अंश में सुस्पष्ट हो जाता है।

वेदोक्त यज्ञ और यज्ञानुष्ठान का निगूढ़ अर्थ ही है—

श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णानुशीलनरूपा भक्ति।

यह बात पहले नाना प्रकार से प्रदर्शित हो चुकी है कि श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण भक्ति ही, वेदादि निखिल शास्त्र विहित धर्म कर्म का

मुख्य अभिप्राय होने पर भी वह परोक्षवादादि द्वारा आच्छादित है।

तभी तो स्थूल दृष्टि से कर्मकाण्ड यज्ञमय के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं जान पड़ता। वेदोक्त उन सभी कर्म या धर्म की वेदगोप्य निगूढ़ कथा, एकमात्र वही वेदमय पुरुष श्री भगवान ही भली प्रकार जानते हैं और उनकी कृपा से उनके भक्तों की सूक्ष्म दृष्टि के सामने उनका प्रकाश हो जाता है।

(‘वेदेषु दुर्लभम् दुर्लभमात्म भक्तौ’ बृह्म संहिता) इसके अतिरिक्त स्थूल बाह्य दृष्टि से उसके ग्राह्य का कोई भी उपाय नहीं है। इस विषय में दृष्टान्त स्वरूप वेदोक्त ‘यज्ञ’ शब्द के सम्बन्ध में गीता का एक श्लोक नीचे उद्धृत किया जाता है। यथा—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगं समाचर॥ (३, ९)

इसका अर्थ,—यज्ञ के लिये कर्मों को छोड़कर दूसरे कर्मों द्वारा मनुष्यों को कर्म का बन्धन होता है। अतएव अर्जुन। तुम निष्काम होकर यज्ञ के लिये कर्मों का अनुष्ठान करो।

उक्त श्लोक में ‘यज्ञ’ शब्द के यथाश्रुत अर्थ से यह उपलब्धि होती है कि वेदोक्त यज्ञ के निमित्त जो सब कर्म अनुष्ठित होते हैं, उनके अतिरिक्त दूसरे कर्मों से जीव को कर्म बन्धन होता है अतएव निष्काम भाव से यज्ञानुष्ठान करना सबका कर्त्तव्य है।

किन्तु परोक्षवाद में आच्छादित और दुर्वोध्य वेद के इस सांकेतिक ‘यज्ञ’ शब्द का निगूढ़ अर्थ और अभिप्राय श्रीभगवत्कृपा से परम भागवतो की सूक्ष्म दृष्टि के सामने उद्घाटित होते देखा जाता है। उन लोगों ने ‘यज्ञ’ शब्द का निगूढ़ अर्थ “श्री विष्णु” अर्थात् श्री

भगवान या श्रीकृष्ण उपलब्धि किया है। उक्त श्लोक के निम्नोक्त टीका से यह सुस्पष्ट रूप से समझ में आ सकेगा।

साख्यास्तु सर्वमपि कर्मबन्धकत्वान्न कार्य मित्याहुस्तन्नि-
राकुर्वन्नाहयज्ञार्थादिति। यज्ञः विष्णुः—यज्ञोः वै विष्णुः”^१ इति श्रुते
तदाराधानार्थात् कर्मनोऽन्यत्र तदेकं बिना लोकोऽयं कर्मबन्धनः
कर्मभिर्वध्यतेनत्वीश्वराराधनार्थेन कर्मणा। अदस्तदर्थं विष्णु
प्रीत्यर्थं मुक्त संगो निष्कामः सनकर्म सभ्यचारः॥—(श्री एवामिपाद)

अर्थात्—सांख्यवादी कहते हैं कि जीव के सभी कर्म बन्धन के
कारण हैं, इसलिये कर्म करना अनुचित है। इस मत को खण्डन करते
हुये कहते हैं,—‘यज्ञार्थात्’ इत्यादि=यज्ञ=विष्णु श्रुति कहती है।
‘यज्ञो वै विष्णुः।’ अर्थात् यज्ञ शब्द से विष्णु को निर्देश करती है।
अतएव विष्णु की अर्थात् श्रीभगवान की आराधना के निमित्त ही
सब कर्म कहे गये हैं, नहीं तो एकमात्र उनकी आराधना छोड़कर,
दूसरे कर्मों से मनुष्य कर्मबन्धन में आबद्ध होता है, किन्तु परमेश्वर
की आराधना के लिये या उनको अर्पित कर्म से बन्धन नहीं होता।^१

१. सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक परमात्मा के श्रीकृष्ण ही परमावस्था
है। वही सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक पुरुष ही ‘विष्णु’ नाम से शास्त्र
में कीर्तित हुये हैं। इसलिये विष्णु श्रीकृष्ण ही है, इस विषय में शास्त्र
प्रमाण यथा दीपाचिरेव हि दशान्तरम-म्युयेय दीपायते विवृत हेतु
समानधर्मा। यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति गोविदमादि पुरुषं
तमहं भजामि (बृह्य संहिता १५।४६)

अर्थ—एक दीपशिखा जैसे दूसरे दीप को जलाकर उसके तुल्य ही दूसरे
दीप रूप में जलती है उसी तरह जो विष्णुरूप में विभावित हुए हैं
उन्हीं आदि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

अत एव विष्णु की प्रीति के निमित्त या निष्काम होकर सम्यक् रूप से कर्म करना चाहिये।

(श्री चक्रवर्त्तिपाद और श्री बल्लदेव विद्याभूषण पाद आदि परम् भागवतो द्वारा उक्त श्लोक का एक ही अभिप्राय व्यक्त है। उनका लिखा टीका देखना चाहिये।)

अब वेद के विशदार्थ श्री भागवत में श्री भगवान की निजोक्ति से भी हम उक्त 'यज्ञ' शब्द का सुस्पष्ट अर्थ जान सकेगे। जिससे और श्रेष्ठतर कोई प्रमाण नहीं हो सकता। श्री भगवान ने स्वयं ही यज्ञ का अर्थ श्री उद्धव को बताया है? यथा,—

‘यज्ञोऽहं भवतत्तमः। (श्री भा० ११।१९।३९)

अर्थात्—स्वयं भगवद्रूप श्री कृष्णाख्य यह मैं ही हूँ 'यज्ञ'।

इसके टीका में श्रीमञ्जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है,—यद्वा भगवत्तमः स्वयं भगवद्रूप श्रीकृष्णाख्यऽहमेव यज्ञः। मज ज्ञः नेनैव सर्व यज्ञफल प्राप्तेः—

१. आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत।

तदेव ह्यामय द्रव्यं न पुनाति चिकित्सिताम्॥

एव नृणां क्रिया योगा सर्वे संसृति हे तवः।

त एवात्म विनाशाय कल्पन्ते कल्पितः परे॥

(भा० १।५।३३, ३४)

अर्थ,—हे सुव्रत। जिन गुरुपाक घृतादि द्रव्यों के सेवन से लोगों में रोग उत्पन्न हो जाते हैं वही रोगकर द्रव्य ही औषध द्वारा मिश्रित होकर संस्कृत होने से फिर क्या वही उक्त रोग से मुक्त नहीं करते? अर्थात् अवश्य ही कर देते हैं, उसी तरह मनुष्य के सब कर्म बन्धन के हेतु होने पर भी वही कर्म परमेश्वर को अर्पित होकर अनुष्ठित होने से, फिर कर्मबन्धन से मुक्ति के निमित्त हो जाते हैं।

सर्वे वेदा सर्वविद्या सशास्त्राः सर्वे यज्ञाः सर्व इज्यश्च कृष्णः।
विदुः कृष्ण ब्राह्मणास्तत्त्वतो ये तेषां राजन सर्व कृष्णः यज्ञाः
समाप्तः।

इति महाभारतोक्तः।" (क्रमसन्दर्भ ११।१६।३६)

इसका अर्थ,—भगवत्तम, अर्थात् स्वयं भगवद्रूप श्री कृष्णाख्य यह मैं ही 'यज्ञ' हूँ। मुझको जान लेने से ही सब यज्ञों का फल प्राप्त हो जाता है। तभी तो महाभारत में उक्त हुआ है, हे राजन, सर्ववेद, सर्वविद्या, सर्वशास्त्र, सर्व यज्ञ और सर्वाराधना श्रीकृष्ण ही है। जो ब्राह्मण लोग तत्त्वतः इस प्रकार से श्री कृष्ण को जान लेते हैं—उनका ही सर्वयज्ञ सुसमाप्त हुआ समझना चाहिये।

इसलिये उक्त 'यज्ञ' का प्रकृष्ट तात्पर्य यह है कि—

(१) 'यज्ञार्थात्'—अर्थात् श्री कृष्ण की प्रीति के लिये उनके अनुशीलन रूप कर्म अर्थात् शुद्धा भक्ति द्वारा सभी कर्म-बन्धनों से छूटकर जीव परमपद रूप परमानन्द प्राप्त करता है। इसलिये 'यज्ञ' प्रधान समस्त कर्मकाण्ड का आच्छादित और निगूढ़ अर्थ ही है—केवल श्रीकृष्ण और उनकी भक्ति।

(२) उसे प्राप्त न कर पाने तक की अवस्था में, यदि इसका अर्थ अग्निष्टौमादि यज्ञ ही ग्रहण करके, उसी याग यज्ञादि का अनुष्ठान किया जाता है, तो श्रीकृष्ण या श्री कृष्ण भक्ति का संयोग या सम्बन्ध युक्त होकर निष्काम भाव से अनुष्ठित होने से उक्त यज्ञादि कर्म यथोपयुक्त सिद्धिप्रद होते हैं। फिर यह भी समझ लेना चाहिये कि भक्ति सम्बन्धों की अल्पता या अधिकता के अनुसार ही उक्त धर्म

कर्मादि के फल का तारतम्य होता है।

(३) श्रीकृष्ण या श्रीकृष्ण भक्ति के सम्पर्क से अनुष्ठित न होने से कोई भी धर्म या कर्म सिद्ध अर्थात् सुफल नहीं होता।

(४) दूसरे किसी भी कर्म या धर्मादि के सम्बन्ध की अपेक्षा न करके केवल श्रीकृष्ण अनुशीलन-रूपा शुद्ध भक्ति अपने स्वतन्त्र प्रभाव से ही, जीव की सभी अपूर्णता और सर्वाभीष्ट को परमानन्द का अधिकार प्रदान करके परम स्थिरता दान करती है अतएव वेदादि शास्त्र विहित समस्त धर्मकर्म का सार (निचोड़) अर्थ जो शास्त्र द्वारा ही विज्ञापित हुआ है, यह है,—

स कर्ता सर्वधर्माणां भक्तो यस्तव केशव।

स कर्ता सर्व पापानाम् यो न भक्तस्तदाच्युतः॥

धर्मो भवत्य धर्मोऽपि कृतो भक्तैस्तदाच्युतः।

पापं भवति धर्मोऽपि तदाभक्तै कृतो हरेः॥

(श्री हरिभक्ति विलास धृत-११ विः। स्कान्दवाक्य)

इसका अर्थ,—हे केशव! वह व्यक्ति ही सब धर्मों का अनुष्ठाता है, जो तुम्हारा भक्त है, और हे अच्युत, वह व्यक्ति ही सब पापों का अनुष्ठाता है, जो तुमसे भक्तिहीन है, तुम्हारा भक्त नहीं है। हे अच्युत,^१ हे हरे तुम्हारे भक्तों द्वारा अनुष्ठित अधर्म भी धर्म

१. न च्युतः कथञ्चिदपि न भ्रष्टो भवति भक्तो यस्मादिति तत सम्बोधनम्—
हे अच्युति”—टीका। श्रीमत सजातन

अर्थ,—जिसे प्राप्त करके भक्त उस परमपद से च्युत या किचिन्मात्र भी भ्रष्ट नहीं होता? यही विज्ञापित करने के लिये 'हे अच्युत।' कहकर सम्बोधन किया गया है।

है^१ और तुम्हारे अभक्तों का आचरित धर्म भी अधर्म माना जाना है।

इस तरह से कर्म या धर्म सम्बन्धीय विचार द्वारा यही प्रतिपन्न होता है कि—

(१) भक्ति जीव की परम् स्थिति है इसलिये परमधर्म है। भक्ति ही वेदादि सभी शास्त्रों का मुख्य तात्पर्य है।

(२) भक्ति ही दूसरे सभी धर्मों की प्राणस्वरूपनी है। भक्ति सम्बन्ध के संयोग का तारतम्य ही दूसरे सभी धर्मों के उत्कर्षापकर्ष का कारण है।

(३) भक्ति सम्बन्ध वर्जित कोई भी धर्मादि सिद्ध नहीं होते।

(४) दूसरे सभी धर्मों का सम्बन्ध छोड़कर एकमात्र भक्ति का आश्रय ग्रहण करने से ही, अपूर्ण जीव प्रकृष्ट पूर्णता या स्थिरता प्राप्त करके परमानन्द प्राप्त करने में समर्थ होता है। अतएव

भक्ति ही जीव का परमधर्म है।

१. भक्त महिमा की सर्वश्रेष्ठता दिखाने के लिये ऐसा कहा गया है। नहीं तो, भक्तगण अधर्म का आचरण करेंगे और उसकी गिनती धर्म रूप में होगी, इस अभिप्राय से नहीं कहा गया है, क्योंकि निषिद्ध पापाचार में भक्तों की कभी भी प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, यही प्रकृष्ट भक्त का स्वभाव है किन्तु ऐकान्तिक भक्तों द्वारा वर्णाश्रमादि स्वधर्म परित्यक्त होते देखकर (गीता १८।६६), अज्ञातवशतः यदि उसे ही अधर्म) समझा जाय तो वहाँ यही समझना चाहिये कि वही सब अधर्म सब भक्तों के लिये परमधर्म हो जाते हैं। केवल यही नहीं, ऐकान्तिक भक्तों द्वारा परित्यक्त उन्हीं सब कर्मों को सम्पादन करके धन्य होने के लिये तीन कोटि महर्षि अलक्षित भाव से उसकी अपेक्षा में रहते हैं, यथा—
मत्कर्म कुर्वतां पुसां त्रियालोपो भवेदयदि।

तेषाम कर्माणि कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः॥ (श्री हरिभक्तिविल्यस धृत पाद्यम वाक्य १-११७। श्री भागवत में 'देवीर्ष भूताप्त—नृणां—' एव स्वपाद—मूल—' दोनों श्लोक देखना चाहिये। (११।५।४१-४२)

चतुर्थ उद्भाषन

देवता या उपास्य के विचार से श्री कृष्ण का
सर्वदेवत्व परम देवत्व और सर्वेश्वरत्व

श्रीकृष्ण, श्रीकृष्णभक्ति और श्रीकृष्ण भक्त—
सर्वोपरि इन तीनकी विजयवार्ता 'त्रयी' या वेद
का मुख्य तात्पर्य।

ऋक, यजुः, सामाख्य तीन वेद 'त्रयी' नाम से प्रसिद्ध है।^१
'भक्ति', 'भगवान' और श्रीकृष्ण भक्त-मूलतः इन तीन की ही
सर्वोपरि विजयवार्ता समस्त त्रयी के मध्य में पवित्र त्रिधारा की तरह
छिपी हुई है, और उनके द्वारा ही 'त्रयी' नाम की पूर्ण सार्थकता
सम्पादित है।

परस्पर निखच्छिन्न और नित्य सम्बन्ध से उक्त
तीनों ही एक और एक ही तीन।

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता,—इन तीनों का परस्पर निखच्छिन्न
सम्बन्ध होने के कारण जिस प्रकार एक के रहने से दूसरे का रहना
अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है अर्थात् जिस प्रकार ज्ञान रहने
से ही ज्ञेय और ज्ञाता, ज्ञेय रहने से ही ज्ञाता और ज्ञान, ज्ञाता रहने

१. "ध त्रयी धर्म मनु प्रपन्ना—" (गीता ६।२१)

से ही ज्ञेय और ज्ञान का अस्तित्व अवश्यम्भावी है, उसी तरह भक्ति भगवान और भक्त—यह तीनों आपस में अविच्छिन्न सम्बन्ध में बंधे हैं। सबसे पहले त्रिविध महा महिमा के प्रकाश से यह तीनों ही एक और एक ही तीन है। इन में से किसी दो को छोड़कर किसी भी एक की पृथक् सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। जहाँ भक्ति की कथा है। वहाँ ही भगवान और भक्त की कथा है। जहाँ भगवान की कथा है वहाँ ही भक्ति और भक्त की कथा है और जहाँ भक्त की कथा है वहाँ ही भक्ति और भगवान की कथा स्वतः स्फूर्त और नित्य युक्त रूप में रहती है।

तभी तो सर्वभाव से यही सिद्ध होता है कि 'त्रयी' संज्ञक सब वेदों के प्राण केन्द्र से स्रोत (सोता) की तरह-वही एक श्रीकृष्ण (एकमेवाद्वितीयं) 'कृष्ण भक्ति' और 'कृष्ण भक्त'—इस महामहिमा त्रय की त्रिधारा निकलकर सबसे ऊपर सबसे उत्कर्ष के साथ सब वेदों में जययुक्त है।

उक्त स्रोतधारा की एक ही प्रवाह अन्दर अन्दर चलने वाली फलुधारा की तरह बहुत छिपी हुई है और वेदों में परम गुप्त रूप से हृदय के एकान्त कोने में संरक्षित है किन्तु वेद के ही सांकेतिक शब्दों से या उनके स्थूल वाह्यार्थस्वरूप से 'कर्म' 'देवता' और 'ज्ञान' इस त्रिकाण्डात्मक 'त्रयी' रूप से प्रत्येक सृष्टि काल से प्रलय तक प्रकाशित रहती है। वेद में छिपी उक्त निगूढ़ त्रिधारा का ही सम्वाद क्रमशः हम उपलब्धि करने की चेष्टा करेंगे। इन तीनों का सम्मिलित नाम एक शब्द में 'भागवत धर्म' है। बाद में इस विषय को सविस्तार में वर्णन किया जायेगा।

लौकिक अलौकिक सभी ज्ञान के सूर्यस्वरूप और जीव का

परमपुरुषार्थ या मुख्य प्रयोजन और उसका साधन निर्णय करने वाले सभी वेद अनादिकाल से प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ही, सर्वज्ञ और सर्व कारण परम मंगलमय परमेश्वर से निःश्वास की तरह आसानी से प्रगट हुआ करते हैं अपना आविर्भाव सम्वाद श्रुति में स्वयं ही इस प्रकार प्रदान किया है यथा—

“अरेऽस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतदयदृग्वेदो यजुर्वेदः
सामवेदोऽथर्वङ्गिरस इतिहासः पुराणम्॥” इत्यादि।
(बृहदारण्यक २।४।१०)

इसका अर्थ—अरे मैत्रेयि। ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद इतिहास और पुराण आदि पूर्व सिद्ध महतोभूत के अर्थात् विभूरूप इन परमेश्वर के निःश्वास स्वरूप है, जो अवलीला क्रम (आसानी) से उनसे निकले हैं।

**सब वेद किसके निःश्वास से प्रादुर्भूत,—अस्पष्ट
वेद से यह सुस्पष्ट रूप से नहीं जाना जा
सकता—उनके सार रूप गीता और विस्तारार्थ
भागवत की सहायता के बिना।**

अस्पष्ट वेद वाणी की दुर्वोधता किस भाव से उनके सारार्थ श्री गीता और विशदार्थ श्री भागवत से सुस्पष्ट की गयी है। इसके सम्बन्ध में विस्तारित आलोचना के पहिले, सर्वप्रथम उसका ही दृष्टान्त दिग्दर्शन स्वरूप नीचे प्रदर्शित किया जाता है—

उक्त श्रुति में ‘महतोभूतस्य’ कहकर अस्पष्टता के आवरण में वेद ने जिनको निर्देश किया है। उसका सविशेष परिचय सुस्पष्ट रूप से वेद के विशदार्थ श्री भागवत से हम जान सकते हैं,—कौन है वह

‘महतभूतं’—वेद जिनके निःश्वास से हुये हैं प्रदुर्भूत यथा—

सत्रे ममास भगवान्हाशीरषाथो।

साक्षात् स यज्ञ पुरुषस्तपनीय वर्णः।

छन्दोमयो मखमयोऽखिल देवतात्मा

वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतोऽस्य नस्तः॥

(श्री भा० २।७।११)

इसका अर्थ—(श्री ब्रह्मा ने श्री नारद से कहा) वही यज्ञ पुरुष भगवान् हमारे यज्ञ से हाशीर्ष रूप में आविर्भूत हुये थे। जिनकी अंग कान्ति सोना की तरह समुज्ज्वल है जिनके शरीर में वेद और वेदविहित यज्ञ विराजित है और जो यज्ञ में यजनीय देवताओं के अन्तर्यामी—आत्मा है। उन्होंने जिस समय श्वास वायु परित्याग किया था उसी समय उनके नासापुट से कमनीय वेदवाणी का आविर्भाव हुआ था।

उक्त श्री भागवत के प्रकृष्ट दिग्दर्शनी स्वरूप श्री लघुभागवतामृत से हम इस विषय में और भी कुछ जान सकते हैं। यथा—

प्रादुर्भूयैष यज्ञाग्नेर्दानवौ मधुकैटभौ।

हत्वा प्रत्यानयद वेदान पुनर्वागीश्वर पतिः॥

इसका अर्थ—वागश्वरीपति यह हाशीर्षावतार ब्रह्मा की अग्नि से आविर्भूत होकर मधु और कैटभ नामक दोनों दैत्यों का संहार करके उनके द्वारा हरे गये वेद को फिर वापस ले आये।^१ इस दृष्टान्त से यह समझ में आया कि श्री गीता और श्री भागवत के

१. निम्नोक्त भागवतीय श्लोक देखना चाहिये।

‘तस्मै भवान हय शिरेत्यादि’—(भाग० ७।६।३७)

‘वेदान्युगान्ते तमसा इत्यादि’—(भा० ५।१८।६)

सहायता बिना वेद का दुर्वोध अर्थ समझना कठिन है।^१

अवतारी श्रीकृष्ण और उनके सब अवतारों में अंशी और अंशरूप से अभिन्न और एकात्म सम्बन्ध।

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि अवतारी श्रीकृष्ण और उनके निखिल अवतारों में अंशी और अंश सम्बन्ध विशिष्ट है। स्वयंभू रूप^२ या स्वयं भगवान तो है श्रीकृष्ण (कृष्णस्तु भगवान स्वयं" भा० १।३।२८) जो अपने विलास^३ स्वाशांदि^४ अवतारों के अवतारी या अशी हैं। अंशी का ही धर्म अंश में आंशिक रूप

१. वेदगुह्य भागवत धर्म का स्पष्ट तात्पर्य गीता और भागवत में ही प्रकाशित हुआ है यह बात निम्नोक्त प्यार से भी समझ में आ सकती है—यथा महाविष्णुर अंश—अद्वैत गुणधाम। ईश्वरेर अभेदहुइते 'अद्वैत पूर्ण नाम'

पूर्वें जै छे कैल सर्व विश्वेर सृजन। अवतरि कैल एवे भक्ति प्रवर्तन।

२. अनन्यापेक्षी यद्रूपं स्वयं रूपः स उच्चते। (लघु भा० १२)
अर्थ—अन्य रूप की अपेक्षा न करके जिनका रूप प्रगट नहीं होता अर्थात् जो स्वयंसिद्ध है—उनको ही स्वयं रूप कहते हैं।

३. स्वरूपमन्याकारम् यत तस्यभाति विलासः प्रायेणात्मसमंशक्त्या सः विलासो निगद्यते (लघु भा० १५)
अर्थ—स्वयं रूप के लीला विशेष के लिये जो अन्य आकार में प्रकाश है और जो शक्ति प्रकाश में भी प्रायः स्वयं रूप की तरह है उसको विलास कहते हैं।

४. तादृशोऽन्यून शक्तियोऽन्यनक्ति स्वांश ईरिताः (लघु भा० १६)
अर्थ—जो विलास सदृश स्वयंरूप के साथ अभिन्न होकर विलास अपेक्षा अन्यूनशक्ति प्रकाश करते हैं उन्हें स्वांश कहा जाता है।

से, अंश का धर्म अंशी में ही पूर्ण रूप से विद्यमान रहता है। सारे भगवत अवतार 'अवतारी' श्रीकृष्ण के ही 'तदेकात्म रूप' है अर्थात् भिन्नाकार में प्रकाशित होने पर भी स्वरूपतः उनसे एकात्म या अभिन्न है (बहुमूर्त्येक मूर्तिकम।भा० १०।४०।७) इसलिये सभी अवतार उन्हीं एक सर्वमूल सर्वादि सर्वकारण कारण श्रीकृष्ण के ही आंशिक प्रकाशमात्र है। इस लिये सब अवतारों के सभी लीला कार्यरूप में ही जानना चाहिये यह भी जान लेना आवश्यक है कि श्री ह्यशीर्ष अवतार भी स्वयं रूप का ही आंशिक प्रकाश विशेष है। और उनकी लीला कार्यादि स्वयं श्री कृष्ण का ही आंशिक लीला विशेष है। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र कुछ नहीं है।

परमेश्वर से प्रथम प्रादुर्भूत वेद के अस्पष्टता की बात और पश्चात में देव और ऋषियों द्वारा सुसंस्कृत करने की बात वेदों की निजोक्ति से भी जानी जाती है।

परमेश्वर से निःश्वास की तरह प्रादुर्भूत वेद पहिले समुद्र

-
१. यद्रूपं तदमेदेन स्वरूपेन विराजते। आकृत्यादिभिरन्यादृक स तदेकात्मरूपकः। स विलासः स्वांश इति धत्ते भेदद्वयं पुनः॥ (श्री लघु भागवत मृत. से)

अर्थ—जिनका रूप स्वरूपतः स्वयं रूप की तरह प्रकाशित होता है, उनको तदेकात्म रूप कहते हैं। विलास और स्वांश भेद से तदेकात्म रूप दो प्रकार के हैं।

निघोष की तरह ही गम्भीर और अस्पष्ट थे। और उन्हीं परमेश्वर की ही प्रेरणा से परिचालित होकर बाद में उन्हीं वेद को मानव भाषा के उपयोगी करके देवता और ऋषियों ने उनका प्रचार किया। कुछ कुछ इस बात का इंगित भी हम साक्षात् उन्हीं वेद से ही पाते हैं तैत्तिरीय संहिता में उक्त हुआ है,—

“वागवैपवाची अव्याकृता अवदत् । ताम इन्द्रः मध्यतः अवक्रम्य व्याकरोत। तस्मादियँ व्याकृत वाक अभ्युदते॥”

इसका तात्पर्यार्थ—वेद प्रथम अवस्था में अव्याकृता (या समुद्र ध्वनि की तरह अस्पष्ट) थे। बाद में ही वही वेद इन्द्र द्वारा प्रकृति प्रत्यादि विश्लेषण से ससंधित होकर ‘व्याकृता’ भाषा में या वाक्यरूप में परिणत हुए हैं उस समय से व्याकृता वेदवाक्य ऋषियों के मुख से प्रकट हुए हैं।

देवता या ऋषिगण कोई भी वेद के प्रणेता नहीं है—सभी स्मारक मात्र।

परमेश्वर से प्रादुर्भूत सभी वेद इस प्रकार ब्रह्मा-शिव-इन्द्रादि देवता से लेकर ऋषियों तक शिष्य परम्परा से जगत में प्रचारित होते चले आ रहे हैं। इसलिये एक सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परमेश्वर के अतिरिक्त नित्य व सनातन वेदादि शास्त्रों का दूसरा कोई भी ‘स्मारक’ अर्थात् केवल स्मरण कर्ता है। यह भी समझ लेना आवश्यक है तभी तो शास्त्र में भी उक्त हुआ है; यथा—

“शिवाद्या ऋषि पर्यन्ताः स्मर्त्तारोऽस्य न कारकाः।”
(श्रीगोविन्दभाष्यधृत स्मृति वाक्य)

परमेश्वर के अतिरिक्त दूसरे किसी भी पुरुष अर्थात् व्यक्ति विशेष द्वारा यह सब वेद रचे नहीं गये। यही कारण है कि वेद को 'अपौरुषेय' कहा जाता है और वह वेद कर्ता और वेद मय परमेश्वर वही सर्वमूल—सर्वकारण कारण श्रीकृष्ण ही है; यह पहिले हम गीतोक्ति उनके श्रीमुख की, सुस्पष्ट वाणी से भी जान चुके हैं और वही बात ही इस जगह दूसरे शास्त्र वाक्य से भी जानी जा सकेगी। श्रीकृष्ण के सहस्र नाम स्तोत्र में शब्द ब्रह्म रूप वेद के विषय में उनके द्वारा किया हुआ और उनके अभिन्न सम्बन्ध की बात ही नीचे लिखे सभी नामों से भी स्पष्ट ही ध्वनित होती है; यथा—

“अनन्त मन्त्रकोटीश शब्दब्रह्मैक पावकः।

आदि विद्वान वेदकर्ता वेदात्मा श्रुतिसागरः॥”

(श्री नारद पञ्चरात्र ४।३।६५)

**अस्पष्ट सभी वेदों को मनुष्यों के बोधोपयोगी
कुछ सुस्पष्ट किये जाने पर भी उनको फिर
परोक्षवाद में आच्छादित कर दिया गया।**

इस तरह परमेश्वर के निःश्वास तुल्य उस अस्पष्ट वेद ध्वनि को बाद में देवताओं और ऋषियों ने 'व्याकृता' भाषा में अर्थात् वाक्य में परिणत करके उन्हें मनुष्यों के समझने योग्य कर दिया यह बात तो हम समझ गये, किन्तु यह भी पता चलता है कि उक्त प्रकार से वेद भाषा मनुष्यों के लिये कुछ समझने योग्य होने पर भी उसका मुख्य अभिप्राय या यथार्थ अर्थ समझना मनुष्य के लिये सहज नहीं होता है उसका कारण है कि—उन्हीं परमेश्वर की इच्छा और प्रेरणा

द्वारा परिचालित होकर वैदिक ऋषियों ने वेद का मुख्य तात्पर्य आच्छादित करके परोक्षभाव से अस्पष्ट रूप में ही उनका प्रचार किया, यह बात भी वेद जिनके निःश्वास है, उन्हीं साक्षात् परमेश्वर के या श्रीभगवान के वाक्य से ही हम जान सकते हैं; यथा—

वेदाब्रह्मात्म विषयास्त्रिकाण्ड विषया इमे।

परोक्षवादः ऋषियः परोक्षं च मम प्रियम् ॥

(श्री भा० ११।२१।३५)

इसका अर्थ—कर्म, देवता, और ज्ञान यह त्रिकाण्डात्मक सभी वेद ब्रह्म अर्थात् परत्तत्त्व परमेश्वर विषयक होने पर भी ऋषिगण इस विषय में परोक्षवादी हुये हैं; अर्थात् उनका मुख्यार्थ छिपाकर अस्पष्ट रूप में उन्होंने बताया है क्योंकि इस विषय में परोक्ष ही मुझे प्रिय है।

श्रीकृष्ण और तदात्म-धर्म या भागवत धर्म ही सब वेदों की सर्वसार सम्पद होने पर भी परोक्षता के आवरण के कारण वाह्या दृष्टि द्वारा यह समझ में नहीं आता है।

इसलिये स्थिर भाव से सोचने पर इस सुस्पष्ट श्री मुख वाणी से यह समझ में आ सकता है कि—एक श्रीकृष्ण परब्रह्म परमेश्वर ही त्रिकाण्डात्मक सभी वेदों के विषय वस्तु या मुख्य तात्पर्य है। तब जो कर्मकाण्ड में याज्ञ याज्ञादि के विषय को, देवता काण्ड में इन्द्रादि देवताओं के उपासनादि के विषय को छोड़कर उनमें परमेश्वर या भगवत्सम्बन्धीय विषय का सुस्पष्ट कोई भी उल्लेख देखा नहीं जाता

तो उसका कारण यह है कि उस वेद ध्वनि को वेदभाषा में परिणित करके उसके प्रचार के समय, परमेश्वर के ही अभिप्राय या प्रेरणा के वशवर्ती होकर वैदिक ऋषियों ने उसका मुख्यार्थ छिपाकर परोक्षभाव में वर्णन किया है इसलिये पूर्वोक्त 'त्रयी' संज्ञक भागवत धर्म ही सब वेदों का मुख्य तात्पर्य होने पर भी उसका परोक्षवाद में छिपारहने से उन सभी सांकेतिक शब्दों का और 'हियाली' भाषा का निगूढ़ रहस्य समझना बिल्कुल ही कठिन कार्य है। इसलिये केवल स्थूल या बाह्यदृष्टि द्वारा वेद के यथार्थ अर्थ और अभिप्राय उद्घाटन करना एक तरह से असम्भव कहना भी अत्युक्त नहीं है।

यहाँ परोक्षवाद द्वारा वेद के निगूढ़ार्थ के आवरण का और श्री भागवत द्वारा उसके सुस्पष्ट अर्थ के उद्घाटन का एक दृष्टांत प्रदर्शित हो सकता है।

पूर्वोक्त (४६ पृष्ठ में) तस्मादिन्द्रो—

इत्यादि श्रुतिवाक्य में इन्द्रादि देवता वाचक सभी नाम परोक्षवाद में आच्छादित सर्वान्तर्यामी परमेश्वर के ही सांकेतिक नाम हैं। इस विषय में यहाँ तक तो हम समझ सके थे। अब भागवतोक्त "वेदाब्रह्मात्मविषया" इत्यादि श्लोक से उन्हीं परमेश्वर की बात और भी सुस्पष्ट रूप से हमारे समझ में आ सकती है। इसके अतिरिक्त उक्त श्रुति वाक्य में "परोक्षप्रिया इव देवा" अर्थात् "देवता को परोक्षप्रिय हैं" इस देवता शब्द के भीतर जिनको यह परोक्षप्रियता की बात आवृत रखी गयी थी। उक्त भगवतीय श्लोक में "परोक्षंच मम प्रियम" अर्थात् "परोक्षता मुझे प्रिय है" —इस साक्षात् श्री मुख की उक्ति से उन्हीं परोक्षप्रिय देवता का प्रकृष्ट परिचय मिल जाता है। इस तरह से यह समझ में आया कि देवता

शब्द के आवरण में श्रीकृष्ण की ही परोक्षप्रियता की बात छिपाकर रखी गयी है। विशेषतः उक्त जगह इन्द्रादि नाम का सुस्पष्ट उल्लेख होने से इन्द्रादि देवताओं का परोक्षप्रिय होना वैसा सिद्ध नहीं होता जैसा सवन्तिर्यामी बिना नाम लिये श्री कृष्ण के सम्बन्ध में होता है—यह भी स्थिर भाव से समझने का विषय है।

अतएव एक श्रीकृष्ण ही समस्त वेदोक्त समस्त देवता रूप में कल्पित हुये हैं या (२) सभी देवता उनके विभूति स्वरूप होने से उनके अन्तर्यामी—रूप में वही एक सर्वान्तर्यामी और सर्वप्रेरक श्री कृष्ण ही समस्त देवता काण्ड के निर्देश्य वस्तु है। इसकी अधिक सुस्पष्ट रूप से उपलब्धि हम क्रमशः ही कर सकते हैं ।

**साक्षात् वेद वाक्य से भी उक्त परम सत्य का
कहीं तो अल्प कहीं सुस्पष्ट प्रकाश
दिखाई देता है।**

बादलों से घिरे हुये आकाश में चन्द्रमा ढका रहने पर भी तरल या छिन्न मेघ के अवकाश में जैसे कहीं तो अल्प स्पष्ट कहीं उसका सुस्पष्ट प्रकाश दिखाई देता है—उसी तरह परोक्ष घनावृत वेद रूपी आकाश में कृष्णरूपी चन्द्रमा का आच्छादित रहने पर भी विशेष विशेष स्थलों में कहीं अल्प कहीं सुस्पष्ट प्रकाश जो है, वह एक दम ही दिखाई न देता हो, ऐसा भी नहीं है। तभी स्थल विशेष में केवल इन्द्र ही नहीं अग्नि, यम, वसू आदि देवता वाचक नाम सभी जो उसी एक परमात्मा के नाम रूप में कल्पित हुये हैं, दिखाई देते हैं वेद की निजोक्ति से भी यह बात समझ में आ सकती है, यथा—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

(ऋग्वेद अ० २।३।२२)

इसका अर्थ—विप्रगण उसी एक सद वस्तु परमात्मा को अग्नि, यम, मातरिखा आदि नामों से निर्देश किया करते हैं।

इस तरह वही एक परमात्म वस्तु ही देवता वाचक सभी नामों द्वारा सांकेतिक हुये है अथवा उन्हीं देवताओं के अन्तर्यामी रूप में निर्देश्य हुये हैं,^१ यह समझ में आता है कि यहाँ वही बात ही अल्प स्पष्ट रूप में प्रकाशित हुई है।

वेदोक्त वही अस्पष्ट परमात्म वस्तु ही श्री कृष्ण हैं—उसके विशदार्थ श्री भागवत से ही यह बात सुस्पष्ट रूप में विदित हो जायेगी।

कहीं कहीं ढके रूप में कहीं कहीं प्रकाशित उन्हीं एक परमात्म वस्तु का पूर्ण परिचय—वेद का सुस्पष्ट और विशदार्थ श्री भागवत ही हम लोगों को प्रदान करेगी। महाराज परीक्षित के प्रति श्री शुकदेवजी की उक्ति यथा—

कृष्णामेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।

जगद्धितायसोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

(श्री भा० १०।१४।५५)

इसका अर्थ—हे राजन! तुम इन ब्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण को निखिल

१. ये तु सर्वदेवताषु मामेवान्तर्यामीनम् पश्यन्तो यजन्ति ते तु नावर्तन्ते।”
(स्वामिपाद टीका गीता ६।२४)

देहधारियों के आत्मा के भी परमात्मा जानो। वह ऐसा होने पर भी अपनी अचिन्त्य इच्छा और कृपा शक्ति द्वारा इस जगत में देहधारियों की तरह प्रकट होते हैं (वस्तुतः वह प्रकाश कर्माधीन मनुष्यों की तरह का नहीं है। (यह उनकी स्वरूपभूता योगमाया शक्तिकृत है)

और भी विस्तार से कहते हैं,—केवल इतना ही नहीं कि श्रीकृष्ण निखिल जीवात्मा के भी परमात्मा है—वे सभी जड़ वस्तुओं के और स्वांशादि से लेकर तदेकात्म भगवतरूपों तक के परम कारण भी वही है। यह बताने के लिये श्रीकृष्ण के सर्व व्यापकत्व और सर्वकारणत्व के विषय में कहते हैं—

वस्तुतो जानतामय कृष्णं स्थास्तुचरिणु च।

भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्वि किञ्चन॥

(श्री भा० १०।१४।५६)

इसका अर्थ—इस जगत में जो लोग तत्त्वतः श्रीकृष्ण को जान गये हैं, ऐसे विचारज्ञ महानुभावों को स्थावर जंगात्मक निखिल वस्तु के सहित श्री नारायणादि सभी भगवद्रूप श्री कृष्ण के ही अन्तर्भूत प्रतिभात होते हैं यहाँ तक कि उनमें जो वस्तु नहीं है— ऐसी किसीवस्तु की सत्ता ही नहीं है।

सर्वेषामपि वस्तुनाम् भावार्थो भवति स्थितः।

तस्यापि भगवान्कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥

(श्री भा० १०।१४।५७)

इसका अर्थ—हे राजन स्थावर जंगम अथवा प्राकृता प्राकृत निखिल वस्तु की सत्ता या अस्तित्व उनके सत्ताश्रय उपादान कारण में अवस्थित है। उन्हीं सब कारणों के भी कारण सर्वशक्तिमान—

भगवान् श्रीकृष्ण है। अतएव श्रीकृष्ण के अतिरिक्त वस्तु क्या है यह निरूपण करो अर्थात् कुछ भी नहीं है यही जानो

वेदोक्त सभी देवता परव्योमाधीश किसी एक देवता के आश्रित है—श्रुति में भी इस बात का सुस्पष्ट उल्लेख है।

वेदोक्त सभी देवता किसी एक परव्योमाधीश परम देवता में प्रतिष्ठित या उनके आश्रित रहते हैं, यह बात स्पष्ट भाव से किंचित अस्पष्टता के आवरण में श्रुति में स्वयं ही व्यक्त है—

ऋचो अक्षरे परमेव्योनम् ।^१

यस्मिन् देवा अधिविश्वेनिषेदुः

यस्तन्त्र वेद कि मृचा करिष्यति।

य इत्तुद्विदुस्त इमे समासते॥ (श्वेताश्वेतर ४।८)

इसका अर्थ—सभी देवता ऋकादि चतुर्वेद प्रति पाद्य सर्वव्यापक परमव्योमाधीश अच्युत वस्तु या परमेश्वर को आश्रय, करके अवस्थित रहते हैं। उन्हें जो जानते नहीं वह ऋकमन्त्रादिद्वारा क्या करेंगे? अर्थात् उनकी वेदविद्या लाभ की कुछ भी सार्थकता नहीं है। जो लोग उन्हें जानते हैं, वही कृतार्थ हैं।

इसलिये केवल वेद के वाह्यार्थ ग्राह्य देवता ही देवता काण्ड के मुख्य तात्पर्य नहीं है। यह बात कि सभी देवता किसी एक परम

१. परव्योमन—परमव्योमाभिधे महावैकुण्ठे कीदृशे? अक्षरे नित्य रूपे”
(श्री जीवक्रम सन्दर्भ १०।१३।२७)

देवता या परमेश्वर के ही आश्रित है अन्ततः उक्त श्रुति के निर्देश से स्पष्ट समझ में आती है किन्तु सभी देवताओं के आश्रय स्वरूप वह परम देवता कौन है? यही यहाँ पर अस्पष्ट रखा गया है।

श्रुति विशेष में सुस्पष्ट रूप से ही श्रीकृष्ण को वही परम देवता कहकर निर्देश किया गया है।

उक्त प्रकार से तरल बादल से ढके चन्द्रमा की तरह किंचित स्पष्ट रूप में उन्हीं परम देवता को निर्देश करके फिर स्थल विशेष में छिन्न मेघ के अवकाश में चन्द्रमा के सुस्पष्ट प्रकाश की तरह अति सुस्पष्ट रूप में भी उनको प्रकाश किया गया है—यह भी श्रुति में देखा जाता है, यथा—

“तस्मात् कृष्ण एव परोदेवः। तम् ध्यायेत

तम् रसेत तम् भजेत तम् यजेत इति।

(श्री गोपाल तापनी पूर्व ५४)

इसका अर्थ—अतएव श्री कृष्ण ही परम देवता है। उनका ध्यान अर्थात् स्मरण करना चाहिए, उनका कीर्तन या उनका माधुर्य आस्वादन करना चाहिये अर्थात् व्यजनादि द्वारा सेवा करनी चाहिए पाद्यर्थादि द्वारा उनका अर्चन करना चाहिए।

इस तरह से इस विषय की केवल दिकदर्शनार्थ यहाँ तक संक्षेप में जो कुछ आलोचना की गई है, उससे वेदादि का मुख्य अभिप्राय जो एकमात्र सर्वमूल सर्वकारण श्री कृष्ण ही हैं।—यह सर्वभाव से प्रतिपादित हो गया है।

श्रीकृष्ण परोक्षप्रिय होने के कारण सभी श्रुतियों ने प्रायशः स्वरूप लक्षण से निर्देश न करके किंचित आवरण पूर्वक तटस्थ लक्षण से अर्थात् केवल कार्य द्वारा उनका परिचय दिया है।

तभी तो देखा जाता है कि वेद और वेदशिर सभी श्रुतियों ने दुर्बोधता के और उसके ऊपर परोक्षता के दुर्भेद्य आवरण में ढककर भी—उन्हीं एक सर्वात्मक सर्वमूल श्रीकृष्ण को स्थल विशेष में कुछ सुस्पष्ट रूप में व्यक्त कर दिया है फिर उन्हीं परोक्षप्रिय देवता के प्रसन्नता के लिये उस सुस्पष्टता को भी अल्प अस्पष्ट करके एवं अनेक जगहों में उनके भाव में विभोर सभी श्रुतियाँ उनके ही जयगान में मुखरित हुई है, यथा—

त्वमीश्वाराणां परम् महेश्वरं

तम् देवतानां परमंच दैवतम् ।

पति पतीनाम् परमं परस्ताद

विदाम देवं भुवनेशमीज्यम्॥

(श्वेताश्व० उ० ६।७)

इसका अर्थ—उन्हीं देव को हम ईश्वरों के परम महेश्वर, देवताओं के भी परम देवता प्रभुओं के भी प्रभु, श्रेष्ठ से भी परम श्रेष्ठ स्तवनीय भुवनेश्वर जानते हैं।^१

वही ईश्वरों के परम महेश्वर और देवताओं के परम देवता

१. इस स्तुति के परवर्ती सभी श्लोक भक्तों के देखने व आस्वादन के योग्य है।

परोक्षप्रिय है, तभी तो उक्त वन्दना के श्लोक में स्वरूप लक्षण से स्पष्टतः नाम रूपादि का उल्लेख नहीं किया। केवल विशेषण से ही सविशेष का वर्णन किया गया है किन्तु देखा जाता है कि परवर्ती एक श्लोक में तटस्थ लक्षण से अर्थात् कार्यद्वारा उनका सुस्पष्ट परिचय प्रदान किया गया है, यथा—

यो ब्रह्मणं विदधाति पूर्वं
 यो वै वेदाश्च प्रहिनोति तस्मै।
 तम् ह देवमात्म बुद्धि प्रकाशम्
 मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

(श्वेताश्व० उ० ६।१८)

इसका अर्थ—जो लोक सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के जन्मदाता है और जो उन्हीं ब्रह्मा को सब वेदों का उपदेश करते हैं। उन्हीं आत्म बुद्धि प्रकाश देव को मैं (संसार पाश) मुक्ति के लिये आश्रय करता हूँ।

इस तरह उक्त श्रुति के निर्देश से तटस्थ लक्षण से अर्थात् कार्य द्वारा परिचय से यह जाना जाता है कि वही उन देवताओं के परम देवता है जिन्होंने ब्रह्मा को जन्म दिया है और वेदोपदेश किया है। अब यह देखना चाहिए कि कौन ब्रह्मा के सृष्टा और वेदोपदेष्टा है। यह अवगत होने से ही स्वरूप लक्षण से भी उनका सुस्पष्ट परिचय समझ में आ जायेगा।

-
१. स्वरूप लक्षण आर तटस्थ लक्षण, एई दुई लक्षणे वस्तुजाने मुनिगण आकृति प्रकृति एई स्वरूपलक्षण, कार्य द्वाराय ज्ञान एई तटस्थ लक्षण
 (श्री चै० २।२०)

अनावृत वेद स्वरूप श्री भागवत द्वारा उनके सुस्पष्ट स्वरूप लक्षण से निर्देश।

वेद के विस्तारार्थ श्री भागवत ने ही हम लोगों को वही परिचय स्पष्ट रूप में प्रदान किया है। श्री भागवत से हम यह समझ सकते हैं कि सर्वावतारी स्वयं रूप परत्तत्त्व या स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ही लोक सृष्टि की इच्छा से पहिले अपना ही त्रिविध पुरुषावतार रूप^१ प्रगट करते हैं। उनमें से जो ब्रह्माण्ड के अर्थात् हिरण्यगर्भ के अन्तर्यामी हैं, उन्हीं प्रद्युम्नाख्य द्वितीय पुरुषावतार के नाभिकमल से ब्रह्मा का जन्म होता है—यथा

यस्यभ्रसि शयानस्य योगनिन्द्रां वितन्वतः।

नाभि हृदाम्बुजादासीद ब्रह्म विश्वसृजां पति॥

(श्री भा० १।३।२)

१. 'जगृहे पुरुषं रूपं भगवान्'—इत्यादि भा० १।३।१। विष्णोस्तु त्रीणि रूपानि पुरुषाख्यान्यथो विदुः। एकन्तु महतः सृष्ट्र द्वितीयं न्वण्डसंस्थितम्। तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा' विमुच्यते॥

(लघु भागवतामृतः धृतः (सात्वततन्त्र वाक्य)

टीका—विष्णोरिति—स्वरूपस्येव्यथः। एक महतः सृष्ट्र प्रकृतेरन्तर्यामी संकर्षण रूपं द्वितीयं—चतुर्मुखस्यान्तर्यामी प्रद्युम्न रूपं, तृतीयं सर्वजीवन्तर्यामी अनिरुद्धरूपम् (श्री बल्देव)

अर्थ—विष्णु अर्थात् स्वयं रूप श्रीकृष्णके पुरुष नामक तीन रूप शास्त्र में कहे गये हैं। उनमें से जो महत्तत्त्व के सृष्टा-प्रकृति के अन्तर्यामी हैं उनको जीव अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के अन्तर्यामी हैं उनको प्रद्युम्नावतार या द्वितीय पुरुष कहते हैं। जो सब भूतों के अर्थात् व्यष्टि जीवों के अन्तर्यामी हैं उनको अनिरुद्धावतार या तृतीय पुरुष कहते हैं। इन तीनों को जान लेने से संसार से विमुक्ति हो जाती है।

इसका अर्थ—वही द्वितीय पुरुषाख्य भगवान योगनिद्रा विस्तार कर जल में शयन (विश्राम) करते हैं, जिनके नाभि कमल से स्थूल विश्व के सृष्टा ब्रह्मा का आविर्भाव हुआ था। पहले हाशीर्षावतार के प्रसंग में कहा जा चुका है कि अवतारी श्रीकृष्ण में और उनके सभी अवतारों में अभिन्नता या एकात्मकता के कारण विलास एवं अंशावतारों के सभी कार्य अंशी श्री कृष्ण के ही आंशिक कार्यरूप में ही जानना चाहिए इसलिये मूलतः श्रीकृष्ण से ही ब्रह्मा का जन्म समझना चाहिए श्री उद्धव के प्रति श्री कृष्ण के निज वाक्य से भी यह समझ में आ सकता है, यथा—

पुरा मया प्रोक्तमजाय नाम्ये

पद्मे निषण्णाय ममादि सर्गे।

ज्ञानं परं मन्महिभावमासं

यत्सुरयो भागवतं वदन्ति॥

(श्री भा० ३।४।१३)

इसका अर्थ—सृष्टि के आरम्भ में मेरी नाभि कमल से प्रादुर्भूत ब्रह्मा को मैंने अपनी महिमा अर्थात् लीलादि व्यंजक परम ज्ञान का उपदेश दिया था जिसे साधुजन 'भागवत' कहकर कीर्तन करते हैं।

श्रीकृष्ण ही ब्रह्मा के सृष्टा व उपदेष्टा।

इस तरह से देखा जाता है कि केवल तटस्थ लक्षण अर्थात् कार्य द्वारा परिचय से श्रुति ने जिनको ब्रह्मा का सृष्टा और उनका उपदेष्टा बताकर निर्देश किया है श्री भागवत से हम उनको ही स्वरूप लक्षण से अब सुस्पष्ट जान गये कि वह श्री कृष्ण ही हैं ब्रह्मा के सृष्टा और वेदोपदेष्टा।

वेद और भागवत की एकार्थ वाचकता।

पूर्वोक्त परिचय के सम्बन्ध में कुछ भी संशय न रहने पर भी इस जगह दूसरा एक संशय हो सकता है कि यह तो प्रमाणित हो गया है कि श्रीकृष्ण ही ब्रह्मा के सृष्टा है किन्तु उन्होंने जो ब्रह्मा को उपदेश किया उसे 'वेद' नाम से न उल्लेख कर साधूजन 'भागवत' कहकर कीर्तन करते हैं। इस उक्ति से इस विषय में कि श्री कृष्ण ही ब्रह्मा के वेदोपदेष्टा है संशय रह जाता है कि नहीं?

इसके उत्तर में यह कहना है कि उसी भागवत में ही दूसरी जगह श्री उद्धव के प्रति श्रीकृष्ण की निजोक्ति से ही उक्त संशय बिल्कुल मिट जायेगा। उनके वाक्य से हम यह समझ सकेंगे। कि उन्होंने ही सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को वेदोपदेश किया है।^१ यथा—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।

मयादौ ब्रह्माणे प्रोक्ता धर्मोऽयस्या मदात्मकः॥

(श्री भा० ११।१४।३)

इसका अर्थ—मदात्मकः अर्थात् मन मुझ में अविष्ट हो ऐसा मत्विषयक धर्म (अर्थात्) ह्लादिनी सार भूता भक्ति या भागवत धर्म जिसका मैंने आदि (ब्रह्म कल्प) में ब्रह्मा को उपदेश किया था; वेद नामक वही वाणी काल—क्रम से लुप्त और प्रलय में विलुप्त हो जाती है।

-
१. श्री भागवत के मंगलाचरण श्लोक में भी (१।१।१) 'तेने ब्रह्म हृदा च आदिकवये—' अर्थात् यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ 'वेद' है। आदि कवि ब्रह्मा के हृदय में जो वेद विस्तार करते हैं—इससे भी यही विदित होता है कि श्रीकृष्ण ही ब्रह्मा के वेदोपदेष्टा हैं

परोक्षवाद में आच्छादित भागवत ही 'वेद' और अनाच्छादित वेद ही 'भागवत' नाम से कथित होते हैं।

इस तरह से उसके द्वारा उक्त संशय मिट जाता है और उसके साथ हम कुछ और भी जान सके हैं कि इस जगह 'वेद' और 'भागवत' शब्द एकार्थ वाचक रूप में ही दिखाई देते हैं थोड़ा स्थिर भाव से समझने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि श्रीकृष्ण ने आदि में ब्रह्मा को जो उपदेश किया है, वह उनके द्वारा स्पष्टतः 'वेद' नाम से ही ('वाणीयं वेद संज्ञिता') उल्लेख किया गया है; फिर स्पष्टतः इसका भी उल्लेख देखा जाता है कि ब्रह्मा को उपदिष्ट उसी वाणी को ही साधूजन 'भागवत' नाम से कीर्तन करते हैं ('यत् सरयो भागवतं वदन्ति') इस तरह से 'वेद' और 'भागवत' शब्द की एकार्थ वाचकता द्वारा दोनों की अभिन्नता ही यहाँ स्वतः प्रमाणित हो जाती है।^१

विशेषतः पूर्वोक्त 'ब्रह्माणं विदधति पूर्व-(श्वेताश्व. १०।६।१८) इत्यादि श्रुति वाक्य का पूर्ण अर्थस्वरूप ठीक अनुरूप श्रुति वाक्य द्वारा और उसके अतिरिक्त उससे स्पष्टतः 'कृष्णः' शब्द के उल्लेख द्वारा यह बात जिस तरह संशय को दूर करके श्रुति से ही प्रमाणित हो जाती है कि श्री कृष्ण ही ब्रह्मा के वेदोपदेष्टा है, उसी तरह 'यौ वै विद्यास्तस्मै गाययति स्म'—अर्थात् जिन्होंने गोपाल

१. श्री भागवत सर्ववेद स्वरूप है इसलिये वेद से अभिन्न है। यह बात भागवत में अन्यत्र भी उक्त हुई है यथा—

इदं भागवतं पुराणं ब्रह्म सम्मितम्।' (भा० १।३।४० व २।१।८)

अर्थ—भागवत नामक यह पुराण सर्व वेद स्वरूप है।

विद्यात्मक वेद (अर्थात् श्रीकृष्ण लीला तत्त्वात्मक भागवत)^१ ब्रह्मा को उपदेश किया है, इस उक्ति द्वारा यह देखा जायेगा कि वेद और भागवत की अभिन्नता का संवाद इस रूप में साक्षात् श्रुति द्वारा ही प्रचारित हुआ है यथा—

यो ब्रह्माणं विदधति पूर्वं

यो वै विद्यास्तस्मै गाययति स्म कृष्णः।

तमं ह देवमात्मबुद्धि प्रकाशं

मुमुक्षुर्वै शरणममुं प्रपद्ये॥ (श्री गो० उ० पू० २६)

इसका अर्थ—जिन श्री कृष्ण ने सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को सृजन किया है और जिन्होंने ब्रह्मा को गोपाल विद्यात्मक (अर्थात् श्री कृष्ण तत्त्वात्मक) सभी वेदों का उपदेश किया है। उन्हीं आत्म बुद्धि प्रकाशक देव की मुमुक्षु व्यक्तिगणों को शरण ग्रहण करना चाहिए।

इसलिये अब कम से कम इस बात के कहने में कोई बाधा नहीं रह जाती है कि अस्पष्टता और परोक्षवाद द्वारा ढका 'भागवत धर्म' ही वेद नाम से और सुस्पष्ट और अनावृत 'भागवत धर्म' ही भागवत नाम से कीर्तित है अतएव दोनों उक्त विशिष्टता के साथ एकार्थवाचक ही है। यह बात और भी स्पष्टरूप में कहने के लिये यहाँ कहा जा सकता है कि अनाच्छादित भागवत धर्म ही 'भागवत'

-
१. श्री शुकदेव के मुखपद्म से निकली श्री कृष्णकथात्मक श्री भागवत को श्री गोपालदेव की कथा के नाम से श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद ने अपनी वृ० भागवतामृत की टीका में (१।१।१७) उल्लेख किया है—
यथा—

श्रुताया श्री शुकदेवमुखपद्मादाकीर्णताया गोविंदस्य श्री गोपाल देवस्य कथाया।—इत्यादि

नाम से कथित है। वेद और भागवत में यही वैशिष्ट्य है। यह बात विशेष भाव से स्मरण रहने से बाद में इसकी विस्तारित आलोचना के समय यह विषय और भी अधिक सुस्पष्ट रूप से हम समझ सकेंगे।

सृष्टि के आदि में स्वयं श्री भगवान् द्वारा श्री ब्रह्मा को वेदोपदेश की बात तो स्पष्ट ही विदित हो गई है। फिर भागवत में—इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतो दितम् (२, ७, ५१) इत्यादि श्लोक में ब्रह्मा ने भी श्री नारद से कहा है,—हे नारद! तुम्हें मैंने जो उपदेश किया है, उसका नाम भागवत है। इसे श्री भगवान् ने पहले मुझे उपदेश किया था। दूसरी जगह श्री सूत मुनि की उक्ति से भी यही बात जानी जाती है,—यथा

प्राह भागवतं पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।

ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं ब्रह्म कला उपागते॥

(भा० २, ८, २७)

अर्थात् सृष्टि के आदि में ब्रह्मा से सर्ववेद स्वरूप 'भागवत' नामक पुराण—जिसे श्री भगवान् ने कहा है—इत्यादि

अतएव श्री कृष्ण ही जो आदि देव ब्रह्मा के भी सृष्टा और वेदोपदेष्टा गुरु हैं इसलिये यही सब तरह से प्रतिपन्न होता है कि वही वह वेदोक्त परम् देवता है।

वेदादि सभी शास्त्रों में 'विष्णु' शब्द से श्रीकृष्ण को ही निर्देश।

श्री भागवत जिस तरह से वेद का ही विस्तार और सुस्पष्ट अर्थ है इसलिये वेद से अभिन्न है। उसी तरह गीता भी वेद का सारार्थ

है। यह बात पहले आलोचित हो चुकी है। शास्त्र में भी गीता को चारों वेदों का सारार्थ घोषित होते देखा जाता है—यथा

चतुर्णामेन वेदानां सारमुद्धृत्य विष्णुना।

त्रैलोक्यस्योपकाराय गीता शास्त्रं प्रकशितम्॥

इसका अर्थ,—चारों वेदों का सारार्थ श्री विष्णु द्वारा उद्धृत होकर, त्रिलोक के उपकार के लिये गीता-शास्त्र रूप में प्रकाश किया गया है।

उक्त शास्त्र वाक्य से गीता को जिस तरह सब वेदों का सारार्थ—इसलिये वेदों से अभिन्न माना जाता है, उसी तरह उसके साथ 'विष्णुना' इस उक्ति द्वारा यह भी प्रतिपादित होता है कि समस्त वेदादि शास्त्र में 'विष्णु' नाम से जो कीर्तित हुये हैं।^१ वह गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण ही वही विष्णु है।

परोक्षप्रिय होने के कारण ('परोक्षञ्च मम प्रियम्') (भा० ११।२१।३५) श्री कृष्ण को वेद में छिपाकर रखने पर भी वही

१. वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।

आदावन्ते च मध्ये च विष्णु सर्वत्र गीयते॥ (श्री हरिवंश)

अर्थ—वेद में रामायण में पुराण में और महाभारतादि शास्त्र में आदि मध्य और अन्त में सर्वश्री श्री विष्णु ही कीर्तित हुये हैं।

सिद्धान्ते पुनरेक एव भगवान् विष्णु समस्तागम व्यापारेषु विवेचन व्यक्तिक-रम् नीतेषु निश्चीयते। (पाञ्चे उत्तर खड ६२/३१)

अर्थ—सभी आगमादि शास्त्रों का पूर्णरूप से विचार करने से यह सिद्धान्त मालुम होता है कि एक भगवान् विष्णु ही प्रधान या परतत्त्व रूप में निश्चित हुये हैं।

‘विष्णु’ नाम से सभी वेद और उपनिषदादि शास्त्रों में कहे गये हैं।^१

श्रीकृष्ण ही विष्णु या सर्व व्यापक परमदेवता है,
इसलिये वेदादि शास्त्र में विष्णु का ही प्राधान्य
कीर्तित हुआ है।

सब देवताओं में विष्णु का प्राधान्य? साक्षात् वेद से भी विदित हो जाता है, यथा—अग्निर्वै देवानामब्रह्मः विष्णुः परमः तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता। (ऋग्वेद। ऐतरेय ब्राह्मण १।२।१)

इसका अर्थ—अग्नि देवताओं में प्रथम (अर्थात् हम लोगों के निकटवर्ती) और विष्णु परम अर्थात् सर्वोत्तम है। दूसरे देवताओं को इन दोनों के मध्यवर्ती अर्थात् मध्यम जानना चाहिये।

केवल यही नहीं कि विष्णु सब देवताओं में परम या सर्वश्रेष्ठ है यहाँ तक कि सभी देवता उन्हीं एक विष्णु के मूर्ति विशेष है या विभूति है—विष्णु को ही समस्त देवता बताकर स्पष्टतः उल्लेख द्वारा और भी उक्त शास्त्र से यही बात ही प्रमाणित होती है यथा—विष्णु सर्वा देवताः। (ऐ १।१।४) अर्थ—एक विष्णु ही समस्त देवता है।^२

१. ऋग्वेद में—सभी विष्णु सूक्त में विष्णु की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में उक्त हुआ है (१।१५४ सूक्त से) और ‘तद विष्णो परमं पदं’ इत्यादि विष्णु के सर्वश्रेष्ठता विषयक प्रसिद्ध मन्त्र प्रायः सभी वेदों में और ब्रह्म के उपनिषादि में देखे जाते हैं।
२. शतपथ ब्राह्मण में उक्त हुआ है—तत् विष्णुः प्रथमः प्राप, स देवनानां श्रेष्ठोऽभवत्। तस्मादाहुः विष्णुर्देवानां श्रेष्ठ इति (१४।१।१।५)
३. एकस्य आत्मनः अन्ये देवा प्रत्यंगानि भवन्ति (निरुक्त ७।४)
अर्थ—एक अद्वितीय परमात्मा विष्णु के प्रत्यंग स्वरूप अन्यान्य देवता हैं।

(अर्थात् सर्व देवमयो हरिः। भा० ११/२३/२४)

वेदादि शास्त्र वर्णित 'विष्णु परोक्ष प्रिय श्रीकृष्ण का ही सांकेतिक नाम है।—वेद के विस्तारार्थ श्री भागवत ने यह बात सुस्पष्ट रूप में विदित कर दी है।

यह बात पहले बहुत शास्त्र प्रमाण द्वारा बताई जा चुकी है कि श्री कृष्ण ही विष्णु है। अब वेद के विस्तारार्थ श्री भगवत से उन्हीं विष्णु का पूर्ण परिचय हम जान सकेंगे;—यथा

‘विक्रीडितं ब्रजवधूमिरिदं च विष्णोः’

(श्री भा० १०/३३/४०)

अर्थात्—ब्रजवधू या गोपियों के साथ विष्णु का रासलीला रूप विशिष्ट लीला के श्रवणादि की माहिना के विषय में कहा है

इस जगह विष्णु को विशेष भाव से परिचित कराने के लिये कहा है कि जो ब्रज गोपियों के साथ विष्णु की रास क्रीड़ा रूप विशिष्ट लीला करने वाले है अर्थात् श्री कृष्ण को ही स्पष्टतः ‘विष्णु’ शब्द से निर्देश किया गया है और यही सुस्पष्ट किया गया है कि श्री कृष्ण ही विष्णु हैं।^१

-
१. श्री कृष्ण को ‘विष्णु’ नाम से भागवत में और भी जगह उल्लेख किया है। ऐसा देखा जाता है। (भा० १०/५८/२०) और १२/२/२६), १४५ पृष्ठ में^१ नः श्री पाद टीका में—त्रिविध पुरुषावतार में विष्णु के विशेष परिचय के सम्बन्ध में और कृष्ण ही सभी पुरुषावतार के भी अवतार हैं इसलिये वही मूल या आदि विष्णु हैं (भा० १०/३/२४) दृष्टव्य

श्रीकृष्ण ही है—सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक विष्णु तत्त्व के लीलायित और सुस्पष्ट समूर्त स्वरूप।

जो सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक है—वही 'विष्णु' नाम से वेद में गाये गये हैं। श्री भागवत में 'गोपीनाम तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्। योऽन्तश्चरित-इत्यादि श्लोक में (१०/३३/३५) अर्थात् जो गोपवधुओं के व उनके पतियों के और निखिल जीव व जगत के अन्तर्यामी रूप से विचरण करते हैं, इत्यादि वाक्य में श्री कृष्ण को जिस तरह तत्त्वतः सर्वान्तर्यामी रूप में ही घोषित किया गया है, उसी तरह फिर लीला में भी उनका सर्वव्यापकता लक्षण उसी भागवत से ही सुस्पष्ट रूप में प्रदर्शित हुआ है।—यथा

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डल मण्डिता।

योगश्वरेणकृष्णेन तासो मध्ये द्वयोर्द्वयो।

प्रविष्टेन ग्रहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥

(भा० १०।३३।३)

इसका अर्थ—इस तरह गोपीमण्डल मण्डित रासोत्सव आरम्भ होने पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने (एक ही शरीर से) दो दो गोपियों के बीच में प्रविष्ट होकर उनके गले में हाथ डाल दिया। तब हर गोपी ने यही समझा कि श्री कृष्ण केवल मेरे ही निकट अवस्थान करते हैं।

एक देशवर्ती होकर भी जो एक ही समय में सर्वत्र अवस्थान करते हैं। उनको ही सर्वव्यापक या 'विष्णु' कहा जाता है इस लीला में वही व्यापकता लक्षण प्रदर्शित हुआ है।

श्रुति में परमात्मा द्वारा आलिंगन सुख की बात
जो अस्पष्ट भाव से उक्त हुई है श्री भागवत
वर्णित रासलीला में उसके ही सुस्पष्ट समूर्त अर्थ
की अभिव्यक्ति।

उन्हीं सर्वान्तर्यामी परमात्मा द्वारा आलिंगित होने के परम
सौभाग्य और आनन्द की बात भी साक्षात् श्रुति से भी जानी
जाती है—

तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिषृक्तो।

न बाह्यं किञ्चन वेदनान्तरमेवमेवायम्

पुरुष प्राज्ञेनात्मना सम्परिषृक्तो

न बाह्यं किञ्चन वेदनान्तरम्॥

(वृहदा० ३४।३।२१)

इसका अर्थ—जिस तरह लोग प्रियतमा रमणी द्वारा
आलिंगन होने से बाह्य और भीतर कुछ भी अनुभव नहीं करते।
उसी तरह जीव प्राज्ञ परमात्मा (अर्थात् अन्तर्यामी) द्वारा
आलिंगन होने से क्या बाहर क्या भीतर इसका कुछ भी ज्ञान नहीं
रह जाता है।

परमात्मा विष्णु—द्वारा यह आलिंगन सुख परमात्मा की
परमावस्था एकमात्र श्रीकृष्ण द्वारा ही पूर्णरूप और परिपूर्ण रूप में
साधित होता है। श्रुति द्वारा उक्त परमात्मा के अस्पष्ट इंगित का ही
सुस्पष्ट अर्थ पूर्वोक्त भगवतीय श्लोक (१०।३३।३) से हमें मालुम
हो सकता है।

परमात्मा के आलिंगन सुख की पूर्ण अनुभूति—
 भक्तों का ही प्राप्य विषय है। और परिपूर्ण
 अनुभूति ब्रज के रागात्मिका और उनके अनुगत
 भक्तों को ही होती है यह दूषण नहीं है बल्कि
 उसे अनिवर्चनीय भाग्य सापेक्ष जीवात्मा के लिये
 परम भूषण स्वरूप ही जानना चाहिये।

सर्वान्तर्यामी परमात्मा द्वारा सभी जीव सर्वदा भीतर में
 आलिंगित रहते हैं बहिर्मुखता प्राप्त साधारण जीवों के लिये यह
 उपलब्धि का विषय न होने के कारण ही उसका आनन्द का अनुभव
 उन्हें नहीं होता है किन्तु अन्तर्मुखता प्राप्त योगियों को हृदय में उनका
 साक्षात्कार होने से परमात्मा द्वारा वही आलिंगन सुख आत्मानन्द
 के रूप में उनके हृदय में अनुभव होता है परन्तु बाहर उसकी उपलब्धि
 नहीं होती। केवल भक्ति द्वारा ही उन्हीं परमात्मा का भगवद्रूप पूर्ण
 प्रकाश भक्तों का ही प्रत्यक्ष अनुभव का विषय हुआ करता है।

फिर भक्तों में सर्वोत्तम भक्ति का अधिकार जिन्हें प्राप्त हो गया
 है विशेषतः ब्रज रमागण और उनके अनुगत मधुर रस के उपासक
 भक्तगण ही उन्हीं परमात्मा की परमावस्था—श्री कृष्ण द्वारा केवल
 अपने भीतर ही नहीं, बाहर भी अपने को दृढ़ भाव से आलिंगित
 अनुभव कर अतिभाग्य लाभ कर के उसी परमानन्द की अधिकता
 से भीतर बाहर कुछ भी अनुभव नहीं करते हैं। अतएव सभी जीव
 जिनके द्वारा नित्य भीतर में आलिंगित है। उन्हीं के द्वारा बाहर भी

आलिंगित होने में क्या दोष हो सकता है? यह दूषण नहीं है, इसे तो जीव के अति भाग्य सापेक्ष भूषण रूप में जानना चाहिये।

**जो वेदोक्त समस्त देवताकाण्ड का निगूढ़ मर्म
और सारार्थ है—उन्हीं परम देवता—
स्वयं श्रीभगवत् द्वारा गीता में यह बात उनके
श्रीमुख से प्रकाश।**

विशेषतः समस्त वेद के सारार्थ उसी गीता में साक्षात् उन्हीं श्री भगवान् के श्री मुख की वाणी द्वारा ही वेदोक्त समस्त देवताकाण्ड का निगूढ़ रहस्य और पूर्ण तात्पर्य जगत के सामने उदघटित होते देखा जाता है जिससे हमें वेद का उक्त अभिप्राय सुस्पष्ट रूप से विदित हो जाता है।

देवताकाण्ड में यज्ञ के भोक्ता के रूप इन्द्रादि सारे देवता का नाम बाह्य रूप में है वास्तव में वही एक सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण ही सर्वयज्ञ के भोक्ता और फलदाता हैं—यह बात वेदके सारार्थ श्री गीता से उन्हीं साक्षात् श्री भगवान् की निजोक्ति द्वारा प्रकाश में

१. सर्वान्तर्यामिनो भगवतो ने केहपि परे इत्याह—‘गोपीनर्मिति’—
योऽन्तश्चरति तस्य वहिरालिङ्गनं को दोष इति भावः

(टीका विश्वनाथ (भा० १०।३३।३५)

अर्थ—सर्व अन्तर्यामी भगवान् के लिये कोई भी पराया नहीं है, यही ‘गोपीनां’ इत्यादि (भा० १०।३३।३५) श्लोक में व्यक्त किया गया है। जो सर्वदा सबके हृदय में विराजित है उनके द्वारा बाहर आलिंगन में क्या दोष है अर्थात् कुछ भी दोष नहीं है (यही दिखाया गया है)

आती है।

अहं हि सर्वयज्ञानम् भोक्ता च प्रभुरेव च । (६।२४)

अर्थात्—मैं ही सर्वयज्ञों का भोक्ता और फलदाता हूँ। इसलिये वेदोक्त यज्ञभोक्ता देवताओं के निगूढ़ अर्थ जब श्रीकृष्ण ही हैं तब देवता काण्ड का मुख्य तात्पर्य “जो उन्हीं में पर्यवसित है” यह अब स्पष्ट ही समझ में आ जाता है।

इसलिये देखा जाता है, वेद के विस्तारार्थ—श्री भागवत में भी सर्वज्ञ के भोक्ता अर्थात् यथार्थ यज्ञभोक्ता जो है—उन्हीं का पूर्ण परिचय आकार प्रकार विशिष्ट स्वरूप लक्षण के द्वारा अति सुन्दर और सुस्पष्ट रूप से निम्नश्लोक में वर्णन हुआ है, यथा—

विभ्रदेनम् जठरपटयोः श्रंगवेत्रे च कक्षे

वामे पाणौ मसृनकवलम् तत्फलान्यंगुलीषु।

तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्मभिः स्वैः

स्वर्गे लोके मिषति वुभुजे यज्ञभूग्वाल केलिः॥

(१०।१३।११)

इसका अर्थ—सर्व यज्ञ के जो भोक्ता हैं उनके दर्शन को आये हुये स्वर्गवासी गण (देवता गण) उन्हीं यज्ञ भोक्ता को विस्मय के साथ दर्शन करते हैं उसी का वर्णन है—

बालक्रीड़ा चपल यज्ञभुक् श्रीकृष्ण उदर वस्त्र में वेणु दांये कक्ष में शृंग और वेत्र, दांये हाथ में स्निग्ध दही से मिला अन्न ग्रास और सारी अँगुलियों के बीच में अच्छी प्रकार पका हुआ फल धारण पूर्वक कमल कर्णिका की तरह सबकी ओर मुख करके बीच में बैठकर मण्डलाकार रूप में अपने सामान उम्र के गोपबालक वृन्द के साथ हँसी करते और हँसाते भोजन में संतान हैं।

अतएव वेदोक्त वही यज्ञभुक् देवता को हम लोग स्वरूप लक्षण से परिचय पा गये । और वे ही हैं बाल क्रीड़ा चपल सखागण के साथ भोजन करते हुये श्री कृष्ण । यज्ञभुक् इन्द्रादि देवता उनके स्थूल व वाह्यार्थ है।

यही नहीं कि श्रीकृष्ण केवल सब यज्ञों के भोक्ता और फल दाता हैं—अन्य देवोपासको के उपास्य देवता के प्रति श्रद्धा दाता भी वही है।

श्रीकृष्ण ही इन्द्र अग्नि सूर्यादि देवताओं के अन्तर्यामी^१ और सब देवता उन्हीं की ही विभूति है इसलिये निखिल देवताओं की उपासना भी एक प्रकार से उन्हीं की ही उपासना है। यह बात पहले 'येहंपऽन्यदेवताभक्ता' इत्यादि श्लोक गीता (९।२३।२४)^२ से कहा जा चुका है। इस समय हम इस गीतोक्ति से और भी जान सकेंगे। कि जो लोग उक्त रहस्य को न जानकर—स्वतन्त्र या पृथक् बुद्धि से श्रद्धा सहित वासुदेव के अतिरिक्त (अर्थात् श्रीकृष्ण से भिन्न) अन्य

१. ये आदित्ये तिष्ठान्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्याः शरीरः
च आदित्यमन्तरो यमयत्येषत आत्मान्तर्याम्यमृतः।

(बृ: आ; उ० ३।७।६)

अर्थ—जो आदित्य में अवस्थान करने पर भी आदित्यके अन्तर्यामी हैं, जिनको आदित्य भी नहीं जानते। जिनके आदित्य शरीर है जो आदित्य के हृदय में अवस्थान करते आदित्य को परिचालित करते हैं वही तुम्हारे जिज्ञासित अमृत अर्थात् नित्य अन्तर्यामी पुरुष है।

२. गीता ६।२४। श्लोक का श्री विश्वनाथ और बलदेवपाद कृत टीका दृष्टव्य

सारे देवता की उपासना करते हैं। उन उन देवताओं के विषय में अचला श्रद्धा भी श्रीकृष्ण ही प्रदान करते हैं किन्तु वह उपास्य देवगण प्रदान नहीं कर सकते हैं।

सकाम भाव से होने पर भी श्री कृष्ण के उपासना और श्रीकृष्ण से पृथक् बुद्धि से सकाम भाव से अन्य देवता की उपासना में फल में असमानता

आर्त्तादि सकाम व्यक्तिगत कामना के वशावर्ती होकर श्री भगवान की उपासना द्वारा काम्य वस्तु लाभ करके अन्त में संसार पाश से विमुक्त होकर कृतार्थ हो जाते हैं।—यह भी हमें 'चतुर्भिर्धाभजन्ते माम्' इत्यादि गीतोक्ति (७।१६) सभी श्लोकों से अवगत हो जाता है परन्तु अत्यन्त रजस्तमा स्वभाव विशिष्ट जो लोग धन धान्य पुत्र वित्त, कीर्त्ति यशः शत्रुजय, और स्वर्गादि की कामना के वशीभूत होकर सर्वान्तर्यामी और सर्वप्रेरक उन वासुदेव का भजन न करके श्रद्धा पूर्वक अन्य देवताओं की आराधना करते हैं, उनको जिस प्रकार की गति प्राप्ति होती है—वह भी श्री भगवान ने गीता में निम्नोक्त चार श्लोकों में वर्णन कर दिया है। जिसके द्वारा देवताकाण्ड का सारा रहस्य खुल जाता है।

कामैस्तैस्तैर्हृत ज्ञाना प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः।

ते तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

(७।२०)

इसका तात्पर्य—सकाम बहिर्मुख सभी व्यक्ति जो धन धान्य यश, आरोग्य, पुत्र, वित्त और स्वर्गादि विविध कामना द्वारा हत

विवेक होकर उपवासादि नियम पालन पूर्वक अपने रजस्तमोगुण प्रधान प्रकृति के वशीभूत होकर सूर्यादि सभी देवता जिस प्रकार आशु रोगादि आर्त्तिहरण में समर्थ हैं, वैसा विष्णु नहीं है—इत्यादि प्रकार समझकर मुझ (वासुदेव को) छोड़कर अन्य देवता की उपासना में लग जाते हैं।^१ उन लोगों का वही दुष्ट स्वभाव ही उनको मेरे आश्रित नहीं होने देता (श्री स्वामिपाद और श्री चक्रवर्ती पादकृत टीकानुसार)

यो यो याम्याम् तनुं भक्त श्रद्धयार्चितुमिच्छति।

तस्य तस्याचलां श्रद्धा तामेव विदधाम्यहम्॥

(७।२१)

इसका तात्पर्य—उनमें से जो लोग मेरी विभूति रूपा जिन जिन देवता मूर्ति की श्रद्धा के साथ अर्चन करने की इच्छा करते हैं

१. ममुक्षुवो घोर रूपाहित्वा भूतपलीनथ।

नारायणः कलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयनः॥

रजस्तमः प्रकृत्यः समशीला भजन्ति वै।

पितृभूत प्रजेशादीन् श्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः॥ (भा० १।२।२६-२७)

अर्थ—मुमुक्षुकामी लोग दूसरे देवताओं के उपासनादि के विषय में अनिन्दुक होकर एवं घोररूपरुद्रादि देवता की उपासना न करके सुनिश्चित भाव से विशुद्ध सत्त्व स्वरूप श्री भगवान का और उनके सभी अंशभूक्तियों का भजन किया करते हैं रजस्तम स्वभाव वाले सभी व्यक्ति धन ऐश्वर्य और पुत्रादि की कामना से रजः और तमोगुणः विशिष्ट पितृ रुद्रादि और ब्रह्मादि दूसरे सभी देवताओं की उपासना किया करते हैं। ब्रह्मचर्य सकाम स्तु-इत्यादि (भा० २।३।२६) और स चापि भगवद्धर्मात् इत्यादि (भा० ३।३।२।२) देखना चाहिये।

अन्तर्यामी रूप से मैं ही अपने प्रति श्रद्धा न देकर उन भक्तों को उन्हीं देवता के प्रति अचला श्रद्धा प्रदान कर दिया करता हूँ किन्तु वह देवता गण मेरे प्रति श्रद्धा प्रदान करने की बात तो दूर रही, अपने प्रति श्रद्धा प्रदान करने में भी समर्थ नहीं है। (श्री स्वामिपाद श्री चक्रवती पाद कृत टीकानुसार)

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।

लभते च ततः कामानमयैव विहितान्हितान् ॥ (७।२२)

इसका तात्पर्य—दूसरे देवताओं के उपासक गण उसी प्रकार की श्रद्धा से युक्त होकर उन्हीं देवताओं की आराधना करके उन्हीं देवता विशेष से सभी अभीष्ट फल अवश्य ही प्राप्त करते हैं किन्तु वह भी हमारा ही दिया हुआ या विहित^१ फल है। इसका कारण यह है कि मुझ सर्वान्तर्यामी अतिरिक्त देवताओं लोग स्वतन्त्र भाव से किसी की भी कामना पूर्ण नहीं कर सकते क्योंकि वह सभी मेरे ही आधीन और मेरे ही विभूतिस्वरूप हैं (श्री स्वामिपाद और श्री चक्रवतीपाद कृत टीकानुसार)

**श्रीकृष्ण की आराधना का और कृष्ण से स्वतन्त्र
मननपूर्वक अन्य देव आराधना का यथाक्रम से
नित्य-अनित्य-फल में असमानता।**

अन्तवत्तुं फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।

देवान्देव यजोयान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ (गी० ७।२३)

१. एको बहुनां यो विदधाति कामान् (श्वेताश्व उः ६।१३)

अर्थ—जो अकेले अनेकों की सभी काम्य वस्तुओं का विधान करते हैं।

इसका तात्पर्य—अतएव इस तरह यद्यपि सभी देवता हमारी ही मूर्ति विशेष या विभूति है इसलिये उनकी आराधना भी वस्तुतः मेरी ही आराधना है और उनका फल दाता भी मैं ही हूँ। तब भी साक्षात् हमारे भक्तों के साथ दूसरे देवताओं के उपासकों का फल समान नहीं रहता है। यहाँ भगवान् उसी को बताते हैं 'अन्तवत्' इत्यादि अल्पबुद्धि, परिछिन्न देवोपासक गण का वही फल हमारे द्वारा दिये जाने पर भी नश्वर अर्थात् विनाशी होता है, किन्तु हमारे भक्त लोग अनादि, अनन्त, परमानन्द स्वरूप मुझको ही प्राप्त करके नित्य और अविनाशी होते हैं (श्री स्वामीपाद कृत टीकानुसार)

इस प्रकार असमान फल को यह समझना कि मैं अन्याय करता हूँ, उचित नहीं है क्योंकि पृथक् बुद्धि से देवपूजक गण देवताओं को ही प्राप्त होते हैं और मेरे पूजक गण मुझको ही लाभ करते हैं।^१ जो जिसका पूजक है। वह उसी को ही पावेगा। यही तो न्याय है। देवता लोग तो नश्वर हैं, इसलिये उनके उपासक गण और उनके उपासना का फल भी कैसे अविनश्वर होगा। किन्तु मैं श्री भगवान् नित्य हूँ हमारे भक्तगण नित्य हैं और हमारी भक्ति भी नित्य है। (श्री चक्रवर्ती पादकृत टीकानुसार)

देवता लोग जब भगवान् की ही विभूति या मूर्ति विशेष है, तब देवभक्तों और भगवद्भक्तों को एक ही (बराबर) का फल क्यों नहीं प्राप्त होगा? इसके उत्तर में कहते हैं 'अन्तवत्' इत्यादि अर्थात् अल्प बुद्धि द्वारा सूर्यादि की पृथक् बुद्धि से न कि मेरी विभूति या मूर्ति विशेष बुद्धि से आराधना करने पर उसका फल अल्प अर्थात्

१. 'यान्ति देवव्रता देवान्'—इत्यादि (गीता ६।२५)

विनाशी होता है,—किन्तु इस बुद्धि से कि सभी देवता मेरी विभूति हैं मैं ही उन सभी का अन्तर्यामी हूँ आराधना करने का फल अनन्त और अविनाशी हुआ करता है। इसलिये उसके द्वारा जीव को संसार पाश से विमुक्त हो जाती है और साक्षात् श्री भगवान की आराधना करने से उससे भी श्रेष्ठ—श्री भगवान में भक्ति प्राप्त होती है। यही कारण है कि पृथक् बुद्धि से देवोपासक सभी अनित्य फल लाभ करते हैं और अनित्य होते हैं किन्तु हमारे भक्तगण नित्य अपरिमित-स्वरूप हमें ही लाभ करके अनन्त अविनाशी-परमानन्द के अधिकारी होते हैं दोनों में यही महान पार्थक्य है—(श्री बलदेव कृत टीकानुसार)

श्रीकृष्ण चन्द्र ही सब वेदों के मुख्य तात्पर्य होने पर भी उनके परोक्षप्रिय होने के कारण परोक्षवाद रूप मेघमाला में उन्हें गुप्त रखने का प्रयास।

यहाँ तक आलोचना करने से अब हमारे यह समझ में आ गया कि पूर्वोक्त कर्मकाण्ड की तरह वेद के समस्त देवताकण्ड के श्रीकृष्ण ही मुख्य तात्पर्य है। उनके 'परोक्षप्रिय' होने के कारण उनकी ही प्रीति साधन के अभिप्राय से सभी वेद परोक्षवाद के अस्पष्टता के आवरण^१ में उनका ही देवता के रूप से कहीं थोड़ा स्पष्ट परम देवता

१. 'यत्रान्यथा स्थितो अर्थः संगोपयितुमन्यथा कृत्वोच्यते स परोक्षवादः'।—
(स्वामिपाद भक्ति सन्दर्भ धृत ६३)

अर्थ—जहाँ अन्य उद्देश्य में स्थित अर्थ को छिपाकर दूसरी तरह बताया जाता है। उसको परोक्षवाद कहते हैं।

रूप से, फिर विशेष स्थलों में उसकी अपेक्षा स्पष्टतर—‘विष्णु’ नाम से और बहुत ही कम जगहों में सुस्पष्ट ‘कृष्ण’ नाम से भी निर्देश करके फिर साथ ही साथ नाना वाक्य जाल में उनको ढक दिया है। शेषोक्ति विषय का केवल एक ही दृष्टान्त इस जगह प्रदर्शित किया जाता है।

तद्वैतद घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रयोक्तव्याच,
अपिपास एवं स वभूव,

‘सोऽन्तवेलायामेत त्रयं प्रतिपद्यते, अक्षित

मस्यच्युतमसि प्राण संशितमसीति।’ (छान्दोः ३।१७।६)

(उक्त मन्त्र का सुस्पष्ट अर्थ किंचित अस्पष्टता के आवरण में आच्छादित रहने से साधारणतः इसके वास्तविक अर्थ की उपलब्धि कठिन हो जाने पर भी किसी किसी भाष्यकार द्वारा इसके अर्थ को अधिक जटिलता के जाल में आवृत कर दिया है। यह उन्हीं परोक्षप्रिय श्रीकृष्ण की ही इच्छा जानना चाहिये परन्तु किसी किसी वैष्णवाचार्यादि द्वारा इसका यथाश्रुत और सहजार्थ जो निरूपित हुआ है। उसका ही संक्षिप्त सार मर्म नीचे लिखा जाता है।)

अंगिरस गोत्रीय घोर नामक ऋषि ने यह मन्त्र देवकी पुत्रः

१. देवकी पुत्र’ कहकर ‘यशोनन्दन’—श्री कृष्ण को भी निर्देश किया जाता है। इसका कारण यह है कि कृष्ण माता यशोदा के, देवकी और यशोदा दोनों नाम शास्त्र में देखे जाते हैं—यथा
द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा, देवकीति च
अतः सख्यमभूत्तस्या देवक्या शौरिजायया (श्री हरिवंश से)
अर्थ—श्री नन्द की पत्नी का नाम यशोदा और देवकी दोनों था।
इसलिये वसुदेव पत्नी देवकी और यशोदा दोनों संख्यतासूत्र में बँधी थी।

‘श्रीकृष्ण को नमस्कार’ उच्चारण करके कहा है—वह निष्काम होते है जो अन्तिम काल में (हे कृष्ण) ‘(१) तुम अक्षय (२) तुम अच्युत (३) तुम प्राण से भी प्रियतम हो’। इस मन्त्र का जप करते हैं।

उक्त वेद—मन्त्र का सुस्पष्ट और सारार्थ गीता में प्रकाश।

अब हम उक्त वेद मन्त्र का सुस्पष्ट सारार्थ श्री गीता से ही जान सकेंगे। श्री कृष्ण ‘परोक्षप्रिय’ तो है किन्तु उससे अधिक ‘भक्त प्रिय’ है या ‘भक्ताधीन’ भी वह है तभी तो प्रिय सखा श्रीमदर्जुन के अनुरोध से ही उक्त श्रुति वाक्यका सुस्पष्ट सार मर्म स्वयं जीव जगत को विदित कराकर जीव को कालभय से छूटने का सर्वोत्तम उपाय बता दिया है—यथा—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्तत्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावायाति नास्त्यत्र संशयः॥ (८।५)

इसका अर्थ—देहान्त समय जो मुझे स्मरण करते करते देहत्याग करते हैं वह मेरा स्वभावे^१ प्राप्त करते हैं इसमें कोई भी संशय नहीं है

श्रीकृष्ण ही अक्षय अर्थात् नित्य^२ अच्युत और प्रियतम या परमानन्द वस्तु है; इसलिये जो उन्हीं अक्षय अच्युत और प्राण से

१. मद्भावं—मत्स्वाभावमित्यर्थः। (टीका)

गीः ८।५ श्री बलदेव पाद कृत)

२. ‘नित्यो नित्यानां’—(श्वेता ६।१३) विनाहच्युताद वस्तुतरं न वाच्यं—
(भा-१०।४६।४३) प्रेष्ठः सन प्रेयसामपि (भा० ३।६।४२)

भी प्रियतम श्रीकृष्ण को स्मरण करते करते शरीर त्याग करते हैं उसी भावानुरूप वस्तु को प्राप्त करके, वह भी उनका स्वभाव लाभ करते हैं अर्थात् अक्षय अच्युत परमानन्द मय हो जाते हैं।

अतएव यह समझ में आ जाता है कि मेघों से ढके चन्द्रमा की तरह एक श्रीकृष्ण ही परोक्षवाद रूप मेघमाला में आवृत होकर समस्त वेदाकाश के पूर्णशशिरूप में निगूढ़ भाव से अवस्थित रहते हैं। कहीं मेघ मुक्त कहीं तरल मेघाच्छन्न चन्द्र के प्रकाश की तरह ही उनमें कृष्ण चन्द्रमा कहीं तो सुस्पष्ट और कहीं उक्त प्रकार से किञ्चित् अस्पष्टता के आवरण में दिखाई देते हैं। समस्त वेद ही कृष्णमय है ('वेदैश्च सर्वैरहमेन वेद्यो-') गीता १५।१५) - यह केवल महानुभावों के सूक्ष्म दृष्टि में ही दिखाई देता है - तभी तो शास्त्र में कहा है—

वेद वेद्यो हि भगवान् वासुदेवः सनातनः।

स गीते परो वेदैर्योवेदैर्न स वेदवित्॥

(दूर्म०पु०पूर्व ५१।२१।२३)

इसका अर्थ—भगवान् सनातन पुरुष वासुदेव ही समस्त वेद के वेद्य वस्तु है। उनकी ही श्रेष्ठता सब वेदों में गायी गई है। जो लोग यह बात जानते हैं—वे ही वेदविद हैं।

**परोक्षवाद में आच्छादित सभी वेदों का अर्थ
केवल भागवतो के शुद्ध दृष्टि के सामने स्वयं ही
खुल जाता है।**

इस तरह से सभी वेदों में उन्हीं एक सर्वकारण श्रीकृष्ण या उनकी विषयक भागवत धर्म को ही ढककर रखा जाने पर भी केवल

भक्तों के शुद्धदृष्टि के सामने ही ब्रह्म खुल जाता है। साध्वी स्त्री जिस तरह दूसरे पुरुष के सामने घूँघट काढ़े रहती है किन्तु पति के सामने स्वयं ही घूँघट खोल देती है। उसी तरह वेद का वास्तविक तात्पर्य भी वेद द्वारा उन्हीं भक्तों के ही सूक्ष्म दृष्टि के सामने स्वयं ही प्रकाश हो जाता है दूसरे के सामने नहीं, वह बात वेद ने स्वयं ही व्यक्त कर दी है यथा—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचामुत त्वः शृन्वन्न शृणोत्येनां उतो त्वस्मै तन्वंविसस्त्रे जायेन पत्य उशती सुवासाः॥

(ऋग्वेद १० म। ७१। सू०। ४)

इसका अर्थ—वेद को कोई तो देखकर भी देख नहीं पाता और कोई सुनकर भी सुन नहीं पाता, किन्तु अलंकार से सुसज्जित पत्नी जिस तरह प्रणय वशतः पति-कामना से उसके सामने अपना शरीर खोल देती है उसी तरह वेद भी प्रसन्न होकर भक्तजनों के सामने अपना रहस्य खोल देते हैं।

अतएव समस्त वेदों के वाह्यार्थ के भीतर यदि घुसकर देखा जा सके तो यह बात समझ में आती है कि उनका निगूढ़ तात्पर्य एकमात्र श्रीकृष्ण में ही पर्यवसित है। तभी तो चरितामृत कार ने भी कहा है।

मुख्य गौणवृत्ति किम्बा अन्वय व्यतिरेके।

वेदेर प्रतिज्ञा केवल कहये कृष्ण के॥ (मध्य/२० प)

सर्व या सभी श्रीकृष्ण।

यहाँ तक आलोचना द्वारा हम यही समझ सके कि समस्त देवताकाण्ड का भी मुख्य तात्पर्य श्रीकृष्ण में ही निगूढ़ भाव से

पर्यवसित है। एकमात्र श्रीकृष्ण ही समस्त देवता रूप में सांकेतिक हुये हैं अथवा श्रीकृष्ण ही देवताओं के भी अन्तर्यामी और समस्त देवता श्रीकृष्ण की ही विभूति^१ होने के कारण श्री कृष्ण से किसी देवता का भी स्वातन्त्र्य स्वयं सिद्धत्व न होने से श्रीकृष्ण ही सर्वदेवमय या परम् देवता है।^२ श्रीकृष्ण ही सर्वकारण, सर्वादि, सर्वमूल, सर्वान्तर्यामी व सर्वप्रभू है और वही है 'सर्व'^३ इसलिये श्रीकृष्ण को छोड़कर किसी की कोई भी सत्ता^४ स्वीकृत नहीं हो सकती

१. निम्नोक्त श्लोक में श्री युधिष्ठिर महाराज ने श्रीकृष्ण के 'विभूति' रूप में ही दूसरे देवताओं का अर्चन का अभिप्राय प्रगट किया है—

ऋतुराजेन गोविन्द राजसूयेर पावनीः।

यक्ष्ये विभूतिं भवं तस्तन्सम्पादय नः प्रभो॥ (भा० १०।७२।३)

अर्थ—हे गोविन्द सर्वयज्ञ श्रेष्ठ राजसूय यज्ञ द्वारा आपके पवित्रकर विभूति स्वरूप देवगणों की आराधना करूँगा। आप हमारा अभिलषित कार्य सुसम्पन्न कीजिये।

२. 'सर्वदेवमयोहरिः।' (भा० ११/२३/२४) अर्थ—श्री हरि सर्वदेवमय है। आद्यहरि अर्थात् सर्वादि श्रीहरि कृष्ण हो है। यह बात पहले बताई जा चुकी है। इसलिये मूलतः श्रीकृष्ण ही सर्वदेवमय—यह श्रुतदेव के प्रति उनकी निजोक्ति से भी पता चल जाता है; यथा—सर्व देवमय ह्यऽम् (भा० १०।८६।५४) अर्थ मैं ही सर्वदेवमय हूँ।

३. सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः। (गीता ११।४०)

४. दृष्टं श्रुतं भूतभवं विष्यत्

स्थास्तुश्चरिणुर्महदल्पकं च।

बिनाच्युताद्वस्तुतरा न वाच्यं

स एव सर्वं परमात्म भूतः॥

(भा० १०।४६।४३)

अर्थ—भूत वर्तमान भविष्यत, स्थावर जंगम छोटी बड़ी देखी या सुनी आदि जो भी वस्तु है। वह सभी एक अच्युत अर्थात् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कही जा सकती। सबके मूल सर्वान्तर्यामी वही श्रीकृष्ण ही निजशक्ति द्वारा समग्र जगत है।

अतएव एक मात्र श्रीकृष्ण में ही समस्त वेदादि शास्त्रों का समन्वय देखा जाता है।

सर्वमूल होने के कारण एक मात्र श्रीकृष्ण भजन से ही सर्वाराधना सुसिद्ध होती है।

इसलिये ऐकान्तिक भाव से एक मात्र उन्हीं परम अच्युत वस्तु—श्रीकृष्ण की आराधना द्वारा सब जीवों सहित सभी देवताओं की आराधना सुसिद्ध होने की बात शास्त्र में सुस्पष्ट रूप से ही गायी गयी है—

यथा तरोर्मूल निषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्ध भुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराञ्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

(श्री भा० ४।३।१४)

इसका अर्थ—जिस प्रकार वृक्ष के जड़ में जल सींचने से उसके स्कन्ध शाखा प्रशाखा और पल्लव पुष्पादि सभी परिपुष्ट हो जाते हैं और केवलप्राण के उपहार से अर्थात् भोजन द्वारा जिस प्रकार सभी इन्द्रियों की परितृप्ति हो जाती है। उसी प्रकार एक श्रीकृष्ण के आराधना द्वारा ही सभी देवताओं की पूजा सुसिद्ध हो जाती है।

सर्व कारण होने से एकमात्र श्रीकृष्ण के प्रसन्नता से ही सर्व आनुकूल्य प्राप्त हो जाता है।

यही कारण है कि श्रीकृष्ण की प्रसन्नता से ही सब विषयों की

अनुकूलता और अप्रसन्नता से प्रतिकूलता होती है—

इस निर्देश द्वारा सभी शास्त्रों ने श्रीकृष्ण भजन की ही मुख्यता या प्राधान्य कीर्तन किया है; यथा

अरिमित्रं विषंपथ्यम् धर्मो धर्मतां ब्रजेत्।

सुप्रसन्ने हृषीकेशो विपरीते विपर्ययः॥

(श्री हरि भक्ति विलासधृत पात्रे)

इसका अर्थ—श्रीकृष्ण के प्रसन्न रहने से शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, विष भी पथ्य हो जाता है और अधर्म भी धर्म हो जाता है किन्तु उनकी अप्रसन्नता से सभी उल्टा हो जाता है—
अर्थात् मित्र भी शत्रु हो जाते हैं पथ्य भी विष हो जाता है और धर्म भी अधर्म हो जाता है।

श्रीकृष्ण ही परम उपास्य है इसलिये श्रीकृष्ण भजन प्रवृत्ति के उदय न होने तक ही दूसरे भजन की खोज रहती है।

अतएव श्रीकृष्ण की ही परम उपास्यता शास्त्र में सर्वभाव से निरूपित होते देखी जाती है—यथा—

अयं देवो मुनिर्वन्द्य एव ब्रह्मा ब्रह्मसति।

इत्याख्या जायते तावत् यावन्नाचर्यते हरिम्॥ (ऐ गारुड़)

इसका अर्थ—यह देवता, यह मुनि, यह ब्रह्मा, यह ब्रह्मसति—हमारे वन्दनीय है। इस प्रकार की उक्ति तभी तक सुनने में आती है। जब तक कि श्री हरि के भजन का सौभाग्य उदय नहीं होता।

श्रीकृष्ण का परम् देवत्व और सर्वेश्वरत्व सर्वशास्त्र सम्मत।

यही कारण है कि श्रीकृष्ण का सर्व व्यापकत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वदेवत्व, सर्वप्रभुत्व सर्वशास्त्रों में परिगीत होते देखा जाता है।^१ अधिक हो जाने के भय से कुछ प्रमाण यहाँ प्रदर्शित हुये हैं—यथा—

मनुष्याणां नृपा देवो नृपाणां देवता सुराः।

सुराणां देवता शक्र शक्राद्यापि जनार्दनः॥

एष विष्णुः प्रभुर्देवो देवांनामपि दैवतम्।

जातोऽयं मानुषे लोके नररूपेण केशवः॥

(श्री हरिवंश विष्णुपर्व ५० अध्याय)

इसका अर्थ—मनुष्यों के देवता नृपति, नृपतियों के देवता सुरगण, सुरगण के देवता इन्द्र सुरपति इन्द्र के देवता जनार्दन हैं। यही विष्णु परमेश्वर परम देवता हैं जो नर लोक में नर रूप में आविर्भूत होकर केशव अर्थात् श्रीकृष्ण हैं।

यहाँ तक कि यह भी देखा जाता है ऊर्ध्वबाहु होकर, त्रिसत्य करके श्रीकृष्ण का पारम्य रूप परमसत्य शास्त्र में एक स्वर से विघोषित हुआ है—यथा

सत्यं सत्यं पुनः सत्यमुक्षिप्य भुजमुच्यते।

वेदाच्छात्रं परम् नास्ति न देवः केशवात् परः॥

(ऐ नारसिंह)

इसका अर्थ—ऊर्ध्वबाहु करके सत्य सत्य पुनः सत्य-त्रिसत्य

१. श्री हरि भक्ति विलास १।१। आदि दृष्टव्य

करके यह बात घोषणा पूर्वक कही जाती है कि वेद से श्रेष्ठ कोई शास्त्र नहीं है और केशव (श्रीकृष्ण) से श्रेष्ठ कोई देवता नहीं है।

श्रीकृष्ण सम्बन्ध वर्जित उपासना मात्र ही दैव विडम्बना।

मूल का सम्बन्ध विच्छिन्न होने से जिस प्रकार शाखा पत्रादि से कोई भी कल्याण लाभ नहीं किया जा सकता—उसी प्रकार जो सर्वमूल, सर्वकारण स्वरूप, सर्वदेवमय परम देवता है। उनका सम्बन्ध छोड़कर पृथक् भाव से—उनसे स्वतन्त्र मनन करते हुये दूसरे किसी देवता की उपासना केवल दैव विडम्बना मात्र है—सभी शास्त्रों का ऐसा सुस्पष्ट निर्देश रहा है। यथा—

वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते।

त्वत्तत्त्वाऽमृतं स मूढात्मा भुक्तेहलाहलं विषं॥

(ऐ १।१। स्कान्द वाक्य)

इसका अर्थ—जो व्यक्ति वासुदेव का सम्बन्ध परित्याग पूर्वक दूसरे देवताओं की उपासना करता है, तो यही समझना चाहिये कि वह मूढ़ात्मा अमृत त्याग करके हलाहल विष सेवन करता है।

अन्यत्र भी कहा है—

अनादृत्य तु यो विष्णुमन्यदेवंसमाश्रयेत्

गंगाम्भसः तृष्णार्तो मृग तृष्णां प्रधावति॥

(ऐ १।१। महाभारत)

इसका अर्थ—जो व्यक्ति विष्णु का अनादर करके^१ दूसरे देवता

१. मूलतः श्रीकृष्ण ही विष्णु है—यह बात पहले ही प्रतिपादित हो चुकी है।

की शरण में जाता है उसकी वही गति होती है जो उस प्यासे की गति होती है। जो गंगाजल छोड़कर मरीचिका की ओर दौड़ता है।

दूसरे देवताओं को श्रीकृष्ण के समान समझने में भी अपराध।

श्रीकृष्ण सबसे श्रेष्ठ हैं इस विषय में अधिक कहने की क्या आवश्यकता है,—केवल यही जान लेना यथेष्ट होगा कि श्रीकृष्ण और तदेकात्म श्री नारायणादि समस्त भगवत स्वरूपों के साथ दूसरे देवताओं का समान होना तो दूर रहा, समता चिन्ता करने वाले व्यक्ति को भी महान् अनर्थ और अपराध ग्रस्त होना होगा। यह भी देखा जावेगा कि यह सतर्कवाणी उच्चारण पूर्वक सभी शास्त्रों ने श्रीकृष्णाख्य विष्णु की सर्वोपरि महिमा ही प्रतिष्ठित की है; यथा न लभेषु पुनर्भक्ति हरेरैकान्तिकीं जडाः।

एकाग्रमनसश्चापि विष्णुसामान्य दर्शिनः॥^१

(ऐ १।१॥ वैष्णव तन्त्र)

इसका अर्थ—जो सब जड़मति विष्णु के प्रति समानदर्शी होते

१. इसका श्री हरि भक्ति विलास के (१-७१-७३) 'यस्तु विष्णु परित्यज्य—इत्यादि श्लोकों का श्रीमान् सनातन गोस्वामी पादकृत टीका धृत वृ० सहस्र नाम स्तोत्र में श्री शिववाक्य में भी विष्णु के साथ दूसरे देवताओं के समदर्शी की निन्दा की गई है। यथा—ना वैष्णावाय दातव्यं विकल्पोपहतात्मन। भक्ति श्रद्धा विहीनाय विष्णु सामान्य दर्शिनै॥' इसके अन्त में श्री पार्वती वाक्य से भी यही जाना जाता है—यथो सर्वेश्वरो विष्णुः सर्वदेवोत्तमोत्तमः। जगदादि गुरुर्मुदं सामान्य इव वीक्ष्यते—इत्यादि दृष्टव्य।

हैं अर्थात् जो विष्णु को दूसरे को देवताओं के बराबर समझते हैं। वह एकाग्रचित्त होने पर भी (इस अपराध के कारण) फिर ऐकान्तिकी हरि भक्ति प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते।

श्रीकृष्ण ही सर्वमूल या सर्वादि विष्णु है। अतएव यही सर्वभाव से प्रतिपन्न हो जाता है कि एक श्रीकृष्ण ही सर्वोपरि महिमा के आसन में अधिष्ठित होकर सब शास्त्रों में परिगीत व जययुक्त होते हैं।

श्रीकृष्ण के साथ ब्रह्मरुद्र के समता दर्शन के सम्बन्ध में समाधान।

अब इस तरह का प्रश्न उठ सकता है कि सब देवताओं के साथ विष्णु का साम्य न भी हो किन्तु हरि विरंचि और हर या विशेष भाव से हरि और हर में किसी प्रकार के भेद की चिन्ता की ही नहीं जा सकती क्योंकि शास्त्र में उक्त हुआ है—

या वै विष्णु स वैरुद्रो यो रुद्र स पितामह।

एका मूर्तिस्त्रयो देवा रुद्र विष्णु पितामहः॥

(हरिवंश)

इसका अर्थ—जो विष्णु है, वही रुद्र है और वही पितामह या ब्रह्मा है। एक ही मूर्ति एक ही देवता, रुद्र विष्णु व ब्रह्मा—यह तीन मूर्ति धारण करके तीन देवता हुये हैं या—

शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः।

या शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिवः॥

यथान्तर न पश्यामि तथा में स्वास्तिरायुषीति॥

(सिद्धान्तरलोधृत-भारत वाक्य)

इसका अर्थ—शिव का हृदय विष्णु, और विष्णु का हृदय शिव है। विष्णु जिस तरह शिवमय है; उसी तरह शिव भी विष्णुमय है। हमे दोनों में भेद दर्शन नहीं करना चाहिए। अभेद दृष्टि से हमारा जीवन शान्तिमय हो।

इसलिये हरि, विरंचि और हर में अथवा हरि और हर में भेद नहीं है ऐसा जानकर साम्य दर्शन करना ही कर्तव्य है नहीं तो अपराध हो जाता है।

कार्य कारण की अभिन्नता अथवा प्रियता के सम्बन्ध से ही श्रीकृष्ण के साथ ब्रह्मा रुद्र की अभिन्नता तत्त्वतः भिन्नता या वैशिष्ट्य।

इसका अर्थ—इसके उत्तर में यह कहना कि कारण से ही कार्य की अभिव्यक्ति होने के कारण अनेक स्थलों में कार्य और कारण की अभिन्नता ही उक्त होते देखी जाती है। फिर तत्त्वतः उनका भेद पक्ष भी रहता है जैसे कारण से ही कार्य की अभिव्यक्ति तो है किन्तु कार्य से कारण की अभिव्यक्ति नहीं होती।

फिर किसी किसी स्थान में प्रियता के सम्बन्ध में भी अभेद दर्शन की बात कही जाती देखी जाती है, जैसे ('तस्मिन् तज्जने भेद भावात्'—नारद भ०सू०)

अर्थात् भगवान में और उनके भक्तों में भेद नहीं है। यहाँ प्रेम के सम्बन्ध से अभेद कहा है किन्तु तत्त्वतः नहीं क्योंकि भगवान शक्तिमत-तत्त्व है और भक्त उनकी शक्ति, इसलिये भगवान और भक्त में सेव्य और सेवक सम्बन्ध की बात ही सर्वत्र प्रसिद्ध है।

उसी तरह सर्वकारण श्री विष्णु से ही उनके कार्य-ब्रह्मा और शिवादि का आविर्भाव^१ होने के कारण और गुणावतार रूप में दूसरे देवताओं की अपेक्षा ब्रह्मा और रुद्र की प्रधानता रहने के कारण उक्त तीनों में अभिन्नता की बात कही गयी है। इसके अतिरिक्त यह भी समझना चाहिये कि श्री भगवान के नाभिपद्म से उत्पन्न ब्रह्मा उनके पुत्र और शिष्य की तरह होने से और उनका उपदेश किया हुआ भक्ति रहस्य के प्रचार के आदि गुरु होने से (स आदि देवो जगतां परो गुरुः। (भा० २।६।५) और शम्भु परम वैष्णव होने से (वैष्णवानां यथा शम्भुः - भा० १२।१३।१६) देवताओं में इन दोनों के प्रति श्रीकृष्ण की अधिक प्रियता होने के कारण उन तीनों का अभेदत्व कीर्तित हुआ है।

किन्तु तत्त्वतः श्री हरि के साथ ब्रह्मा और शिव का कारण और कार्यत्व या सेव्य और सेवकत्व रूप में सभी भेद अवश्य ही स्वीकार करने पड़ेंगे। तभी तो शास्त्र शिरोमणि श्री भागवत में इन तीनों की उक्त अभिप्राय से अभिन्नता स्वीकार करके भी फिर उनमें

१. श्रीकृष्ण रूप कारण से श्री शिव के आविर्भाव के सम्बन्ध में ब्रह्मसंहिता की उक्ति यथा-

क्षीरं यथादधि विकार विशेष योगात् सन्जायते न हि ततः पृथगस्ति हेतोः।

यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्यात् गोविन्दमादि पुरुषं तमहम् भजामि ॥ (५।४५)

अर्थ—दूध जिस तरह विकार विशेष के योग से दधि रूप में परिणित हो जाता है किन्तु वह दधि अपने कारण दूध से जैसे पृथक् वस्तु नहीं है। उसी तरह जो संहार कार्य के लिये शम्भु रूप में अवतीर्ण होते हैं। मैं उन्हीं आदि पुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ।

तत्त्वतः श्रीकृष्ण वैशिष्ट्य ही कीर्तन हुआ है; यथा—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणा स्तै-

युक्तः परः पुरुषः एक इहास्य धत्ते।

स्थितात्यादये हरिविरंचि हरेति संज्ञाः

श्रेयांसि^१ तत्र खलु सत्त्व तनो नृणास्युः॥ (१।२।२३)

इसका अर्थ—सत्त्व, रज, और तमः—ये प्रकृति के ही तीन गुण हैं। उनमें युक्त हुआ एक ही परमपुरुष वासुदेव अद्वितीय होने पर भी इस जगत की स्थिति उत्पत्ति और संहार के लिये हरि, विरंचि, और हर के नाम से तीन प्रकार के रूप में प्रकाश होते हैं। उनमें से सत्त्वमूर्ति श्री विष्णु या श्री हरि से ही जीव का श्रेयोलाभ होता है अर्थात् विमुक्ति होती है।

अतएव उक्त भागवतीय श्लोक में कारण से कार्य की अभिन्नता के अनुसार से श्रीकृष्ण से ब्रह्मा और शिव का अभेद प्रदर्शन कराकर फिर तत्त्वतः सत्त्व मूर्ति श्री विष्णु से ही जीव की

१. हरिर्हि निर्गुण साक्षात्पुरुषः प्रकृते परः।

स सर्वद्वगुपदृष्टा तं भजन्तिर्गुणो भवेत् ॥ (भा० १०।८५।५)---

अर्थ—श्री हरि निर्गुण साक्षात् परमेश्वर प्रकृति के अतीत, ब्रह्मादि देवताओं के ज्ञानदाता और सर्वसाक्षी हैं। उनके भजन करने से निर्गुणता प्राप्त होती है

[टीका हरिनिर्गुणगुणः = संकल्पेनैव सत्त्वस्य प्रवर्तनात् ।'-

श्री बलदेव ।]

तात्पर्य—ब्रह्मा और रुद्र सान्निध्यमात्र रजः और तमोगुण के परिचालक हैं; विष्णु संकल्प मात्र से ही सत्त्वगुण के नियामक है। श्री हरि में और श्री हरि भजन में गुण-सम्बन्ध नहीं रहता है इसलिये यही जीव के श्रेयोलाभ या विमुक्ति का कारण होता है।

विमुक्ति की बात उल्लेख की गयी है। इसके दृष्टांत स्वरूप बाद के श्लोक में और भी स्पष्ट कर दिया है—यथा

पार्थिवद्वारुणो धूमस्तस्मादग्नि स्त्रयीमयः।

तमसस्तु रजस्तमस्मात्सत्त्वं यद् ब्रह्मदर्शनम् ॥

इसका तात्पर्य—एक जड़ लकड़ी से जैसे धुआं और वेदोक्त यज्ञादि कर्मों की सहायक अग्नि ही श्रेष्ठ है। वैसे ही तमोगुणाधिष्ठित हर से रजो गुणाधिष्ठित ब्रह्मा और उससे प्रकाश स्वभाव विशुद्ध सत्त्व गुणाधिष्ठित और ब्रह्मदर्शन या विमुक्ति के हेतु स्वरूप विष्णु ही श्रेष्ठतम है उक्त श्लोक में यही प्रदर्शित हुआ है।^१

यही कारण है कि पूर्वाचार्य श्री सनकादि मुनियों की श्रीहरि भजन में प्रवृत्ति।

तभी तो पूर्वकाल के साधुओं के आचरण से भी श्री हरि की परमाराध्यता प्रदर्शित हुई है। यथा—

भेजिरे मुनियोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम् ।

सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते ये हनुतानिह ॥

(भा० १।२।२५)

इसका अर्थ—इसी कारण पूर्वकाल में सनकादि मुनिगण विशुद्ध सत्त्वमूर्ति भगवान् अधोक्षज का भजन करते थे। इस समय जो लोग उन पूर्वाचार्य मुनियों का अनुसरण करके उपासना करते हैं। उनका ही प्रकृष्ट मंगल होता है।

१. श्रीरूपगोस्वामी चरणकृत श्री लघु भागवतामृत में गुणावतार प्रसंग में (११ व १२ संख्या)

अतएव सभी मुक्ति कामी व्यक्ति घोर रूप रुद्र-ब्रह्मादि भूतपतियो की उपासना न करके किन्तु उस विषय में अदोषदर्शी होकर—श्री हरि और उनके अंशावतारों का भजन करते हैं और रजः तमः स्वभाव वाले सब व्यक्ति विषय कामना के वशावर्ती होकर रजस्तमाधिष्ठित ब्रह्मा रुद्रादि देवताओं की उपासना करते हैं। ?

श्री हरि के साथ तत्त्वतः ब्रह्मा रुद्रादि को बराबर समझना ही अपराध।

इस तरह उक्त भागवतीय सभी प्रमाणों से भी स्पष्टतः श्री विष्णु का ही परमदेवत्व और सर्वश्रेष्ठत्व प्रतिपन्न होता है। इसलिये श्री हरि के साथ कार्यकारण के सम्बन्ध से या प्रियता के सम्बन्ध से हर विरंचि का अभेद दर्शन समुचित होने पर भी तत्त्वतः श्री हरि के साथ हर विरंचि प्रभृति का अभेद दर्शन अपराध रूप में ही शास्त्र में निर्दिष्ट होते देखा जाता है।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मारुद्रादिदैवतैः।

समत्वेनैव वीक्षेत स पाषंडी भवेद् ध्रुवम् ॥

(पाद्मोत्तर खण्ड)

इसका अर्थ—जो लोग श्री नारायण अर्थात् श्री हरि को ब्रह्मा रुद्रादि देवताओं के बराबर समझते हैं। ऐसे लोग निश्चय ही पाषण्डी होते हैं।

श्रीकृष्ण का ही सर्वेश्वरत्व और सर्वसेव्यत्व शास्त्र प्रसिद्ध।

इस कारण शास्त्रों में यह बहुत प्रकार से कहा गया है कि श्री

हरि तो सर्वेश्वर है और ब्रह्मा रुद्रादि उनके सेवक हैं। अधिक हो जाने के भय से इस विषय में दो एक श्लोकमात्र निम्न में उद्धृत किये जाते हैं।

तथापि यतपाद नखावसृष्टं

जगद्विरिंचोहतार्हणान्तः।

सेशं पुणातान्यतमो मा मुकुन्दात्

को नाम लोके भगवत पदार्थः ॥

(श्री भा० १।१८।२१)

इसका अर्थ—ब्रह्मा द्वारा दिया हुआ अर्घोदक जिनके चरणनख से धुलकर महेश्वर सहित समस्त जगत को पवित्र करता है। ऐसे मुकुन्द अर्थात् श्रीकृष्ण से श्रेष्ठ कौन भगवत् पदार्थ है? अर्थात् श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान और सर्वेश्वर हैं। यही श्री भागवत में अन्य जगह भी कहा है—

यच्छौचनि. सृत सरित्प्रवरोदकेन

तीर्थेन मुहर्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ॥

(भा० ३।२८।२२)

अर्थात् —जिनके श्री चरण के धोने से उत्पन्न हुई नदियों में श्रेष्ठ गंगा का संसार ताप हारी पवित्र जल मस्तक के ऊपर धारण करने से शिव भी 'शिव' अर्थात् मंगलमय हुये हैं—इत्यादि शास्वोक्ति से भी श्रीकृष्ण का ही सर्वेश्वरत्व और सर्वसेव्यत्व स्पष्ट रूप से ही मालुम होता है।

अतएव एक स्वयं सिद्ध और स्वयं रूप परत्तत्त्व श्रीकृष्णाख्य श्री हरि या श्री विष्णु ही सर्वकारणों के परम कारण या सर्वेश्वर है, इसलिये श्री कृष्ण से स्वतन्त्र या स्वयं सिद्ध समझकर ब्रह्मा रुद्रादि

किसी भी देवता की उपासना शास्त्र विहित नहीं है। यह पहले ही बताया जा चुका है। ऐकान्तिक भक्त के लिये एकमात्र श्रीकृष्ण के भजन द्वारा ही सर्व भजन सिद्ध होता है इसके अतिरिक्त यदि कृष्णाधीन समझकर ब्रह्मारुद्रादि दूसरे देवताओं की उपासना की जावे तो उसमें दोष नहीं होता है।^१

तब उनके द्वारा उपासक का यथोपयुक्त श्रेयोलाभ होता है, किन्तु स्वतन्त्र ईश्वर समझ कर अर्थात् श्रीकृष्ण से अधिक या उनके बराबर मानकर स्वतन्त्र भाव से ब्रह्मारुद्रादि देवताओं की उपासना अपराधजनक समझना चाहिए।^२

अतएव यही समझ में आता है कि श्रीकृष्णाख्य श्री विष्णु और उनके सभी अवतारों से ब्रह्मा रुद्रादि निखिल देवताओं की न्यूनता सर्वशास्त्र विचार द्वारा सर्वभाव से निश्चित हुई है, यथा—

अथोविधि-हरादीनां निखिलानां सुपर्वणाम् ।

श्री विष्णो स्वांशवर्गेभ्यो न्यूनताभि प्रकाशिता ।

(श्री लघु भागवतामृत)

इसका अर्थ—अतएव श्री विष्णु के स्वांश वर्ग मत्स्यादि अवतारों की अपेक्षा ब्रह्मा रुद्रादि निखिल देवताओं की न्यूनता

१. 'तस्मात्तदीयत्वेनैव ब्रह्मारुद्र भजन न दोषः ।'

(क्रम सन्दर्भ भा० १।२।२३; २६)

अर्थ—इसलिये कृष्ण की विभूति या प्रिय जानकर ब्रह्मा रुद्रादि के भजन में दोष नहीं है। 'ततः सम्पूज्य' इत्यादि श्लोक दृष्टव्य

(भा० ७।१०।३२)

२. उक्त विषय की विस्तारित आलोचना श्रीमज्जीव गोस्वामी चरणकृत भक्ति सन्दर्भः (१०६ अनु०) क्रम सन्दर्भः (भा० १।२।२३।२६) और श्रीमद्बलदेव पाद कृत सिद्धान्त रत्नः ३य पाद दृष्टव्य

प्रकाशित हुई है। (अवतारों की अपेक्षा न्यून होने से सर्वावतारी श्रीकृष्ण की अपेक्षा उनके न्यूनता की बात का उल्लेख ही निष्प्रयोजन है।)

तभी तो महावाराह में भी कहा गया है—

मत्स्यकूर्म वाराहाद्याः समाविष्णोरभेदतः।

ब्रह्माद्यास्त्व समाः प्रोक्ता प्रकृतिस्तु समासमा॥

इसका अर्थ—मत्स्य कूर्मवाराह आदि अभेद होने के कारण विष्णु के समान है। ब्रह्मादि सभी देवता 'समान' नहीं हैं और स्वरूप या चित्तशक्ति नामक प्रकृति^१ 'समा' और 'असमा' कही जाती है।

तब यह भी विशेष भाव से स्मरण रखना आवश्यक है कि एक श्रीकृष्णाख्य श्री हरि ही अपनी महिमा अथवा शक्ति द्वारा सर्वरूप में व्याप्त होने पर भी अपने स्वतन्त्र स्वरूप में सर्वदा सर्वोपरि विराजमान रहते हैं। इसलिये वही सर्वाराध्य, सर्वप्रभु और सर्व देवेश्वर तो है किन्तु उनकी विभूति स्वरूप किसी देवता की अवज्ञा करने से एक प्रकार से उनकी अवज्ञा करना होता है। इस कारण शास्त्र में दूसरे देवताओं की अवज्ञादि विशेष भाव से वर्जित है। यथा—हरिरेव सर्वदाराध्य सर्वदेवेश्वरेश्वर।

इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन॥

(पाब्दे)

इसका अर्थ—समस्त देवताओं और ईश्वरों के भी ईश्वर श्री हरि सर्वदा आराध्य है किन्तु ब्रह्मा रुद्रादि दूसरे सब देवताओं की अवज्ञा कभी नहीं करनी चाहिए।

१. 'अत्रप्रकृति शब्देन चिच्छक्तिरभिधीयते।' (लघुभाः)

अर्थ—इस श्लोक में प्रकृति शब्द से चित्तशक्ति कथित हुई है

श्रीकृष्ण ही वासुदेव होने के कारण वेद की वासुदेव परता का अर्थ मूलतः श्रीकृष्णपरता।

श्रीकृष्ण ही 'वासुदेव' हैं और समस्त वेदों का वासुदेव परता होने का अर्थ यही है कि समस्त वेद श्रीकृष्ण परक है; यथा—
वासुदेव परा वेदा वासुदेवपरामखाः।

वासुदेव परा योगा वासुदेवपरा क्रियाः

वासुदेव परं ज्ञानं वासुदेव परं तपः

वासुदेव परो धर्मो वासुदेव परा गतिः॥

(श्री भा० १।२।२८।२९)

इसका अर्थ—सब वेद वासुदेव परक है। सभी यज्ञ समस्त योगविद्या, समस्त कर्मकाण्ड, समस्त ज्ञानकाण्ड और तपस्यादि वासुदेव पर है।

निखिल धर्म वासुदेव पर है और वासुदेव ही परमगति है।

इस तरह से सर्वशास्त्र शिरोमणि श्रीमद् भागवत द्वारा समस्त वेदादि का वासुदेव परता तो घोषित हुआ है किन्तु स्थूल बाह्य दृष्टि द्वारा सभी वेद और दूसरे सभी वासुदेव पर विदित नहीं होते। दूसरे की बात तो दूर रही यहाँ तक कि ज्ञानियों के लिये भी यह अवगत होना सहज नहीं है—यह बात हम गीता में उन्हीं वेदमय पुरुष के श्रीमुख की वाणी से भी जान सकते हैं। यथा—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गी० ७।१६)

इसका अर्थ—जो बहुत जन्मों के बाद ज्ञानवान व्यक्ति 'चराचर

विश्व सभी वासुदेव मय है' इस प्रकार ज्ञानयुक्त होकर (वह वासुदेव मैं ही हूँ) मेरी ही शरणागत होता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

श्रीकृष्ण ही नारायण होने के कारण वेद का नारायण परता का अर्थ मूलतः श्रीकृष्ण परता।

श्रीकृष्ण ही नारायण है और समस्त वेद का नारायण परता होने की घोषणा द्वारा वेदों का श्रीकृष्ण परता ही प्रतिष्ठित हुआ है यथा—

नारायण परावेदा देवानारायणांगजा।

नारायण परालोका नारायण परा मखाः॥

नारायण परो योगो नारायण परं तपः।

नारायण परं ज्ञानं नारायण परमागति॥

(श्री भा० २।५।१५।१६)

इसका अर्थ—सभी वेद नारायण पर है देवगण भी नारायण के शरीर से उत्पन्न होने के कारण उनसे स्वतन्त्र न होकर नारायण पर है। सभी स्वर्गादि लोक उनके आश्रित होने के कारण नारायण पर है ब्रह्म ज्ञान भी नारायण पर है। नारायण ही परमगति है।

इस श्री भागवत द्वारा भी उक्त प्रकार से सभी वेदादि का नारायण परता घोषित होने पर भी स्थूल बाह्य दृष्टि में यह बात छिपी ही रह जाती है। यह पहले कहा जा चुका है। केवल भक्ति विभावित शुद्ध दृष्टि द्वारा खुल जाता है फिर उसके अपेक्षा भी निगूढ़ रहस्य यह है कि श्री कृष्ण ही वह नारायण है। अतएव समस्त वेदादि को श्रीकृष्ण पर ही समझना चाहिए। ब्रह्मास्तव से भी यह अवगत

हो जाता है; यथा—

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनाम्
आत्मास्यधीशाखिल लोक साक्षी।
नारायणोऽहं नरभूजलायनात्
तच्चापि सत्यं न तवैव माया॥

(श्री भा० १०।१४।१४)

इसका तात्पर्य—ब्रह्मा ने श्री कृष्ण से कहा है कि आप नारायण नहीं हो क्या? अर्थात् सचमुच ही आप नारायण हो। उसका कारण यह है कि आप सभी देह धारियों के आत्मा हो। हे अधीश्वर! (अर्थात्—ईश्वर समूह के भी परमेश्वर) आप समस्त लोकों के साक्षी और त्रैकालिक सभी कर्मों के दृष्टा हो और सब जीवों के हृदय में और जल में वास करने के कारण जो नारायण नाम से प्रसिद्ध हैं,—वह भी तो आपका ही अंग अर्थात् अंश विशेष है।

तीन अवतार और महाबैकुण्ठपति यह चार मूर्तियाँ ही 'नारायण' नाम से प्रसिद्ध हैं; श्रीकृष्ण ही उन सबके मूल होने से वही है मूल नारायण।

(अर्थात् मूल श्लोक में यह सूचित हुआ है कि ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी या कारणार्णवशायी, हिरण्यगर्भ के अन्तर्यामी या गर्भोदकशायी और व्यष्टि जीव के अन्तर्यामी या क्षीराब्धिशायी विष्णु या नारायण नाम से प्रसिद्ध है जो तीन पुरुषावतार है वह आपकी ही विलासमूर्ति है अतएव आप केवल नारायण ही नहीं

किन्तु मूल नारायण हैं)¹ आपका उक्त अंग या आपके उक्त तीनों अंश भी सत्यवस्तु अर्थात् सच्चिदानन्द है। वह आपकी माया नहीं है। उक्त श्लोक की व्याख्या में श्री चरितामृत की उक्ति यथा—

यद्यपि तीनरे माया लुइया व्यवहार।

तथापि तत्स्पर्श नाहि-सभे मायापार॥

सेई तीन जनेर तुमि परम आश्रय।

तूमि मूल नारायण, इथे कि संशय॥

सेई तीनेर अंशी पर व्योम नारायण।

तेहं तोमार विलास-तूमि मूल नारायण॥

(श्री चरितामृत २ य प)

इसका अर्थ—यद्यपि इन तीनों पुरुषावतार का माया को लेकर ही व्यवहार है फिर भी इनका माया से स्पर्श नहीं है, ये माया से पार है। उन तीनों पुरुषों के आप परम आश्रय हैं आप मूल नारायण हैं। इसमें संशय नहीं है। इन तीनों के जो अंशी पर व्योम के नारायण हैं, वे भी आप की विलास मूर्ति हैं। आप मूल नारायण हैं।

विद्वदनुभव के प्रमाण से भी श्री कृष्ण ही आदि पुरुषावतार और आद्य नारायण ही प्रमाणित।

श्री भीष्मस्तव में भी उक्त हुआ है यथा—

१. उक्त श्लोक की श्री चक्रवर्तीपाद का टीका और 'शिशुवत्सहरि ब्रह्मा करि अपराध। अपराध क्षमाइते माँगेन प्रसाद' इत्यादि व्याख्या श्री चरितामृत आदि। २ य पः दृष्टव्य

एष वै भगवान् साक्षादाद्यो नारायणः पुमान्
मोहयन् मायया लोक गूढश्चरति वृष्णिषु।

(श्री भा० १।६।१८)

[टीका—न च नर लीला दृष्ट्या सधारण दृष्टिरत्र कर्तव्येत्याह।—एष इति साक्षादेव स्वयं भगवान्। यः खत्वाद्यः पुमान् महत् सृष्टा, सोहप्ययमेव। यश्चादोया नारायणः परमव्योमाधिपतिः सोऽपीति।—क्रम सन्दर्भः]

इसका तात्पर्य—नरलीला करने वाले जिन श्री कृष्ण को देखते हो। उनको देखकर उन्हें साधारण व्यक्ति समझना उचित नहीं है। भीष्मदेव यही कहते हैं; यह साक्षात् अर्थात् स्वयं भगवान् हैं। जो आदि पुरुषावतार महत्त्व के सृष्टा है, वह यही श्रीकृष्ण ही हैं। जो आदि नारायण-परव्योमाधीश है। वह भी यही श्रीकृष्ण ही हैं। यह अपनी माया शक्ति द्वारा सब लोकों को मोहित करते हुये अति गुप्त रूप से वृष्णिकुल में विचरण कर रहे हैं।

इस तरह सब वेदों का वासुदेव परता और नारायण परता का अर्थ श्रीकृष्ण परता ही है। यह बात हम उसी श्री भागवत से ही समझ सके हैं।

**श्री कृष्ण ही अक्षर ब्रह्म की परमावस्था या
पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध।**

और भी देखा जाता है कि श्रीकृष्ण ही अक्षर ब्रह्म की परमावस्था अर्थात् ब्रह्म और परमात्म पुरुष से भी उत्तम होने के कारण पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध है। श्रुति में उक्त हुआ—

अथ परा ययातदक्षरमधि गम्यते।

(मुण्डक० १।१।५)

अर्थात्—जिसके द्वारा उस अक्षर को जाना जाता है वही परा विद्या है।

यहाँ इस अस्पष्ट 'अक्षर' शब्द के आवरण में जिन्हें ढका गया है। उनका सुस्पष्ट परिचय श्री गीता में उनके श्री मुख वाणी द्वारा ही विदित हो जायेगा, यथा—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहम क्षरादपि चोत्तमः।

अस्तोऽस्मि लोके वेदे च प्राथितः पुरुषोत्तमः॥ (१५।१८)

[टीका क्षरं पुरुषं जीवात्मानो अतीतः अक्षरात् पुरुषात् ब्रह्मतः उत्तमः अपिकारात् परात्मन पुरुषाद्युत्तमः।—श्री चक्रवर्तिपाद]

इसका अर्थ—क्योंकि मैं क्षर पुरुष या जीवात्मा से अतिरिक्त हूँ। अक्षर पुरुष या ब्रह्म^१ से उत्तम हूँ परमात्म पुरुष से भी उत्तम हूँ (१५।१६।१७) श्लोक देखना चाहिये इसलिये समस्त भुवन और वेदों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

इस तरह से समझ में आ जाता है कि श्रुति ने अस्पष्टता के आवरण में 'अक्षरात् परतः परः' (मुंडक० २।१।२) अर्थात् अक्षर पुरुष से भी जो श्रेष्ठातीत श्रेष्ठ या उत्तम बतलाकर जिस पुरुषोत्तम वस्तु को निर्देश किया है, उन्हें अब उन्हीं की गीता वाणी द्वारा (१५।१८) स्पष्ट रूप से हमने समझ लिया कि वह श्रीकृष्ण ही है।

श्रीकृष्ण को सर्वश्रेष्ठ समझ जाना ही पराविद्या की परमावस्था।

इसके साथ ही साथ अब यह भी अवगत हो जाता है कि

श्रीकृष्ण ही जब 'अक्षर' से भी उत्तम या अक्षर वस्तु की परमावस्था है,—(ब्रह्मणो प्रतिष्ठाहम्—गीता १४।२७) तब जिस विद्या द्वारा अक्षर वस्तु को जाना जाता है 'अथ पराययातदक्षरमधिगम्यते० (मुंडक० १।१।५) वह पराविद्या की भी परमावस्था या पूर्ण अभिव्यक्ति है—जिस विद्या या जिस ज्ञान द्वारा श्रीकृष्ण का सर्ववेद वेद्यत्व, पुरुषोत्तमत्व, स्वयं भगवत्ता, सर्वेश्वरत्व और स्वयंभगवत्ता आदि विदित हो जाती है। तभी तो श्री चरितामृत में कहा गया है, कृष्णे भगवत्ता ज्ञान सम्विदेर सार।

ब्रह्म ज्ञानादि सब जार परिवार॥

(श्री चै। आदि ४ पः)

इसलिये श्रीकृष्ण के विषय में उक्त प्रकार उपलब्धि को ही पराविद्या की परमावस्था या सम्विद की सम्पूर्णता समझना चाहिये दूसरे सभी ज्ञान इसके ही आधीन या आंशिक प्रकाश है। केवल उक्त विद्या का अधिकार लाभ होने से ही सर्व विज्ञत्व का प्रकाश होता है। इसको छोड़कर दूसरे सभी ज्ञान में असम्पूर्णता रहने से उनके अधिकार में उसी अनुपात में असर्वज्ञता होती है।

ज्ञान शब्द से भक्ति पर्यन्त समझना चाहिये।

यह बात नहीं है कि 'ज्ञान' शब्द से निर्भेद ब्रह्म ज्ञान ही समझा जाता है, भगवत् विषयक ज्ञान अर्थात् 'भक्ति' पर्यन्त ज्ञान शब्द का अभिप्राय फैला हुआ है। इसलिये यह बात नहीं है कि वेदोक्त ज्ञानकांड केवल निर्विशेष ब्रह्म ज्ञान प्रतिपादक है किन्तु वह भगवत् सम्बन्धीय ज्ञान या भक्ति पर्यन्त सीमा प्राप्त या भक्ति में ही पर्यावसित है। तभी तो श्री मज्जीव गोस्वामिपाद ने लिखा है,—

ज्ञान काण्ड—ब्रह्म भगवत् प्रतिपादकत्वेन द्विविधं, उभयोरपि चिदेक रसत्वात्। ज्ञान शब्देनात्र ज्ञानं भक्तिश्चोच्यते। ज्ञाने ज्ञानं शब्दस्य प्राधान्योवृत्तिः धानुंराष्ट्रेषु कौरव शब्दवत्। तत्र द्वितीयं—साक्षादेव भगवत् परम।' (श्री भगवत् संदर्भीय-सर्वसम्वादिनी)

अर्थ—ज्ञानकाण्ड—ब्रह्म प्रतिपादक व श्री भगवत् प्रतिपादक भेद से द्विविध है। दोनों ही चिदेकरस पदार्थ विषयक है। यहाँ ज्ञान शब्द का ज्ञान व भक्ति दोनों के विषय में प्रयोग हुआ है। जिस तरह धृतराष्ट्रवंशीय लोगों में ही 'कौरव' शब्द की प्रसिद्धि है। अतएव पहला सामान्य रूप में चिन्मात्र ब्रह्म प्रतिपादक ज्ञान और दूसरा विशेष रूप में साक्षात् सम्बन्ध में भगवान् प्रतिपादक ज्ञान या 'भक्ति'।

जिन्हें श्री कृष्ण के सर्व श्रेष्ठता का ज्ञान है वे ही 'सर्वज्ञ' हैं। उनके अतिरिक्त वेदादिशास्त्रज्ञ होने पर भी असर्वज्ञ हैं।

इस तरह श्रुति में कहे हुये 'पराविद्या के द्वारा ज्ञात होने वाले 'अक्षर वस्तु की परमावस्था—अर्थात् निखिल प्रकाश भेद के मध्य में 'अनन्यापेक्षा' या सर्वमूल सर्वोत्तम ऐसे पुरुषोत्तम को जानकर जो एकान्त भाव से भक्ति योग से उनका ही भजन करते हैं वही 'सर्वविद' अर्थात् पूर्ण रूप से 'अक्षर' के वैज्ञानिक हैं। वेद का यह छिपा तात्पर्य उन साक्षात् वेदमय पुरुष के ही श्री मुख की वाणी से मालूम हो जाता है; यथा—

यो मामेवसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।

स सर्व विद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ (गीता १५।१६)

इसका अर्थ—इस प्रकार से मूढ़ता शून्य^१ अर्थात् मोहादिर्वर्जित जो व्यक्ति मुझको ही पुरुषोत्तम जानते हैं, वही सर्वविद अर्थात् सर्वज्ञ व्यक्ति है। इसलिये वह लोग सब प्रकार से मुझको ही भजते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि जो लोग मुझको ही पुरुषोत्तम जानकर ऐकान्तिक भाव से मुझ को भजते हैं। ऐसे मूढ़ता शून्य व्यक्तिगण यदि वेदादि शास्त्र न भी पढ़े, तब भी वही सर्वज्ञ है। वही पराविद्या के उत्तम अधिकारी है किन्तु निखिल शास्त्र अध्ययन करके भी जो लोग मुझको अक्षर की परमावस्था या पुरुषोत्तम नहीं समझते वह संमूढ़ अर्थात् पूरे मूढ़ है। (श्री चक्रवर्ती पादकृत टीका देखना चाहिये) इसलिये केवल 'अक्षर' के विषय में ही नहीं किन्तु उसके साथ पराविद्या की परमावस्था और प्रकृष्ट मर्म गीतोक्त श्री भगवद्वाक्य से ही विदित हो जाता है।

‘परावर’ शब्द के आवरण में श्रीकृष्ण को वेद में गुप्त रखा जाने पर भी, अनावृत्त वेद श्री भागवत’ से उनका सुस्पष्ट प्रकाश।

इस प्रकार और भी देखा जाता है कि श्रुति के निम्नोक्त वाक्य

१. श्रीकृष्ण के सर्वलोक महेश्वरत्व के विषय में भी इस प्रकार उक्ति गीता में दिखाई देती है—यथा

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।

अंसमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्येत॥ (१०।३)

अर्थ—जो व्यक्ति मुझको अनादि व जन्मरहित और सम्पूर्ण लोक का महेश्वर जानता है। मनुष्यों में वही मोहरहित अर्थात् अज्ञानशून्य होकर सब पापों से विमुक्त हो जाता है।

में अस्पष्टता के आवरण में जिनको निर्देश किया गया है। वह सुस्पष्ट रूप में श्रीकृष्ण को छोड़कर दूसरे कोई नहीं है।

भिद्यते हृदय ग्रन्थिशिच्छद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते च यस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २।२।८)

इसका अर्थ—(अचिन्त्य विरुद्ध धर्माश्रयतावशतः जो परमात्मा रूप में निर्लिप्त रहने पर भी अपनी शक्ति द्वारा पर व अपर अर्थात् श्रेष्ठ व अश्रेष्ठ सभी पदार्थों के रूप में व्याप्त रहते हैं) उनके दर्शन करने से हृदय ग्रन्थि (अविद्याजनित विषय वासनादि) खुल जाती है, सभी संशय दूर हो जाते हैं और उस साधक के सभी कर्मक्षय हो जाते हैं।

वेद में इस प्रकार 'परावर' शब्द के हेयाली की आड़ में श्रीकृष्ण को ही ढक कर रखा गया है।

इस रहस्य का खुलना किसी भी प्रयत्न से सम्भव न होता यदि अनावृत वेद स्वरूप श्री भागवत में परावर का प्रकृष्ट परिचय, वह स्वयं ही न देते। श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है,—

भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिशिच्छद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणिमयि दृष्टेऽखिलात्मनिः॥

(श्री भा० ११।२०।३०)

इसका अर्थ,—श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ निखिल प्राणी में परमात्मरूप से प्रकाशित मैं ही हूँ। मेरे दर्शनकारी व्यक्ति की हृदयग्रन्थि खुल जाती है। सभी संशय दूर हो जाते हैं और कर्मबन्धन क्षय हो जाते हैं। इस तरह यह हमारे समक्ष में आ गया कि यह बात कि उक्त श्रुति वाक्य श्रीकृष्ण के लिये ही है। वेद जिनके निःश्वास है—साक्षात् उन

वेदमय पुरुष के ही श्री मुख की वाणी या अनावृत वेद श्री भागवत से ही ज्ञात हो सकती है किन्तु वेद से नहीं। सभी वेदों का श्रीकृष्णपरता और उनकी भक्ति या एक वाक्य में भागवत धर्मपरता के सम्बन्ध में ऐसे बहुत से दृष्टान्त दिये जा सकते हैं; बहुत बढ़ जाने के भय से हमने इस विषय में इस 'कणिका' के उपयोगी विषय ही केवल दिग्दर्शन मात्र किये हैं।

अतएव श्रीकृष्ण और उनका नाम प्रधान श्रीकृष्णभक्ति ही वेदादि सर्वशास्त्रों का मुख्य तात्पर्य है। यही सर्वभाव से निश्चित होता है।

सभी वेदों का सारार्थ जिस तरह गीता के श्रीकृष्ण वाक्य से विदित हो जाता है, उसी तरह गीता के उपदेष्टा वह स्वयं भगवान् ही जब आविर्भाव विशेष में वेद का परम गुह्य प्रेमधर्म के प्रवर्तक श्रीकृष्ण चैतन्य रूप से पृथ्वी में अवतीर्ण होते हैं, तब फिर उनकी श्री मुख की वाणी द्वारा वेदादि सर्वशास्त्रों का श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण नाम प्रधान कृष्णभक्ति परता रूप सर्वसारसत्य ही विघोषित होते देखा जाता है; यथा—

आविष्ट होइया प्रभू करये व्याख्यान।

सूत्र वृत्ति टीकाय सकले हरिनाम॥

प्रभू बोले सर्वकाल सत्य हरिनाम।

सर्वशास्त्र कृष्ण वर्ड न बोलये आन॥

कर्त्ता हर्त्ता पालयिता कृष्ण से ईश्वर।

अज भव आदिजत कृष्णोर किंकर॥

कृष्णोर चरण छाड़ि जे आर बाखाने।
व्यर्थ जन्म जाये तार अकथ्य कथने॥
आगम वेदान्त आदि जत दरशन।
सर्वशास्त्र कहे 'कृष्ण पदे भक्ति धन'।^१
मुग्ध सब अध्यापक कृष्णोर मायाय।
छाड़िया श्री कृष्ण भक्ति अन्य पथेजाय॥
करूणासागर कृष्ण जगत जीवन।
सेवक वत्सल नन्द गोपेर नन्दन॥
हेन कृष्ण नामे जार नहि रति मति।
पड़ियाउ सर्वशास्त्र ताहार दुर्गति॥
दरिद्र अधम यदि लोय कृष्ण नाम।
सर्वदोष थाकिलेउ जाय कृष्णधाम॥
एई मत सकल शास्त्रेर अभिप्राय।
इहाते सन्देह जार सेई दुःख पाय॥
कृष्णोर भजन छाड़ि जे शास्त्र बखाने।
से अधम कभू शास्त्र मर्म नहीं जाने।

* * * *

शुन भाई सब सत्य आमार वचन।
भजहु अमूल्य कृष्ण पादपद्म धन॥
जे चरण सेविते लक्ष्मीर अभिलाष।
जे चरण सेविया शंकर शुद्धदास॥

-
१. किसी किसी महानुभव का ऐसा विश्वास है कि श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभू के इस इंगित के अनुसार श्रीमज्जीव गोस्वामी चरण ने अपनी श्री हरिनामामृत व्याकरण प्रभृति रचना की है जिसमें सर्वत्र ही हरि नाम और श्री हरि भक्ति ही वर्णन की है।

जे चरण हईते जान्हवी परकाश।
 हेन पाद पद्म भाई सभे हई दास॥
 देखि कार शक्ति आछे एई नवद्वीपे।
 खण्डुक आमार व्याख्या आमार समीपे॥

(श्री चैतन्य भागवत मध्य १ म अध्याय)

इसका अर्थ—(श्री चैतन्य महाप्रभु अपने शिष्यों को व्याकरण पढ़ाते समय कहने लगे) सूत्र वृत्ति टीका सभी में हरिनाम ही है ऐसी व्याख्या आविष्ट होकर करने लगे। प्रभू ने कहा—सर्वकाल हरिनाम ही सत्य है। सारे शास्त्र केवल कृष्ण के लिये ही बोलते हैं अन्य के लिये नहीं। कर्त्ता हर्त्ता पालयिता कृष्ण ही है जो सबके ईश्वर हैं। ब्रह्मा शिव आदि उनके दास हैं। कृष्ण को छोड़कर जो अन्य का व्याख्यान करता है। उसका अकथ्य कथन में जन्म व्यर्थ बीतता है। वेद वेदान्त आदि जितने दर्शन शास्त्र हैं। सभी कहते हैं कृष्णभक्ति ही श्रेष्ठ है। कृष्ण भक्ति छोड़कर जो अन्य राह में जाते हैं वे अध्यापक कृष्ण की माया से मोहित हैं।

कृष्ण करुणा सागर हैं जगत के जीवन हैं नन्द के पुत्र सेवक वत्सल है। ऐसे कृष्ण नाम से जिनका प्रेम नहीं तो सारे शास्त्र पढ़कर उसकी दुर्गति ही है। यदि दरिद्र और अधम कृष्ण का नाम लेता है तो सारे दोष रहने पर भी कृष्ण धाम जाता है।

सारे शास्त्रों का यही मत है इसमें यदि किसी को सन्देह होता है तो वह दुख पाता है। कृष्ण के भजन को छोड़कर जो अन्य कुछ कहता है। वह अधम शास्त्र के अभिप्राय को नहीं जानता है।

* * * * *

अरे भाई मेरे सत्य वचन सुनो। तुम सब श्रीकृष्ण के अमूल्य

चरण कमलों को भजो जिन चरणों की सेवा करने की लक्ष्मी जी सदा अभिलाषा करती है। जिन चरणों की सेवा करके शंकर शुद्ध दास हुये हैं जिन चरणों से गंगाजी निकली हैं। उन चरणों को हम सभी भजे। मैं देखता हूँ कि इस त्रवद्वीप कोई है जो मेरी व्याख्या का खण्डन मेरे सम्मुख कर सके अर्थात् कोई खण्डन नहीं कर सकता।

अतएव श्रीकृष्ण से अधिक या उनके समान और किसी परत्तत्त्व का प्रकाश नहीं है,—यह बात उन्होंने स्वयं ही गीता में सर्वभाव से व्यक्त करके बता दिया है—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।

मयि सर्वमिदं प्रोत सूत्रे मणिगणा इव॥ (७।७)

इसका अर्थ—हे अर्जुन! मेरी अपेक्षा परतर श्रेष्ठ, जगत की सृष्टि और संहार का कारण कुछ भी नहीं है। स्थिति का कारण भी मैं हूँ, तभी कहते हैं—सूत में मणियाँ जैसे गुंथी रहती हैं, उसी तरह मुझमें यह समग्र जगत ग्रथित है अर्थात् मेरे आश्रित रहता है।

(श्री स्वामिपाद टीकानुसार)

परत्तत्त्व विषयक समस्त शास्त्रीय प्रमाण श्रीमदर्जुन द्वारा श्री कृष्ण में प्रत्यक्ष रूप से देखे गये।

केवल यही नहीं शास्त्र प्रमाण द्वारा श्रीकृष्ण के सर्व श्रेष्ठता के विषय में परम सत्य सर्वभाव से प्रमाणित होता है किन्तु वह परमसत्य ही फिर महानुभव श्रीमदर्जुन के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में देखा भी गया।

‘प्रत्यक्षीकृत शास्त्रीय प्रमाण’ रूप ऐसा वैशिष्ट्य और कहीं भी दिखाई नहीं देता।^१

परत्तत्त्व सम्बन्धीय वेदादि सर्व शास्त्रोक्त महा महिमा और सभी विभूति मूलतः उनकी ही है- दूसरे की नहीं—यह बात स्वयं ही सब प्रकार से व्यक्त करके उन्हीं श्रीकृष्ण ही ने फिर अर्जुन के इच्छानुसार उन सबको प्रत्यक्ष कर लेने के लिये भी अर्जुन को आह्वान करके कहा है जिन सब रूपों को तुमने अभी मुझसे सुना है उन्हें यदि तुम देखना चाहते हो तो—हे अर्जुन! वह सभी मेरे शरीर में देखो, मैं तुम्हें उन्हें देखने योग्य दिव्य चक्षु प्रदान करता हूँ।^२

तब श्रीमत् अर्जुन ने वेदोक्त—‘सर्वतः पाणि पादम् तत्—^३ (श्वेता०।३।१९) इत्यादि समस्त ब्रह्म लक्षणों से लेकर, सभी देवताओं को, सभी भूतों के साथ चराचर विश्व ब्रह्माण्ड सभी श्रीकृष्ण के शरीर में प्रत्यक्ष देखा। उनका सर्वव्यापकत्व^४, सर्वदेवमयत्व^५, सर्वेश्वरत्व^६, ब्रह्मा का जनकत्व^७, परम अक्षरत्व या ब्रह्म^८ आदि श्रुत व शास्त्रोक्त जो कुछ परतत्त्व लक्षण है।

१. तभी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन कराके कहा है—यन्मे त्वदन्येन न दृष्ट पूर्वम् (गीता० ११।४७)

अर्थ मेरा यह रूप तुम्हें छोड़कर किसी दूसरे ने पहले नहीं देखा।

२. गीता ११ अध्याय विश्व रूप दर्शन योग दृष्टव्य

३. गीता ११।१०, १६।

४. गीता ११।७, १३, २०,

५. गीता ११।६।१५

६. गीता ११।१८

७. ११।१५

८. ११।८

सभी श्रीकृष्ण की कृपा से श्रीमद् अर्जुन के प्रत्यक्षीकृत विषय रूप में भी प्रमाणित हुये हैं। श्रुति ने जिनको 'न तत्सम्प्राप्यधिकश्च दृश्यते (श्वेता ६।८) अर्थात् 'उनके समान व उनसे अधिक कुछ भी दिखाई नहीं देता' इत्यादि वाक्य द्वारा परोक्ष भाव से निर्देश किया है। उनको ही वेदोक्त उक्त लक्षणों में प्रत्यक्ष देखकर अर्जुन को बहुत आश्चर्य हुआ तभी उन्होंने कहा है—

पितासि लोकस्य चराचरस्य

त्वमस्य पूज्यश्च गुरुरगरीयान।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो

लोकत्रयेऽप्यप्रतिम प्रभाव॥ (११।४३)

इसका अर्थ—उनका अचिन्त्य प्रभाव देखकर कहते हैं 'पितासि' इत्यादि। जिनकी आभा नहीं है। उनको 'अप्रतिम' कहते हैं। जिनका ऐसा प्रभाव है, ऐसे आप हे अप्रतिम प्रभाव वाले। इस चराचर लोक समूह के आप पिता है। अतएव ऐसा होने से आप पूज्य और गुरु हैं गुरु से भी गरीयान गुरतर है। इसलिये परमेश्वर होने के कारण त्रिलोक में आपके समान कोई नहीं नहीं है। आपसे अधिक या श्रेष्ठ और कहाँ होगा? (स्वामीपाद कृत टीकानुसार)

साधारणतः श्री कृष्ण की श्रेष्ठता का ज्ञान और उनकी आराधना में प्रवृत्ति न होने का कारण—उस विषय में प्रमाण का अभाव नहीं

किन्तु उस विषय में निर्गुणा भागवती श्रद्धा का अभाव है।

इस तरह अब यही समझ में आ सकता है कि श्रीकृष्ण का पारम्य अर्थात् उनकी श्रेष्ठता, उनका सर्वकारणत्व, सर्वदेवेश्वरेत्व, सर्वाराध्यत्व आदि के विषय में जहाँ तक प्रमाण का सम्बन्ध है उसका कोई भी अभाव नहीं है फिर उन्हीं श्रीकृष्ण ने गीता में शेष आज्ञा रूप से 'सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज' (१८।६६) अर्थात् 'सभी धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी ही शरण लो' इत्यादि वाक्य द्वारा सभी जीवों को अपने श्री चरणों में स्वयं आह्वान किया है किन्तु इसके पश्चात् भी देखा जाता है कि अपने साध के विषय में जिनकी जैसी श्रद्धा है। वह सभी प्रायः वैसी ही है। उसका यह कारण नहीं है कि श्री कृष्ण के सर्वश्रेष्ठ होने के विषय में प्रमाण का अभाव है। जिस निर्गुणा या स्वप्रकाश भागवती श्रद्धा के उदय होने से उनके सर्वश्रेष्ठ होने की उपलब्धि होकर, उनके आराधना में प्रवृत्ति होती है—ऐसी निर्गुणा श्रद्धा का अभाव ही उस विषय में जीव साधारण की प्रवृत्ति न होने का कारण है।

**जीव की स्वाभाविकी सगुणा श्रद्धावशतः सगुण
उपासना में और निगुणा श्रद्धा के उदय होने से
निर्गुण भागवदाराधना में प्रवृत्ति।**

सात्विक गुणों के भेद से जीव की स्वाभाविकी श्रद्धा मूलतः

तीन प्रकार^१ की होती है। यह पहले बताया चुका है कि उसी के अनुसार उपास्यादि के विषय में प्रवृत्ति होती है। किन्तु भगवान् गुणातीत वस्तु है। उस विषय में श्रद्धा भी निर्गुणा (अर्थात् तीनों गुणों से ऊपर) और अपने आप प्रकाश होने वाली वस्तु है यह केवल महत् संग और कृपा से ही जीव के हृदय में स्वयं ही समुदित होती है इसके अलावा इसके प्राप्त करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। श्रीकृष्ण के भजन में सभी का अधिकार रहने पर भी और भक्ति का नित्यत्व और सार्वत्रिकता अर्थात् सर्वत्र व्यापकत्व होने पर भी^२ उनके विषय में श्रद्धा ही उसमें प्रवृत्ति का मूलकारण है।

इसलिये जब तक भागवती श्रद्धा रूपा शुद्धा भक्ति उदय नहीं होती, तब तक प्रमाण का अभाव न रहने पर भी या वेदादि सर्वशास्त्रों को पूर्ण रूप से जान लेने पर भी श्री कृष्ण और उनकी आराधना के विषय में जीव की प्रवृत्ति उत्पन्न होने का सौभाग्य उदय नहीं होता या यह किसी प्रकार से भी उपलब्धि का विषय नहीं होता कि वेदादि सभी शास्त्रों के कृष्ण विषय और सम्बन्ध है उनकी विषया भक्ति ही अभिधेय और उनके श्री चरणारविन्द में प्रेम ही प्रयोजन है।^३

**शास्त्र विद न होने पर भी भागवत विषय में
प्रवृत्ति और शास्त्र विद होने पर भी अप्रवृत्ति**

१. गीता १७।२-४

२. भक्ति सन्दर्भः १११५ अनुः दृष्टव्य

३. भगवान् सम्बन्ध, भक्ति अभिधेय होय।

प्रेम प्रयोजन-वेदे तीन वस्तु कय।। (चै० मध्य छ पः)

का कारण—निर्गुणा भागवती श्रद्धा का उदय और अनुदय।

तभी तो देखा जाता है कि जिस किसी व्यक्ति में महत्संग संचरित हुई है। वह शास्त्र युक्ति—सुनिपुण हो या न भी हो, उसे भगवत् तत्त्वादि के विषय में पूर्ण ज्ञान हो या न हो—भगवत् विषया श्रद्धा या उस विषय में सुदृढ़ विश्वास पैदा होकर भजन में प्रवृत्ति अवश्य ही उत्पन्न हो जावेगी किन्तु जहाँ महत् कृपा संचारित नहीं हुई है। वहाँ यद्यपि वह शास्त्र युक्ति सुनिपुण भी है अथवा वेदादि सभी शास्त्रों का पूरा ज्ञान भी है। तब भी उसके लिये भगवत् विषय में श्रद्धान्वित होना किसी प्रकार से भी सम्भव न होगा। श्रीकृष्ण व श्रीकृष्ण भक्ति तत्त्वादि के, विषय में उन्हें पूरा ज्ञान रहने पर भी, यहाँ तक उस विषय में दूसरे को उपदेश करने पर भी स्वयं मुख्य भाव से श्रीकृष्णानुशीलन में ऐसे लोगों की प्रवृत्ति न होगी, किन्तु उनकी प्रवृत्ति अपने स्वभाव से उत्पन्न श्रद्धा के अनुसार दूसरी आराधना में या दूसरे उपास्य के विषय में देखी जावेगी यह सुनिश्चय है। अतएव 'भागवती श्रद्धा' पूर्विका भक्ति एकमात्र यदृच्छालब्ध व सुदुर्लभ महत्संगादि से ही आविर्भूत हुआ करती है, इसके अतिरिक्त भगवद्भक्त की उपलब्धि व उपासना किसी के लिये भी सम्भव नहीं है, यह बात शास्त्र व प्रत्यक्ष द्वारा भी प्रमाणित होती है।

श्री भगवान एक मात्र 'भक्ति ग्राह्य' होने के कारण अपना तत्त्व व महिमादि स्वयं जगत के सामने प्रकाश करने पर भी वह, केवल भक्त के

अतिरिक्त किसी दूसरे के ग्राह्य विषय नहीं होते।

तभी तो देखने में आता है कि वेद जिनके निश्वास हैं, उन स्वयरूप परतत्त्व या स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं ही सब जीवों के जानने योग्य सर्वसार सत्य की बात ही सुस्पष्ट रूप से सब जगत को विदित कराने की इच्छा से गीता वाणी रूप में अपने श्रीमुख से अपने को एकेश्वर, सर्वेश्वर पर तत्त्व की परमावस्था (मत्त पर तरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।' (गीता ७।७) और परम् उपास्य बताकर सर्वभाव से घोषणा पूर्वक अपने प्रति ऐकान्तिकी भक्ति को ही परमोपासना रूप में सब प्रकार से निरूपित तो किया परन्तु इस पर भी कितने मनुष्यों ने इस विषय में श्रृद्धान्वित होने का सौभाग्य लाभ किया? जगत में भगवद्गीता और भागवत के आविर्भाव के पश्चात् भी श्रीकृष्ण में ऐकान्तिक शरणागति और मुख्य भाव से उनकी विषया भक्ति के अनुशीलन के स्थान में पहले की तरह कर्मी, ज्ञानी, योगी और अन्यदेवोपासको की श्रृद्धा व प्रवृत्ति उन्हीं विषय में ही दिखाई देती है। इससे महत् संचारित निर्गुणा भागवती श्रृद्धा की यदृच्छलभ्यता इसलिये सुदुर्लभा की बात और दूसरे सगुण धर्म कर्मादि विषयक सगुणा श्रृद्धा की स्वाभाविकता और सहजलभ्यता की बात स्वतः ही प्रमाणित हो जाती है। तभी तो कोटि भक्तों में एक कृष्ण भक्त की सुदुर्लभता की बात ही शास्त्र में कही गई है।^१

१. मूक्तानामपि सिद्धानाम नारायण परायणः

सुदुर्लभा प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

अर्थ—जो मुक्त होकर सिद्ध प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे कोटि व्यक्तियों में भी एकजन सुशान्तचेता नारायणपर व्यक्ति सुदुर्लभ है।

साक्षात्भगवान की कृपा से भी श्रद्धा—(पूर्विका भगवत-भक्ति) उदय नहीं होती जब तक कि भक्त-कृपा या भक्तभाव अंगीकृत भगवान की कृपा जीव में संचारित नहीं होती।

त्रयी निहित उक्त परम निगूढ़ त्रितत्त्व का अलग-अलग शरीर प्रपंच में आविर्भाव ही 'श्रीकृष्ण लीला'।

पूर्वोक्त त्रयी संज्ञक वेद का प्राणकेन्द्र स्वरूप एक ही श्रोत की निगूढ़ त्रिधारा समस्त वेद की परम सार्थकता सम्पन्न करती है। किन्तु परोक्षवाद के पर्दे में रहने के कारण साधारण लोगों के सामने प्रकट नहीं हो पाती—यह सर्व वेद गुह्य श्रीकृष्ण,—श्रीकृष्ण भक्ति और श्रीकृष्ण भक्त रूप त्रितत्त्व जब अलग अलग शरीर से जगत में प्रकट होकर अपूर्व लीला माधुरी विस्तार करते हैं—तब उसका ही नाम होता है 'श्रीकृष्ण लीला' सृष्टि के वक्षस्थल पर सर्वतत्त्वमय स्वयं सृष्टा के इस लीला रस रूप में आविर्भाव सृष्टि के इतिहास में ऐसा है कि उसकी अपेक्षा श्रेष्ठतम मांगलिक घटना और कोई भी नहीं हो सकती। उस समय वह सब जीवों को अपना सुदुर्लभ स्वरूप व अपनी महिमादि की यथार्थ उपलब्धि और अपनी आराधना में प्रवृत्तिरूप श्रेष्ठतम पुरुषार्थ प्रदान के निमित्त स्वकृपा से और श्रीमान् अर्जुन—उद्धवादि प्रिय भक्तों के अनुरोध से, अपने श्रीमुख से खुले भाव से स्वयं ही अपने को जगत के सामने सब प्रकार से प्रकाश करते हैं जिससे मृत्युलोक में रहने वाले जीव अमृतत्व लाभ करके

परम धन्य हो सके।^१

किन्तु केवल महत् कृपादि को छोड़कर भगवत् कृपा से भी भगवत् विषय में प्रवृत्ति की कारण रूपा भागवती श्रद्धा उदय नहीं होती।^२ इतनी बड़ी कृपा का सुयोग पाने पर भी उसका साधारण जीवों के ग्रहण योग्य न होने का कारण पहले बताया जा चुका है।

**श्रीकृष्ण के विषय में प्रकृष्ट चैतन्य व उनकी
विषया भक्ति प्रदान के निमित्त—उक्त
त्रितत्त्व का एकीभूत रूप से जगत में,
आविर्भाव ही है 'गौर लीला'।**

उक्त सारे बन्धन को हटाकर जीव जगत को चिर दुर्लभ श्रीकृष्ण के विषय में प्रकृष्ट चैतन्य (परिपूर्ण ज्ञान) व ब्रज प्रेमाख्य सर्वोत्तमा कृष्ण भक्ति विपुल भाव से प्रदान करने के लिये उक्त त्रितत्त्व ही एकीभूत होकर परवर्ती आविर्भाव विशेष में श्री मन्महाप्रभू^३ श्रीकृष्ण चैतन्य रूप में जगत में प्रकटित होते हैं। इसी

१. गुह्यम् विशुद्धमदुर्बोधम् यम् ज्ञात्वा मृतमश्नुते।' (भा० ६।३।२१)

२. लोको विकर्मनिरतः—' इत्यादि (भा० ३।६।१७) द्रष्टव्य

३. इनको ही श्रुति में अतिनिगूढ़ भाव से 'महानप्रभू' या महाप्रभू नाम से ही निर्देश किया गया है; महान प्रभूवैपुरुषः सत्त्वस्यैव प्रवर्तक। सुनिर्मलमिमां प्राप्ति मी शानोज्योतिरव्ययः (श्वेताः० ३।१२) अर्थ—वह पुरुष महानप्रभू है। वह बुद्धिवृत्ति के प्रवर्तक हैं। उनकी कृपा से ही सुनिर्मल परमाशान्ति प्राप्त हो जाती है। वह ज्योतिमय व अव्यय अर्थात् अक्षय है।

का नाम है 'श्री गौर लीला'। अप्रकट प्रकाश में नित्य ही लीला करते रहने पर भी वह केवल अपने प्रकटकाल में निजगण सहित भक्तिभाव से 'पंचतत्त्व' होकर^१ श्रीकृष्ण के विषय में पूर्ण उपलब्धि के साथ ब्रह्मादिदुर्लभ श्रीकृष्ण नाम प्रधान^२ प्रेमभक्ति बिना किसी बाधा के सब जीवों को प्रदान करते हैं। परिपूर्ण ऐश्वर्य माधुर्य व उदारमय श्रीकृष्ण स्वरूप से उनके इस आविर्भाव विशेष की वैशिष्ट्यता यह है कि इस अवतार के समय ही विशेष भाव से उनसे अन्यत्र दुर्लभ जो वस्तु थी उसे महा उदार होकर बाँट दिया। अर्थात् 'भक्ति'। जिससे जीव जगत का परम् प्रयोजन सुसिद्ध होता है। 'त्रयी' या वेद के परम गुह्यतम परतत्त्व की सीमा यही है 'श्री गौर'। इस विषय की आलोचना बाद में उचित स्थान पर की जायेगी।

इस तरह से यहाँ तक जो कुछ आलोचना की गई है। उसका फल यह हुआ कि हम समझ सकें कि समस्त वेद में परोक्षवाद के परदे के अन्दर जो छिपाकर रखा गया है। उसका ही सारार्थ संक्षेप में श्री गीता में और विस्तारार्थ श्री भागवत में खुले तौर से सुस्पष्ट रूप में प्रकाशित है। समस्त वेद का वह निगूढ़ व मुख्य तात्पर्य ही है—श्री कृष्ण, श्रीकृष्ण भक्ति और श्रीकृष्ण भक्त और भी संक्षेप में भगवान् भक्ति और भक्त अथवा एक शब्द में 'भागवतधर्म'।

१. पंचतत्त्वात्मकं कृष्णं भक्तरूप स्वरूपकं। भक्तावतारं भक्ताख्यं नमामि भक्तशाक्तिकं॥ (चै० ७ पः)

२. उनके द्वारा सर्वभाव से यही प्रचारित हुआ है कि नवधा भक्ति में श्री नाम में सर्व श्रेष्ठता का बोध न रहने से, दूसरे व किसी के साथ समता चिन्तन से "नामापराध" होता है। बाद में यथास्थान में यह विषय आलोचित होगा।

चतुः श्लोकी

जो श्री भगवान द्वारा कहा गया और उनके विषय का धर्म है, उसका ही नाम है 'भागवत धर्म'। सृष्टि के आदि में श्री भगवान ब्रह्मा को बीज रूप में जो भागवत श्रीमुख की वाणी द्वारा सुस्पष्ट रूप में उपदेश करते हैं—वही 'चतुः श्लोकी' नाम से प्रसिद्ध है।^१ वही ब्रह्मा के ध्यान में विस्तार होकर पूर्ण भागवत रूपी महावृक्ष में परिणत होती है। जो चतुःश्लोकी का खुला या अपरोक्ष प्रकाश है और सृष्टि के प्रारम्भ में श्री भगवान से निःश्वास की तरह प्रादुर्भूत होकर चतुर्वेद के नाम से 'पश्चात्' में ब्रह्मा के चतुर्मुख से जो निकली है।^२ वह चतुः श्लोकी का छिपा हुआ या परोक्ष प्रकाश है।

इसलिये 'वेद' और 'भागवत' सभी एक भागवत धर्म को छोड़कर दूसरा कुछ भी न होने पर भी परोक्ष या आच्छादित होने के कारण अस्पष्ट वेद से भागवत धर्म से भिन्न नाना मतवाद के प्रादुर्भाव^३ की सम्भावना हुई है। जो भागवती श्रद्धा के उदय न होने तक के लिये स्वाभिविकी श्रद्धावान व्यक्तियों के लिये उनके अधिकार के अनुसार गौण भाव से उपयोगी भी हो जाते हैं। इस विषय की आलोचना यथास्थान में विस्तारित भाव से बाद में की जायेगी।

१. श्री भा० २।६।३२-३५ द्रष्टव्य

२. श्री भा० ३।१२।३४ द्रष्टव्य

३. श्री भा० १।१।१४।६

पंचम उद्भाषण

ब्रह्म विचार से श्रीकृष्ण का पूर्ण ब्रह्मत्व,
निर्विशेष ब्रह्म का आश्रयत्व और
श्रुति उक्त ब्रह्म लक्षणों का मुख्य तात्पर्य
परोक्षभाव से श्रीकृष्ण में ही पर्यवसित
यही प्रतिपादित होगा।

अचिन्त्य विरुद्धाविरुद्ध धर्माश्रय या सर्वशक्तिमत्
ब्रह्म ही श्रुति प्रतिपाद्य ब्रह्म वस्तु।

पूर्वोक्त प्रसंग के सम्बन्ध में फिर एक दूसरी बात विचार योग्य
यह है कि यदि सभी श्रुतियाँ ब्रह्म पर होने के कारण^१ तमीश्वराणां
परमं महेश्वरं। (श्वेता० ६।७)

इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति वर्णित परमदेवता को 'ब्रह्म' ही माना
जाय, तब भी उसके परवर्ती श्लोक में 'ब्रह्मा को पैदा करना, ब्रह्मा
को उपदेश करना आदि का उल्लेख देख कर कम से कम यह सुस्पष्ट
रूप से कहा जा सकता है कि वह केवल निराकार, निर्विशेष
निर्धर्मक, निष्क्रियादिरूप—'मायावादी का ब्रह्म नहीं' है। यह वैसा
होने पर भी स्वकीय सर्वशक्तिमत्ता का सामर्थ्य होने के कारण
अचिन्त्य, अनन्त, विरुद्धाविरुद्ध धर्म के आश्रय है। तभी तो

१. 'औपनिषदं पुरुषं—' (वृ आ० ३।९।२६) अर्थ—यह उपनिषद् प्रतिपाद
पुरुष। उपनिषद में ब्रह्मवस्तु प्रतिपादित हुई है। इसलिये ब्रह्म को
'उपनिषत् प्रतिपाद्य पुरुष' एवं श्रुति को 'ब्रह्म पर' कहा है।

निराकार होकर भी साकार होकर उन्होंने ब्रह्मा को दर्शन दिया है। निष्क्रिय होने पर भी ब्रह्मा की सृष्टि किया है, निधर्मक होकर भी सधर्मक रूप में ब्रह्मा के वेदोपदेष्टा हुये हैं फिर ऐसा होकर भी उन अपने सभी कार्यों से सम्पूर्ण अस्पष्ट रूप से चिदानन्दस्वरूप में, स्वरूप वैभव के साथ नित्य ही विराजमान रहते हैं। सभी श्रुतियाँ इस प्रकार विरुद्धाविरुद्ध धर्माश्रय अचिन्त्य अनन्त शक्तिमत ब्रह्म के प्रतिपादक हैं।

द्रव्य गुण व कर्म के अनुसार शक्ति कार्य की त्रिविध अभिव्यक्ति का ही नाम 'भाव' या 'धर्म' है।

अविचिन्त्य शक्तिमत ब्रह्मवस्तु का शक्तिकार्य अर्थात् शक्ति पदार्थ प्रधानतया द्रव्य गुण व क्रिया के अनुसार तीन प्रकार से अभिव्यक्त होता है। सूर्य चन्द्र आकाश वायु, देव, नर, असुर, किन्नर, कीट-पतंग, पुष्प पत्र, घट, पट आदि की तरह के सभी पदार्थों को 'द्रव्य' कहते हैं। शीतल स्निग्ध, सुन्दर, पवित्र, करुण, कोमल, कठोर, उष्ण उग्र महान, व्यापक, सगुण, साकार, सविशेष आदि की तरह के सभी पदार्थों को 'गुण' कहते हैं और चलना, बोलना, होना, देना, जाना, ठहरना आदि की तरह की सभी क्रिया को 'कर्म' कहा जाता है। शक्ति कार्य की प्रधानतः इन तीन प्रकार की अभिव्यक्ति को एक वाक्य में 'भाव' या 'धर्म' कहते हैं।

अपने अपने अविरुद्ध व विरुद्ध भाव के साथ उक्त

द्रव्य गुण कर्म की ही समूर्त अवस्था है।

लौकिकालौकिक निखिल विश्व संसार।

उक्त द्रव्य गुण व कर्म अथवा और भी सहज बोध्य विशेष्य

विशेषण व क्रियापद निर्दिष्ट त्रिविध पदार्थ का समूर्त भाव लौकिक अलौकिक निखिल विश्व संसार है अनन्त ब्रह्म शक्ति का परिणाम रूप उक्त तीन पदार्थ का अविरुद्ध भाव में या अपने अपने विरुद्ध भाव के साथ विद्यमान होकर अनन्त, असंख्य पृथ्वी आदि विभूति उनमें अविरुद्ध भाव यथा—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, आकाश, समुद्र, कीट-पतंग, नील-लोहित आदि।

१. विरुद्ध द्रव्य भाव यथा—सुर-असुर, समुद्र-रेत, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, दाता-गृहीता, अणु-महत, कुमार-कुमारी आदि।

२. विरुद्ध गुण भाव यथा—शीतल-उष्ण, कोमल-कठोर, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, महान-अमहान, व्यापक-अव्यापक, स्थूल-सूक्ष्म, सविशेष-निर्विशेष आदि।

३. विरुद्ध कर्म भाव यथा—चलना-न चलना, छोटा होना-बड़ा होना, होना-न होना, जाना-न जाना, देना-न देना आदि।

**‘तटस्थ’ व ‘स्वरूप’ इन दोनों लक्षणों से ब्रह्म
वस्तु श्रुतियों में निरूपित हुआ है।**

शक्तिगत धर्म या तटस्थ लक्षण और स्वरूप गत धर्म या स्वरूप लक्षण इन दो प्रकार के लक्षणों से वेदादिशास्त्रों में ब्रह्मवस्तु को निर्देश किया गया है। उनके कार्य द्वारा उनका जो परिचय मालूम होता है। वह तटस्थ लक्षण या शक्तिगत धर्म है और उनके आकार प्रकार या रूप गुणादि विषय का जो परिचय है। वही स्वरूप लक्षण या स्वरूप गत धर्म है। पहले हम श्रुति वर्णित तटस्थ लक्षण से अर्थात् उनके शक्तिगत धर्म द्वारा ब्रह्म लक्षण से परिचित होकर पश्चात् स्वरूप लक्षणसे उनका परिचय प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे।

उक्त अविरुद्ध व विरुद्ध धर्म का युगपत् प्रकाश व अप्रकाश सामर्थ्य ही सर्वशक्तिमत्ता की परिचायक है किन्तु केवल किसी एक पक्षीय धर्म का प्रकाश सामर्थ्य नहीं।

इस तरह समझ में आजायगा कि उक्त विरुद्ध धर्म का एक ही पक्ष अर्थात् केवल निराकार निर्विशेष, निष्क्रिय, निधर्मक आदि एक देशीय या एक पक्षीय धर्म के जो आश्रय है वैसे 'ब्रह्म' की निर्देश करने वाली श्रुतियाँ नहीं है। ऐसा मानने से ब्रह्म को सर्वशक्तिमत्ता को सीमा में बाँधना पड़ता है इसलिये सुस्पष्ट रूप से विविध शक्तियुक्त शक्तिमत् ब्रह्म ही सब श्रुतियों में स्वीकृत हुये हैं।^१ अचिन्त्य सर्वशक्तिमत्ता सामर्थ्य रखने के कारण जो एक ही समय सविशेष होकर भी निर्विशेष हो सकते हैं और निर्विशेष होने पर भी सविशेष हो सकते हैं। जो साकार होकर भी निराकार हो सकते

१. य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोजाद् वर्णन नेकान निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः सन नो बुद्ध्या शुभया संयुक्तं
(श्वेताश्व ०४।१)

अर्थ—जो स्वयं वर्णरहित होने पर भी अपनी नाना शक्ति द्वारा विविध वर्णों * की सृष्टि करते हैं और विश्वादि उनके द्वारा उत्पन्न, उनके द्वारा रक्षित और अन्त में उनमें ही लीन होते हैं। वह देवता हम लोगों को शुभकारी बुद्धि प्रदान करें।

परास्य शक्ति विविधैव श्रुयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (ऐ ६।८)

अर्थ—उनकी विविधा पराशक्ति व स्वाभाविकी ज्ञान बल व क्रिया की बात श्रवण की जाती है।

*चतुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्—(गी० ४।१३)

नील पतंगो हरितो लोहिता क्षः—(श्वेता० ४।४)

हैं। जो निर्गुण निधर्मक निष्क्रियादि होने पर भी सगुण सधर्मक सक्रियादि हो सकते हैं और वैसा होने पर भी फिर उसी समय ही वह यह सब कुछ भी नहीं हो सकते और कुछ न होकर भी सभी कुछ होते हैं और हो सकते हैं ऐसे अचिन्त्य लक्षण युक्त सर्वसमर्थ ब्रह्म ही सब श्रुतियों के प्रतिपाद्य ब्रह्म वस्तु है इस प्रकार जो कुछ असम्भव, जो कुछ सम्भव, युगपत् जो कुछ सम्भव असम्भव है—जो कुछ होना जो कुछ न होना, जो कुछ होकर भी कुछ न होना शक्तिगत सब विरुद्धाविरुद्ध धर्म का प्रकाश व अप्रकाश सामर्थ्य साथ ही साथ एक ही समय में जिनसे सम्भव होता है; ऐसे अचिन्त्य ब्रह्म ही सभी श्रुतियों के प्रतिपाद्य ब्रह्मवस्तु है। जिसे हम बाद में आलोचना द्वारा प्रतिपादन करने में सचेष्ट होंगे।

‘अचिन्त्य’ शब्द का अर्थ श्रीस्वामिपाद ने लिखा है ‘अचिन्त्याम् तर्कासहाजम ज्ञानम्’ अर्थात् युक्ति तर्क के अतीत जो ज्ञान है वही अचिन्त्य है श्री जीवपाद ने लिखा है—‘दुर्घट घटत्वं हि अचित्त्वम्’—जो असम्भव है वह भी सम्भव होने से अचिन्त्य है। श्री रूप पाद ने लिखा है—‘प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यं स्य लक्षणम्’। प्रकृति के सभी विकारों के अतीत या आप्राकृत जो वस्तु है। वही अचिन्त्य लक्षण है।

ब्रह्म के शक्तिगत अचिन्त्य विरुद्धाविरुद्ध धर्म के अतिरिक्त केवल अविरुद्ध—अर्थात् केवल सर्वकल्याणमय स्वरूपगत धर्म विशिष्ट ब्रह्मवस्तु ही श्रुतियों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

और वही परोक्षवाद में आच्छादित सर्वमूल श्रीकृष्ण है।

शक्तिगत धर्म में इस प्रकार होने पर भी जो फिर उसी समय ही उसके अतिरिक्त अपने स्वरूपगत अविरुद्ध धर्म—लक्षण में अर्थात् जो सर्व हेयगुण (सांसारिक गुण) विवर्जित—केवल अलौकिक—अनन्त कल्याण गुणमय अशेष सौन्दर्य व माधुर्य—निलय—नवीन जलदकान्ति नवकिशोर स्वरूप में स्वरूप वैभव सहित नित्य लीला परायण है। ऐसे किसी एक अचिन्त्य—अति अदभुत—अनन्त शक्तिमत् ब्रह्म को ही सभी श्रुतियों ने सर्वभाव से वर्णन किया है और वही स्वयंरूप परतत्त्व श्रीकृष्ण है; यह भी सर्व भाव से प्रमाणित हो जाता है। वेद के समझने में कठिन व परोक्षवाद के दुर्मेघ पर्दे में, उनकी इच्छा से उन्हें ढका रखा जाने पर भी तिनके से ढकी अग्नि (कृष्णोपनिषद् गोपालतापनी उपनिषद् आदि द्रष्टव्य) की तरह वह परम सत्य सर्वभाव से विदित ही हो जाता है।

सभी श्रुतियों ने नानाभाव से वर्णित सभी तटस्थ
लक्षणों का युगपत् संयुक्त व समन्वित भाव ही
होता है शक्ति व शक्ति मत ब्रह्म में
अचिन्त्य भेदाभेद लक्षण।

सब श्रुतियों ने ऐसे ब्रह्म वस्तु को प्रथमतः शक्तिगत धर्म से या तटस्थ लक्षण से नाना भाव से प्रकाश किया है।—कही तो—(१) अचिन्त्य विरुद्धाविरुद्ध लक्षण से, कही (२) केवल विरुद्धालक्षण से

या (३) केवल विरुद्ध धर्म के एक पक्षीय लक्षण से या (४) केवल अविरुद्ध धर्म लक्षण से निर्देश किया है फिर विशेष विशेष स्थलों में, (५) इनके अतिरिक्त अर्थात् स्वरूपगत केवल अविरुद्ध लक्षण से अर्थात् सब हेयगुण (प्राकृत गुण या धर्म) विवर्जित केवल आप्राकृत अशेष कल्याण रूप—गुणादि विशिष्ट स्वरूप लक्षण से उनको निरूपण किया है।

सब शक्तिगत विरुद्धाविरुद्ध समस्त धर्मों को युगपत् समन्वित करके, उन सबके होने के सामर्थ्य के साथ-साथ उसके विरुद्ध या विपरीत एक समय में न होने का समर्थ्य भी उसके साथ जोड़ने से जो प्रकाश होता है, वही होता है। ब्रह्म वस्तु का परिपूर्ण तटस्थ लक्षण और इसी का ही नाम है 'अचिन्त्य लक्षण'। अर्थात् शक्तिगत लक्षणों से, उनके सभी शक्तिधर्म के साथ उनके स्वरूप को अप्रथक या अभेद भी चिन्ता न किया जा सके और प्रथक या भेदभी चिन्ता न किया जा सके—एक ही साथ ऐसे लक्षणों का जहाँ प्रकाश है—वही—शक्ति व शक्तिमान में 'अचिन्त्य भेदाभेद लक्षण के नाम से कहा जाने योग्य है।^१

-
१. तस्मात् स्वरूपादि भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वा त्वाद्भेदः भिन्नत्वेन चिन्तयितुम शक्यत्वाद भेदश्च प्रतीयत इति शक्ति—शक्तिमतो भेदाभेदावेवांगीकृतौ तौ च च अचिन्त्यौ इति—(श्री भगवत सन्दर्भीय—सर्व सावादिनी?

अर्थ—क्योंकि स्वरूप से शक्तिको अभिन्नरूप में चिन्ता न किया जाने के कारण अभेद प्रतीत होता है। फिर भिन्न रूप में भी चिन्ता न किये जाने के कारण अभेद प्रतीत होता है। अतः शक्ति और शक्तिमान का भेदाभेद अचिन्त्य है।

ब्रह्म के स्वरूप धर्म में और धर्मों में अभेद लक्षण
अर्थात् स्वरूपगत-रूप-गुणादि स्वरूप से
सम्पूर्ण अभिन्न तत्त्व है और यह स्वरूप लक्षण ही
है और भी परम अचिन्त्य लक्षण।

यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि उक्त शक्तिगत धर्म
के अतिरिक्त उनकी स्वरूपगत पूर्वोक्त (५) अशेष कल्याण गुण
रूपादिमय केवल अविरोद्ध धर्म में और धर्मों में सम्पूर्ण अभेदरूप से
स्वरूप वैभव के साथ जो नित्य अवस्थिति है। ब्रह्म वस्तु का यह
स्वरूप लक्षण पूर्वोक्त शक्तिगत अचिन्त्य भेदाभेद लक्षण के भी ऊपर
और भी महा अचिन्त्य लक्षण है। यही है सर्व प्राकृत गुण सम्बन्ध
विवर्जित-आप्राकृत रूप गुणमय नित्य लीला परायण-स-विशेष
श्री भगवत् स्वरूप या सर्वमूल स्वयं श्री कृष्ण स्वरूप।

श्रुति वर्णित ब्रह्मवस्तु के तटस्थ और स्वरूप लक्षणों का यथाक्रम से दृष्टान्त प्रदर्शन।

अब यथाक्रम से सब श्रुतियों से उक्त सभी लक्षणों के कुछ
दृष्टान्त दिग्दर्शन स्वरूप यहाँ संक्षेप में प्रदर्शित है।^१

(१) ब्रह्म वस्तु का अचिन्त्य विरोद्धाविरोद्ध धर्म लक्षण या
परिपूर्ण तटस्थ लक्षण यथा 'अस्थुलोऽनणु-रममध्यमो
मध्यमोऽव्यापको व्यापको हरिरादिरणादिरविश्वो विश्वः सगुणो
निगुणः इति' (श्री भगवत् सन्दर्भ धृत (३२) मध्व भाष्य प्रमाणित

१. इसकी विस्तारित आलोचना गन्धकार कृत 'श्री नाम चिन्तामणि'
ग्रन्थ के प्रथम किरण के षष्ठ उल्लास में देखना चाहिये।

श्रुति वाक्य)।

उक्त श्रुति में जिसे 'व्यापक' लक्षण से निर्देश किया गया है। उसे ही फिर अव्यापक बताया गया है। वह केवल व्यापक और अव्यापक 'विरुद्धधर्म युक्त ही नहीं है किन्तु ऐसे होकर भी फिर 'मध्यम' रूप अविरुद्ध धर्म युक्त भी वह है फिर वह युगपत् 'व्यापक' अव्यापक और 'मध्यम' रूप विरुद्धाविरुद्ध धर्माश्रय होने पर भी उसी एक समय में वह 'अस्थूल' हैं (अर्थात् व्यापक और महत् नहीं हैं), अनणु, है (अर्थात् सूक्ष्म या अव्यापक नहीं हैं) और अमध्यम अर्थात् मध्यम भी नहीं है। इस प्रकार आदि होकर भी अनादि विश्वातीत होकर भी विश्व, सगुण होकर भी निर्गुण इत्यादि प्रकार से युगपत् समस्त विरुद्ध व अविरुद्ध धर्म के वही आश्रय है। ऐसे अति अद्भुत अचिन्त्य अवितर्क्य सर्वशक्तिमत् पुरुष को ही सर्वसमर्थ या श्री भगवान्^१ कहते हैं।

(उक्त श्रुति वाक्य में उनको स्पष्टतः भगद्वाचक 'हरि' शब्द से ही उल्लेख किया गया है।)

(२) युगपत् विरुद्धधर्म लक्षण यथा

(क) "अणोरणीयान् महतो महीयान्"^१

(श्वेताश्व ०।३।२०)

अर्थात् वह (ब्रह्म) सूक्ष्मतर महान् से भी महत्तर है।

(ख) "दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च—।" (मुण्डक ०।३।७)

अर्थात्—वह दूर से भी सूदूर में है और निकट से भी सन्निकट है।

(ग) "अजायमानो बहुधा विजायते"

(पुरुषसूक्त)

१. ब्रह्म शब्दे मुख्य अर्थ कहे भगवान्। चिदैश्वर्य परिपूर्ण अमूर्द्ध समान श्री चै० ७ प०)

अर्थात्—वह जन्मरहित होने पर भी बहुधा जन्म ग्रहण करते हैं।

(घ) “अपाणिपादो जवनो ग्रहीता” (श्वेता० ०।३।१६)

अर्थात्—वह हाथ पैर रहित होकर भी ग्रहण व गमन करते हैं। इत्यादि।

(ङ) “आसीनो दूरं ब्रजति शयानो याति सर्वतः।”

(काठके० १।२।२१)

अर्थात्—जो एकजगह स्थित रहकर भी दूर जाते हैं। सोते रहने पर भी सर्वत्र जाते रहते हैं।

(३) विरुद्ध धर्म का एक पक्षीय लक्षण; यथा

(क) “सर्वत्र पाणि पादै तत्”—(श्वेताश्व० ३।१६)

अर्थात्—सर्वत्र जिनके हाँथ पैर हैं।

“अपानिपादो—” (श्वेताश्व ३।१६)

अर्थात्—वे हाथ पैर हीन हैं।

(ख) “सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्—”

(श्वेताश्व० ३।१४)

अर्थात्—जो हजारों सिर चक्षु व चरण वाले हैं। पश्यत्य-
चक्षुः—(श्वेताश्व० ३।१६)

अर्थात्—जिनके आँख नहीं हैं फिर भी देखते हैं।

(ग) अशब्दम् स्पर्शमरूपम्—“(श्वेताश्व० ३।१५)

अर्थात्—जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप हैं।

“विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्—” (श्वेताश्व० ४।१४)

अर्थात्—जो विश्व के सृष्टि कर्ता हैं, जिनके अनेक रूप हैं।

(४) शक्तिगत अविरुद्ध धर्म लक्षण; यथा

(क) “नील, पतंगो हरितो लोहिताक्ष स्तडिदगर्भ ऋतवः

(श्वेताश्व० ४।४)

समुद्रा।”

अर्थात्—तुम (ब्रह्म) भ्रमरादि नील पतंग हो लाल चक्षु—
हरितवर्ण शुकादि तुम ही हो; तुम तड़ितगर्भ मेघ, ऋतु और सागर
समूह हो।

(ख) “तदेवाग्निस्तदादित्यस्त द्वायुस्तद चन्द्रमाः।”

(श्वेताश्व० ४।२)

अर्थात्—जो वह अग्नि, वह आदित्य, वह वायु है वही चन्द्रमा
है।

(५) अब स्वरूप लक्षण अर्थात् स्वरूपगत केवल अविरुद्ध धर्म—
लक्षण के केवल कुछ दृष्टान्त प्रदर्शित हैं;—यथा

(क) “यत् ते रूपं कल्याणतमं—” (वृहदारण्य० ५।१५।१)

अर्थात्—आपका कल्याणमय अति मधुर रूप।

(ख) “रसो वै सः”—(तैत्ति० २।७)

अर्थात्—वह रस स्वरूप है

(ग) अपहृत् पापना विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्
सोऽपिपासः सत्यकाम सत्य संकल्पः। (छान्दो० ८।७।१)

अर्थात्—वह (स्वरूपतः) पाप रहित जरा मृत्यु शोकहीन—
पिपासा वर्जित, सत्यकाम सत्यसंकल्प इत्यादि है।

अतएव केवल अविरुद्ध धर्म या विरुद्ध धर्म का एक पक्षीय
लक्षण से नहीं—श्रुति वर्णित समस्त लक्षण जिनमें समन्वित है—उन्हें
ही श्रुति प्रतिपाद्य ब्रह्म जानना चाहिये।

समस्त विरुद्धाविरुद्ध धर्म का युगपत् प्रकाश व
अप्रकाश सामर्थ्य को छोड़कर ब्रह्म की सर्व-
शक्तिमत्ता या सर्वसक्षमता सिद्ध नहीं होती।

इनके अतिरिक्त (१) केवल अविरुद्ध धर्म के प्रकाश द्वारा या

(२) केवल विरुद्ध धर्म के किसी एकतर पक्ष के प्रकाश सामर्थ्य द्वारा अथवा (३) विरुद्ध धर्म के युगपत दोनों पक्षों के अप्रकाश सामर्थ्य हीन केवल प्रकाश सामर्थ्य द्वारा सर्वशक्ति मत्ता या सर्वसक्षमता सिद्ध नहीं होती किन्तु (४) विरुद्ध-अविरुद्ध धर्म का युगपत प्रकाश सामर्थ्य—और प्रकाश सामर्थ्य के विरुद्ध अप्रकाश सामर्थ्य।

एक ही समय में इस प्रकार प्रकाश व अप्रकाश सामर्थ्य युक्त? विरुद्धाविरुद्ध धर्म का आश्रयत्व ही है सर्वशक्तिमत्ता का और सर्वसक्षमता का प्रकृष्ट परिचायक और इसी का ही नाम है अचिन्त्य लक्षण।

उक्त प्रकार अचिन्त्य ब्रह्म सामर्थ्य के सम्बन्ध में श्रीमत् जीव गोस्वामी चरण ने बहुत ही संक्षेप में केवल तीन शब्द द्वारा सुस्पष्ट रूप से इस तरह व्यक्त किया है यथा,—‘तस्माच्चैष ईश्वर कर्तूमकर्तूमन्यथा कर्तूम समर्थः।’ (क्रम सन्दर्भः:१) (भा० ७।६।२-३)^२ अर्थात् उक्त अचिन्त्य विरुद्धाविरुद्ध धर्म के प्रकाश के विषय में

१. किमस्तिन्तस्ति व्यवदेश भूषितं—इत्यादि देखना चाहिये (भा० १७।१४।१२)
२. स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभू के श्रीमुख की उक्ति से भी यह मालूम हो जाता है—यथा
तारे रक्षा करिते यदि हय सवार-मन।
सभे मिलि जानाहु जगन्नाथेर चरण॥
ईश्वर जगन्नाथ—जार हते सर्व अर्थ।
कर्तूम कर्तून्यथा करिते समर्थ।

(श्री चै० ३।४३-४४)

जो एक समय में ही करने में भी समर्थ न करने में भी समर्थ और किसी एक को दूसरे प्रकार भी करने में समर्थ है—वही सर्वशक्ति मत् ब्रह्म लक्षण से लक्षित होने योग्य है और वही होते हैं परमेश्वर या श्री भगवान।

फिर (५) शक्तिगत सामर्थ्य, वैसा होने पर भी—उसके अतिरिक्त अपने स्वरूपगत आप्राकृत रूपगुणादि के साथ सम्पूर्ण अभिन्न रूप में लीलायित स्वरूप में जो अवस्थिति है ऐसे स्वरूपगत सामर्थ्य का अचिन्त्य शक्तिगत अचिन्त्य लक्षण से भी और भी महा अचिन्त्य ही जानना चाहिये।

पूर्वोक्त १-४ संख्यक लक्षणों के सदृष्टान्त का पुनरुल्लेख और अद्भुतत्व व अचिन्त्यत्व में पार्थक्य निर्णय।

उक्त विषय को समझने के लिये सदृष्टान्त यही कहा जा सकता है कि—

(१) जो भ्रमरादि नील पतंग, लोहित चक्षु हरिद्वर्ण शुकादि या मेघा ऋतु सार या अग्नि आदित्यादि की तरह केवल सभी अविरुद्ध धर्म के प्रकाश के विषय में सामर्थ्य है किन्तु विरुद्ध में नहीं तो केवल वैसा होने से उनकी सर्वशक्तिमत्ता या सर्वसक्षमता तो सिद्ध नहीं होती।

(२) अथवा यदि केवल अणु है किन्तु युग पत महत् नहीं है, केवल दूर में है—निकट नहीं, केवल निकट है दूर में नहीं है अथवा केवल साकार, सविशेष सक्रिय सधर्मक है युगपत उसके विरुद्ध या विपरीत निराकार, निर्विशेष, निष्क्रिय, निधर्मक नहीं है या केवल निराकार निर्विशेष, निष्क्रिय या निधर्मक किन्तु युगपत उसके विरुद्ध

साकार, सविशेषादि नहीं है तो भी उनकी सर्वशक्तिमत्ता सिद्ध नहीं होती।

क्योंकि क्षुद्र होकर बृहत् न हो सकना यह जैसे अक्षमता का परिचायक है। उसी तरह बृहत् होकर क्षुद्र न हो सकना भी वैसे ही सामर्थ्य की अक्षमता का परिचायक है। इसी सभी विरुद्ध धर्मों के एक पक्षीय सामर्थ्य के सम्बन्ध में यही बात प्रयुक्त है इसलिये इसके द्वारा सर्वशक्तिमत् ब्रह्म लक्षण सिद्ध नहीं हो सकता और इस प्रकार विरुद्ध धर्म का किसी एक देश या एकतर लक्षण का आश्रयत्व अचिन्त्य भी नहीं है यहाँ तक कि उसमें अद्भुतत्व भी नहीं है।

(३) अथवा जो केवल अणु महत्, दूर में निकट में, साकार निराकार, सविशेष निर्विशेष, सक्रिय निष्क्रियादि-युगपत् विरुद्ध धर्म के प्रकाश के विषय में समर्थ है किन्तु उसी समय उसके विपरीत अप्रकाश सामर्थ्य—उसके प्रकाश के विषय में असमर्थ, उनके लिये भी सर्वशक्ति मत्तादि ब्रह्मलक्षण सिद्ध नहीं होता। युगपत् विरुद्ध धर्म का केवल प्रकाश सामर्थ्य अन्यत्र असम्भव होने से वह अति अद्भुत बोध तो हो सकता है किन्तु वह अद्भुतत्व हम लोगों के समझ की सीमा के बाहर न होने के कारण अचिन्त्य लक्षण नहीं है।

ब्रह्म सामर्थ्य स्वभावतः ही हम लोगों के वाक्य व मन के अतीत सीमा में अवस्थित होने के कारण अचिन्त्य विषय है तब भी यथेष्ट रूप में शास्त्र प्रतिपाद्य और पूर्णरूप से भक्ति ग्राह्य है।

श्रुति ने ब्रह्म सामर्थ्य को समझ की सीमा के बाहर-अचिन्त्य

लक्षण से ही निर्देश किया है:—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो
विद्वान न विभेति कुतश्चन॥ (तैत्ति० २।६)

अर्थात्—जिनकी महिमा व विभूति आदि की सीमा न पाकर
वाक्य मन के सहित वापस आ जाता है। ऐसे ब्रह्म के आनन्द का
जिन्हें ज्ञान है। वह किसी भी वस्तु से भयभीत नहीं होते। इसलिये
हमारे वाक्य व मन की गति जिस सीमा को अतिक्रम न कर सके,
ऐसी सीमा में जिनकी अवस्थिति है, वही समझ के बाहर अर्थात्
अचिन्त्य लक्षण है।

यह बात नहीं है कि हम लोगों का वाक्य व मन उनकी महिमा
को अतिक्रम करके पूर्णरूप से उनको न समझ सकने के कारण वह
अचिन्त्य है किन्तु बात यह है कि उनकी महिमा ही इस प्रकार अनन्त
अचिन्त्य है कि हमारा वाक्य व मन उसको अतिक्रम नहीं कर सकता।
'न ह्यन्तो याद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयसे।' (भा० ४।३०।३१)
अर्थात् उनकी विभूति आदि का अन्त न मिलने के कारण उन्हें
'अनन्त' कहते हैं।

**अचिन्त्य ब्रह्म लक्षण जीव के वाक्य व मन के
अतीत होने से भी वह शास्त्र वाच्य व
शास्त्रवेद्य है।**

इसलिये 'यतो वाचो निवर्तन्ते'—(तैत्ति० १२।९) इत्यादि
श्रुति वाक्य से यदि ब्रह्म को बिल्कुल अवाच्य व अवेद्यवस्तु माना
जावे और इसके लिये वेदादि शास्त्र का वाच्य वाचकता लक्षण

निरर्थक समझा जावे तो यह बात भी ठीक नहीं मालूम होती क्योंकि उनको 'औपनिषदं पुरुषं—' (वृ० आ० १३।९।२६) अर्थात् यह उपनिषद् प्रतिपाद्य पुरुष है; शास्त्र योनित्वात्—' (ब्र० सू०) अर्थात् वह शास्त्र द्वारा प्रतिपाद्य व शास्त्र के उत्पत्ति स्थल है—इत्यादि शास्त्र वाक्य से यही प्रमाणित होता है कि वह शास्त्र द्वारा ऐसे बिल्कुल अवाच्य व अवेद्य नहीं है। उन्होंने स्वयं ही गीता में कहा है—वेदैश्च सर्वैरह मेव वेद्यो—(गीता ० १५।१५) अर्थात् सब वेदों का मैं ही वेद्य वस्तु हूँ। इसलिये ब्रह्म के विषय में वेदादि शास्त्रों में वाच्य वाचकता लक्षण किसी प्रकार से भी निरर्थक नहीं होता। उक्त 'यतोवाचो'—इत्यादि श्लोक के शेष चरण में भी ब्रह्म के आनन्द के विषय में बताने की बात ही स्पष्टतः उल्लेख की गई है।

इसका तात्पर्य यह है कि उनकी महिमा या सामर्थ्यादि की सीमा इतनी असीम सीमा में अवस्थित है कि उनकी शेष सीमा तक कोई भी अपने सामर्थ्य से नहीं पहुँच सकता है अर्थात् कोई भी उनको पूरी तरह से नहीं जान सकता। 'पक्षी यथा आकाशे अन्त नाहि पाय। जार जत शक्ति तत दूर उड़ि जाय।।' अर्थात् पक्षी जैसे आकाश का अन्त नहीं पाता है जिसकी जितनी शक्ति है उतनी दूर उड़ पाता है।

इसी तरह जिसके वाक्य और मनोगति की जितनी सामर्थ्य है वहाँ तक जाने पर भी उनके स्वरूप और महिमा रूपी आकाश की शेष सीमा तक कोई किसी दिन भी पहुँच न सकेगा—ऐसी अचिन्त्य और असीम श्रुति प्रतिपाद्य ब्रह्म वस्तु की महिमा है किन्तु जब वह स्वयं कृपा करके किसी को ज्ञात कराने की इच्छा करते हैं। तभी उनकी अचिन्त्य कृपा शक्ति द्वारा बहुत परिमाण में उन्हें जानना सम्भव हो सकता है। 'यमे वैष वृणुते तेन लभ्य

(काठके० ११।२।२३) अर्थात् जिन्हें वह आत्मवरण करते हैं। उनके द्वारा ही वह लभ्य होते हैं इत्यादि। इस विषय में श्री भीष्म द्वारा उक्त हुआ है—

न शक्यः स त्वया दृष्ट्यस्माभिर्वाबृहस्पते।

यस्य प्रसादं कुरुते स वै तम् दृष्टमर्हति॥

(महाभारत शान्ति प० ३३६।१६)

इसका अर्थ—हे बृहस्पते! आप या मैं कोई भी उन्हें देखने में समर्थ नहीं है। वह जिनके ऊपर कृपा करते हैं। वही उनको निश्चय देख पाता है अर्थात् केहू न जानिते पारे यदि न जनाय। (वे यदि कृपा न करे तो कोई उनको जान नहीं सकता)

अधिकारानुसार एक ही तत्त्व वस्तु का त्रिविध

प्रकाश—ब्रह्म परमात्मा और श्री भगवान।

ब्रह्म वस्तु का परिपूर्ण स्वरूप श्री भगवान संज्ञा में और भी विशेष भाव में—श्रीकृष्ण संज्ञा में शास्त्रों में परिकीर्तित है। वही एक अखण्ड या अद्वयज्ञान तत्त्व स्वरूप श्रीकृष्ण ही साधक के अधिकारानुसार 'निर्विशेष ब्रह्म' आंशिक सविशेष 'परमात्मा', पूर्ण सविशेष 'भगवान और परिपूर्ण विशेष 'श्रीकृष्ण' नाम से कहे जाते हैं; यथा—

वदन्तितत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानम् द्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दते॥

(श्री भा० १।२।११)

इसका अर्थ—तत्त्वविदगण एक अद्वितीय चैतन्य या

अखण्डज्ञानवस्तु को 'तत्त्व' कहते हैं। इस अद्वयज्ञान तत्त्व के निर्विशेष प्रकाश को निभेद दृष्टि ज्ञानी लोग 'ब्रह्म' कहते हैं; उसमें अन्तर्यामी रूप आंशिक प्रकाश को अष्टांग योगी लोग 'परमात्मा' कहते हैं; और उसके सर्वशक्ति समन्वित सच्चिदानन्दघन—पूर्ण सविशेष प्रकाश को ही भक्त लोग 'श्री भगवान्' कहते हैं। (स्वयं भगवान् या स्वयरूप परतत्त्व एक श्रीकृष्ण का ही मूलतः यह त्रिविध प्रकाश मात्र है।)

श्री भगवत स्वरूप एकमात्र भक्ति ग्राह्य वस्तु।

यह श्री भगवत स्वरूप एक मात्र भक्ति द्वारा ही वशीभूत और ग्राह्य होते हैं।^१ इसलिये केवल भक्त ही उनकी कृपा को पूर्ण रूप से आकर्षण कर सकता है और श्री भगवान् का भी केवल 'भक्तवत्सल' नाम ही प्रसिद्ध है (कर्मो वत्सल ज्ञानी वत्सल या योगी वत्सल नहीं। श्री चक्रवती पाद) तभी तो वह अपने भक्तों को ही अपनी कृपा से परिपूर्ण अनुभूति^२ और साक्षात्कार प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञान और योगादि द्वारा उनका निर्विशेष या आंशिक सविशेष स्वरूप की अनुभूति मात्र होती है इसलिये ज्ञानी और योगी आदि निर्विशेष या आंशिक भाव से ही उनकी महिमा भी कहते अथवा जानते हैं।

वाणी और मन जिन्हें न पाकर लौट आते हैं—
इस ढके हुए श्रुति वाक्य का निगूढ़ तात्पर्य है—
स्वयं भगवान् श्री कृष्ण।

यहाँ यह जानने योग्य यह है कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य

१. 'श्री भक्तिवश, पुरुषः—' (श्रुति)

२. 'तत्तत् श्री भगवत्प्रेष—' इत्यादि।

मनसा सह' (तैत्ति० २।९) अर्थात् जिनकी महिमा की सीमा न पाकर वाणी मन के सहित लौट आती है। इस परोक्ष श्रुति वाक्य से वे कौन है? अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा या श्री भगवान यह निर्णय नहीं किया जा सकता किन्तु श्रुति के इस निर्विशेष उक्ति का सविशेष और सुस्पष्ट अर्थ हमें श्री भागवत से मिल जाता है—श्री विदुर के प्रति मैत्रेय मुनि की उक्ति, यथा—

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्ते वाचश्च मनसा सह।

अहं चान्य इमे देवस्तस्यै भगवते नमः॥ (३।६।३६)

इसका अर्थ—जिनके जानने के लिये प्रवृत्त होकर मन वाणी सहित लौट आता है—केवल मन वाणी ही नहीं यहाँ तक कि अहंकाराधिष्ठाता रुद्र, इन्द्रियाधिष्ठाता देवगण और दूसरे सभी जिनकी महिमा के जानने में असमर्थ है ऐसे दुर्गेय श्री भगवान को केवल प्रणाम है। (श्री स्वामिपाद कृत टीकानुसार)

अतएव अब यह बात आसानी से समझ में आ सकेगी कि श्रुत्युक्त समुदय ब्रह्म लक्षण सब श्री भगवत् पर है और सर्वमूल—स्वयं भगवान होने के कारण श्रीकृष्ण में ही उन सबका निगूढ़ अभिप्राय पर्यवसित है।

एक ही साथ केवल विरुद्ध धर्म का आश्रय होना ही आचिन्त्य नहीं है, ऐसा होकर भी फिर एक ही समय में न होने का सामर्थ्य रखना ही यथार्थ अचिन्त्य लक्षण है।

इस तरह यह समझ में आ गया कि उक्त सभी विरुद्ध धर्मों

का युगपत् केवल प्रकाश सामर्थ्य अत्यद्भुत या अत्याश्चर्य लक्षण तो है किन्तु अचिन्त्य लक्षण नहीं है।

(४) किन्तु उक्त विरुद्ध धर्म का युगपत् प्रकाश और अप्रकाश सामर्थ्य अर्थात् होकर भी उसी समय न होते का सामर्थ्य ही यथार्थरूप में हमारे वाणी और मनोगति की सीमा को अतिक्रम करके अवस्थित है अर्थात् धारणा के अतीत विषय है। इसलिये इस प्रकार का सामर्थ्य ही अचिन्त्य लक्षण है। तभी तो यह भी देखा जाता है कि युगपत् 'होना और न होना' इस परिपूर्ण विरुद्धधर्माश्रय रूप अचिन्त्य लक्षण से भी सब श्रुतियों ने स्थल विशेष में ब्रह्म वस्तु को निर्देश किया है;

प्रकृतिश्च प्राकृतञ्च यन्न जिघ्रन्ति जिघ्रन्ति यन्न पश्यन्ति शृण्वन्ति शृण्वन्ति यन्न जानन्ति जानन्ति च।

(श्री भगवत् सन्दर्भ (१०१) सौपर्ण श्रुति)

इसका अर्थ—प्रकृति होकर भी जो प्राकृत ग्रहण नहीं करते, ग्रहण करके भी जो देखते नहीं, देखकर भी जो सुनते नहीं सुनकर भी जो जानते नहीं और न जानकर भी जो जानते हैं—इत्यादि अर्थात् एक ही समय में सब कुछ करके और सब कुछ होकर भी न कुछ करना या न होना; इस प्रकार का न जानकर जानना (नो न वेदेति वेद वेद च। केनोप० १०)—यही है अचिन्त्य लक्षण।

शक्ति और शक्तिगत सम्बन्धीय भेदाभेद
सिद्धान्त में और अचिन्त्य भेदाभेदवाद में ही
सभी श्रुति वाक्य का समन्वय और परिपूर्ण ब्रह्म
लक्षण का प्रकाश।

इस तरह अचिन्त्य विरुद्धाविरुद्ध धर्माश्रय अर्थात् सर्वशक्तिमत ब्रह्म के साथ उनकी शक्ति का भेद व अभेदादि सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी समस्त श्रुति वाक्य के समन्वय से हम अब आसानी से ही निम्नोक्त सिद्धान्त में पहुँच सकते हैं।

(१) 'भेद है'—इस प्रकार द्वैतवाद के स्थापन में उनके विरुद्धधर्म का केवल एक पक्ष ही स्वीकृत होता है इसलिये यह आंशिक सत्य तो है किन्तु परिपूर्ण ब्रह्म लक्षण नहीं है।

(२) 'अभेद है। इस प्रकार अद्वैतवाद के स्थापन से उनके विरुद्धधर्म का केवल दूसरा पक्ष स्वीकृत है इसलिये यह भी ब्रह्म लक्षण का आंशिक प्रकाश होने पर भी परिपूर्ण ब्रह्म लक्षण नहीं है और उक्त दोनों लक्षणों में भी अचिन्त्य या अदभुतत्व कुछ नहीं है।

(३) 'भेदाभेद' इस प्रकार द्वैताद्वैतवाद स्थापित होने से^१ उनके विरुद्ध धर्म के दोनों पक्ष तो स्वीकृत होते हैं और यह अदभुतत्व भी है किन्तु अचिन्त्य नहीं है क्योंकि युगपत् विरुद्ध लक्षणान्वित होने से यह अदभुत तो है किन्तु उक्त प्रकार होकर भी फिर होने के विरुद्ध न होना, एक ही समय में ही फिर न होने के स्वामर्थ्य का प्रकाश ही अचिन्त्य लक्षण और यथार्थ सर्वशक्तिमत्ता का परिचायक है अतएव

(४) भेदाभेद है और नहीं है—अर्थात् युगपत् भेद भी है अभेद भी और भेद भी नहीं है और अभेद भी नहीं है—श्रुत्युक्त इन सभी लक्षणों का समन्वय ही अचिन्त्य है, इसलिये यही परिपूर्ण लक्षण

१. भेदाभेद सम्बन्धीय दूसरे सब मतवाद भी उक्त प्रकार ब्रह्म लक्षण के अल्पाधिक परिमाण आंशिक सत्य है किन्तु परिपूर्ण लक्षण नहीं है।

है। अचिन्त्य भेदाभेद कहने से एक ही समय में 'होना' और 'न होना' सामर्थ्य युक्त भेदाभेद लक्षण ही समझा जाता है। यही सम्पूर्ण ब्रह्म लक्षण है। जो मन और वाणी के सीमा के बाहर अवस्थित है इसलिये अचिन्त्य है। यही श्रीकृष्ण चैतन्य और उनके श्री चरण भृंग गोस्वामियों द्वारा 'अचिन्त्य भेदाभेद' नाम से जगत में प्रवर्तित होकर उसके द्वारा समस्त श्रुति वाक्य का अपूर्व समन्वय साधित हुआ है।

उक्त प्रकार से सब कुछ होने पर भी उसी समय ही फिर वह सब कुछ भी न होने का सामर्थ्यरूप अचिन्त्य भेदाभेद की बात ही श्री भगवान् ने स्वयं ही अपने श्रीमुख से गीता में उल्लेख की है; यथा—

मया ततमिदं सर्वजगदव्यक्त मूर्तिना।

मत स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य में योगमैश्वरम्

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ (६।४-६)

इसका अर्थ—अव्यक्त अर्थात् अतीन्द्रियमूर्ति मेरे द्वारा समस्त जगत परिव्याप्त है समस्त भूत चैतन्य स्वरूप में ही अवस्थित है किन्तु मैं किसी में भी अवस्थित नहीं हूँ फिर वे सब भूत मेरे में अवस्थित नहीं है। मेरा अचिन्त्य ऐश्वर्य योग देख कि भूतों का धारण पोषण करने वाला और भूतों को पैदा करने वाला मेरा परमस्वरूप भूतों में स्थित नहीं है।

उक्त श्री भगवत् वाक्य का यथार्थ तात्पर्य श्री चरितामृत के निम्नोक्त पयार में व्यक्त किया गया है; यथा—

एई मते गीता तेहो पुनः पुनः कय।

सर्वदा ईश्वर तत्त्व अचिन्त्य शक्तिमय॥

आमि तो जगते वसि जगत आमा ते।

न आमाते जगत वैसे न अमि जगते॥

अचिन्त्य ऐश्वर्य एई जानिहु आमार।

एई तो गीतार अर्थ कैल परचार॥ (श्री चै० १।५)

इसका अर्थ—इस प्रकार से गीता में वे बार-बार कहते हैं कि ईश्वर तत्त्व सर्वदा अचिन्त्य शक्तिमय है। मैं जगत में अवस्थित हूँ। जगत मुझमें अवस्थित है और न मैं जगत में अवस्थित हूँ और न जगत मुझमें अवस्थित है। यही मेरा अचिन्त्य ऐश्वर्य है इसी तरह गीता के अर्थ का प्रचार किया है।

श्रुत्युक्त सर्वधर्माश्रय ब्रह्मवस्तु ही श्री भगवत्तत्त्व
है। श्रीकृष्ण ही भगवत्तत्त्व की परमावस्था या
स्वयं भगवान है।

सब श्रुतियों में भिन्न भिन्न स्थानों में विभिन्न प्रकार से जो ब्रह्म लक्षण उक्त हुआ है। उन सबको पृथक्-पृथक् भाव से ग्रहण करने में नानावाद विवाद की उत्पत्ति अनिवार्य है किन्तु उन सभी की उक्ति को एकत्र समन्वित करने से जिस लक्षण का प्रकाश होता है। वहीं विरुद्धाविरुद्ध—सर्वधर्मान्वित परिपूर्ण अचिन्त्य ब्रह्मलक्षण है। सर्व शक्तिमत् षडैश्वर्यपूर्ण श्री भगवत्तत्त्व की परमावस्था या स्वयं भगवान है 'श्रीकृष्णस्तु भगवान स्वयं' (भा० १।३।२८)।

ब्रह्मवस्तु ब्रह्म कहि श्री भगवान।

षडविध ऐश्वर्य पूर्ण पर तत्त्व धाम॥

स्वरूप ऐश्वर्य तार, नाहि माया गन्ध।

सकल वेदेर ही भगवान सम्बन्ध॥

(श्री चै० १।७)

सर्व धर्म युक्त ब्रह्म वस्तु के विषय में सभी मतवाद की आंशिक सत्यता।

‘सर्वधर्मोपपत्तेश्च’। (ब्र०स० २ अपादवाद ३७) इत्यादि ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म में विरुद्धाविरुद्ध सभी धर्म स्वीकृत हुये हैं। उक्त सभी धर्म या शक्ति के किसी एक या एकतर पक्ष ग्रहण करने से ‘ब्रह्म ऐसा ही है’ यह कहना ठीक नहीं होता क्योंकि ऐसा कहने से उनकी अचिन्त्य अनन्त शक्ति सीमाबद्ध हो जाती है किन्तु ब्रह्म ऐसा भी है। ऐसा कहने से, सर्वधर्म युक्त ब्रह्म लक्षण का आंशिक प्रकाश होता है; इसलिये उनके विषय में विभिन्न समस्त मतवाद का आंशिक सत्य ही समझना चाहिये। किन्तु अचिन्त्य लक्षण से उनको निर्देश करना ही परिपूर्ण ब्रह्म लक्षण है। तभी तो देखा जाता है कि सर्वशक्तिमत ब्रह्म में सर्वधर्म समन्वित न करके, किसी भी एकतर पक्ष ग्रहण पूर्वक ‘ब्रह्म ऐसा ही है’ (अर्थात् केवल भेद या अभेद अथवा भेदाभेद इत्यादि) प्रकार से मतवाद स्थापना करने में विभिन्न मतवादियों में तर्कवितर्कादि की सृष्टि होती है किन्तु यह अचिन्त्य सर्व धर्माश्रय ब्रह्म लक्षण के लिये स्वभाविक ही है। इसका दूसरा सुस्पष्ट नाम सर्वशक्तिमत अचिन्त्य श्री भगवत् लक्षण है।

विरुद्धाविरुद्ध सर्वधर्म युक्त ब्रह्म लक्षण के विषय में विभिन्न मतवादियों के वाद-प्रतिवाद द्वारा निकला कोलाहल ही अचिन्त्य सर्वशक्ति-मत श्री भगवत् महिमा का उपयुक्त परिचय।

अतएव श्री भगवान् के लिये विरुद्धाविरुद्ध शक्ति का युगपत्

प्रकाश और अप्रकाश कुछ भी असम्भव नहीं है। इसलिये अचिन्त्य लक्षण में उन्हें समन्वित न करके, उनके सब धर्मों के किसी एक देश या एक पक्ष को ग्रहण करके उसे ही स्थापना करने के लिये वादीगण में जो वाद प्रतिवाद की उत्पत्ति होती है, वह अनन्त शक्तिमत श्री भगवान के अचिन्त्य महिमा के लिये उपयुक्त ही है। तभी तो श्री भागवत में कहा है;

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै,

विवाद संवाद भुवो भवन्ति।

कुर्वन्ति चैषां मुहरात्म मोहं,

तस्मै नमोऽनन्त गुणाय भूम्ने॥ (श्री भा० ६।४।३१)

इसका अर्थ—जिनकी सभी विरुद्ध अचिन्त्य शक्तियाँ विवादरत वादी गण के लिये कभी विवाद का और कभी संवाद का विषय होती हैं और जो ऐसे सभी वादीगण के चित में बारम्बार मोह उत्पन्न करती है, उन अनन्त गुणों के आश्रयभूमा पुरुष श्री भगवान को प्रणाम है।

श्रुति द्वारा स्वरूप लक्षण से निर्देश्य ब्रह्म वस्तु ही

भगवान या सर्वमूल श्री कृष्ण।

(५) उक्त अचिन्त्य विरुद्धशक्तिगत धर्म के या परिपूर्ण सभी तटस्थ लक्षणों के आश्रय होकर भी फिर एक ही समय में उसके अतिरिक्त केवल अविरुद्ध स्वरूपगत धर्म या स्वरूप लक्षण में अर्थात् समस्त प्राकृत गुण वर्जित और केवल अप्राकृत गुण—अशेष कल्याण गुण युक्त मधुर रूप के सहित सम्पूर्ण अभिन्न स्वरूप वैभव के साथ जिनकी नित्य लीलायित रूप में अवस्थिति है। वही सर्वाचिन्त्य से भी परमाचिन्त्य है ऐसे ब्रह्म लक्षण के निर्देश्य वस्तु ही है साकार,

सविशेष, षडैश्वर्य-पूर्ण, १ भक्तिवश भक्तवत्सल श्री भगवत् स्वरूप
या सर्वमूल स्वयरूप परम तत्त्व—श्रीकृष्ण स्वरूप—

**एक मात्र शुद्धाभक्ति—सार प्रेम के आलोक को
छोड़कर श्री भगवद्वस्तु के साक्षात्कार का या
उनकी उपलब्धि का दूसरा उपाय नहीं है।**

इस श्री भगवत् तत्त्व की उपलब्धि और उसका साक्षात्कार
एकमात्र विशुद्धा भक्ति ग्राह्य है। (भक्त्याह मेकया ग्राह्य भा०
११।१४।२१) सब वेदों के सर्वसार सम्पद वही तो है किन्तु उन
परोक्षप्रिय को परोक्षवाद रूप परदा के आड़ में छिपाकर रखा गया
है। केवल शुद्धाभक्ति के आलोक को छोड़कर दूसरे किसी भी उपाय
से उस आवरण का हटाना सम्भव नहीं है। ज्ञान और योग के आलोक
में भी उनका ही ब्रह्म और परमात्मा रूप निर्विशेष और कथंचित
आंशिक सविशेष प्रकाश मात्र दिखाई तो देता है किन्तु वह भी
भक्ति के ही संयोग के प्रभाव से ही जानना चाहिये। एक मात्र
शुद्धाभक्तिसार-प्रेम के आलोक में ही शक्तिगत अचिन्त्य महिमारूप
ज्योति के भीतर—केवल सविशेष सकारादि अनन्त कल्याण—

१. ज्ञान शक्ति व बलैश्वर्य वीर्यतेजोस्य शेषतः।

भगवच्छब्दवाच्यानि बिना हे यैगुर्णादिभिः।

(विष्णु पुराण ६।५।७९)

अर्थ—जिनमें ज्ञान शक्ति बल ऐश्वर्य वीर्य तेज—यह ६ गुण अशेष रूप
में विद्यमान है और इनके विपरीत अज्ञानादि का अत्यन्त अभाव
है। वही भगवान् कहे जाने योग्य है। यह भी समझ लेना चाहिये कि
बिना हेय गुणादि का अर्थ है—समस्त प्राकृत गुण और उसका कार्य
अर्थात् सगुण कर्म और उसका फल विवर्जित

गुणमय—द्विभुज—श्यामसुन्दर^१ मुरलीधर श्री कृष्ण स्वरूप का परिपूर्ण साक्षात्कार सम्भव होता है।

उनकी महिमारूप ज्योति के अभ्यन्तर में उन परम रमणीयस्वरूप के दर्शन लिये स्वयं श्रुति की सकातर प्रार्थना।

तभी तो देखा जाता है कि ब्रह्म पर स्वयं श्रुति ने भी शक्तिगत इस अचिन्त्य महिमारूप ज्योति के अभ्यन्तरस्थ स्वरूपगत लक्षण में उसी सर्वमनोहर समूर्त—ब्रह्म अर्थात् श्री भगवान के परिदर्शन के लिये शरणागत भक्त की तरह सकातर प्रार्थना की है—

व्युह रश्मिन् समूह तेजोयत् ते रूपं

‘कल्याणतमं तत् ते पश्यामि।’ (बृहदारण्यक ५।१५।२)

अर्थात्—आप हमारी दृष्टि उपघातक अपनी सब ज्योति को

१. प्रेमान्जनच्युरित भक्ति विलोचनेन

सन्तः सदैव हृदययेषु विलोकयन्ति

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्य गुण स्वरूपं

गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि।

(बृह० संहिता ५।३८)

अर्थ—प्रेम रूप अजन लगी हुई भक्ति रूपी आँख से साधुगण जिन अचिन्त्य अप्राकृत गुणाकर श्याम सुन्दर स्वरूप को अपने हृदय में देखते हैं। उन्हीं आदि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ। इन तमाल श्यामलत्विषि—श्याम सुन्दर श्रीकृष्ण का ही श्रुतियों ने प्रच्छन्न भाव से सर्वशेष में आश्रय लिया है; यथा

‘श्यामच्छवल’ प्रपद्ये। शवलाच्छयाम प्रपद्ये। (छान्दो० ८।१३।१)

संयत कीजिये—अपना तेज हटा लीजिये ताकि आपकी कृपा से आपका कल्याणतम अधिमधुर रूप हम परिदर्शन करें।

सत्य का मुख्यार्थ श्रीकृष्ण में ही पर्यवसित।

उक्त मन्त्र में जिनके कल्याणतम मधुर श्रीमूर्ति के प्रत्यक्ष होने की अभिलाषा उनके तेज व बाहरी ज्योति को संयत करने की प्रार्थना की है। नीचे लिखे श्रुतिवाक्य से और भी सुस्पष्ट रूप से उनका परिचय प्राप्त हो जावेगा।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत् त्वत् पूषन्नपावृणू सत्यधर्माय दृष्टये॥

(ईश १५ वृ: आ: ५।१५।१)

इसका अर्थ—ज्योतिर्मय आवरण द्वारा सत्यस्वरूप परब्रह्म मुखोपलक्षित श्री विग्रह ढका है। जगत पोषक परमात्मन् मेरे सदृश सत्य धर्म परायण जन के साक्षात्कार के लिये अपना यह आवरण खोलिये।

इस मन्त्र से और भी उपलब्धि होती है कि जिस ज्योतिर्मय पर्दे के बीच जिसका श्री विग्रह या श्रीमूर्ति प्रत्यक्ष करने के लिये प्रार्थना की गई है वे हैं 'सत्यस्वरूप' और 'सत्यधर्म परायण' जन के द्वारा प्रार्थना की गई है।

अब सर्वसत्य के ऊपर सर्वसार-परमसत्य स्वरूप जो है—उनको जानने पर परोक्षवाद में ढके श्रुति वाक्य का यथार्थ रहस्य खुल जायेगा।

उक्त सत्यस्वरूप का सुस्पष्ट परिचय, वेद के विस्तारार्थ श्री भागवत से मालुम हो जायेगा।

निखिलजन निवास होने पर भी, अचिन्त्य अवितर्ककी

महिमा से जो श्री देवकी गर्भ से जन्म लेने वाले प्रसिद्ध है, उन्हीं श्रुत्युक्त सत्यस्वरूप को स्वरूप लक्षण से परिचित कराने के लिये श्रीब्रह्मादि देवगण ने 'गर्भ स्तुति' के उपलक्ष में उनके सम्मुख झुककर हाँथ जोड़कर कहा—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं

सत्यस्य धोनिम् निहितञ्च सत्ये।

सत्तास्य संत्यमृत् सत्यनेत्रम्

सत्यात्मकम् त्वाम् शरणम् प्रपन्नाः॥

(श्री भा० १०।२।२६)

इसका अर्थ—सत्यसंकल्प, सत्यलभ्य, त्रिकाल सत्य, सत्य के जन्मदाता, सर्वान्तर्यामी सत्य, सत्यवाक, सत्यदर्शी एवं 'सत्यस्वरूप' जो आप है। हमलोग उन आपकी शरण हैं। महाभारत में भी (उपयोग पर्व) में कहा है—

सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णसत्यमत्र प्रतिष्ठितः

सत्यात् सत्यो हि गोविन्दस्तस्मात् सत्यो हि नामतः॥

इसका अर्थ—श्रीकृष्ण सत्य में प्रतिष्ठित है, सत्य कृष्ण में प्रतिष्ठित है। गोविन्द ही सत्य से भी परमसत्य है। इसलिये सत्य श्रीकृष्ण का ही नाम है।

इससे परोक्षवाद में ढके श्रुत्युक्त 'सत्यस्वरूप' का सुस्पष्ट अर्थ जो 'श्रीकृष्ण है और उनके दर्शनाभिलाषी सत्यधर्म परायण जन, कृष्णभक्ति परायण अर्थात् कृष्ण भक्त है। यह बात अब सहज में समझ में आ जाती है। अतएव गायत्री व्याख्या स्वरूप श्री भागवत की ("गायत्री भाषा रूपोहसौ") 'जन्मादास्य'—(१।१।१) इत्यादि मंगल श्लोक 'सत्यं परं धीमहि' अर्थात् जो परम् सत्य को ध्यान करने का निर्देश किया है। वह 'परम सत्य' श्रीकृष्ण ही है। इसलिये

समस्त गायत्री भी श्रीकृष्ण पर है। इसे समझने में भी कोई असुविधा नहीं है।

अचिन्त्य शक्तिगत धर्म के भी उच्चस्तर में
विराजित उस परमाचिन्त्य स्वरूप और
स्वरूपान्तरंग अनन्त गुण के दर्शन से, ब्रह्मा की
विस्मय विह्वलता।

तभी तो देखा जाता है कि अचिन्त्य शक्तिगत विरुद्ध धर्म के भी अभ्यन्तर में अवस्थित अचिन्त्य से भी परम अचिन्त्य उन अशेष कल्याणमय, सविशेष, समूर्त्तादि केवल विरुद्ध स्वरूपगत धर्म में श्रीकृष्ण को प्रत्यक्ष करके और उनकी महिमादि थोड़ी उपलब्धि करने का सौभाग्य लाभ करके, प्रजापति नाथ श्री ब्रह्मा ने भी विस्मय में विह्वल होकर कम्पित कण्ठ से स्तव किया है।

तथापि भूमनमहिमागुणस्य ते
विबोद्धुमर्हत्य मलान्तरात्मभिः।
अविक्रियात् स्वानुभवारूपतो
ह्यनन्य बोध्यात्म तया न चान्यथा॥
गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातु
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य॥
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै—
भूपी शवः खे मिहिकाद्युमासः॥

(श्री भा० १०।१४।६-७)

इसका अर्थ,—हे विभो यद्यपि अगुण और सगुण दोनों ही

आप हो, तथापि अन्यथा रूप में न होने पर भी, विशुद्ध चित्त द्वारा अविकार, अरूप, विज्ञान-वस्तु रूप में और अनन्य बोध्य रूप में निर्गुण ब्रह्म की महिमा तो बोधगम्य हो सकती है किन्तु इस विश्व के हित के निमित्त अवतीर्ण सगुण (अप्राकृत गुणमय) आप के गुणों की गणना करने में कौन समर्थ हो सकता है? जो लोग बहुत ही निपुण है। वह यदि दीर्घ काल तक पृथ्वी के परमाणु, आकाश के हिमकण और सूर्यादि के किरण परमाणु के गणना करने में समर्थ हो, तब भी वह आपके गुणों की संख्या नहीं कर सकते।

एक ही साथ होना न होना ऐसी सभी शक्तियों के आश्रय होने से—ब्रह्म सामर्थ्य के लिये चिन्त्य या अचिन्त्य कुछ भी असम्भव नहीं हो सकता।

इससे यह समझ में आ गया कि उक्त विरुद्धाविरुद्ध सभी शक्ति और शक्ति कार्य एक परम कारण या सर्वशक्तिमत—तत्त्व के ही आश्रित हैं इसलिये हर एक भाव व हर एक धर्म के वही परम कारण या परमाश्रय हैं। यही कारण है कि वही आश्रय—तत्त्वरूप में सब शास्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। उस अचिन्त्य सर्वशक्तिमय परम कारण तत्त्व को आश्रय करके उनकी सभी शक्तियाँ-शक्ति कार्यरूप में अर्थात् लौकिक और अलौकिक अनन्त वसुधादि विभूतिरूप में अभिव्यक्त होती हैं। प्राकृत और अप्राकृत निखिल जगत और जगत के सब द्रव्य, सब गुण क्रिया इन महान् शक्तिमान के ही शक्तिकार्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। किन्तु एक समय में वह इन सबसे

सम्पूर्ण पृथक् स्वरूप में विराजमान रहते हैं अर्थात् इनमें से वह कुछ भी नहीं है। सर्वशक्ति और सर्वसक्षमता सम्पन्न होने के कारण अपने अस्पष्ट रूप से स्वरूपगत केवल अविरुद्ध धर्म में नित्य विराजमान इस ब्रह्म वस्तु में सभी शक्तिगत विरुद्धाविरुद्ध धर्मों का आश्रय होकर भी, उक्त प्रकार फिर 'होना' के विपरीत 'न होना'—एक ही समय में 'कुछ भी न होना'—ऐसे सभी सामर्थ्य पूर्ण भाव से विद्यमान रहते हैं इसलिये उनके लिये 'कुछ होना' या 'न होना' अर्थात् किसी धर्म—किसी शक्ति किसी सामर्थ्य के प्रकाश या एक ही समय अप्रकाश के विषय में कुछ भी असम्भव नहीं होता। ऐसे अचिन्त्य महा महिमान्वित परिपूर्ण ब्रह्म वस्तु की श्री भगवत संज्ञा^१ शास्त्र में निरूपित हुई है यही वेदोक्त ज्ञानकाण्ड का या सब श्रुतियों का प्रतिपाद्य 'ब्रह्म' है और मूलतः वही भगवत तत्त्व या सर्वमूलतः स्वयं भगवत् तत्त्व श्रीकृष्ण है।

अतएव श्रीकृष्ण ही ब्रह्म वस्तु है, यह बात भी स्पष्टतः श्रुति स्मृति आदि बहुत से शास्त्रों में कही गई है। बहुत बढ़ जाने के भय से केवल दो दृष्टान्त प्रदर्शित किये जाते हैं; यथा—

-
१. अतिस्मिन् तादृश शक्तयः सम्भवेव। किन्तु तस्मिंस्तासामपि व्यक्तयू उपलब्धौ प्राचुर्येण 'भगवत संज्ञा'। तदनुपलब्धौ प्राचुर्येण 'ब्रह्म संज्ञेति विशेषः।" (श्री भगवत-सर्वसम्वादिनी)

अर्थ—अतएव ब्रह्म में उस तरह की शक्तिसमूह (विरुद्धाविरुद्ध) अवश्य ही है। उनमें जब इन सब शक्तियों की प्रचुर रूप में (अर्थात् समस्त शक्ति के सहित स्वरूपगत धर्म पर्यन्त। उपलब्धि होती है। तब उन्हें भगवत कहते हैं। ऐसी उपलब्धि के अप्राचुर्य में अर्थात् केवल शक्तिगत धर्म की उपलब्धि में, ब्रह्म कहलाते हैं।

कृष्णोपनिषद में कहा है,—

‘कृष्णो ब्रह्मैव शास्वतम्॥१२॥

अर्थात्—श्रीकृष्ण शाश्वत ब्रह्म ही है। महाभारत में भी देखा जाता है कि ‘कृष्ण’ शब्द का एक अर्थ ‘परब्रह्म’ है।

कृषिभूवाचक शब्दोणश्च निवृत्तिवाचकः।

तयोरैक्यः परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

(उद्योग पर्व ७१।४)

अर्थ—कृष हुआ ‘भू’ या सत्तावाचक और ‘ण’ हुआ निवृत्ति या आनन्द वाचक शब्द। इन दोनों के मिलाने से सत और आनन्द परब्रह्म समझा जाता है। वही कृष्ण नाम से अभिहित होते हैं।

इस तरह अब हम यह समझ गये कि श्रीकृष्ण ही श्रुत्युक्त परिपूर्ण ब्रह्म वस्तु है।

श्रीकृष्ण ही निर्विशेष ब्रह्म के प्रतिष्ठा या आश्रय है।

ज्ञानी लोग निराकार, निधर्मक, निर्विशेषादि ब्रह्म रूप में जिनकी उपासना करते हैं। वह भी सत्य वस्तु है। ऐसे केवल निर्विशेष ब्रह्म की बात भी श्रुति में कही गयी है। सर्व विरुद्धधर्माश्रय होने के कारण जिस प्रकार श्रीकृष्ण सधर्मक, सविशेष है उसी प्रकार इसके विरुद्ध उनका निराकार, निधर्मक निर्विशेष, ब्रह्म रूप भी जो उन्हीं का प्रकाश विशेष है। अवश्य ही स्वीकार्य है और यह बात कि इनके भी प्रतिष्ठा या आश्रय श्रीकृष्ण ही है। उन्होंने स्वयं ही गीता में व्यक्त कर दिया है; यथा—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्यवस्य च।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४।२७)

इसका अर्थ—मैं ब्रह्म का (निराकार, चिदराशि का) प्रतिष्ठा या आश्रय हूँ (उसी तरह) अव्यय अमृत का (नित्यमुक्ति का) और ऐकान्तिक सुख का (प्रेमभक्ति का) आश्रय भी मैं हूँ।

यह बात भी कि ज्ञानियों के उपास्य निर्विशेष अखण्ड चिद्सत्तामात्र ब्रह्म-वस्तु श्री कृष्ण की ही महिमा विशेष है। श्री भगवान की निजोक्ति से जानी जाती है।

मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम्

(श्री० भा० ८।२४।३८)

अर्थात्—मेरी महिमा विशेष को या निर्विशेष चिद् विभूति को ही 'परब्रह्म' शब्द से निर्देश किया जाता है।

निर्विशेष ब्रह्म श्रीकृष्ण की ही अंगप्रभा स्थानीय।

ब्रह्म संहिता में भी इस निर्विशेष ब्रह्म को श्रीकृष्ण की अंगप्रभा के रूप में कीर्तित होते देखा जाता है; यथा

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्ड कोटि
कोटिष्वशेष वसुधादि विभूति भिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेष भूतं॥

गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि (५।४०)

इसका अर्थ—कोटि कोटि ब्रह्माण्ड में अशेष वसुधादि रूप विभूति द्वारा जो भिन्न भिन्न रूप में प्रकाश हुये हैं, निष्कल, अनन्त

और अशेष भूत ब्रह्म प्रभावशाली जिनकी प्रभा^१ है। उन आदि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

यह बात नहीं है, कि उक्त निर्विशेष ब्रह्म श्रीकृष्ण से स्वतन्त्र या स्वयं सिद्ध कोई वस्तु है; उन्हें तो सविशेष या साकार सूर्य स्थानीय श्रीकृष्ण के ही प्रभास्थानीय रूप में वर्णन किया गया है; यथा,—

ब्रह्म निधर्मकः वस्तु निर्विशेषम् मूत्तिकम्।

इति सूर्योपमस्यास्य कथ्यते तत् प्रभोपमम्॥

(श्री लघु भा० २१६)

इसका अर्थ—निर्गुण निर्विशेष और निराकार ब्रह्म को सूर्यरूपी श्रीकृष्ण की ही प्रभा सदृश्य शास्त्र में कहा गया है।

निर्विशेष ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में श्री चैतन्य चरितामृत कार के वर्णन से उक्त विषय और भी विशेष भाव से हमारे समझ में आ सकता है। यथा—

बैकुण्ड बाहिरे एक ज्योतिर्मय मण्डल।

कृष्णोर अंगेर प्रभा परम उज्ज्वल॥

सिद्ध लोक नाम तार प्रकृतिर पार।

चित् स्वरूप ताहा नाहि चिच्छक्ति विकार॥

१. ताहार (श्री कृष्णोर) और शुद्धकिरन मण्डल। उपनिषद् कहेतारे ब्रह्म सुनिर्मल। चर्म चक्षे देखे जैछे सूर्य निर्विशेष। ज्ञान मार्गे लैते नारे कृष्णोर विशेष (श्री चै० आदि २५०)

अर्थ—श्री कृष्ण के अंग से जो प्रभा निकलती है। उपनिषद् उसे सुनिर्मल 'ब्रह्म' कहते हैं। जैसे चर्म चक्षु से हमें सूर्य निर्विशेष केवल ज्योतिपुंज दिखता है। ज्ञान मार्गी उस प्रभा के अन्दर जो सविशेष श्रीकृष्ण है उन्हें नहीं देख पाते।

सूर्येर मण्डल जैछे बाहिरे निर्विशेष।
 भीतर सूर्येर रथ आदि सविशेष॥
 तैछे परव्योमे नाना चिच्छति विलास।
 निर्विशेष ज्योतिः विम्ब बाहिरे प्रकाश॥
 निर्विशेष ब्रह्म सेई केवल ज्योतिर्मय।
 सायुज्येर अधिकारी ताहा पाय लय॥

(आदि ५ प०)

अर्थ—बैकुण्ठ के बाहर एक ज्योतिर्मय मण्डल है। वही कृष्ण की अंग प्रभा है जो परम उज्ज्वल है उसका नाम सिद्ध लोक है। वह इस प्रकृति लोक के पार है। वह चित् स्वरूप है वहाँ कोई चित्शक्ति का विकार नहीं है। इसका उदाहरण देकर कहते हैं कि जैसे सूर्यमण्डल बाहर से केवल ज्योतिर्मय ही दिखता है परन्तु अन्दर सूर्य है उनका रथ है आदि, उसी तरह बैकुण्ठ या परव्योम में चित्शक्ति का नाना प्रकार का विलास है किन्तु बाहर ज्योतिर्मय विम्ब है इसी को निर्विशेष ब्रह्म कहते हैं जो ज्योति है—सायुज्य मुक्ति के प्राप्त कर्ता इसी में लीन हो जाते हैं।

**निर्भेद ज्ञानियों का ब्रह्म सायुज्यमुक्ति सुख श्री
 हरि द्वारा मारे गये विरोधियों को भी प्राप्य।**

उक्त निर्विशेष ब्रह्म—स्वरूप ज्योतिर्मय सिद्धलोक को ही प्राप्त होकर निर्भेद ब्रह्मोपासकगण ब्रह्म सुख में निमग्न रहते हैं। सिद्ध लोक में रहने वाले सायुज्य मुक्ति सुख, श्री हरि द्वारा मारे गये दैत्यों को भी प्राप्त हो जाता है। इस विषय में शास्त्रोक्ति; यथा,—

सिद्धलोकस्य तमसः पारेयत्र वसन्ति हि
सिद्धा ब्रह्म सुखे मग्नादैत्याश्च हरिना हताः॥

(ब्रह्माण्ड पुराण)

इसका अर्थ—माया के अधिकार की सीमा के बाहर सिद्ध लोक अवस्थित है। वहाँ निर्भेद ब्रह्मोपासना में जो लोग सिद्ध हो चुके हैं वह और श्री हरि के द्वारा मारे गये दैत्य लोग ब्रह्म सुख में निमग्न होकर वास करते हैं।

इसके साथ ही माथ यह भी प्रमाणित हो जाता है कि सविशेष भगवत लोक उनके प्रभास्थानीय निर्विशेष सिद्धलोक या ब्रह्मधाम के भी बहुत ऊपर विराजित है और श्री हरि निहत अरिगण प्राप्य मुक्ति सुख की अपेक्षा उनके प्रिय भक्तों का प्राप्त भक्ति सुख सब प्रकार से श्रेष्ठ है।^१

**सविशेष भगवत लोक और भगवत स्वरूप की
उपलब्धि केवल भक्ति को छोड़कर और किसी
उपाय से सम्भव नहीं।**

सविशेष और निर्विशेष दोनों ही एक श्रीकृष्ण की ही महिमा विशेष हैं किन्तु उनकी निर्विशेष ब्रह्म महिमा के उच्चस्तर में विराजमान सविशेष श्री भगवन्महिमादि केवल भक्ति ग्राह्य विषय होने के कारण भक्ति के आलोक के अतिरिक्त ज्ञान-योगादि दूसरे किसी आलोक के सामने प्रतिभात नहीं होती, जैसे कुमुदनी चन्द्रमा की रोशनी को छोड़कर सूर्यादि दूसरे किसी की रोशनी में नहीं

खिलती यही कारण है कि निर्विशेष ब्रह्म-महिमा भेद करके सविशेष भगवन्महिमा लोक ग्राह्य होने का उपकरण न रहने से निर्भेद दृष्टि ज्ञानी लोग उक्त निर्विशेष चिदसत्ता मात्र को ही पूर्ण परतत्त्व के रूप में उपलब्धि करते हैं और सर्वव्यापक ईश्वर-महिमा का अन्तर्यामी रूप आंशिक प्रकाश मात्र को ही हृदय में प्रत्यक्ष करके आत्माराम योगीगण उसे ही पूर्ण पर तत्त्व रूप में निश्चय करते हैं। दूसरी ओर शुद्ध भक्त लोग भक्ति चन्द्रिका के आलोक में पूर्ण सविशेष श्री भगवत् लोक या सर्वमूल श्री कृष्ण लोक प्रत्यक्ष करके साथ ही साथ यथाक्रम उनकी निर्विशेष महिमा और आंशिक सविशेष प्रकाश स्वरूप ब्रह्म और परमात्म वस्तु का प्रकृष्ट परिचय प्राप्त कर लेते हैं।

एक मात्र भक्ति के अतिरिक्त श्री भगवत् स्वरूप दूसरे किसी भी साधनादि द्वारा लभ्य या ग्राह्य नहीं है; यह बात उनके साक्षात् युक्त की बाणी द्वारा भी जगत में विघोषित हुई है; यथा,—

न साधयति माम् योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।

न स्वाध्यायस्तपस्तपी यथा भक्तिममोर्जिता॥

(श्री भा० ११।१४।१६)

इसका अर्थ—हे उद्धव! आसन् प्राणायामादि रूप योग, तत्त्व विचारादि रूप ज्ञान, अहिंसा आदि धर्म, वेदादि पाठ, कष्ट द्वारा साध्य तपस्या और सन्यास रूप त्याग आदि मुझे ऐसा वशीभूत नहीं कर सकते जैसा कि मेरी सुदृढ़ भक्ति मुझे वशीभूत कर सकती है। शास्त्र में अन्यत्र भी यही बात उक्त हुई है।

न दानं न तपो नेज्या न शौचम् न व्रतानि च।

प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्याद्विऽम्बनम्॥

(श्री भा० ७।७।१२)

इसका अर्थ—श्री हरि के प्रसन्न करने में दान, तपस्या, यज्ञादि,

शौचादि, आचार या व्रतादि कोई भी समर्थ नहीं है—एक मात्र शुद्ध भक्ति ही श्री हरि के प्रीति विधान में समर्था है; इसको छोड़कर दूसरे सभी इस विषय में विडम्बना अर्थात् नटन मात्र है।^१

श्रुत्युक्त ब्रह्म लक्षण के सभी विरुद्ध धर्मों का समावेश श्री भगवत्तत्त्व में ही या मूलतः श्री कृष्ण में ही परिदृष्ट होता है किन्तु निधर्मक और निर्विशेष ब्रह्म में नहीं।

श्रुत्युक्त निखिल विरुद्ध धर्माश्रयता रूप सभी ब्रह्मलक्षण श्री भगवत्तत्त्व में या मूलतः श्री कृष्ण में ही आश्रित देखे जाते हैं। श्रीमन् उद्धव ने भी इसका स्पष्ट उल्लेख किया है; यथा,—

कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते

दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम्।

कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रयः

स्वात्मरन्तेः विदयति धीर्विदामिह॥

(श्री भा० ३।४।१६)

इसका अर्थ—हे विमो। आप स्वयं कर्म के विषय में निस्पृह और निष्क्रिय होकर भी कर्म का आचरण करते हैं; जन्म रहित होकर भी जन्म ग्रहण करते हैं। स्वयं काल रूपी^२ होकर भी शत्रु के डर से भागते और किले का आश्रय करते हैं। अत्माराम होकर भी बहुत सी स्त्रियों के साथ विवाह करके गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं। यह

१. विडम्बनं नटन मात्रम् (स्वामिपाद)

२. गीता। (११।३२)

सब चित्र देखकर विद्वानों की भी बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है।

मन्त्रेषु माम् वा उपहूय यत्त्व—

मकुण्ठिता खण्ड सदात्म बोधः।

पृच्छेःप्रभो मुगध इवा प्रयत्त

स्तन्नोमनोमोध्यतीव देव॥

(श्री भा० ३।४।१४)

इसका अर्थ—हे स्वामिन! सर्वज्ञ और असीम अपरिच्छिन्न ज्ञानमय होकर भी आप सलाह (मंत्रणा) के लिये मुझे बुलाकर अज्ञ की तरह मुझसे पूँछते थे कि 'क्या करना कर्त्तव्य है' हे देव इन सब बातों के स्मरण से मेरा चित्त विभोहित हो जाता है।

तभी तो शास्त्र में भी श्री भगवान के विरुद्ध धर्मयुक्तरूप में ही निर्देश करते देखा जाता है; यथा

तस्मै समुन्नद्धनिरुद्ध शक्तये नमः परस्मै पुरुषाय वेद्यसे॥

(श्री० भा० ४।१७।३३)

अर्थात्—उन विवर्द्धिता विरुद्ध शक्तियुत सर्व विधाता परम् पुरुष को नमस्कार है। अन्यत्र भी कहा है,—

चिदचिच्छक्ति युक्ताय तस्मै भगवते नमः

(श्री० भा० ७।३।३४)

अर्थात्—चेतन और अचेतन विरुद्ध शक्तियुक्त भगवान को नमस्कार है।

श्रुत्युक्त सभी ब्रह्म तत्त्व की लीलायित

ही श्री भगवतत्त्व।

इसलिये श्री भगवान में या मूलतः श्रीकृष्ण में उक्त विरुद्ध धर्म

का समावेश उनकी विभिन्न लीला में पृथक् भाव से दिखाई देता है। दिग्दर्शनार्थ नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। यह बात भी समझ लेना चाहिये कि सभी शक्तिगत विरुद्धधर्म उनमें विद्यमान रहते हैं और उनके प्रकाश सामर्थ्य के साथ ही साथ उनके विरुद्ध अप्रकाश सामर्थ्य भी उन्हें रहता है। सभी ब्रह्म लक्षणों का लीलायित भाव ही श्री भगवत् लीला है।

एक मूर्ति का बहुत मूर्ति में प्रकाश— श्री रासलीला और महिषी विवाह लीला में।

(१) 'एकोऽपिसन् बहुधायो विभाति।'

(गो० ता० पू० १२०) अर्थात् जो एक होकर भी बहुत मूर्ति में प्रकट होते हैं,—इस लक्षण से श्रुति ने जिनको निर्देश किया है,—वह श्रीकृष्ण है। जिनकी लीला में यह लक्षण दिखाई देता है। स्वयं रूप में विद्यमान रहकर भी रासलीला में एक ही समय में प्रत्येक गोपी के पास एक एक कृष्ण के रूप में (तासांमध्येद्वयोर्द्वयो—) (श्री भा० १०।३३।३) और द्वारका में महिषी विवाह के समय में हर घर में वह बहुत कृष्ण के रूप में प्रकट हुए हैं। ('चित्रं ब्रतैतदेकेन वपुषा')—इत्यादि

(श्री भा० १०।६६।२)१

-
१. प्रभाव वैभव रूपे द्विविध प्रकाश। एक वपु बहु रूप जैछे हैलरास॥
महिषी विवाहे हैल मूर्ति बहुविध। प्रभाव प्रकाश एई शास्त्र पर सिद्ध॥
सौन्दर्यादि प्राय सेई काय व्यूह नय। कायव्यूह हैले नारदेर विस्मयनहय॥
(श्री चै० २।२०।५०)

जो एक होने पर अपनी अचिन्त्य महिमा द्वारा बहुत रूप में प्रकट होकर एक ही समय में एक रूप में भी अवस्थान करते हैं। हमने उन्हें श्री भागवत में वर्णित स्वरूप लक्षण से समझा कि वह श्रीकृष्ण है।

अब यह भी देखा जाएगा कि परोक्ष भाव में केवल उनके तटस्थ लक्षण से अर्थात् उनके कार्य द्वारा परिचय देकर श्रुति ने उन्हीं एक का ही स्वशक्ति द्वारा बहुत रूप में—विश्व रूप में प्रकाश होने की बात भी कही है। यथा—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।

एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा

रूपं रूपं प्रति रूपो वहिश्च॥ (कठोप० २।२।६)

इसका अर्थ—जिस प्रकार एक ही अग्नि भुवन में प्रविष्ट होकर जलाने वाली वस्तु के रूप के अनुसार रूप धारण कर लेती है। उसी प्रकार एक ही सर्वभूतो की अन्तरात्मा^१ नानावस्तु भेद से उन्हीं उन्हीं वस्तु रूप के प्रतिरूप में प्रकाश होकर भी फिर उन सब पदार्थों के बाहर भी (स्वकीय स्वरूप में) विद्यमान रहती है।

इसलिए भगवत्तत्त्व की मूलतः श्रीकृष्ण की हर एक लीला

१. मच्चापि सर्वभूतानाम् बीजम् तदहर्जुन।

न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतम् चरा चरम्॥ (गीता १०।३६)

अर्थ—हे अर्जुन! सब भूतों के उत्पत्ति का कारण मैं ही हूँ मेरे विना जो हो सके ऐसा स्थावर जंगम भूतों में कोई भी नहीं है।

श्रुत्युक्त अचिन्त्य विरुद्धाविरुद्ध सब ब्रह्म लक्षणों में से किसी न किसी लक्षण का प्रकाश स्पष्टतः ही दिखाई देता है केवल दिग्दर्शनार्थ नीचे और भी कुछ दृष्टान्त लिखे जाते हैं।

युगपत् सबके अन्तर और सबके बाहर—मिट्टी खाने वाली लीला में प्रकाश।

(२) 'तदनन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।

(ईशो ०।५)।

अर्थात्—वह इन सबके (विश्व के) अन्दर में है और उन सबके बाहर भी है। श्रुत्युक्त यह ब्रह्म लक्षण श्रीकृष्ण के मिट्टी भक्षण लीला में लीलायित हुआ है।^१

जब माँ की गोद में बैठे हुए श्रीकृष्ण ने माँ को यह दिखाने के लिये कि उन्होंने मिट्टी खाई कि नहीं, अपना मुँह खोला, तब ब्रजेश्वरी ने श्रीकृष्ण के मुख के भीतर सारे ब्रह्माण्ड को और ब्रह्माण्ड के भीतर श्रीकृष्ण को देखा था फिर तुरन्त ही यह सब कुछ न देखकर अपनी गोद में सन्तान के रूप में श्रीकृष्ण को बैठे देखा था। इसके द्वारा उक्त श्रुति वाक्य के साथ गीतोक्त 'भयातत मिदं सर्वं—(६।४-५) इत्यादि श्लोकों के समन्वय से यही प्रमाणित हुआ कि,—

आमि तो जगते बसि जगत् आमाते।

न आमा ते जगत् बैसैं न आमि जगते॥ (श्री चै०)

अर्थ—मैं जगत् में अवस्थान करता हूँ और जगत् मुझमें। न मैं

१. श्री भा० (१०।८।३६)

जगत में अवस्थान करता हूँ न जगत मुझमें।

एक मुख होकर सर्वतोमुखपुलिन भोजन लीला में प्रकाश।

(३) 'सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' (श्वेता० ३।१६) अर्थात् सर्वत्र उनके नयन सिर और मुख है। श्रुत्युक्त यह ब्रह्म लक्षण श्रीकृष्ण की पुलिन भोजन लीला में लीलायित होते देखा जाता है। जमुना पुलिन में एकदिन श्रीकृष्ण के सखा गोप बालक गण अपने भोजन के पदार्थ लेकर, कृष्ण के चारों ओर मण्डलाकार में बहुत सी पंक्ति बनाकर उनके सामने बैठ गये। इससे कमल कर्णिका के चारों तरफ विराजित दल समूह की तरह प्रफुल्लनयन गोप बालक गण शोभा पाने लगे। सभी बालकों की यह अभिलाषा थी कि श्रीकृष्ण के मुखकमल का नेत्र भरकर दर्शन करते हुए उनके साथ हास्य परिहासादि करते-करते भोजन करें। श्रीकृष्ण भी अपने प्रिय सखाओं के हृदय का ऐसा अभिप्राय जानकर एक ही समय में सबके सम्मुख वर्ती होकर भोजन करने लगे। हर एक गोप बालक यह जानकर कि वह केवल उनके ही सम्मुख बैठे हैं। परम आनन्द सागर में निमग्न हो गये थे इसके द्वारा यह प्रमाणित होता है कि वह युगपत् सर्वतोन्मुख भी है और नहीं भी है।

एक मूर्ति का एक ही साथ बृहत्त्व और क्षुद्रत्व—
दामबन्धन लीला में प्रकाश।

(४) बृहच्चतद्दि व्यमचिन्त्य रूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं

विभाति।" (मुण्डक ३।१।७) अर्थात् वह (ब्रह्म) वृहत् है और उनका अप्राकृत व अचिन्त्य रूप है। फिर वही सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर रूप में प्रकट होते हैं।

श्रुत्युक्त यह ब्रह्म लक्षण दाम बन्धन लीला में ^१ लीलायित होते देखा जाता है एक दिन श्रीकृष्ण द्वारा दही मथनेवाली मटकी के तोड़ डालने के अपराध में माता यशोदा ने अपने अपराधी पुत्र को रस्सी से बाँध रखने का निश्चय किया। ऐश्वर्यज्ञान हीना विशुद्धवात्सल्यमयी जननी पुत्र को प्राकृत बालक की तरह रस्सी से बाँधने लगीं किन्तु रस्सी दो अंगुल कम हो गई। तब एक-एक करके दूसरी रस्सियाँ उसमें जोड़ने लगीं फिर भी वह सभी दो-दो अंगुल कम ही पड़ती रहीं। इस तरह घर में जितनी रस्सियाँ थीं। उन सभी को जोड़ देने पर भी जब पुत्र को बाँधने में समर्थ न हो सकीं तब वह दूसरी देखने वाली हास्य परायणा गोपियों के साथ हँसने लगी और आश्चर्यचकित हो गई। अन्त में जब श्रीकृष्ण ने यह देखा कि यद्यपि माता थक गई है, पसीना निकल आया है और उनके बालों में गुँथा हुआ माला खिसक गया है तब भी बाँधने के लिये उनकी प्रबल इच्छा है तो उन्होंने स्वयं ही माता द्वारा बन्धन स्वीकार करके यह दिखा दिया कि वह प्रेम के वश में रहते हैं। तभी तो श्रीमद्भागवत में कहा गया है,—

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वनापि चापरम्।

पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्चयः॥

तं मत्वात्मजगव्यक्तं मर्त्यलिंगमधोक्षजम्।

गोपिकोलुखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥

(१०।६।१३-१४)

अर्थ—जो भीतर नहीं, बाहर नहीं, पूर्व नहीं, अपर नहीं और जो जगत् के पूर्व और अपर, बाहर और भीतर है।^१ और जगत् है। उन अव्यक्त, सब इन्द्रिय ज्ञान के अतीत, नराकृत ब्रह्मवस्तु को अपना पुत्र समझकर गोपिका यशोदा ने प्राकृत बालक की तरह रस्सी से ऊखल में बाँध दिया था।

तभी तो श्री भागवतकार ने केवल भक्तिलभ्य इन श्री भगवदाख्य ब्रह्म वस्तु के विषय में कहा है कि श्री भगवान से जो प्रसाद ब्रह्मा को आत्मज होकर भी शंकर को आत्मीय होने पर भी, लक्ष्मी को अंगाश्रिता भार्या होने पर भी लाभ नहीं हुआ गोपिका सुत श्री भगवान—इस संसार में वर्तमान भक्तियुत लोगों को जैसा सुखलभ्य (सुख से ही प्राप्त है) वैसा देहाभिमानी तपसी लोगों को या निवृत्यभिमानी ज्ञानियों को सुलभ नहीं है।^२

उक्त लीला में श्री भगवान की मूर्ति का युगपत् बृहत्त्व और क्षुद्रत्व या अणुत्व और विभुत्व अपरिच्छिन्नत्व और परिच्छिन्नत्व आदि विरुद्ध धर्म प्रदर्शित हुए हैं।^३

दूर होने पर भी निकट में विश्राम किये रहने पर भी सर्वत्र गामी दुर्वासा के अभिशाप से पाण्डवों की रक्षा करने की लीला में प्रकाश।

(५) आसीना दूरं ब्रजाति शयानो यादि सर्वत्र।'

१. युगपत् 'होना' और 'न होना' यही अचिन्त्य विरुद्ध धर्म है।

२. श्री भागवत (१०।६।१५-१८)

३. तस्य विग्रहस्य परिच्छिन्नत्वहपि अपरिच्छिन्नत्व श्रूयते। तच्च युक्तम् अचिन्त्य शक्तिमत्त्वात् । (श्री जीवपाद सर्वसंवादिनी)

(काठके० १।२।२१)।

अर्थात्—वह (ब्रह्म) बैठे रहने पर भी दूर चले जाते हैं। सोते रहने पर भी सर्वत्र गमन करते हैं।’

इस श्रुति में जो ब्रह्म लक्षण वर्णित है। वह श्री भगवान की निम्नोक्त लीला में प्रकटित होते देखा जाता है।

महाभारतोक्त वर्णन का (वनपर्व २६२ अध्याय) का संक्षिप्त मर्म यथा,—पाण्डवों के वनवास के समय में एक दिन खलबुद्धि दुर्योधन ने दुष्ट अभिसन्धिपूर्वक महर्षि दुर्वासा को उनके दस हजार शिष्यों के साथ पाण्डवों के निवास स्थान में भेजा। इससे दुर्योधन का यह अभिप्राय था कि भूखे अतिथियों को अन्न देने में असमर्थ होने से उनके शाप से पाण्डवगण भस्मीभूत हो जायेंगे।

इस उद्देश्य से उसने मुनिवर को उनके शिष्यों के साथ उनके यहाँ उस समय जाने को कहा कि पाण्डव लोग और द्रौपदी भोजन कर चुके थे। मुनियों के उपस्थित होने पर महामुनि युधिष्ठिर ने अपने भाइयों के साथ उनलोगों का यथोचित स्वागत किया और हाथ जोड़कर उनसे कहा कि वह लोग नदी में स्नानादि करके भोजन के लिये आ जावे। द्रौपदी के पास सूर्यदेव की दी हुई एक बटलोई थी जो प्रतिदिन उस समय तक अक्षय अन्नादि से पूर्ण रहती थी। जब तक कि वह स्वयं न भोजन कर लेती थी। उस दिन उनका भी भोजन समाप्त हो चुका था। ऐसी अवस्था में वह भूखे अतिथियों को अन्न देने के लिये बहुत अधिक चिंतित हो उठी। इस विपद से बचने का दूसरा कोई उपाय न देखकर अन्त में उन्हीं विपदभंजन

श्री मधुसूदन के ही शरणापन्न होकर मन ही मन उन्हें पुकारने लगी। हे कृष्ण! हे विपदभंजन! आपने पहले सभास्थल में दुःशासन से मेरी जिस प्रकार रक्षा की थी, उसी प्रकार आज इस ब्रह्मशाप से रक्षा कीजिये। रक्षा कीजिये। श्री भगवान् द्वारका में महिषी रुक्मणी के घर में सो रहे थे। द्रुपदनन्दिनी के पुकारते ही तुरन्त उनके पास पहुँच गये और कहने लगे कि 'हम बहुत भूखे हैं, हमें अन्न दो।' द्रौपदी विपद के ऊपर और भी विपद में पड़ गई और कहने लगी कि बटलोई तो धोकर रख दी है। उसमें कुछ अन्न बाकी नहीं है। कृष्ण जी ने कहा कि उसे ही ले आओ। बटलोई लाने पर उसके गले में लगा हुआ थोड़ा साग का टुकड़ा अन्न सहित मिला जिसे ही खाकर उन्होंने कहा कि 'इस अन्न से विश्वात्मा तृप्त हो।' इसके पश्चात् अतिथियों को बुलाकर लाने के लिये भीमसेन को भेजा—

इधर शिष्यों के सहित दुर्वासा ऋषि ने जब स्नान के समय ही यह अनुभव किया कि उनके पेट भरे हुए हैं और प्रचुर अन्न रसादि का उद्गार भी हो रहा है तो आश्चर्य से आपस में कहने लगे कि हमें थोड़ी भी भूख नहीं है। युधिष्ठिर महाराज ने निश्चय ही हम लोगों के भोजन का आयोजन करके भीमसेन को भेजा है। इतना अन्न नष्ट होने से हम लोग उनके द्वारा अवश्य ही शापग्रस्त हो जायेंगे। यह सोचकर वह सब लोग फिर पाण्डवों के यहाँ न जाकर डर से भाग गये। भीमसेन ने लौटकर यह बात बताई। वह लोग यह जानकर कि वह श्रीकृष्ण की कृपा से विपद से बचे हैं। उनके जयगान में लग गये।

उक्त लीला से 'वह विश्राम करते रहने पर भी सर्वत्रगामी

है' इत्यादि श्रुत्युक्त ब्रह्म लक्षण भी लीलायित होते देखा जाता है। अभक्त के लिये वह दूर से दूर है और उसी समय भक्त के लिये वह निकट से निकट है। फिर ऐसा होने पर भी उसी समय वह यह कुछ भी नहीं है। उक्त प्रकार भगवान की दूसरी अनेक लीला के सम्बन्ध में भी श्रुत्युक्त ब्रह्म लक्षण की स्पष्ट अभिव्यक्ति देखा जाता है।

अधिक क्या कहें, सभी वेद और श्रुति ने परोक्षवाद के आवरण में या तटस्थ लक्षण में, अस्पष्ट भाव से जिनका कीर्तन किया है, (सर्वे वेदा यतपदमामनन्ति काठके (२।१५)—उनका जब खुला हुआ वेदार्थ स्वरूप श्री भागवत में इन सब श्रुतियों को ही मूर्त्तस्वरूप^१ में अर्थात् तदधिष्ठात्री देवता के रूप में स्वरूप लक्षण में, अति सुस्पष्ट भाव से ब्रजराजनन्दन श्रीकृष्ण—स्वयं भगवान के रूप में स्तव करते हुए देखा जाता है। तब इसके समझने में कोई असुविधा नहीं रह जाती कि केवल अक्षराकार अमूर्त और अस्पष्ट सभी श्रुतियों का यथार्थ तात्पर्य क्या है? इस भय से कि ग्रन्थ बढ़ जायेगा, इस विषय की आलोचना इस जगह संभव नहीं हुई। श्री भागवत के दशम स्कन्ध में ८७ अध्याय में प्रसिद्ध श्रुति या वेदस्तुति नामक अध्याय और श्रीसनातन—श्रीधर श्री विश्वनाथ आदि आचार्यपादगणकृत उनकी टीका और श्री प्रबोधानन्द सरस्वती कृत 'श्रुतिस्तुति'—व्याख्या आदि विशेष भाव से देखना चाहिये।

१. 'यत्र मूर्त्तिधराः कला।' (भा० ११।१७।५) मूर्त्त श्रुतिगण द्वारा जिनकी स्तुति हुई है, उनको श्री नारद ने भी श्रीकृष्ण कहकर प्रणाम किया है। (नमस्तस्मै भगवते ८५ 'यमल कीर्त्तये'। इत्यादि (भा० १०।८७।४६)

श्री पाद शंकर कल्पित मायावाद के और निर्गुण व सगुण ब्रह्म के विषय में संक्षिप्त समालोचन।

साधारणतः नाम, रूप, गुण कर्मादि सब जड़ धर्मों को त्रिगुणा प्रकृति या माया शक्ति के विकार रूप में ही अभिव्यक्त होते देखा जाने के कारण यह सभी जागतिक प्राकृत या मायिकरूप में ही निर्णीत होते हैं किन्तु मायातीत स्वरूप शक्ति के अन्तर्गत संधिनी सम्बित और ह्लादिनी तीन शक्ति के विलास से भी प्राकृत सत्त्वादि गुणातीत शुद्ध सत्त्वमय नाम, रूप, गुण, कर्मादि की अभिव्यक्ति होती है किन्तु यह केवल भक्ति विभावित इन्द्रिय का ग्राह्य विषय है। प्राकृतेन्द्रिय का नहीं। इसीलिये अपनी इच्छा से जगत में अवतीर्ण श्री भगवान के अप्राकृत नाम, रूप, गुण, कर्मादि को भी मायावादी लोग प्राकृत या मायिक निर्णय करते हैं और स्वरूप शक्ति के विलासमय साकार और सविशेष सभी भगवत लोकों को भी मायिक समझना उनके लिये स्वाभाविक हो जाता है। यही कारण है कि उन लोगों को श्रुत्युक्त ब्रह्म का प्रकृतीक्षण और जगत कर्तृत्वादि-निर्गुण (अप्राकृत) गुण कर्मादि को भी सगुण (प्राकृत) समझकर, सभी स्वतः प्रमाण श्रुति के मुख्यार्थ को बहुत प्रकार के काल्पनिक अर्थ द्वारा ढंक कर सगुण और निर्गुण या सविशेष और निर्विशेष—इन दो प्रकार के ब्रह्म की कल्पना करनी पड़ती है।^१

१. सत्येभ्यलिंगाः श्रुतयो ब्रह्म विषयाः इत्यादि (वृ०सू० ३।२।११ शंकर भाष्य देखें) चाहिये।

श्री पाद शंकराचार्य प्रमुख मायावादी के मत में एक ही निर्गुण, निर्विशेष, निष्क्रिय, निराकार, निरंजन, ब्रह्म वस्तु की अविद्या द्वारा स्थापित चैतन्य अवस्था ही 'जीव' नाम से और माया द्वारा उपहित चैतन्य अवस्था ही जगत कर्तृत्वादि सामर्थ्य सम्पन्न 'ईश्वर'^१ नाम से कथित होते हैं।

अविद्या और माया के हट जाने से जीव और ईश्वर दोनों ही निर्गुण ब्रह्म रूप में प्रतिभात होते हैं। सृष्टि कर्तृत्वादि गुण सम्पन्न, नाम-रूपादि विशिष्ट परमेश्वर ही 'सगुण ब्रह्म' है और निराकार, निःशक्तिक, निष्क्रिय, निर्विशेष ब्रह्म ही 'निर्गुण ब्रह्म' हैं।^२ इस मत को सत्य स्वीकार करने से परमेश्वर या भगवान का रूप, गुण जगत सृष्टादि कर्म और लीलादि सभी मायिक-या प्राकृत हो जाते हैं। यही कारण है कि मायावादी के मत में निर्गुण ब्रह्म को छोड़कर सगुण ब्रह्म या परमेश्वर की उपासना से मुक्ति नहीं होती। निम्न अधिकारी के लिये ही ईश्वरोपासना की व्यवस्था है—
इत्यादि^३

एक ही ब्रह्म का दो प्रकार का विरुद्ध धर्म श्रुति सम्मत, सगुण और निर्गुण के भेद से द्विविध ब्रह्म—श्रुति विरुद्ध।

किसी श्रुति में कहीं भी इस प्रकार काल्पनिक दो प्रकार के

१. अविद्योपाधि, सन् आत्मा जीव इत्युच्यते (मायोपाधिसन् ईश्वर इत्युच्यते (तत्त्वबोध)
२. द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते—इत्यादि बृ० सू० १।१।११) शंकर भाष्य देखना चाहिये।
३. 'विकारावर्त्तः', 'तथाहि' इत्यादि बृ० सू० ४।४।१६ शंकर भाष्य दृष्टव्य

दो ब्रह्म का उल्लेख नहीं है। पूर्वोक्त अचिन्त्य विरुद्ध धर्म लक्षण में एक ही ब्रह्म का सविशेषत्व, निर्विशेषत्व साकारत्व और निराकारत्व, सक्रियत्व और निष्क्रियत्व आदि दो प्रकार के विरुद्ध धर्म ही कीर्तित हुये हैं किन्तु निर्गुण और सगुण के भेद से द्विविध ब्रह्म के विषय का उल्लेख कहीं भी नहीं देखा जाता। एक ही वैदुर्यमणि से नील पीतादि बहुत वर्णों का विस्तार होता है किन्तु मणि जिस तरह उन वर्णों के अतिरिक्त अपने स्वरूप में बिना विकार के ही रहती है अर्थात् स्वयं नीली, पीली नहीं होती उसी तरह सर्वशक्ति के आश्रय ब्रह्म या भगवान से विरुद्धाविरुद्ध निखिल धर्म—सर्वशक्ति की अभिव्यक्ति तो होती है किन्तु वह अपने विशुद्ध स्वरूप में अविकृत और उस से अछूते रहकर ही अवस्थान करते हैं। यही बात सब श्रुतियों से अवगत होती है और ब्रह्म वस्तु की अत्याश्चर्य और अचिन्त्य यही महिमा है।

**सशक्तिक सविशेष ब्रह्म ही श्रुति सम्मतः
निःशक्तिक निर्विशेष ब्रह्म शंकर कल्पित हैं।**

सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजायेय। (तैत्ति० २।६) अर्थात् उन्होंने (ब्रह्म ने) इच्छा किया कि मैं बहुत हूँगा; 'स ईक्षते लोकान् नू सृजा।' (ऐत० १।१) अर्थात् सत्यादि सभी लोकों की सृष्टि करने के लिये उन्होंने कारण लीन प्रकृति के प्रति ईक्षण किया या 'यतो व इमानि भूतानि जायन्ते—' (तैत्ति० १३।१) अर्थात् जिनसे समस्त भूत—सब प्राणी उत्पन्न होते हैं,—इत्यादि। सब श्रुतियों में इच्छाशक्ति अर्थात् अन्तः करण विशिष्ट ईक्षण शक्ति अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रिय

और रूप विशिष्ट और सृष्टिकार्यादि समर्थ साकार, सक्रिय और सविशेषादि लक्षण से जिन ब्रह्म को निर्देश किया है, उन सृष्टि कर्तृत्वा दिगुण सम्पन्न ब्रह्म को यदि सगुण ब्रह्म के रूप में मायास्पृष्ट माना जाय, (अशब्दमस्पर्शम् रूपम्। श्वेता० ४।१५), अर्थात् उन्हें अशब्द अस्पर्श, अरूप इत्यादि ब्रह्म के विरुद्ध धर्म का केवल निर्विशेष पक्ष रूप श्रुति के वाक्य के आधार पर दूसरे एक निराकार, निर्विशेष, निःशक्तिक, निष्क्रिय ब्रह्म को निर्गुण रूप में स्थापित किया जाय^१ तो वह सम्पूर्ण स्वकल्पित और श्रुति विरुद्ध होगा। यह बात निम्नोक्त श्रुतिवाक्य से प्रमाणित हो सकती है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताकेवलो निर्गुनश्च^२॥

इसका अर्थ—वह अद्वितीय देवता^३ (ब्रह्म) सब भूतों में गूढ़ रूप से अवस्थित है। सर्वव्यापी, सभी प्राणियों के अन्तरात्मा, कर्माध्यक्ष, सर्वभूतस्थ, साक्षी, चेतयिता और निरूपाधिक और निर्गुण अर्थात् सत्त्वादि गुण-प्राकृत गुण से अछूता है।

इस तरह उक्त श्रुति वाक्य से ही समझ में आ जायेगा कि श्रुति ने जिन ब्रह्म को कर्माध्यक्ष साक्षी चेतयिता आदि सक्रिय और सविशेष लक्षण से निर्देश किया है। वही फिर निरूपाधिक और निर्गुण शब्द से कीर्तित हुये हैं।

१. रूपाद्याकार रहितामेव—' इत्यादि (वृ० सू० ३।२।१४) शंकर भाष्य दृष्टव्य

२. केवलः निरूपाधिकः। निर्गुण सत्त्वादि गुण रहितः सत्त्वादिगुण वर्जितः। शंकर भाष्य

३. श्रुत्युक्त 'देव' शब्द सर्वत्र ही श्री भगवत निर्देशक

यदि यह कहा जाय कि प्रथम कहा हुआ शब्द कर्माध्यक्ष, साक्षी, चेतयिता आदि सभी शब्द सगुण ब्रह्म का और शेषोक्त केवल और निर्गुण शब्द निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादक है तो यह बात भी ठीक नहीं लगती क्योंकि 'च' अर्थात् एवं शब्द द्वारा सुस्पष्ट रूप से ही वही एक सविशेष सक्रिय ब्रह्म ही निरूपाधिक और निर्गुण शब्दों के भी निर्देश वस्तु हैं। इसलिये इससे सगुण और निर्गुण के भेद से द्विविध ब्रह्म का कोई सन्धान नहीं पाया जाता। यही समझ में आता है कि एक ही ब्रह्म स्वरूपतः निरूपाधिक और निर्गुण अर्थात् प्रकृत गुणास्पृष्ट होकर भी अपनी अचिन्त्य विरुद्ध विरुद्ध शक्तियोग द्वारा सगुण निर्गुण, साकार, निराकार, सक्रिय, निष्क्रिय सभी शक्तियों को प्रकट करता है और वही भगवत शब्द से और मूलतः श्रीकृष्ण नाम से कीर्तित हैं।

अतएव मायावादी गण का स्वकल्पित 'दिविध ब्रह्म' सब प्रकार से श्रुतिविरुद्ध प्रतिपादित हो सकता है। उक्त प्रकार के और भी दृष्टान्त दिये जा सकते हैं किन्तु ग्रन्थ के बढ़ जाने के भय से वह सभी नहीं लिखे जाते हैं। केवल एक श्रुति वाक्य द्वारा ही उक्त श्रुति का सुस्पष्ट अर्थ प्रदर्शित हो जायेगा—

एको देवो नित्य लीलानुरक्तो

भक्तव्यापी भक्तहृदरात्मा।

कर्माध्यक्षो भक्तभावानुवादी

क्रियासाक्षी भक्तजीवो नरेन्द्रः॥

(पुरुष बोधिन श्रुति (३र्थ प्रपाठके)

प्रलय निर्दिता माया के जागने के पहले परमेश्वर की सक्रियता और उनकी इच्छा और ईक्षण से माया का जागना, परमेश्वर का ज्ञान, उनकी इच्छा और क्रियादि कभी इस माया के आधीन नहीं हो सकते।

द्वितीयतः मायावादियों ने जगत कर्तृत्वादि शक्ति विशिष्ट ब्रह्म या परमेश्वर को सगुण ब्रह्म रूप में स्थापन करके उनको माया स्तापित चैतन्य अर्थात् माया-श्रुत बताया है इसलिये मायावादियों का यह सिद्धान्त है कि उनके रूप, गुण, कर्म आदि सभी मायिक या प्राकृत है किन्तु श्रुति इत्यादि के देखने से यह आसानी से समझा जा सकता है कि माया या प्रकृति जब साम्यभाव प्राप्त होकर अर्थात् सम्पूर्ण निष्क्रिय अवस्था में प्रलय शय्या में सोती रहती है। तब उसे सृष्टि कार्य में नियुक्त करने की इच्छा से जो उसके प्रति ईक्षण करके उसे चेतना दान पूर्वक उसका सृष्टि सामर्थ्य रूप वैषम्य भाव उत्पादन करते हैं उन परमेश्वर की इच्छा व क्रियादि सभी धर्म प्रकृति के जागरण के भी पहले नित्य विद्यमान रहते हैं अतएव जगतकारण इन ब्रह्म वस्तु या श्री भगवान का रूप गुण कर्मादि जीव की तरह मायाधीन नहीं है। वह सभी मायातीत अप्राकृत चिन्मय धर्म है। यह भी स्वतः ही प्रमाणित हो जाता है तभी तो श्री भागवत् में भी कहा है—

विलज्जमानया यस्य स्यातुमीक्षापथेऽमुया।

विमोहिता विकल्पन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥

(श्री भा० २।५।१३)

इसका अर्थ—श्री भगवान के सामने आने में भी जो माया विलज्जित होती है। उस माया से मोहित होकर सभी अज्ञानी दुर्बुद्धि जीव शरीर और शरीर सम्बन्धीय विषय को अपना कहकर बकवाद किया करते हैं।

कृष्ण सूर्यसम, माया होय अंधकार
जहाँ कृष्ण ताहाँ नाहि मायार अधिकार

अर्थ—श्रीकृष्ण सूर्य के सामान हैं। माया अन्धकार है। जहाँ कृष्ण है वहाँ माया का अधिकार नहीं है।

इसलिये जिनकी दृष्टि के सामने आने में माया विलज्जित होती है, उन सृष्टि कर्तृत्वादि अप्राकृत गुण सम्पन्न परमेश्वर या भगवान को माया कवलित कहना और उनके रूप गुण कर्मादि को मायिक कहकर प्रचार करना, चाहे जो भी हो उनके केवल दुःसाहसिकता का ही परिचायक नहीं है बल्कि श्री भगवान के प्रति इस प्रकार अवज्ञा करने से अपराध भी होता है। श्री पाद प्रकाशानन्द के साथ श्रीमन्महाप्रभू के वेदान्त विचार के उपलक्ष में श्री चरितामृतकार ने चरितामृत में कहा है—

ब्रह्म शब्दे मुख्य अर्थे कहे भगवान।
चिदैश्वर्य परिपूर्ण अनुद्ध समान॥
ताहार विभूति देह सब चिदाकार।
चिद्विभूति अच्छादि तारे कहे निराकार॥
चिदानन्द देह तार स्थान परिवार।
तारे कहे प्राकृत सत्त्वेर विकार॥
तार दोष नाहि तेहो आज्ञाकारी दास।
आर जेई सुने तार होय सर्वनाश॥

विष्णु निन्दा आर नाहि इहार ऊपर।

प्राकृत करिया माने विष्णु कलेवर॥

(श्री चै० १७)

इसका अर्थ—वास्तव में 'ब्रह्म' शब्द का मुख्य अर्थ 'भगवान' है। वह चिदैश्वर्य परिपूर्ण है। उनकी विभूति देह सब चिदाकार है। उनकी चिद्विभूति को ढककर कहते हैं कि ब्रह्म निराकार है। भगवान की देह, उनका स्थान उनका परिवार सभी चिदानन्द है। उस चिदानन्द भगवान को ये लोग प्राकृत गुण सत्त्व आदि का विकार कहते हैं श्री पाद शंकर का दोष नहीं है क्योंकि वे भगवान के आज्ञाकारी दास हैं पर और कोई यदि सुनेगा भी तो उसका सर्वनाश हो जायगा। इससे बढ़कर विष्णु निन्दा और कोई नहीं है कि चिदानन्द विष्णु कलेवर को माया मय समझा जाये।

श्री भगवान ने स्वयं ही गीता में कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७।१४)

इसका अर्थ—मेरी यह त्रिगुणमयी माया से पार जाना बड़ा कठिन है। जो लोग (भक्ति योग द्वारा) मेरे ही शरणागत होकर भजन करते हैं, वह ही मेरे प्रभाव से उस दुस्तरा माया से छूट जाते हैं।

श्री भागवत में भी कहा है—

एतदीशानमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।

न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया॥

(श्री भा० १।११।३६)

इसका अर्थ—भगवदाश्रित लोगों की भगवान की आश्रित बुद्धि—शरीर में रहने पर भी जिस प्रकार देहस्थित—सुख दुखादि गुणों के साथ युक्त नहीं होती, उसी तरह प्रकृति या माया के मध्य में रहने पर भी ईश्वर प्राकृत गुणों के साथ युक्त नहीं होता। यही है ईश्वर का ईश्वरत्व।

(कैमुव्य न्याय में उक्त श्लोक से यही सूचित होता है कि जिनके आश्रय में रहने से माया में अवस्थित जीव भी माया से मुक्त हो जाता है, तो इसमें क्या अधिक बात है कि यदि ऐसे श्री भगवान माया में रहने पर भी माया से मुक्त रहेंगे)

अतएव जिनके श्री चरणाश्रय करने से ही जीव माया केबन्धन से छूट जाते हैं, वही श्री भगवान स्वयं माया द्वारा आच्छन्न हो जायेंगे—यह बिल्कुल ही युक्ति विरुद्ध है, अशुद्धेय और अपराध जनक है।

तभी तो बृहद्विष्णु पुराण में भी कहा है—

यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः।

सः सर्वस्माद्वहि कार्यः श्रौतस्मार्त्त विधानतः॥ इत्यादि

अर्थ—जो व्यक्ति परमात्मवस्तु श्री कृष्ण की देह आदि को पाँचभौतिक या प्राकृत समझता है। वह श्रुतिस्मृति के विधानानुसार सब सत्कर्मों से बहिष्कृत अर्थात् मह। पतित हो जाता है इत्यादि।

**सर्वशक्ति और विशेषण हीन निर्गुण ब्रह्म
मायावादियों का स्वकल्पित और श्रुति विरुद्ध**

नाम, रूप, गुण, कर्मादि कोई धर्म या शक्तिरूप कोई भी

विशेषण रहने से ही वह मायिक हो जावेगे—इस अनन्त धारणा के वशवर्ती होकर ही मायावादियों ने, यहाँ तक कि सभी श्रुतियों में बहुधा कीर्तित ब्रह्म की विविध शक्ति को भी कल्पित अर्थ के आधार पर अस्वीकार करके उनका निर्विशेषत्व स्थापना करने का प्रयास किया है। यदि स्थिर भाव से विचार किया जावे तो समझ में आ सकता है कि ऐसी सर्वविशेषण शून्य वस्तु शून्य प्रायः अलीक या अवस्तु ही हो जाती है। जो अनन्त विशेषणमय है। उनके विशेषणों की सीमा न रहने से शास्त्र में उनको निर्विशेष कहा गया है। ऐसा कहने में कोई बाधा नहीं रहती कि ब्रह्म को माया के चंगुल से बचाने के लिये सर्वशक्तिमत ब्रह्म को सगुण कहकर उपेक्षापूर्वक उनके अतिरिक्त एक सर्वशक्तिहीन सर्वगुणहीन, सर्वविशेषण हीन, निष्क्रिय, निधर्मक, क्षुद्र सत्ता मात्र ब्रह्म वस्तु की कल्पना करके उनको ही निर्गुण ब्रह्म रूप में^१ स्थापन करने का प्रयास इस प्रकार के निर्गुण ब्रह्म के लिये भी किसी तरह भी गौरव व्यंजक नहीं हो सकता।

सर्वशक्तिमत महामहिम मय ब्रह्म ही श्रुति सम्मत।

सभी श्रुतियों में जो ब्रह्म लक्षण वर्णित हुये हैं। उससे यह स्पष्ट ही समझ में आता है कि ब्रह्म विरुद्धाविरुद्ध सर्व धर्म युक्त, सर्व समर्थ-सर्वशक्तिमत वस्तु है। उनकी महिमा व प्रभाव की कोई सीमा नहीं है। ऐसे महामहिम और अचिन्त्य प्रभाव के कारण वह एक ही समय समस्त विरुद्ध शक्ति के प्रकाश में समर्थ होने पर

१. समस्त विशेषण रहित—इत्यादि (वृ०सू० ३-२-११) शंकर भाष्य दृष्टव्य

भी उसी समय ही वह सब से निर्लिप्त और अछूते हैं। मायावी जिस प्रकार विविध माया दिखाकर दर्शकों को विमुग्ध कर देता है किन्तु स्वयं उनके प्रभाव से दूर रहकर उसका नियन्त्रण करता है। उसी तरह सर्व-शक्तिमत परमेश्वर माया शक्ति के प्रकाश द्वारा भगवत बहिर्मुख जीवों को विमुग्ध करता है किन्तु स्वयं उसके द्वारा विमुग्ध न होकर उसके नियन्त्रण के रूप में ही नित्य विद्यमान रहता है।^१

उनके ही भय से हवा चलती उनके ही भय से सूर्य उदय होता है। अग्नि, सूर्य, इन्द्र, काल आदि अनेक ही भय से भीत होकर अपने अपने कार्य में लगे हैं।^२ उनके ही प्रशासन में रवि चन्द्रमा आदि नक्षत्र ग्रहादि सभी अपने नियम में लगे हुये अपना कार्य करते हैं।^३ फिर वही अपनी कृपा और करुणादि शक्ति द्वारा अपने आश्रित और उन्हीं को खोजने वाले जीवों को माया के फन्दे से छुड़ाकर, भक्त रूप में अमृतमय स्वधाम में, अपने त्रितापहारी सुशीतल चरणों की छाया में स्थान देकर आत्मदान करते हैं।^४ उनके समान या उनसे अधिक दूसरा कोई नहीं है।^५

उनकी मूर्ति, नाम, गुण, कर्म, लीला, वसन, भूषण, परिकर और धामादि प्राकृत सृष्टि के पहले श्री भगवान ने ब्रह्मा को अपना

१. श्वेताश्व० ४।१०

२. कठोपनिषद् ६।३।

३. बृहदारण्यक ३।८।६।

४. काठके० १।२।२३।

५. श्वेताश्व० ६।८।

धाम और परिकरादि का दर्शन कराया था इसलिये यह सब कभी मायिक नहीं हो सकते—न यत्र माया भा० (२।६।६-१६) सभी मायातीत, अप्राकृत, शुद्ध सत्त्वमय और अशेष कल्याण गुण चिदानन्दमय है।

यही सभी सविशेष परव्योम के अन्तर्गत वस्तु होने के कारण—निर्विशेष परव्योम या सिद्धलोक के भी ऊपर है और केवल भक्ति ग्राह्य^१ होने के कारण साधारण लोगों के समझ के बाहर है अतएव इस बात का उल्लेख ही निष्प्रयोजन है कि ऐसी महामहिमा में प्रतिष्ठित^२ ब्रह्म की अर्थात् षडैश्वर्य पूर्ण श्री भगवान की मूर्ति, गुण, लीला और महिमादि रूप विशेषत्व को प्राकृत समझकर उनके अतिरिक्त शून्य तुल्य निःशक्तिक निष्क्रिय स्थानुप्राय एक निर्गुण ब्रह्म की कल्पना करना जीव के परमार्थिक भाग्य के लिये विडम्बना मात्र है।

श्रुति में सक्रिय या सविशेष ब्रह्म को ही माया से निर्लिप्त रहने की बात स्पष्ट ही दिखाई देती है।

श्रुति से कही भी ऐसे बलहीन ब्रह्म का सम्वाद पता नहीं चलता कि जो माया द्वारा स्पृष्ट हो या सक्रिय या सविशेष होने से ही ब्रह्म वस्तु मायिक अर्थात् सगुण हो जायगी बल्कि ब्रह्म अपनी अचिन्त्य विरुद्ध शक्ति द्वारा सब कुछ करने पर भी वह कुछ नहीं करते, सबके साथयुक्त होकर भी वह सम्पूर्ण अच्छूते और असंग

१. (गीता १८।५५)

२. छान्दोग्य (७।२४।१)

अवस्था में रहते हुये सूर्यकी तरह चमकते रहते हैं। इस प्रकार के एक महा प्रभाव शाली सर्वाधीश^१ सविशेष ब्रह्म की बात ही श्रुति से सुस्पष्ट रूप में पता चलती है; यथा

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्नलिप्यसे

चक्षुषैर्वाह्य दोषैः।

एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा

न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः॥ (काठके० ५।११)

इसका अर्थ—सब लोगों के चक्षु में अधिष्ठित सूर्य जिस प्रकार चक्षु ग्राह्य बाह्य अशुचि वस्तु के साथ लिप्त नहीं होते, उसी प्रकार एक मात्र सब जीवों के अन्तरात्मा स्वरूप ब्रह्म वस्तु बाह्य विषय में अर्थात् जगत् सम्बन्धी मायिक दुखादि दोष के साथ लिप्त नहीं होते।^२

इसलिये जगत् कारण ब्रह्म या परमेश्वर की विविध शक्तियां विशेषण का वर्णन देखकर उन्हें मायालिप्त या सगुण समझकर उनसे पृथक् दूसरे निःशक्तिक निष्क्रिय और शून्य प्रायः निर्विशेष ब्रह्म की परिकल्पना निरर्थक है और श्रुति सम्मत नहीं है। बिल्कुल ही मनोकल्पित है। यदि किसी को समझने की इच्छा है तो वह और दूसरी श्रुति वाक्य से यह बात भली भाँति सरलता से समझ सकता है।

१. श्वेताश्व ०।३।१७

२. उक्त प्रकार माया स्पृष्ट न होने से उनके द्वारा ऐकान्तिक मुक्ति मिलने में भी कोई बाधा नहीं रहती। तभी तो श्रुति ने कहा है 'तमेव दिदित्वा अतिमृत्युम एति। नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।' गोपाल तापनी में भी कहा है 'चिन्त्यं श्रे त सा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः।

श्री पादशंकर कल्पित निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा उनके द्वारा कही अनिर्वाच्या माया की ही अधिक महिमा दिखाई देती है जिससे उनका प्रचारित ब्रह्मवाद 'माया वाद' के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ।

यह भी विचार योग्य विषय है जो सर्वभाव हीन होता है उसे 'अभाव' या अवस्तु कहते हैं। श्री पादशंकर कल्पित सर्वविशेषण शून्य अर्थात् सर्वभाव हीन 'निर्गुण ब्रह्म' बौद्ध के 'शून्यवाद' के सीमा में ही पर्यवसित होकर 'अभाव' या अवस्तु के रूप में गिने जाने योग्य है विशेषण मात्र को ही मायिक धर्म समझकर मायावादियों ने ब्रह्म को माया के चंगुल से रक्षा करने के लिये एक सर्वशक्तिहीन, सर्व विशेषण विमुक्त स्वकल्पित 'निर्गुण ब्रह्म' की स्थापना की। जिससे 'ब्रह्म' की अपेक्षा माया की ही महिमा अधिक रूप में स्थापित हुई है। जिस माया को उन्होंने मिथ्या अर्थात् अवस्तु व अनिर्वाच्य आदि कहा है।^१ उसी माया का ही फिर ऐसा प्रभाव दिखाया है कि उसके द्वारा सद्वस्तु ब्रह्म भी आक्रान्त होकर अनन्तः उसके कुछ अंश को ही उसी माया के चंगुल में फँसना पड़ा वह माया कवलित अंश ही उन लोगों का 'सगुण ब्रह्म' या जगत के कर्तृत्वादि—गुण सम्पन्न, अचिन्त्य शक्तिशाली परमेश्वर है।^२

१. सर्वज्ञेत्यादि— (ब्रह्म सूत्र २।१।१४) शंकर भाष्य

२. एवमविद्याकृत नामरूपोपाध्यनुरोधिश्चरो भवति (ब्र०सू० २।१।१४) शंकर भाष्य

अर्थ—ईश्वर अविद्याकृत नाम रूप उपाधि द्वारा स्थापित है।

बाकी बचे 'निर्गुण ब्रह्म' को माया के द्वारा आक्रमण से रक्षा करने के लिये, श्रुत्युक्त उनकी स्वाभाविकी सभी शक्ति, सभी भाव, सभी विशेषण हटाकर उन्हें एक अवस्तु या शून्यप्राय ब्रह्म में परिणत^१ कर दिया है यदि कुछ स्थिरता से सोचा जाय तो यही समझ में आता है कि इससे तो ब्रह्म की महिमा नहीं घोषित हुई बल्कि अवस्तु माया की ही महामहिमा की विजयवार्ता जगत में विघोषित हुई है।

श्री पादशंकर 'सर्व खलविदं ब्रह्म' अर्थात् 'सभी ब्रह्म है।' 'ब्रह्म ही सत्य है।' जगत मिथ्या है। इस प्रकार ब्रह्म की महिमा व्यंजक 'ब्रह्मवाद' प्रचार करने में सचेष्ट हुये थे। किन्तु उन सर्वकारण और मायाधीश ब्रह्म को मायाग्रस्त और उनके अप्राकृत रूपगुण, लीलादि सभी विशेषत्व को मायिक बताकर उनके अतिरिक्त सर्वविशेषत्व हीन श्रुति विरुद्ध और स्वकल्पित शून्य प्राय एक 'निर्गुण ब्रह्म' की स्थापना द्वारा श्री भगवत् चरणों में जो अपराध हुआ है। उसी का ही यह फल है कि उनका भाष्य 'ब्रह्मवाद' रूप में जगत में न प्रचारित होकर 'मायावाद' के नाम से ही जगत में प्रसिद्ध हुआ है और उनका परिचय भी 'ब्रह्मवादी' न होकर 'मायावादी' ही हुआ है। यह भी विशेष भाव से लक्ष्य करने का विषय है। इसे श्री भगवान का नीरव परिहास भी कहा जा सकता है क्योंकि श्री भगवान के परिहास रस के आस्वादन के लिये

१. ('आह च श्रुतिश्चैतन्य मात्रं विलक्षण रूपान्तर रहितं विविशेष ब्रह्म।')

(ब्र०सू० ३।२।१६) शंकर भाष्य

अर्थ—श्रुति ने कहा है ब्रह्म चैतन्य मात्र; रूपादि रहित निर्विशेष है।

भक्तगण ही उपयुक्त क्षेत्र है। उनमें फिर श्री शिव तो उनके परम भक्त हैं। श्रीपाद शंकराचार्य उन्हीं शिव के अवतार हैं।

श्री भगवान के आदेश से ही श्रीपाद शंकर द्वारा 'मायावाद' प्रवर्तित होने से, इस विषय में आचार्यपाद का दोष साहित्य

जो भी हो, आचार्य श्रीपाद शंकर का इस विषय में कोई दोष नहीं है वह तो श्री शंकर के साक्षात् अवतार है, इसलिये परम वैष्णव थे। श्री भगवान के ही आदेश से और किसी निगूढ़ उद्देश्य से उन्हें 'मायावाद' प्रचार करना पड़ा। यह बात शास्त्र से पता चलती है। यथा—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्चेत।

मयैव विहितं देवि कलौ ब्राह्मणमूर्तिना॥

(पाद्मे। उ० २५।७)

इसका अर्थ—(पार्वती के प्रति महादेव की उक्ति) हे देवि। ब्राह्मण की मूर्ति धारण करके मैंने ही कलियुग में 'मायावाद रूप' असत शास्त्र का प्रचार किया। इस असत् शास्त्र को प्रच्छन्न बौद्धमत कहते हैं।

उन्होंने भगवत् आज्ञा से ऐसा किया है। यह भी निम्नोक्त श्लोक से पता चलता है; यथा—

स्वगमैः कल्पितैस्त्वष्णजनानमदविबुद्धानकुरु।

मांच गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा॥

(पाद्मे उ० ६२।३१)

इसका अर्थ—(श्री शिव के प्रति श्री भगवान की उक्ति) हे शिव, तुम स्वकल्पित आगम शास्त्र द्वारा सब लोगों को मुझसे विमुखकरो और मुझे भी छिपा दो ताकि यह सृष्टि उत्तरोत्तर बढ़ती रहे।

अतएव उन्होंने श्री भगवान की यह अप्रिय आज्ञा पालन करके परम भक्तत्व का ही परिचय दिया है। आपने लिये तो श्री गोविन्दाष्टक आदि बहुत से भक्ति मूलक स्तव स्तुति और भी सहस्र नाम स्तोत्र का भाष्य रचना करके नाना भाव से उन्होंने भक्ति का ही आश्रय ग्रहण किया है।^१ यही कारण है कि श्री चरितामृत में उनके मायावाद मूलक भाष्य की निन्दा तो की गई है किन्तु श्री पाद शंकर का गुणगान ही किया गया है।

ताहार नाहिक दोष, ईश्वर आज्ञा पाय्या।

गौणार्थ करिल मुख्य अर्थ आच्छादितया॥

अर्थ—उन्होंने ईश्वर की आज्ञा पाकर मुख्यार्थ छिपाकर गौणार्थ का प्रचार किया, अतः उनका दोष नहीं है।

श्री भगवान की मायातीत श्रीमूर्ति और उनके गुण कर्मादि के आप्राकृतत्व के विषय में शास्त्र प्रमाण।

अब हम वेदादि सभी शास्त्रों से सुस्पष्ट रूप में यह जान सकते हैं कि वास्तव में परमेश्वर श्री भगवान की मूर्ति और नाम-गुण-लीलादि रूप सभी विशेषण मायावादी कथित मायिक अर्थात् प्राकृत नहीं है। यह सभी अप्राकृत चिदानन्द मय वस्तु है। श्रुति

१. श्री जीवपाद कृत तत्व सन्दर्भः २३ अनुच्छेद दृष्टव्य

में ब्रह्म लक्षण इस प्रकार वर्णन किया गया है—

नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानामेको

बहुनाम् यो विदधाति कामान् (कठोप० २।३।१३)

अर्थात्—‘जो एक होकर भी बहुतों की कामना पूरी करते हैं’—इत्यादि उक्त द्वारा ब्रह्म की सविशेषत्व ही वर्णित है फिर वह ब्रह्म ही ‘सब नित्य वस्तुओं में भी नित्य, सब चेतन वस्तुओं में भी चेतन’ है। उनकी इस तरह अप्राकृत लक्षण से निर्देश करके उनके रूप-नाम-गुण कर्मादि का अप्राकृतत्व ही प्रकाश किया गया है। यदि वह प्राकृत अर्थात् अनित्य और जड़ धर्मी होते तो उन्हें कभी भी ‘नित्य के भी नित्य’ और ‘चेतन के भी चेतन’ न कहा जाता। उक्त निर्देश द्वारा यह भी सूचित हुआ है कि वह ज्ञानियों के ध्येय निर्विशेष सच्चिदेक ब्रह्म के भी प्रतिष्ठा या आश्रय है।

श्रुति का स्थूल विशेष में ब्रह्म को अरूप और निर्विशेष आदि कहने का तात्पर्य उनका प्राकृत रूप और मायिक विशेषणादि का निषेध है।

श्रुति ने और भी कहा है अपाणिपादों जवनों ग्रहीता पश्यतव्य चक्षुः स शृणोत्य कर्णः। से वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरम्यं पुरुषं महान्तम—

(श्वेताश्व ३।१०)

इसका अर्थ—उनके हाथ नहीं है किन्तु वह ग्रहण करते हैं। उनके पैर नहीं है किन्तु वह चलते हैं। उनके आँखें नहीं हैं किन्तु वह देखते हैं। उनके कान नहीं हैं किन्तु वह सुनते हैं। जो भी जानने

योग्य बाते हैं; वह सब वह जानते हैं। किन्तु उन्हें कोई नहीं जानता; उन्हें सर्वादि और महानपुरुष कहा जाता है।

श्रुत्युक्त उनके (ब्रह्म के) के हाथ नहीं पैर नहीं इत्यादि वाक्य से उन्हें सम्पूर्ण निराकार और निर्विशेष समझना बिल्कुल ही असंगत होगा क्योंकि बाद में वह ग्रहण करते हैं, चलते हैं इत्यादि उनके कर्मों की बात का भी उल्लेख करके उनका साकारत्व और सविशेषत्व ही प्रकाश किया गया है। कर्म होने से इन्द्रियों और इन्द्रिय होने से शरीर की भी विद्यमानता अवश्य ही स्वीकार करनी पड़ेगी। इसलिये यही समझ में आता है कि श्रुति का तात्पर्य यह है कि उनके प्राकृत देहेन्द्रियादि नहीं हैं किन्तु आप्राकृत चिदानन्द मय देहेन्द्रियादि हैं। प्राकृत गुण के सम्बन्ध में ही वह निर्गुण व निराकार और निर्विशेष है किन्तु आप्राकृत गुण के सम्बन्ध में वह सगुण, साकार और सविशेष है। सभी श्रुतियों का सर्वत्र यही तात्पर्य है। श्रुति में कहा गया है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।

सर्वस्य प्रभुमीशनं सर्वस्य शरणं ब्रह्म ॥ (श्वेता० ३।१७)

इसका अर्थ—(ब्रह्म) समस्त इन्द्रियों के धर्म विशिष्ट समुदय, इन्द्रिय वर्जित, सबके प्रभु हैं, सबके नियन्ता एवं सबके महत आश्रय है, ब्रह्म सर्वेन्द्रिय हीन होने पर भी सर्व इन्द्रियों के धर्म विशिष्ट है। इन्द्रियों के धर्म रहने से, यह समझना चाहिए कि उनके इन्द्रियाँ भी हैं। इसलिए उक्त श्रुति वाक्य का यही तात्पर्य है कि उनके प्राकृत इन्द्रियाँ तो नहीं हैं किन्तु अप्राकृत इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ शरीर का आश्रय करके ही रहती हैं; अतएव उनका प्राकृत शरीर और उसका कर्म तो नहीं है किन्तु अप्राकृत शरीर और कर्म है।

इसलिए उनकी श्रीमूर्ति, उनकी इन्द्रियादि और उनके कर्मादि सभी विशेषत्व में कुछ भी मायिक या प्राकृत नहीं है, वह सभी सच्चिदानन्दमय-सविशेष और आप्राकृत वस्तु है।

श्रीमन् महाप्रभु का श्रीसार्वभौम के साथ वेदान्त विचार के प्रसंग में भी चरितामृत में भी कहा गया है:

निर्विशेष कहे तारे जेई श्रुति गण।

प्राकृत निषेधि-आप्राकृत करे स्थापन॥

'अपाणिपाद' श्रुति बजे प्राकृत पाणि-चरण।

पुनः कहे शीघ्र चले, करे सर्व ग्रहण॥

अतएव श्रुति कहे ब्रह्म सविशेष।

मुख्य छाड़ि लक्षणाते माने निर्विशेष॥

(श्री०चै० २।६)

अर्थ—श्रुतिगण जिसको निर्विशेष कहते हैं इसका तात्पर्य है कि प्राकृत को निषेध कर अप्राकृत की स्थापना करती है।

अपाणिपाद का तात्पर्य है कि प्राकृत हाथ पैर नहीं, वरन् अलौकिक हाथ पैर है क्योंकि कहा है कि वह शीघ्र चलते हैं और सब कुछ ग्रहण करते हैं। इसीलिए श्रुति ब्रह्म को सविशेष कहते हैं किन्तु वेदान्त में मुख्य को छोड़कर लक्षण द्वारा उन्हें निर्विशेष कहते हैं।

तभी तो देखा जाता है कि शास्त्र में सुस्पष्ट रूप से ही निर्देश कर दिया गया है कि भगवान के मायिक या प्राकृत गुण मय शरीर आदि नहीं है किन्तु उनके शरीर आदि शुद्ध से भी परम शुद्ध अर्थात् सच्चिदानन्दमय ही है। यथा—

सत्त्वादयो न सन्तीशेयत्र च प्राकृतागुणाः।

स शुद्ध सर्वशुद्धेभ्यः पुमानद्यः प्रसीदतु॥

(विष्णु पु० १।६।४३)

इसका अर्थ,—‘जिन परमेश्वर के सत्त्वादि प्राकृत गुण नहीं है जो समस्त शुद्ध वस्तु से भी परम् शुद्ध हैं। (इससे यह भी सूचित हुआ है कि वह मायावादी—कल्पित निर्गुण शुद्ध ब्रह्म से भी परम् शुद्ध है।)

ऐसे आद्य पुरुष प्रसन्न हों।

श्री भगवान के सभी गुण भगवान के स्वरूप से अभिन्न!

यह भी शास्त्र से स्पष्ट ही अवगत होता है कि भगवान की तरह उनके सब गुण भी मायातीत और अप्राकृत हैं। और यह सभी उनकी अप्राकृत श्री मूर्ति से अभिन्न है, यथा,—

ज्ञान शक्ति वलैश्वर्य वीर्य तेजास्थशेषतः।

भगवच्छब्द वाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥

(विष्णु पु० ६।५।७६)

इसका अर्थ—श्री भगवान का ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज, आदि अशेष गुणावलि—भगवान के स्वरूप से अभिन्न होने के कारण उन्हें भी ‘भगवत्’ शब्द से ही वर्णन किया जाता है।

उनमें किसी प्रकार का प्राकृत हेय गुण (सत्त्वादिगुण) अर्थात् मायिक दोषाभाष भी नहीं है।

श्री भगवत—विषय में शास्त्र में 'निर्गुण', 'अनामा', 'अरूप' आदि उक्ति का तात्पर्य।

तब जो शास्त्र में किसी-किसी जगह उन्हें 'निर्गुण' कहा गया है, उसका अर्थ यह नहीं है उनमें कोई गुण, कोई विशेषत्व नहीं है। इसका अर्थ केवल यह है कि उनमें कोई प्राकृत और हेयगुण अर्थात् प्राकृत दोष नहीं है। शास्त्र ने स्वयं ही यह भी उल्लेख किया है कि वह अप्राकृत, अनन्त गुणमय है; यथा,—

योऽसौ निर्गुण इत्युक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः।

प्राकृतैर्हेयं संयुक्तैर्गुणैर्हीनत्व मुच्यते॥

(पाञ्च ५०।२५५।३६)

इसका अर्थ—जगदीश्वर जो शास्त्र में निर्गुण कहे गये हैं, उससे यह बताया गया है कि उनमें किसी प्रकार के हेय गुण का (अर्थात् मायिक सत्त्वादिगुण का) संयोग न रहने के कारण प्राकृत दोष का अभाव है।—

इसी तरह शास्त्र में जहाँ उन्हें 'अनामा', 'अरूप' कहकर निर्देश किया गया है, वहाँ यह अर्थ करना कि उनमें कोई नाम—रूप आदि विशेषत्व नहीं है, किसी तरह से उचित नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जीव की तरह श्री भगवान का प्राकृत नाम या प्राकृत पाँचभौतिक शरीर नहीं है, किन्तु अप्राकृत नाम—रूप आदि की विद्यमानता की बात शास्त्र ने सुस्पष्ट घोषणा की है, यथा—

अनामाऽसौऽप्रसिद्धत्वादरूपोभूत वर्जनात्। (ब्रह्म पुराण)

अर्थात्—जगत् के अतीत अर्थात् अज्ञात होने के कारण श्री

भगवान अनामा और प्राकृत पाँच भौतिक देह वर्जित होने के कारण 'अरूप' कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि—वास्तव में उनके रूप-नाम-गुणादि सभी मायातीत चिन्मय वस्तु हैं।

पद्मपुराण (पाताल खण्ड ५१ अध्याय) शिव के प्रति निम्नोक्त भगवान का वाक्य उक्त अभिप्राय को सुस्पष्ट रूप से प्रमाणित करते देखा है। यथा—

यदस्य में त्वया दृष्टिमिदं रूपं लौकिकम्।

घनीभूता मल प्रेम-सच्चिदानन्द-विग्रहम्॥१॥

निरूपम् निर्गुणम् व्यापि क्रियाहीनं परात्परं।

वन्दनुपनिषत् सृष्ट्या इदमेव ममानघ॥२॥

प्रकृतुण्य-गुणाभाव दनस्तत्त्वा तथेश्वर।

असिद्ध त्वान्मद गुणानाम् निर्गुणं मां वदन्ति हि॥३॥

अदृश्य त्वाममैतेस्य चर्मचक्षुषः।

अरूपं मां वदन्तुते वेदाः सर्वे महेश्वर॥४॥

व्यापकत्वाच्चिदस्योन ब्रह्मेति च विदुराबुधाः।

अतर्क्यत्वात्प्रपञ्चस्यनिष्क्रियं मा वदन्ति हि॥५॥

अर्थात् हे महा देव आज तुम्हारे द्वारा हमारा जो यह आलौकिक रूप देखा गया है यह निर्मला घनीभूत सच्चिदानन्द विग्रह है। हे निष्पाप सारे उपनिषद् हमारे इसी रूप को निराकार निर्गुण सर्वव्यापक निष्क्रिय और परात्पर कहते हैं। हे ईश्वर हमारे सारे गुण प्रकृति के गुणों से बंधे नहीं हैं। इसीलिए हमको निर्गुण कहा जाता है। हे महेश्वर चर्म चक्षु द्वारा हमको न देख पाने के कारण सारे वेद हमको अरूप कहते हैं। इसीलिए हमारे चित् अंश द्वारा सर्वव्यापकता के कारण बुद्धिमान लोग हमको ब्रह्म कहते हैं। क्योंकि

वह, प्राकृत, युक्ति एवं तर्क से अगोचर है। इसलिए हमको निष्क्रिय कहते हैं।

अतः उक्त प्रकार के बहुत से शास्त्रों के प्रमाण द्वारा स्पष्ट है कि श्री भगवान् के नाम-रूप-गुण-लीला-धाम और परिकरादि निखिल विशेषत्व मायावादी-कल्पित, मायिक या प्राकृत नहीं है, वह सभी अप्राकृत शुद्ध-सत्त्वमय और सप्रकाश वस्तु है। अपनी अचिन्त्य विरुद्ध शक्ति की महिमा और स्वेच्छा से वह उन सबको मायिक जगत् में प्रकट करके भी माया से सम्पूर्ण अछूते ही रहते हैं। दूसरे बहुत से शास्त्रों में इसका प्रकाश पाया जाता है। ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से इस विषय में केवल दो एक प्रमाण नीचे लिखे जाते हैं—

न तस्य प्राकृतामूर्तिर्मेदोमज्जास्थि संभवः।

न योगीत्वादीश्वरत्वां सत्य रूपोऽच्युतः विभुः॥

(बारह पुराण)

इसका अर्थ—श्री भगवान् की श्रीमूर्ति प्राकृत मेद, मज्जा, अस्थि आदि द्वारा गठित नहीं हैं। योगियों की प्रदर्शित काय, ब्यूह आदि रचना की तरह (किंवा), (जादूगरों की मिथ्या जादूगरी की तरह) अनित्य नहीं है। किन्तु वह अच्युस्त विभु एवं सत्य स्वरूप है।

विद्वद्अनुभव के प्रमाण से श्रीभगवत् मूर्ति का चिदानन्दमयत्व

श्री भगवान् की श्रीमूर्ति का चिदानन्दमयत्व आप्राकृत जीव देह में जो प्राकृतत्व महाव्यवधान है इस विषय में श्री रुक्मिणी

देवी की अनुभूति से भी पता चलता है।

त्वक्शमश्रुरोमनखकेशपिन्दमन्त
मीसास्थिरक्त कृमिविट् कफपित्तवातम्।

जीवच्छवं भनति कान्तमतिर्विमूढा—

याते पदाब्जभकरन्द मजिघ्रती स्त्री॥

(स्त्री भा० १०।६०।४५)

इसका अर्थ—(श्री रुक्मिणी देवी ने श्री कृष्ण से कहा है)—
हे स्वामी—जो स्त्री आपके चरण कमलमकरन्द का आघ्राण लाभ
पा करके भी ऊपर से रोम, नख के आदि से आवृत भीतर से मांस,
रक्त, कृमि, कफ, विष्ठा, पित्त और वायु से परिपूर्ण देह विशिष्ट
जीव रूप भाव का पति बुद्धि से भजन करे वह मूर्ख है अर्थात् विशेष
भाव से मंद बुद्धि है।

उक्त वाक्य में प्राकृत शरीर से चिदानन्द मय भगवत् देह
का वैशिष्ट्य व्यक्त हुआ है। नहीं तो यदि श्री भगवत् मूर्ति भी प्राकृत
गुण युक्त होती तो इस प्रकार की उक्ति की सार्थकता कुछ भी न
रहती।

यहाँ तक कि श्री भगवान ने स्वयं ही अपने आप्राकृत रूप—
गुण—कर्म आदि का परिचय देकर स्वयं ही अपने मुख से घोषणा
की है।

जन्म कर्म च में दिव्यम्—(गीता ४।६)

अर्थात्—मेरा जन्म कर्म सभी अलौकिक तथा अप्राकृत है।

मौशल—लीला, महिषी हरण जरा व्याधि—
निक्षिप्त शराघात से देहत्याग—लीला सभी माया

रचित इन्द्र जालवत् मिथ्या—

तब जो श्री कृष्ण के सम्बन्ध में जरानामक बहेलिया द्वारा छोड़े गये वाण से देह त्याग, मौषल-लीला में यदुकुल ध्वंश, महिषी, हरण यह सब विषय शास्त्र में वर्णित है। तो क्या उक्त वृत्तान्त से यह समझा नहीं जा सकता कि श्री भगवत् देह और उनकी लीला परिकरादि सब मायिक या प्राकृत है।

इस संशय को मिटाने के लिए वक्तव्य यह है कि उक्त विषय मात्र को ही यदि मायिक या मिथ्या समझा जा सकते तो यह अवश्य सुबुद्धि और सौभाग्य का परिचायक हो सकता है, किन्तु यदि उक्त लीला के आधार पर उनकी दूसरी सभी लीला को भी मायिक समझ लिया जाय तो यह यथार्थ दुर्बुद्धिता और दुर्भाग्य का परिचायक होगा। जिस शास्त्र में उक्त लीला वर्णित है। देखा जाता है कि फिर उसी शास्त्र में ही स्पष्ट रूप से बता दिया गया है कि भगवान् की उक्त लीला यथार्थ नहीं है। वह लोकानुकरण के लिए श्री भगवत् सृजित मायामात्र है ।^१

उनकी दुर्भेद्य माया द्वारा रचित यह सब अलीक घटना केवल साधारण लोगों के विश्वास के लिए ही होती है। किन्तु यह माया शुद्ध भक्तों की दृष्टि को ढक नहीं सकती। श्री भगवान ने स्वयं ही दारुक के प्रति उक्त घटना का मायिक होना और जादूगर की बाजीगरी की तरह उसका मिथ्या होना घोषित किया है, यथा—

मन्मायारचितामेतां विज्ञायोपशमं व्रज,

(श्री० भा० ११।३०।३१)

१. श्री भागवत ११।३१।६-१० और श्रीनाम चिंतामणि उल्लास द्रष्टव्य।

अर्थात्—यह समस्त घटना मेरी माया द्वारा रचित अर्थात् मिथ्या जानकर शांतचित् हो जाओ। उक्त लीला इन्द्रजाल की तरह मायिक और मिथ्या होने के कारण उनका कोई उपासक भी नहीं है।

तटस्थ लक्षण में श्रुति वर्णित ब्रह्म वस्तु भी कृष्ण ही हैं, यह स्वरूप लक्षण के सहित भागवत् से स्पष्टतः जाना जाता है।

इस तरह अब सुस्पष्ट रूप से यह उपलब्धि होती है कि सब श्रुतियों ने जिसको परोक्ष भाव से ब्रह्म लक्षण से निर्देश किया है, वही अनावृत्त वेद स्वरूप श्री भागवत् शास्त्र में स्वरूप लक्षण से श्री कृष्ण के नाम से ही कीर्तित हुए हैं।

तभी तो देखा जाता है कि श्रुति में तटस्थ लक्षण से अर्थात् केवल कार्य द्वारा परिचय देकर परोक्ष भाव से ब्रह्म लक्षण निर्देश करते हुए कहा है,—

भयादस्यग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य।

भयाद्विन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावतिपंचमः॥ (काठके० ६।३)

इसका अर्थ—इनके (ब्रह्म के) भय से अग्नि जलती है, इनके ही भय से सूर्य तपता है और इनके ही भय से इन्द्र और वायु और पाँचवी मृत्यु धावित होती है।

(अर्थात् सभी अपना-अपना कार्य करते हैं) श्रुति ने केवल तटस्थ लक्षण से इनके भय से,—इत्यादि वाक्य से परोक्ष भाव से अर्थात् स्पष्ट रूप से जिस ब्रह्मवस्तु को निर्देश किया है, वह ब्रह्म

वस्तु हैं कौन?

इसका सुस्पष्ट परिचय, स्वरूप लक्षण से श्री भागवत् में स्वयं उन्होंने ने प्रदान किया है, यथा—

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपतिमद्भयात्।

वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्यु चरति मद्भयात्॥

(श्री भा० ३।२५।४१)

इसका अर्थ—मेरे ही डर से हवा चलती है, मेरे ही भय से सूर्य गर्मी देता है, मेरे ही भय से इन्द्र वर्षा करते हैं, मेरे ही भय से मृत्यु सबके प्रति धावित होती है। अतएव इससे स्पष्ट ही प्रमाणित हो जाता है कि श्रुति वर्णित ब्रह्म श्री कृष्ण ही हैं।^१

और भी देखा जाता है कि श्री भागवत् में (१।८।३१) 'गोप्याददे' इत्यादि कुन्ती के स्तव में भी श्री कृष्ण को कहा गया है—'भीरपियद्विभेति' अर्थात् जो भय (मृत्यु) तुमसे भय पाती है।^२

वही तुम क्या माता के भय से डर नहीं गये थे? यह स्मरण

१. यह देवहुति के प्रति कपिल देव की उक्ति होने पर भी सब अंशावतारादि के कार्य अवतारी श्री कृष्ण के ही आंशिक कार्य समझना आवश्यक है। या तदेकात्म भाव से अवतारी के कार्य की अवतार द्वारा निजकार्य रूप में स्थल विशेष में उल्लेख करते हुए देखा जाता है। यह बात पहले भी बतायी जा चुकी है।
२. अन्य श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि 'गोविन्दान् मृत्युर्विभेति' (गोपाल ता० १।२) अर्थात् गोविन्द (श्री कृष्ण) से मृत्यु भय खाती है। और श्री भगवान और श्री भगवननाम की अभिन्नता के कारण नामी की तरह फिर भी नाम के सम्बन्ध में भी (श्री भागवत् १।१।१४) 'यद्विभोति स्वयं भयम्'—अर्थात्—जिनके नाम से स्वयं भय (मृत्यु) डरता है। इस उक्ति द्वारा नाम और नामी का एक ही लक्षण प्रदर्शित हुआ है—यह भी दृष्टव्य है।

करके मैं मोह में पड़ जाती हूँ' इत्यादि।

यहाँ इसका स्पष्ट ही उल्लेख देखा जाता है कि 'भय' या 'मृत्यु' पर्यन्त सभी श्री कृष्ण के भय से भीत हैं। किन्तु वही फिर शुद्ध वात्सल्य प्रेममयी जननी के भय से डर जाते हैं—स्वरूप लक्षण में उनका इस प्रेमाधीनता का परिचय भी पाया जाता है।

तभी तो देखा जाता है कि श्रुति में तटस्थ लक्षण से छिपे हुए भाव में ब्रह्मवस्तु को निर्देश करते हुए कहा है,—

नतत्र सूर्यो भाति न चन्द्रं तारकं

नेमाविद्युतोभान्ति कुदोऽयमाग्निः।

तमेवभान्त मनुभाति सर्वं तस्यभासा

सर्वमिदं विभाति॥

(श्वेता: ६।१४। मुंडक: २।२।१० कठ० ५।१५)

अर्थ—उस जगह सूर्य की किरण नहीं जाती (अर्थात् ब्रह्म को प्रकाश नहीं कर सकता, चन्द्र व ताराओं की भी किरण भी नहीं पहुँचती, यह सब विद्युत भी प्रकाश नहीं होती, यह अग्नि भी कहाँ? सभी इस दीप्यमान के ही प्रकाश से प्रकाशित हैं। उनके ही प्रकाश से सभी प्रकाशित होते हैं। श्रुति युक्त इस स्पष्ट ब्रह्म का सुस्पष्ट परिचय सर्ववेद के सारार्थ श्री गीता में समूर्त ब्रह्म रूप में उन्हीं (श्रीकृष्ण) ने ही स्वयं प्रदान किया है—यथा—

यथादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।

यच्चन्द्रमसियद्चाग्नौ तत्तेजोविद्धिमामकम्॥

(गीता १५।१२)

सूर्य के जिस तेज द्वारा अखिल जगत् प्रकाशित है, चन्द्रमा और अग्नि में जो तेज विराजित है वह मेरा ही तेज जानो। (अर्थात्

मेरी ही दीप्ति से यह सब दीप्तिशाली होते हैं) इसलिए इस विषय में किसी प्रकार से भी इस बात के प्रमाण का अभाव नहीं है कि श्रीकृष्ण ही परोक्ष भाव-में सर्ववेद वन्दित ब्रह्म-वस्तु है। अतएव उन्हें ऐसा न जानने का कारण यह नहीं है कि प्रमाण का अभाव है, अति भाग्योदय होने से उसकी उपलब्धि होती है, ऐसे भाग्य के संयोग का आभाव ही इसका कारण है।

अतएव श्री भगवान् का सच्चिदानन्दमय सविशेष स्थान, परिकर, गुण, कर्म, लीलादि को और उनकी श्रीमूर्ति को स्वेच्छा से जगत में प्रकट देखकर उन्हें मायिक या जागतिक वस्तु की तरह ही जो लोग प्राकृत समझते हैं, उन सब भाग्यहत् अभिज्ञ लोगों को तीव्र तिरस्कार करते हुए श्री भगवान् ने स्वयं कहा है—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नमन्यते मामबुद्धयः।

परं भावनजानन्तो ममाव्यय मनुत्तमम्॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।

मूढो आयं नभिजानाति लोके मामजमव्ययम्॥

(गीता ७।२४।२५)

अर्थ—अज्ञानी लोग ही मेरे अव्यय (नित्य) और सर्वोत्तम भाव (सच्चिदानन्द स्वरूप) को न जानकर (स्वेच्छा से प्रपंच में अवतीर्ण) मायातीत मुझको व्यक्तिभाव को प्राप्त हुआ (अर्थात् प्राकृत मनुष्य मत्स्य, कूर्मादि भाव को प्राप्त हुआ) मानते हैं। अपनी योग माया से छिपा हुआ मैं भक्तों को छोड़कर—सबको प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ। इसलिए, मूढ़ लोग स्वरूपतः मुझे जन्मादिरहित और अच्युत वस्तु नहीं समझते।

(अर्थात्—वह लोग मुझको और मेरे श्रीराम—नरसिंह,

वामन, मीन, कूर्मादि सभी अवतारों को प्राकृत की तरह समझते हैं) गीता में यही बात दूसरी जगह भी उन्होंने कहा है,—

अवजानन्ति मां मूढः मानुषीम् तनुमान्धितम्।

परं भावम जानन्तो ममभूतमहेश्वरम्॥

(गीता ६।११)

इसका अर्थ—मूढ़ लोग मेरे परमतत्व के विषय में अनभिज्ञ होने के कारण मुझ सम्पूर्ण भूतों के महान ईश्वर को मनुष्य रूप में देखकर तुच्छ समझते हैं। (अर्थात् उन्हें प्राकृत समझकर अपराधी होते हैं।)

इस तरह उक्त और अनुक्त बहुत में शास्त्रों के प्रमाण से यह मालूम हो जाता है कि श्री भगवान की श्रीमूर्ति और उनके सम्बन्धीय सब विशेषणों को आप्राकृतचिदानन्द-वस्तु रूप में न समझकर, प्राकृत मायिक मानना महा मूढ़ता का ही परिचायक है। अब और अधिक उल्लेख इस सम्बन्ध में निम्नयोजन है अब तो यह बात हमारे समझ में आ गयी है कि परोक्षप्रिय होने के कारण परोक्ष भाव से जो सब वेदों में वन्दित हैं,—सब उपनिषदों में जो ब्रह्म वस्तु नाम से परिगीत हैं, वह सर्वमूल-श्रीकृष्ण ही हैं।

षष्ठ उद्भाषन

श्री भगवत-स्वरूप के विचार से,
श्रीकृष्ण की ही स्वयरूपता या स्वयं भगवत्ता
प्रतिपादित होगी।

समस्त श्रुति का सारार्थ ब्रह्म-सूत्र में ग्रथित होने
पर भी उसके दुर्बोध्य का कारण।

श्री कृष्ण की स्वयं भगवत्ता अवगत होने के लिये पहले
निम्नोक्त विषय की उपलब्धि होना आवश्यक है।

निखिल वेद का शिरोभाग या सारांश ही श्रुति या उपनिषद्
नाम से प्रसिद्ध है। इसमें वेद समूह की चरम् प्रतिपाद्य वस्तु सीमा
या अन्त प्राप्त होने से सब श्रुति 'वेदान्त' नाम से भी अभिहित
होती है।^१ समस्त श्रुति सागर को मंथन करके भगवान् श्री व्यासदेव
ने 'ब्रह्म-सूत्र' रूप महा रत्नमाला ग्रंथन किया है। इसमें श्रुत्युक्त उसी
ब्रह्म-वस्तु का यथार्थ स्वरूपादि प्रतिपादित हुआ है इसलिये यह
भी 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें वेद-गुह्य ब्रह्म-वस्तु प्रकृष्ट रूप

१. वेदान्त परमं गुह्यं पुरा कल्पे प्रचोदितम्।' इत्यादि (श्वेता० ६।२२)
अर्थ—पुराकल्प में प्रकाशित 'वेदान्त' प्रतिपादित यह गुह्य विद्या—
इत्यादि।

श्रुति ने अपने को 'वेदान्त' कहकर ही उल्लेख किया है।

में निर्दिष्ट तो हुआ है किन्तु वह सूत्राकार में होने से, सूत्रकार का प्रकृत अभिप्राय सूत्रकार के अतिरिक्त किसी दूसरे के समझ में आना बहुत ही कठिन हो गया है। यही कारण है कि इसके भाष्यकारों में विभिन्न मतवाद का उत्पन्न होना सम्भव हुआ है जिससे इसे अधिकतर जटिलता के जाल में आवृत कर दिया गया है। इसलिये सब श्रुतियों का प्रकृत तात्पर्य ब्रह्म-सूत्र में विशेष रूप से वर्णन होने पर भी, उसके द्वारा भगवान व्यास देव का आन्तरिक अभिप्राय प्रकृष्ट रूप में सिद्ध नहीं हुआ।

अष्टादश पुराण और महाभारतादि की रचना करने पर भी भगवान् वेद व्यास के चित्त में अप्रसन्नता।

वेद का यथार्थ अभिप्राय अवगत कराकर अविद्याच्छन्न काल-कवलित, अल्पायु और अधर्मरत सभी दुर्गत जीवों के परम् मंगल के निमित्त श्री हरि के अंश से^१ भगवान श्री वेदव्यास जगत् में अवतीर्ण हुये थे।

इसी उद्देश्य से उन्होंने वेद को चार वेदों में विभाग किया, इन्हीं समस्त वेदों के अर्थ को सभी पुराणों में व्यक्त किया, सर्व

१. 'कृष्णाद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं स्वयं।' (विष्णु पुराण ३।४।५)

अर्थ—कृष्णाद्वैपायन व्यास को साक्षात् नारायण जानो।

कोई कोई व्यासदेव को आवेशावतार कहकर निर्देश करते हैं। (लघु भागवतामृत लीलावतार दृश्य)

वर्ग और आश्रमोपयोगी वेदार्थ के समावेश से महाभारत की रचना की और सब श्रुति का सार स्वरूप 'ब्रह्म-सूत्र' प्रणयन किया, तब भी इन सब के द्वारा उन का चित्त प्रसन्न न हो सका।^१ तब मुनीश्वर व्यासदेव पुण्य जल पूर्ण-सरस्वती के निर्जन तट पर बैठे हुये चित्त की अप्रसन्नता का कारण जानने के लिये मन ही मन इस प्रकार वितर्क करने लगे।

मैंने संयत चित्त से व्रत धारण करके सब वेदों का, गुरुजनों का और अग्नि का सम्मान किया है, पुराण और महाभारतादि की रचना करके वेदों का अर्थ प्रकाश किया है और स्त्री-शूद्रादि व सभी वर्ण और आश्रम के लिये उन्हें ग्रहणोपयोगी कर दिया है। तब भी हाय! मैं देखता हूँ कि मेरी वह वेदोज्ज्वला बुद्धि और ब्रह्म तेज-सम्पन्न आत्मा पहले की तरह अतृप्त ही है! किम्बा जो भागवत धर्म श्री भगवान को और उनके भक्त परम-हंसों को अतीव प्रियतम है और जगत् में साधारणतः अनिर्णीत है—क्या मैंने उस परमधर्म को भारतादि शास्त्र में पूर्ण रूप से विस्तार नहीं किया जिससे मेरी चित्त में इस प्रकार अपूर्णता की ग्लानि और अवसाद अनुभव होता है।

श्री नारद द्वारा इसका कारण निरूपण और विमल श्री कृष्ण-यश और महिमादि का प्राधान्य रूप में कीर्तन का निर्देश और चतुःश्लोक भागवतार्थ का संक्षेप में उपदेश।

१. श्री भागवत १।५ में देखना चाहिये।

इस प्रकार चिन्तित और दुःखित वेदव्यास के सामने देवर्षि नारद बीणा-यन्त्र में श्री हरिगुण गान करते हुये सहसा आ गये। मुनिवर वेदव्यास ने विधिपूर्वक उनका स्वागत किया और अपने हृदय की अप्रसन्नता की बात निवेदन पूर्वक उसका कारण जानना चाहा जिसके उत्तर में देवर्षि नारद ने उन से कहा,—

यथा धर्माद यश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः।

न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णिताः॥

(श्री भा० १।५।६)

इसका अर्थ,—हे मुनिवर! आपने (भारतादि शास्त्र में) धर्मादि पुरुषार्थ चतुष्टय का जैसा कीर्तन किया है, वैसा प्राधान्य रूप में भगवान वासुदेव की महिमादि का वर्णन नहीं किया।

शब्दालंकरादि-भूषित होने पर भी जिस वाक्य में जगत् को पवित्र करने वाले हरि के गुण-लीलादि वर्णित नहीं होते, उस वाक्य को वायस-तीर्थ (अर्थात् उच्छिष्ट गर्त में काक की क्रीड़ा भूमि के समान) समझकर मानस सरोवर में बिहार करने वाले हंस सदृश्य भक्त लोग उसमें कभी सहयोग नहीं देते।^१

त्वमात्मनात्मनम वे ह्यमोघदृक्

परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम्।

अजं प्रजातं जगतः शिवाय त-

न्महानुमानाभ्युदयोऽधिगण्यताम्॥

(श्री भा० १।५।२१)

इसका अर्थ,—अतएव हे, सर्वज्ञ आप स्वयं मंगल के निमित्त

अवतीर्ण हुये हैं। इसलिये आप को सब कुछ विदित है। अब महानुभव श्री भगवान का पराक्रमादि विस्तार पूर्वक अर्थात् प्राधान्यरूप में वर्णन कीजिये। देवर्षि नारद ने यहीं श्री वेदव्यास से संक्षेप में चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश करके उसे ही समाधिलब्ध प्रज्ञा द्वारा विस्तार पूर्वक जगत् के परममंगलार्थ प्रचार करने का निर्देश किया, फिर वीणा यंत्र से श्री कृष्ण का यशोगान करते हुये प्रकाश मार्ग से अन्तर्हित हो गये।

शुद्धा-भक्तियोग के आश्रय से श्री व्यास देव का समाधि में सशक्तिक श्री कृष्ण-साक्षात्कार और श्री भागवत का आविर्भाव।

अनन्तर श्री नारद के उपदेशानुसार भगवान बादरायण ने ब्रह्मनदी सरस्वती के पश्चिम तट पर बंदी वृक्ष शोभित 'शम्या प्रास' नामक अपने प्रसिद्ध आश्रम में (बदरिकाश्रम में) बैठकर आचमन किया और संयम चित्त से ध्यान में निमग्न होकर वेदगुह्य परतत्त्व का पूर्णरूप में अर्थात् सशक्तिक श्रीकृष्ण का साक्षात्कार किया। सर्वश्रुति निहित जो निगूढ़ तत्त्व है, वही परिपूर्ण रूप में उन्हें साक्षात्कार हुआ। यह निगूढ़ तत्त्व एकमात्र भक्तिग्राह्य वस्तु है जो कर्म-ज्ञानदि द्वारा जाना नहीं जा सकता' यह बात निम्नोक्त श्लोक से भी अवगत हो जाती है।

भक्तियोगेन मनसि सम्यक्प्रणिहितेऽमले।

अपश्यत्पुरुषं पूर्वं मायां च तदपाश्रयाम्॥

यया संमोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।

परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभि पद्यते॥

(श्री भा० १।७।४-५)

इसका अर्थ,—भक्तियोग के प्रभाव से उनका निर्मल चित्त पूर्ण रूप से स्थिर हो जाने के कारण व्यासदेव ने पूर्णपुरुष श्री भगवान का दर्शन पाया और उनकी वशीभूता उस माया को भी देखा जिसके द्वारा सम्मोहित होकर, जीवात्मा त्रिगुणातीत होने पर भी अपने को त्रिगुणात्मक समझता है और इसी व्यर्थगुणात्मक कर्तृत्वाभिमान कृत 'मैं सुखी' 'मैं दुःखी' इत्यादि प्रकार के अनर्थ भोग करता है।

अनर्थोपशमं साक्षद्भक्तियोगमधोक्षजे।

लोकस्थाजघ्नतो विद्वाश्चक्रे सात्वत संहिताम्॥

(श्री भा० १।७।६)

इसका अर्थ,—भगवान हृषीकेश में भक्तियोग ही एकमात्र अनर्थों का साक्षात् विनाशक है, यह अपनी समाधिलब्ध प्रज्ञाद्वारा उपलब्धि करके भगवान बादरायण (व्यासदेव) ने विज्ञ और अज्ञ सभी लोगों के लिये श्रीमद्भागवत नाम सात्वत-संहिता की रचना की। श्रीवेदव्यास की समाधि में परिलक्षित यह पुराण-पुरुष श्री भगवान श्री कृष्ण ही है और यही समग्र श्रीभागवत के मुख्य तात्पर्य है; यह भी परवर्ती श्लोक में सुस्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है; यथा—

यस्यां वैश्रूयमाणायां कृष्णो परमपुरुषे।

भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोह भयापहा॥

(श्री भा० १।७।७)

इसका अर्थ,—श्रीमद्भागवत के श्रवण करने से परमपुरुष

श्रीकृष्ण में मनुष्यों की शोक-मोह-भयहारिणी अर्थात् सर्वानर्थ नाशिनी भक्ति उदय होती है।

इस रूप में श्रीमद्भागवत का प्रकाश होने से श्री व्यासदेव ने उसे यथाक्रम से एकत्र करके निवृत्तिमार्ग स्थित, सर्वत्र निरपेक्ष, आत्मारामशिरोमणि व परमज्ञानी अपने पुत्र शुकदेव को भी उसके प्रति आकृष्ट करके अध्ययन कराया। इसलिये यह भागवत ज्ञानियों का भी उपजीव्य और परम आस्वादनीय समझी जाती है।

श्री व्यासदेव का समाधिदृष्ट विषय और उसका सार मर्म।

पूर्वोक्त वृत्तान्त से यही विदित होता है कि—

(१) मुनीश्वर श्री वेदव्यास ने वेद का यथार्थ और मुख्य तात्पर्य जीव जगत् को विदित कराने के उद्देश्य से वेद के विभाग से लेकर ब्रह्म-सूत्र तक समस्त शास्त्रों की रचना तो की किन्तु अपने चित्त की अपूर्णता अनुभव करके अतृप्त हृदय के लिये वह दुःखी थे, इससे यह समझ में आता है कि उक्त सब शास्त्रों में वेद का यथार्थ और निगूढ़ अभिप्राय प्रकृष्ट रूप से व्यक्त नहीं हुआ था।

(२) तदनन्दर श्री नारद की कृपा से और उपदेश से शुद्धाभक्ति योग अवलम्बनपूर्वक, उनको समाधि में परतत्त्व का पूर्णस्वरूप प्रकृष्टरूप से साक्षात्कार हुआ और यह भी (भा० १।७।७ श्लोक में) उल्लेख किया गया है कि वह 'पूर्ण-पुरुष' श्रीकृष्ण ही है। इस शब्द के मुक्त-प्रग्राहवृत्ति द्वारा 'पूर्ण-पुरुष' शब्द से सर्वादि—स्वयं भगवान् श्री कृष्ण को ही बताया गया है।

(३) यह भी समझ लेना चाहिये कि व्यासदेव को श्रीकृष्ण-

साक्षात्कार परिपूर्णरूप में होने से उनका साक्षात्कार उनके स्वरूप शक्ति सहित (अर्थात् धाम और श्री राधिका प्रभृति परिकरादि के सहित) हुआ था।

(४) यह भी स्पष्ट ही उल्लेख है कि उन्होंने श्रीकृष्ण की बहिरङ्गा—माया शक्ति को श्रीकृष्ण से दूर में और उनके अधीन रूप में ही देखा था। किन्तु श्रीकृष्ण को मायाधीन रूप में नहीं देखा।

(५) तटस्था—जीवशक्ति को ही मायाधीन और तज्जनित संसारक्लिष्ट रूप में उन्होंने देखा था और इन सब अनर्थों का यथार्थ प्रतिकार वेद का विस्तारार्थ स्वरूप श्री भागवत शास्त्र उनके हृदय में आविर्भूत हुआ था। जब से उन्होंने श्री भागवत को अपने ब्रह्म-सूत्र के अकृत्रिम भाष्यरूप में अनुभव किया तभी से उनका चित्त पूर्ण रूप से प्रसन्न हो गया।^१

इसलिये अब यह भी आसानी से समझ में आ सकता है कि मुनीश्वर वेद व्यास के हृदय में आविर्भूत श्रीमद्भागवत ही उनकी सब तपस्या का विश्राम स्थल और दुर्बोध्य ब्रह्म-सूत्र का अकृत्रिम भाष्य और निगूढ़ वेद-उपनिषदादि का यथार्थ अर्थस्वरूप विवेचित होने योग्य है।

श्रीमद्भागवत ही ब्रह्म-सूत्र का और गायत्री का अकृत्रिम भाष्य।

श्री चैतन्य चरितामृत में ही पूर्वोक्त सब अभिप्राय सबसे पहले सुस्पष्ट रूप से विदित किये गये हैं; यथा,—

१. तत्त्व संदर्भः। ३० अनु० देखना चाहिये।

“व्यास सूत्रेर गम्भीरार्थ व्यास भगवान्॥
 तार सूत्रेर अर्थ कोन जीव नाही जाने।
 अतएव आपने सूत्र करियाछे व्याख्यान॥
 जेई सूत्रकर्त्ता से यदि करये व्याख्यान।
 तबे तो सूत्रेर अर्थ लोकेर होय ज्ञान॥
 प्रणवेर जेई अर्थ, गायत्री ते सेई होय।
 सेई अर्थ चतुःश्लोकी विवरिया क्रय॥
 ब्रह्मा के ईश्वर चतुःश्लोकी कहिल।
 ब्रह्मा नारदे सेई उपदेश कैल॥
 नारद सेई अर्थ व्यासेर कहिल।
 शुनिं व्यासदेवे मने विचार करिल।
 एई अर्थ आमार सूत्र-व्याख्यानुरूप।
 श्री भागवत करिब सूत्रेर भाष्य स्वरूप॥
 अतएव भागवत सूत्रेर अर्थ रूप।
 निज कृत सूत्रेर निज भाष्य स्वरूप॥”

(श्री चै० २।२५)

तात्पर्य—व्यास भगवान के अतिरिक्त उनके सूत्र का गम्भीर
 अर्थ कोई जीव नहीं जान सकता था अतः उन्होंने स्वयं ही अपने
 सूत्र का व्याख्यान किया। जो सूत्रकर्त्ता हो यदि वह ही व्याख्यान
 करे तो लोगों को उसके अर्थ का ज्ञान हो सकता है। जो प्रणव
 का अर्थ है वहीं गायत्री का अर्थ है। उसी अर्थ को चतुःश्लोकी में
 विवरण करके कहा है। ब्रह्मा जी को भगवान ने चतुःश्लोकी का
 उपदेश किया है। ब्रह्मा ने उसी का उपदेश नारद जी को किया।
 नारद जी ने यही उपदेश व्यास जी को दिया। उस चतुःश्लोकी

को सुनकर व्यासजी ने सोचा कि यह अर्थ तो हमारे सूत्र के अनुरूप है। हम श्री भागवत पुराण सूत्र के भाष्य स्वरूप लिखेंगे। अतएव भागवत सूत्र के भाष्य स्वरूप है। उन्हीं कृत सूत्र है उन्हीं कृत भाष्य स्वरूप है।

शास्त्र में भी उक्त वाक्य का यथेष्ट समर्थन पाया जाता है। श्री भागवत के सम्बन्ध में कहा गया है,—

‘अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थं विनिर्णयः।

गायत्री भाष्यरूपोऽसौ वेदार्थं परिवृंहितः।’

इत्यादि। (तत्त्व सन्दर्भ धृत गारुड़ वाक्य)

इसका अर्थ,—यह श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्र का अर्थ है, महाभारत का तात्पर्य निर्णायक है, गायत्री का भाष्य स्वरूप है और समग्र वेदार्थ द्वारा विस्तारित है। इत्यादि।

प्रणव से गायत्री, गायत्री से चतुःश्लोकी और चतुःश्लोकी से चतुर्वेद और श्रीमद्भागवत का क्रम-विकास।

अस्फुट कमल की छोटी कली जिस प्रकार से प्रस्फुटित शतदल में बदल जाती है, उसी प्रकार महावाक्य ‘प्रणव’-रूप पद्म की कली का ही किंचित परिस्फुटाकार में आविर्भाव ही ‘वेदमाता गायत्री’ है। फिर उस गायत्री का ही सूत्राकार में विकसित चार दल स्वरूप ‘चतुःश्लोकी’ है जिसे श्री भगवान ने सबसे पहले अपने श्रीमुख से ब्रह्मा को उपदेश किया है। यह चतुःश्लोकी ही पूर्णरूप में विकसित होकर, शैवालरूप (सेवार घास की तरह जो पानी में उगती है)

परोक्षवाद में आच्छादित चतुर्वेदरूप में और अपरोक्ष या अनावृत श्रीमद्भागवतरूप प्रस्फुटित शत दल में परिणत हुयी है। इसलिये यही समझ में आता है कि दुर्बोध्य ब्रह्म-सूत्र और निगूढ़ वेद समूह के अपरोक्ष या अनावृत अर्थ द्वारा ही श्रीमद्भागवत का कलेवर विस्तीर्ण हुआ है। यही कारण है कि श्रीमद्भागवत ही वेदोक्त सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन का सुस्पष्ट और प्रकृष्ट अर्थ निर्णय करती है।

धान और चावल की तरह भूसी में छिपा और भूसी रहित वेद और भागवत का पार्थक्य

धान की भूसी के आवरण में चावल छिपा रहता है; किन्तु स्थूल दृष्टि में यह बात समझ में नहीं आ सकती। उसी प्रकार परोक्षवाद में आच्छादित वेदरूप धान के ढेर में भागवतधर्म रूप चावल का ढेर छिपा हुआ है, यह एकमात्र भक्तिविभावित शुद्ध दृष्टि से ही जानने का विषय है, न कि बाह्य दृष्टि से। फिरजैसे धान के ढेर में भी कुछ-कुछ भूसी से खुले हुये या बिल्कुल भूसी से अलग दो-चार चावलों के देखने से यह पता लग जाता है कि यह सभी धान का ढेर चावल से भरा पड़ा है, वैसे ही सभी वेद में किसी-किसी जगह धान की भूसी से खुले हुए चावल की तरह श्रीकृष्ण और उनकी विषयाभक्तिरूप भागवतधर्म के आंशिक अथवा पूर्ण प्रकाश द्वारा यह विदित हो सकता है कि सभी वेद 'कृष्णामय' (वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो—(गीता १५।१५) हैं। इस विषय में पहले कई एक

दृष्टान्त प्रदर्शित हो चुके हैं।

फिर धान की भूसी से साफ किये हुये चावल का ढेर पृथक् आकार में परिदृष्ट होने पर भी उनमें छिपे हुए दो-चार धान देखकर जिस तरह यह समझा जा सकता है कि यह भूसी से ढंके हुये धान के ढेर के व्यक्त भाव के अतिरिक्त कुछ नहीं है, उसी तरह वेदरूप धान के ढेर से निकाला हुआ और भिन्नाकार में परिदृष्ट श्रीमद्भागवत रूप चावल के ढेर में दो-चार धानरूप अपरिवर्तित वेद वाक्य भी किसी-किसी जगह देखे जाते हैं। इससे स्थूलदृष्टि सम्पन्न व्यक्तियों के लिये यह अवश्य ही बोधगम्य हो सकता है कि श्रीभागवत वेद की ही विमुक्त अवस्था है।

इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'निगमकल्पतरोगीलितं फलं—(भा० १।१।३) इत्यादि वाक्य से छिलका सहित है किन्तु दूसरा बिना छिलका के है अर्थात् अपरोक्ष भाव में कथित वेद का ही सुस्पष्ट अर्थ है।

वेद और श्रीमद्भागवत अभिन्न हैं; इसके सम्बन्ध में श्री चरितामृत में उक्त अभिप्राय ही व्यक्त किया गया है। ब्रह्म-सूत्र में जो सब ऋक या वेद मंत्र सूत्र रूप में ग्रथित हैं, उन्हीं का ही अर्थ श्री भागवत के श्लोकों में प्रकाश किया गया है। इसीलिये धान से निकले हुये चावल की तरह वाह्य दृष्टि में वेद-मंत्र और भागवतीय श्लोकों में भिन्नता तो देखी जाती है किन्तु चावल के ढेर में दो-चार अपरिवर्तित धान की अवस्थिति की तरह, श्री भागवत में भी कुछ अपरिवर्तित या किंचित् परिवर्तित वेद मंत्रों की विद्यमानता के द्वारा यही समझ में आता है कि श्री भागवत वेदमय

है। नीचे इस विषय में श्री चैतन्य चरितामृत की उक्ति और दृष्टान्त उद्धृत हैं—

‘चारिवेद, उपनिषद—यत किछू होय।

तार अर्थ लोईया व्यास करिल संचय॥

जेई सूत्र सेई ऋक विषय वचन।

भागवते सेई ऋक—श्लोक निबन्धन॥

अतएव सूत्रेर भाष्य—श्रीभागवत।

भागवत श्लोक, उपनिषद—कहे एक अर्थ॥

(श्री चै० २।२५)

तात्पर्य—चार वेद और उपनिषद में जो कुछ है। उसी के अर्थ को व्यास जी ने एकत्र किया। जो सूत्र है जो मंत्र जो विषय और वचन है वही सब भागवत में है। इस तरह श्री भागवत ब्रह्म सूत्र का भाष्य है। भागवत श्लोक और उपनिषद् सबका एक ही अर्थ है।

इसका दृष्टान्त स्वरूप ईशोपनिषद् (प्रथम श्लोक) का एक मंत्र भागवत से (८।१।१०) उद्धृत करके देखाया जाता है। श्रुत्युक्त ‘ईश’ और ‘सर्व’ शब्द की जगह में भागवत में केवल ‘आत्मा’ और ‘विश्वं’ शब्दों के संयोग को छोड़कर दूसरे सभी शब्द अपरिवर्तित देखे जाते हैं।

‘आत्मावास्यमिदं विश्वं यत्कञ्चिजगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा ग्रधः कस्यस्विद्धनम् ॥

(श्री भा० ८।१।१०)

इसका अर्थ—इस जगत् में जो कुछ वस्तु है, वह सभी वस्तु परमेश्वर की सत्ता और चेतना द्वारा व्याप्त है। इसलिये सभी वस्तु परमेश्वर की ही हैं। अतएव उनको निवेदन करके उनका दिया हुआ धन भोग करो। दूसरे किसी के भी धन की आकांक्षा न करो।^१

गायत्री से वेद के विकास की तरह श्री भागवत के मूल में भी उसी गायत्री के अर्थ का सन्निवेश।

अब यह देखा जायगा कि वेद माता गायत्री के ही तात्पर्य से जिस तरह चारों वेदों का विस्तार हुआ है, उसी तरह वेदार्थ द्वारा विस्तीर्ण श्री भागवत के मूल में भी उसी गायत्री का अर्थ ही अभिव्यक्त है। इस जगह 'कणिका' के उपयुक्त बहुत संक्षेप में उक्त विषय के केवल दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

प्रणव, व्याहृति और शिरः संयुक्त सम्पूर्ण गायत्री मंत्र का उल्लेख ऋग्वेद में (७।४।१०) और अन्यान्य में वेद में भी देखा जाता है। वेदमाता स्वरूपिनी कहकर गायत्री को सभी वेदों का साररूपा बताया जाता है; ('सर्ववेद सारमिति वदन्ति'। शंकरः।) संक्षेपार्थ प्रणव, व्याहृति और शिरा वियुक्त मूल गायत्री ही निम्न में उद्धृत है।

“तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥”

अन्वय—यः नः धियः प्रचोदयात् तत् देवस्य सवितुः वरेण्यं

१. इस प्रकार श्रुति में 'भिद्यते हृदय ग्रंथि'—(मुण्डक० २।२।८) इत्यादि मंत्र और भागवत में 'भिद्यते हृदय ग्रंथि'—(१।२।२१) इत्यादि श्लोक प्रायः एक ही तरह के देखे जाते हैं।

भर्गः धीमहि। (सायनाचार्य)

अर्थ—जो हमारी बुद्धि की प्रेरणा करते हैं, उन सर्वान्तर्यामी—जगत् के जन्मदाता परमेश्वर वरणीय (सबके उपास्य) के अविद्या विनाशक तेज का (स्वरूप शक्ति) का ध्यान करता हूँ।^१

श्रीमद्भागवत के मंगलाचरण या प्रारम्भिक श्लोक (१।१।१) की कुछ आलोचना करना यहाँ आवश्यक है जिसके विषय में श्री चरितामृत में 'गायत्रीर अर्थे एई ग्रथ आरम्भन' इत्यादि वाक्य कहे गये हैं।^२

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरत—

स्वार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये

मुह्यन्ति यत्सूरयः।

धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं

सत्यं परं धीमहि॥

उक्त श्लोक में गायत्री का अर्थ कुछ विस्तारपूर्वक वर्णित है। इसलिये इसमें कुछ अतिरिक्त शब्द तो आ गये हैं किन्तु पूर्वोक्त गायत्री के प्रत्येक शब्द का अर्थ श्लोक में छिपा है जो संक्षेप में नीचे प्रदर्शित है।

१. इस जगह यह भी विवेच्य है कि—'जो हमारी बुद्धि के 'प्रेरक' और 'जगत् के जन्मदाता' इत्यादि गायत्री मंत्र में ब्रह्मवस्तु की सविशेषत्व ही स्पष्टता व्यक्त की गयी है। वेद माता गायत्री जब सब वेदों की मूल या साररूपा है तो उससे अभिव्यक्त समस्त वेद भी सविशेष ब्रह्म पर है, निर्विशेष नहीं हैं, यह बात आसानी से समझ में आ जाती है।

२. विशदार्थ—श्री क्रम सन्दर्भः प्रभृति भागवतीय टीका देखना चाहिये।

गायत्री मंत्र में	भागवतीय श्लोक में
१. 'यः नः धियः प्रचोदयात्' जो हमारी बुद्धि के प्रेरक।	१. तेने ब्रह्म हृदाय आदि कवये जो आदिकवि ब्रह्मा के हृदय को प्रेरण करते हैं। (ब्रह्मा समष्टि जीव स्वरूप हैं, इसलिये व्यष्टि जीव की बुद्धि के भी यही प्रेरक है, ऐसा समझ में आता है।)
२. 'तत् सवितुः' वह सविता अर्थात् जगत के जन्मदाता या सृष्टा।	२. 'जन्माद्यस्य यतः' जिनसे जगत का जन्मादि होता है अर्थात् सृष्ट्यादि होती है।
३. 'देवस्य—' सर्वान्तर्यामी—लीला परायण देवता का	३. 'स्वराट्' अपने परिकरगण सहित जो लीला परायण हैं।
४. 'वरण्यं' वरणीय—सर्वोपास्य।	४. 'परम' सर्वश्रेष्ठ या परमैश्वर्यता प्राप्त।
५. 'भर्गः' जिस तेज या शक्ति द्वारा अविद्या ध्वंस हो जाती है।	५. 'धम्ना स्वेन सदानिरस्त कूहकं' जो अपने तेज या शक्ति द्वारा सर्वदा माया को निरस्त करते हैं।
६. 'धीमहि' उस तेज समन्वित देवता का ध्यान करता हूँ।	६. 'सत्यं धीमहि' उस स्वरूप शक्ति समन्वित सत्य स्वरूप का ध्यान करता हूँ।

इस तरह उक्त संक्षिप्त आलोचना से यह समझ में आ जाता है कि भागवतीय मंगलाचरण श्लोक गायत्री मंत्र है। यह भी समझ में आ सकता है कि धान से निकाले हुये चावल की तरह उक्त गायत्री मंत्र से निष्काशित श्लोक के आकार में परिवर्तन तो है किन्तु उसमें निहित 'धीमहि' शब्द चावलों के ढेर में निहित एक अपरिवर्तितकार धान की तरह उसके पूर्व रूप का ही (अर्थात् गायत्री मंत्र का ही) साक्ष्य प्रदान करता है।

इसके अतिरिक्त उक्त श्लोक से हम यह भी जान सकते हैं कि श्लोकाकार में रूपान्तरित भागवत सूत्रमय वेदान्त का ही अविकृत (जैसा का तैसा) अर्थ है ('अर्थोऽयं ब्रह्म सूत्राणां—(गारुड़) श्लोकस्य 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र०सू० १।१।२) यह अपरिवर्तित सूत्र श्लोक के मूल में सन्निविष्ट होने से यह प्रमाणित होता है कि भागवत ब्रह्मसूत्र का भाष्यरूप है।

**सूत्रोक्त ब्रह्म-जिज्ञासा का सुस्पष्ट अर्थ कृष्ण
जिज्ञासा है। यह ऋषि प्रश्नोध्याय नामक
भागवत के प्रारम्भ में ही प्रकाश कर
दिया गया है।**

तभी तो सूत्ररूप में संबद्ध वेदान्तोक्त 'अथा तो ब्रह्म-जिज्ञासा' (ब्र०सू० १।१।१)—इस प्रथम सूत्र का भाष्य या अर्थ स्वरूप भागवत के प्रथम अध्याय का भाष्य या अर्थ स्वरूप भागवत के प्रथम अध्याय में ही हम देखेंगे कि सूत्रोक्त 'ब्रह्मजिज्ञासा' का सुस्पष्ट अर्थ 'श्रीकृष्ण जिज्ञासा' है। इसीलिये उक्त 'ब्रह्मजिज्ञासा' या ब्रह्म

विषयक प्रश्न के भाष्यरूप में भागवत के प्रथम में ही 'ऋषि प्रश्नो' नामक प्रथम अध्याय का सन्निवेश है। इसमें यह देखा जायगा कि श्री सूत गोस्वामी के प्रति शौनकादि ऋषियों का श्रीकृष्ण विषयक जिज्ञासा या प्रश्न ही उक्त ब्रह्मजिज्ञासा का सुस्पष्ट व विस्तारार्थ है, यथा,—

सूत जानासि भद्रं ते भगवान्सात्वतां पतिः।

देवक्या वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया॥

तन्नः शुश्रूषमाणानामर्हस्यङ्गानुवर्णितुम्।

यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च॥

(श्री भा० १।१।१२-१३)

इसका अर्थ—आपका मंगल हो। भक्तों के पति श्री भगवान जिस कार्य को पूर्ण करने की इच्छा से वसुदेव जी की पत्नी देवकी के गर्भ से आविर्भूत हुये थे, यह सब आप जानते हो।

हे सूत! श्रीकृष्ण का जगत् में आविर्भाव कार्य जीवों के पालन व समृद्धि के लिये ही होता है, उन्हीं श्री भगवान के प्रपंच में अवतरण की कथा श्रवण करने के लिये हम लोग आप से आग्रह करते हैं क्योंकि आप हमसे उसे विशेष रूप में वर्णन करने योग्य हैं।

अतएव उक्त 'ऋषि प्रश्नोद्ध्याय' में जो वर्णन हुआ है उससे यह स्पष्ट ही समझ में आता है कि कृष्णविषयक-कथा अर्थात् श्रीकृष्ण-कथा ही का श्रवण करना शौनकादि ऋषि श्रोतागण का मुख्य तात्पर्य था!

इसके उत्तर में वक्ता श्री सूत गोस्वामी द्वारा समस्त भागवत

में जो कुछ वर्णन हुआ है उसका मुख्य तात्पर्य कृष्ण-विषयक कीर्तन ही था। यह बात उनके वक्तव्य विषय के प्रारम्भ में ही उक्त प्रश्न पर परम उल्लास भरे साधुवादपूर्वक श्रीकृष्ण-कथा के अवतरण से ही स्पष्टतः समझ में आ सकती है; यथा—

‘मनुयः साधु पृष्ठोऽहंभवभ्दिलोकमङ्गलम्।

यत्कृतः कृष्णसंप्रश्नो? येनात्मा सुप्रसीदति॥

(श्री भा० १।२।५)

इसका अर्थ,—हे मुनिगण! आप लोगों ने मुझसे त्रिलोक का मंगलजनक श्रीकृष्ण-विषयक सर्वोत्तम प्रश्न किया है जिससे आत्मा पूर्णरूप से प्रसन्न होती है।

समस्त भागवत ही श्रीकृष्णैक तात्पर्यमय है।

इसलिये देखा जाता है कि इस शास्त्र के श्रोता और वक्ता दोनों का श्रीकृष्ण विषयक श्रवण कीर्तन का ही मुख्य तात्पर्य था क्योंकि इस शास्त्र का आदि, मध्य और अन्त सभी कृष्णैक-तात्पर्यमय है। इस बात के समझने में अब कोई असुविधा नहीं रह जाती है।

**पूर्वोक्त ‘त्रयी’ निगूढ़ त्रिधारा ही मुक्तधारा से
समग्र भागवत में प्रवाहित।**

यहाँ दूसरा एक विशेष जानने योग्य विषय यह है कि पूर्वोक्त

-
१. ब्रह्म-सूत्रोक्त ‘ब्रह्म-जिज्ञासा’ शब्द उक्त श्लोक में ‘कृष्णसंप्रश्नो’ या कृष्ण-जिज्ञासा में रूपान्तरित देखा जाता है।

‘त्रयी’ संज्ञक वेद के अभ्यन्तर में श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण भक्ति और श्रीकृष्ण भक्त की कथा का सम्मिलित रूप श्री भागवत धर्म की त्रिधारा, फल्गुधारा की तरह निगूढ़ भाव से प्रवाहित हो रही है। श्री सूत्रोक्त परवर्ती श्लोक में इसकी सूचना देखकर यह समझ में आ सकता है कि वेद गुह्य यह निगूढ़ त्रिधारा या भागवत धर्म रूप परम धर्म का खुला हुआ प्रवाह समग्र श्री भागवत में प्रवाहित होगा।

स वै पुंसा परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहैतुक्य प्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति॥

(श्री भा० १।२।६)

इसका अर्थ,—जिस धर्म से अधोक्षज में (भगवान में) हेतु-शून्या और अनावृता शुद्धा भक्ति उदय होती है, यही धर्म मानवगण का परमधर्म है। इस भक्ति से आत्मा की सम्यक (पूर्ण) प्रसन्नता साधित होती है।

उक्त श्लोक में ‘अधोक्षज’ शब्द से यह सूचना दी गयी है कि श्री भगवान या मूलतः श्रीकृष्ण, तद्विषया शुद्धा भक्ति अर्थात् श्री भगवद्भक्ति या मूलतः श्रीकृष्ण भक्ति और इस भक्ति के द्वारा जिसकी आत्मा प्रसन्न होती है अर्थात् श्री भगवद्भक्त या मूलतः श्रीकृष्णभक्त—उक्त त्रिधारारूप श्री भागवत धर्म ही जीव का परमधर्म है (अर्थात् जिसके समान या जिससे अधिक दूसरा कोई धर्म नहीं है), समस्त भागवत में यही अपरोक्ष या सुस्पष्ट रूप से कीर्तन किया गया है।

इसलिये यह समझ लेना चाहिये कि समस्त वेद में जो कुछ निगूढ़ मंत्रादि के आकार में निहित है और वेदान्त में जो कुछ

दुर्बोध्य सूत्राकार में ग्रथित है, वह सब श्रीकृष्ण और तद्विषया भक्ति या भागवत धर्म ही है और यही समस्त भागवत में खुली धारा से प्रवाहित है।

श्रीकृष्ण ही दशम या आश्रय पदार्थ होने से, भागवतादि वर्णित दूसरे नौ-पदार्थों को उनके आनुषङ्गिक विषयरूप में जानना आवश्यक है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब भागवत में कृष्ण-कथा कीर्तित होती देखी जाती है तब फिर भी उसके अतिरिक्त उसमें सृष्ट्यादि अन्य विषय का भी वर्णन देखे जाने पर यह किस प्रकार निर्णय किया जा सकेगा कि भागवत केवल कृष्ण कथामय है?

इसके उत्तर में यह कहना है कि सर्व मूल होने से श्रीकृष्ण परमाश्रय-तत्त्व हैं; दूसरे सभी विषय तदाश्रित तत्त्व हैं। भागवत के आरम्भ में ही श्रोता और वक्ता द्वारा कृष्ण विषयक प्रश्न और उत्तर से यही प्रतिपन्न होता है कि श्रीकृष्ण ही भागवत का मुख्य तात्पर्य है। इसलिये भागवत में जो दूसरे समस्त विषय वर्णित हैं, वह सब मुख्य विषय की ही आनुषङ्गिक कथा अर्थात् तदाश्रित या तत्सम्बन्धीय विषय हैं; इस बात के समझ में आ जाने से फिर समस्त भागवत को कृष्ण-कथामय छोड़कर दूसरा कुछ भी न कहा जा सकेगा तभी तो देखा जाता है कि महापुराण में जो दस लक्षण रहते हैं; श्री शुकदेव ने श्रीमद्भागवत महापुराण के उन दस लक्षणों के वर्णन के प्रसंग में उक्त प्रश्न का उत्तर स्वयं ही प्रदान कर दिया है।

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणम्भूतयः।

मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामहि लक्षणम्।

वर्णयन्ति महात्मनः श्रुतेनार्थेन चाज्जसा॥

(श्री भा० १२।१०।१-२)

इसका संक्षिप्त मर्मार्थ,—श्री मद्भागवत महापुराण इन दस लक्षणों से लक्षित हुआ है; यथा सर्ग (परमेश्वर द्वारा महत्तत्त्वादि रूप सूक्ष्म जगत् की सृष्टि का वर्णन), विसर्ग (ब्रह्मा द्वारा स्थूल जगत् की सृष्टि का वर्णन), स्थान (ब्रह्मा, शिवादि से श्री भगवान का उत्कर्ष कथन), पोषण (भगवान का भक्त्यानुग्रह), मन्वन्तर (प्रति मन्वन्तर के मनु प्रभृति साधुगण के चरित्रादिरूप धर्म कथा, ऊति (जीव की कर्मोत्थित वासना), ईशानु कथा (विविध आख्यानादि द्वारा भगवदावतार और उनके भक्तों की चरित कथा), निरोध (महा प्रलय में श्री हरि के सोने पर उपाधि के सहित उनमें जीव का लय प्राप्ति की कथा), मुक्ति (अविद्याकृत मायिक उपाधि परित्यक्त जीव का शुद्ध स्वरूप में या भगवत् पार्षदरूप में अवस्थान की कथा) और आश्रय (विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के जो सर्वमूल कारण हैं—वही सर्वाश्रय तत्त्व है। उन्हें ही 'आश्रय' कहा जाता है)^१ इनमें से दशम पदार्थ का अर्थात् आश्रय का ज्ञान करने के निमित्त, महात्मा लोग सर्गादि दूसरे नौ पदार्थों के स्वरूप को कहीं तो श्रुति द्वारा, कहीं तात्पर्य वृत्ति द्वारा और कहीं साक्षात्सम्बन्ध में वर्णन करते हैं।

इस तरह से स्वयं श्री शुकदेव की उक्ति से भी हमारे समझ

१. उक्त दस लक्षणों का विस्तारित अर्थ भागवत २।१।४३ और २।१०।३-७ श्लोकों में और स्वामिपाद प्रभृति आचार्यों के टीका में देखना चाहिये।

में आ सकता है कि 'आश्रय' या दशम पदार्थ का पूरा पूरा परिचय जानने के लिये ही सर्गादि दूसरे नौ पदार्थों की आलोचना की जाती है। श्री कृष्ण ही भागवत के मुख्य प्रतिपाद्य विषय होने के कारण वही दशम पदार्थ हैं। अतएव स्वयं शुकोक्ति से यही समझ में आता है कि नौ पदार्थ उनके सम्बन्धीय विषय होने के कारण भागवत में वर्णित समस्त विषय कृष्णाकथा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तभी तो श्रीधर स्वामिपाद ने भी श्रीकृष्ण को ही दशम-पदार्थ रूप में स्पष्ट ही वर्णित किया है; यथा,—

विश्वसर्गविसर्गादि नवलक्षणलक्षितम्।

श्री कृष्णाख्यं परंधाम जगद्धाम नमामि तत्॥

दशमे दशमंलक्ष्यमाश्रिताश्रय विग्रहम्। (इत्यादि)

(श्री भा० १०।१०।१।१-२ भावार्थ दीपिका।)

इसका तात्पर्यार्थ,—जो सर्ग, विसर्गादि नौ लक्षणों द्वारा लक्षित है, (अर्थात् जो उन सब के उत्पत्ति का कारण है, जो परमाश्रय है, जो समस्त जगत् का आश्रय है और जिनका विग्रह आश्रितों के श्री संकर्षणादि निखिल भगवत् स्वरूपों का भी आश्रय स्वरूप है, उक्त नौ लक्षणों से और कहीं साक्षात् भाव से भागवत में सर्वत्र ही उनका विषय कथित होने पर भी दशम पदार्थ रूप उनका आश्रयत्व विदित कराने के लिये ही) जो दशम स्कन्ध में विशेष भाव से कीर्तित हुये हैं, उन श्री कृष्ण नामक दशम पदार्थ अर्थात् 'आश्रय' तत्त्व को नमस्कार करता हूँ।

अतएव श्री कृष्ण ही—सर्वमूल—सर्वकारण कारण होने से सर्वाश्रयत्व—महापुराणोक्त दशम पदार्थ हैं! पूर्वोक्त दूसरे नौ पदार्थ तदाश्रित होने के कारण उनके सम्बन्धीय विषय ही हैं; यही कारण है कि उक्त दस लक्षण विशिष्ट समस्त भागवत को कृष्णाकथामय समझना ही आवश्यक है। श्री चरितामृत में भी यही कहा गया है,—

आश्रय जानिते कहि ए नौ पदार्थ।
 ए नवेर उत्पत्ति हेतु सेई आश्रयार्थ॥
 कृष्ण एक सर्वाश्रय—कृष्ण सर्वधाम।
 कृष्णोर शरीरे सर्वविश्वेरे विश्राम॥

(श्री चै०। आदि। २ पः)।

**श्री कृष्ण ही आश्रय तत्त्व हैं, उन्हें छोड़कर दूसरे
 सभी तदाश्रित तत्त्व हैं।**

इस तरह अब यह हमारे समझ में आ गया कि श्री भागवत में 'दशम पदार्थ अर्थात् 'आश्रय-तत्त्व' वर्णित होने के कारण श्री कृष्ण ही सर्वाश्रय या परमाश्रय हैं। उनके अतिरिक्त जो कुछ है वह सभी 'तदाश्रित तत्त्व' हैं। इसीलिये वही अपनी बहिरङ्गा या माया शक्तिरूप अगन्त ब्रह्माण्ड के आश्रय हैं; वही तटस्था शक्तिरूप सब जीवों के आश्रय हैं; वही स्वरूप शक्तिरूप गोलोक और वैकण्ठादि सभी भगवत्-धामों के और सभी भगवत् परिकरादि के सर्वमूलाश्रय हैं; और वही श्री नारायण, संकर्षण, राम, नृसिंहादि सभी भगवत्-स्वरूपों के भी आश्रय हैं। यह बात पहले बतायी जा चुकी है कि उन्हें 'आश्रिताश्रय' निग्रह कहते हैं अर्थात् उनका शरीर निखिल आश्रय तत्त्व का आश्रय स्वरूप है। श्री कृष्ण ही सर्व वेद-वेदान्त प्रतिपादित मूल बृहद्वस्तु होने के कारण उसके भाष्य स्वरूप श्री भागवत के आरम्भ में ही 'वेदान्तोक्त' 'ब्रह्म जिज्ञासा' का सुस्पष्ट अर्थ स्वरूप 'कृष्ण जिज्ञासा' की अवतारणा से और दशम पदार्थ रूप उनका सर्वाश्रयत्व ज्ञापन करने के लिये विशेष भाव से भागवत के आधे से अधिक अंश—दशम स्कन्ध में उनकी लीला-कथादि की

विस्तारित वर्णन से श्री कृष्ण ही स्वयंरूपता या परमाश्रयता स्पष्ट ही प्रतिपन्न होती है।

इसका संक्षिप्त सारमर्म यह है कि जहाँ दशम पदार्थ अर्थात् आश्रय का मुख्यत्व स्वीकृत होकर उसके साथ नौ पदार्थ किम्बा किसी दूसरे विषय का वर्णन किया जाता है वह सभी आश्रय के अधीन अर्थात् तत्सम्बन्धीय या तदाश्रित विषय समझे जाते हैं। किन्तु जहाँ आश्रय का निर्देश न करके दूसरा जो कुछ वर्णित होता है, उन सब का प्रथक विषय समझना चाहिये। यही कारण है कि श्री भागवत में आश्रय का ही मुख्यत्व स्वीकृत होने से दूसरे नौ पदार्थ उनके आश्रित या उनके सम्बन्धीय विषय हैं। इसलिये अब इस बात का अधिक उल्लेख करना कि समग्र भागवत कृष्ण-कथा से ही भरी पड़ी है निष्प्रयोजन है।

अवतार शब्द का द्विविध अर्थ है—प्रपंच में अवतरण और अवतारी का अंश, कलादि।

अतः पर विवेच्य विषय यह है कि पूर्वोक्त 'कृष्ण-जिज्ञासा' के परवर्ती श्लोक में "यस्यावतारो भूतानांक्षेमाय च भवाय च।" (भा० ११।१।१३) की उक्ति द्वारा 'यस्य' शब्द से कृष्णस्थ अर्थात् श्री कृष्ण का, यह निर्देश किया गया है अर्थात् श्रीकृष्ण का प्रपंच में अवतरण जीव के मंगल और समृद्धि के लिये होता है, इत्यादि। यही सामान्यतः सर्वाश्रय तत्त्व की या सर्वावतारी की कथा श्री भागवत में मुख्य कीर्तनीय विषय है।

तदन्तर (१।१।१८) श्लोक "अथाख्याहि हरे—धीमन्नवतार कथाः शुभाः।" कि उक्ति द्वारा श्री हरि की शुभावहः अवतार कथा

के वर्णन करने के लिये कहा गया है। यहाँ भी 'हरेः' शब्द से 'श्रीकृष्णस्थ' ही समझ में आता है अर्थात् श्रीकृष्ण ही के सब अवतारों की कथा जिज्ञासित हुयी है। अवतारी श्री कृष्ण की कथा श्रवणेच्छा का मुख्यत्व और तदन्तर अवतारी श्रीकृष्ण के स्वांशादिरूप पुरुषादि और मत्स्य-कूर्मादि सभी अवतारों की कथा, तदानुषङ्गिक रूप में वर्णन करने के लिये कहा गया है।

इसलिये आश्रय रूप श्री कृष्ण की मुख्यत्व वशतः अवतारीत्व और तदाश्रित या तत्सम्बन्धीय आनुषङ्गिक विषय होने के कारण दूसरे सभी श्री भगवत् स्वरूपों का अवतारत्व ही प्रतिपन्न होता है।

'अवतार' शब्द से दो प्रकार का अर्थ जाना जाता है—

- (१) नित्यधाम से विश्व-प्रपंच में अवतरण और
- (२) अवतारी का स्वांशादि रूप में प्रपंच में अवतरण।

इनमें पूर्वोक्त "यस्यावतारों—" (१।१।१३) इत्यादि श्लोक में 'अवतार' शब्द का अर्थ 'अवतारी श्रीकृष्ण का नित्यधाम से प्रपंच में अवतरण की कथा है' परवर्ती—"अथाख्याहि—" (१।१।१८) इत्यादि श्लोक में 'अवतार' शब्द का अर्थ 'अवतारी श्री कृष्ण के स्वांशादिरूप पुरुषादि और मत्स्य-कूर्मादि अवतारों की कथा' है।

अतएव जहाँ कहीं भी 'कृष्णावतार' कहा जाय वहाँ सर्वत्र ही 'अवतारी श्री कृष्ण' का प्रपंच में अवतरण और जहाँ कहीं श्री राम, नृसिंह, पुरुषादि और मत्स्यस्यादि कोई भगवत् अवतार कहा जाय वहाँ अवतारी श्री कृष्ण का अंशादि रूप से प्रपंच में अवतरण समझना चाहिये। अवतार शब्द का यह वैशिष्ट्य विशेष भाव से स्मरण रखना आवश्यक है।

उक्त प्रकार से सामान्यतः या संक्षेप में 'आश्रय' या 'अवतारी' निर्देश पूर्वक, अतः पर तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में, 'जगृहे पौरुष रूपं—' (१।३।१-५) इत्यादि श्लोक में उन्हीं सर्वाश्रय और सर्वावतारी श्रीकृष्ण के स्वांशादि अवतारों की कथा उसी तरह संक्षेप में वर्णन हुई है। सर्ग और विसर्ग क्रम से प्रथमतः इसमें महत्तत्वादि सृष्टा, समष्टि-ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी-प्रथम पुरुषावतार का वर्णन है। इसके पश्चात् व्यक्ति ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी, गर्भोदक-शायी द्वितीय पुरुषावतार वर्णित हैं। जिनके नाभि-हृदाम्बुज से स्थूल विश्व के सृष्टा ब्रह्मा आविर्भूत होते हैं। इस द्वितीय पुरुषावतार के अंशादि से प्रायशः सभी भगवद्वतार प्रकट होते हैं और तत्सृष्ट ब्रह्मा से मरिच्यादि ऋषिवृन्द और उनके परम्परा में देव, तिर्यक, मनुष्यादि स्थूल चराचर विश्व की उत्पत्ति होती है। इसलिये इन द्वितीय पुरुषावतार को नाना अवतार का आश्रय प्रभृति कहा जाता है।

एतन्नावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।

यस्यांशेन सृज्यन्ते देवर्तिङ् नरादयः॥

(श्री भा० १।३।५)

इसका अर्थ,—यह नारायणाख्य द्वितीय पुरुषावतार नानावतारों के आश्रय अव्यय कारण-स्वरूप है। ब्रह्मा द्वारा देव, तिर्यक, मनुष्यादि सृष्ट सभी इन्हीं के अंश और अंशांशादि से अभिव्यक्त होते हैं।

द्वितीय पुरुष प्रायशः सब अवतारों के आश्रय होने पर भी श्रीकृष्ण ही इनके भी आश्रय होने के कारण परमाश्रय हैं।

यह द्वितीय पुरुषावतार प्रायशः सभी भगवदावतारों के कारण या आश्रय रूप में वर्णित होने पर भी पुरुषावतारों के भी अवतारी या सर्वाश्रय होने के कारण, जिन्हें समग्र भागवत के मुख्य तात्पर्यरूप में पहले ही निर्देश किया जा चुका है, उन सर्वाश्रय, सर्वावतारी—सर्व कारण-कारण श्री कृष्ण के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि वही सर्वमूल व सर्वाश्रय हैं।^१

अवतारी से जैसा उनके विलास और स्वांशादि की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह अवतार विशेष से भी वैसे ही उसके विलास या स्वांशादि की अभिव्यक्ति हो सकती है। (जैसे प्रथम पुरुष से द्वितीय पुरुषावतार, मनवन्तरावतार से युगावतार प्रभृति), ऐसा होने पर भी सभी अवतार श्री कृष्ण ही के 'आश्रित-तत्त्व' होने के कारण सर्वमूल श्री कृष्ण ही को सर्वावतारी या परमाश्रय समझना होगा। अर्थात् कोई किसी का केवल 'कारण' होने से ही 'आश्रय' नहीं हो सकता है। जो सभी कारणों का कारण है उसी को ही 'आश्रय' या आश्रयतत्त्व कहा जाता है। अतएव सर्वावतारी श्री कृष्ण के पुरुषावतार से नाना अवतारों की अभिव्यक्ति होने पर भी, श्रीकृष्ण ही, को उन सब का मूल कारण या 'आश्रय' समझना चाहिए।

‘भगवान्’ से पुरुषावतार; भगवान् ही पुरुष रूप में नहीं हैं।

-
१. विशेष भाव से सर्वावतारी श्रीकृष्ण और उनके सभी अवतारों के सम्बन्ध में विस्तारित आलोचना श्रीमद्रूप गोस्वामिकृत 'लघु-भागवतामृत' में और संक्षिप्त आलोचना श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीपादकृत 'भागवतामृत कणा' में देखना चाहिये।

यहाँ विचार करने योग्य दूसरा विषय यह है कि पूर्वोक्त 'जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्'—(१।३।१) इत्यादि श्लोक से जाना जाता है कि 'भगवान्' ही पुरुषरूप में अवतीर्ण होते हैं। इससे यह समझ में आता है कि 'भगवान्' और 'पुरुषरूप' एकार्थवाचक नहीं हैं। भगवान् का अवतार 'पुरुष' है अतएव पुरुषावतार के अवतारी को उक्त श्लोक में 'भगवान्' शब्द से निर्देश किया गया है।

केवल बलराम और कृष्ण को उक्त भगवान् संज्ञा में उल्लेख द्वारा पुरुष की अवतारीत्व का प्रकाश।

श्रीमद्भागवत के १।३।६-२५ श्लोकों में इन पुरुषावतार से प्रादुर्भूत यथाक्रम से कल्पान्तर्गत कौमारादि कई लीलावतारों के विषय के संक्षेप वर्णन के प्रसङ्ग में उन्नीस व बीस संख्या पर 'रामकृष्ण' अर्थात् श्री बलराम और श्रीकृष्ण का उल्लेख किया गया है। यहाँ विशेष बात यह है कि इसके पहले या बाद में वर्णित समस्त अवतारों में से केवल 'राम-कृष्ण' के प्रसङ्ग में ही फिरसे 'भगवान्' शब्द का उल्लेख देखा जाता है; यथा,— 'रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्वंद्वम्' (१।३।२३) अर्थात् राम और कृष्ण नाम से ख्यात उन भगवान् ने प्रपंच में अवतीर्ण होकर पृथ्वी का भार हरण किया था। उक्त श्लोक में यही सूचित हुआ है कि जो भगवान् पुरुषावतार के अवतारी हैं वह भगवान् श्री बलदेव और श्रीकृष्ण हैं। अतएव द्वितीय पुरुषावतार से अवतीर्ण अवतार तालिका में क्रमानुसार 'राम-कृष्ण' का उल्लेख होने पर भी वह 'पुरुष' से अवतीर्ण अवतार नहीं हैं। किन्तु पुरुषावतार के भी अवतारी हैं

क्योंकि 'राम-कृष्ण' के नामों के साथ 'भगवान' शब्द के उल्लेख से यही निर्देश किया गया है।

**‘भगवान’ संज्ञा में विशेष भाव से निर्देश्य तत्त्व।
उनमें फिर सर्वाश्रय होने के कारण श्रीकृष्ण ही
‘स्वयं भगवान’ हैं।**

श्रीकृष्ण, श्री बलदेव परव्योमाधीश श्री नारायण, श्री संकर्षण प्रभृति के अंशाशादि से पुरुषावतार प्रकट होते हैं इसलिये इनको 'भगवान' कहकर निर्देश किया जाता है। इनमें से फिर श्री नारायण, श्री संकर्षणादि भगवन् संज्ञक सभी 'आश्रित तत्त्व' और श्रीकृष्ण निखिल भगवत्-स्वरूप के 'परमाश्रित तत्त्व' के रूप में निरूपित होने से एकमात्र श्रीकृष्ण ही 'भगवान के भी भगवान' अर्थात् स्वयरूप-परमतत्त्व या स्वयं भगवान हैं। निखिल भगवत्-स्वरूप से श्रीकृष्ण का यही विशेषतत्त्व है। यदि यह उपलब्धि न कर सकने के कारण मूढ़ता वशतः साधारण अवतारों के साथ उनकी समता चिन्ता की जाय, तो इससे समग्र भागवत के मुख्य प्रतिपाद्य का व्यतिक्रम होकर उससे असिद्धान्त और अपराध की सम्भावना हो जाती है। इसी आशंका से श्री सूत महाराज ने फिर से उक्त अभिप्राय की उपलब्धि विशेष भाव से कराने के निमित्त सुस्पष्ट घोषणा द्वारा श्रोतागण को बता दिया है;—

एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान स्वयं।

इन्द्रारिव्याकुल लोकं मृडयन्ति युगे-युगे॥

(श्री भा० १।३।२८)

इसका अर्थ,—यह समस्त (उक्त या अनुक्त) सभी अवतार 'पुरुष' के कोई तो अंश है और कोई विभूति हैं। श्रीकृष्ण किन्तु स्वयं भगवान हैं। उक्त सभी अवतार दैत्यगण द्वारा निपीड़ित जगत् को युग-युग में सुख प्रदान करते हैं।

अन्यत्र भी दूसरे अवतारों से आधिक्य वर्णन द्वारा श्रीकृष्ण का उक्त वैशिष्ट्य प्रदर्शन।

और भी देखा जाता है कि भागवत के २।७।१-३८ संख्यक सभी श्लोकों में पूर्वोक्त और अनुक्त अपरापर सभी लीलावतारों के वर्णन के प्रसङ्ग में भी श्रीकृष्ण का उल्लेख किया गया है। किन्तु सर्वावतारी स्वयं भगवान के समान उनके सब अवतारों को मानने से अपराध की सम्भावना होती है; इसलिये वहाँ भी देखा जायगा कि अन्य अवतारों के प्रसङ्ग की अपेक्षा कृष्ण-कथा का ही आधिक्य प्रदान किया गया है, जिससे श्रीकृष्ण का ही प्राधान्य अर्थात् पूर्वोक्त स्वयं भगवत्ता ही प्रतिपादित होती है।

श्रीकृष्ण के साथ दूसरे किसी को भी बराबर समझना अपराध है।

इस तरह यह समझ में आ गया कि साधारण भाव से सब अवतारों के उल्लेख में उक्त प्रकार से अवतारी कृष्ण का उल्लेख देखकर ऐसा न हो कि उस विषय में अन्य अवतारों के समान श्रीकृष्ण को भी समझ लिया जावे; इस आशंका से फिर विशेष भाव से श्रीकृष्ण की ही स्वयं भगवत्ता की घोषणा द्वारा, उनका

सर्वाश्रयत्वं सर्वकारण-कारणत्व और स्वयं रूपत्य—यह वैशिष्ट्य ही परिकीर्तित हुये हैं। श्री चरितामृत में भी तभी तो कहा गया है,—

सब अवतारे करि सामान्य लक्षण।

तार मध्ये कृष्ण चन्द्रेर करिल गणन॥

तबे सूत गोसाईं मने पाईया बड़ भय।

जार जे लक्षण ताहा करिल निश्चय॥

अवतार सब—पुरुषेर कला अंश।

कृष्ण—स्वयं भगवान, सर्व अवतंस॥

(श्री चै० १।२।५५-५६)

तात्पर्य—सब अवतारों का सामान्य लक्षण बताते हुए श्री व्यास जी ने उसी के बीच में श्रीकृष्ण चन्द्र की भी गणना कर दी थी फिर उन्हें बड़ा भय हुआ कि फिर अपराध न हो जाय इसलिये जिसका जो लक्षण था निश्चय करके कहा कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान हैं और सारे अवतार उनके कला और अंश हैं। श्रीकृष्ण सबके कारण हैं।

केवल परतत्त्व की परमावस्था का वैशिष्ट्य प्रकाश करने के लिये शास्त्र में यह सुस्पष्ट निर्देश है कि उनके बराबर किसी को भी मानना अपराधजनक है। यही कारण है सभी भगवत्-स्वरूपों के साथ अन्य देवतादि की समता मनन अपराधरूप में ही शास्त्र में वर्णित देखा जाता है।^१ इसलिये सर्वमूल या स्वयं भगवान होने के कारण सर्वावतारी श्रीकृष्ण के बराबर उनके सब अवतारों को भी मनन करना उसी तरह दोषावह ही जानना चाहिये।

१. 'यस्तु नारायणं देवं—' इत्यादि श्लोक श्रीकृष्ण ही मूल नारायण हैं, यह भी पहले बताया जा चुका है।

भगवान और भगवन्नाम अभिन्न होने के कारण श्रीनाम के सहित भी दूसरे किसी साधनादि शुभ क्रिया का तुल्यत्व चिन्तन भी इसी प्रकार अपराधजनक है।

तभी तो यह भी देखा जाता है कि भगवान और भगवन्नाम की अभिन्नता वशतः भगवान के सहित जिस प्रकार दूसरे उपास्य का समत्व या तुल्यत्व चिन्तन अपराध है, उसी प्रकार भगवन्नाम के—सर्वमूल कृष्ण नाम के सहित दूसरे किसी उपासना का या शुभक्रियादि का तुल्यत्व मनन भी अपराधरूप में ही शास्त्र में विघोषित है।^१

इस वैशिष्ट्य द्वारा भगवद्वस्तु या सर्वमूल श्रीकृष्ण और साक्षात् उनके सभी सम्बन्धीय विषय की ही सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है।

परतत्त्व का पारम्य विषयक यह वैशिष्ट्य दूसरे किसी भी विषय में उक्त नहीं है इस उपलक्षण से भगवद्भक्ति या कृष्ण-भक्ति, भगवद्भक्त या सर्वमूल कृष्ण-भक्त प्रभृति के साथ तद्रूप दूसरे किसी की तुलना या समता चिन्ता की उसी प्रकार दोषावह ही समझना होगा।

१. 'अन्य शुभकर्मभिर्नाम साम्य मननम्।'

(भक्ति रसामृत सिन्धु—विन्दुः—७)

इसी कारण से श्री सूत महाशय की भी सतर्कता।

इसीलिये ही श्री सूत महाशय ने सामान्यतः अर्थात् साधारण भाव से सब अवतारों में अवतारी का उल्लेखपूर्वक तत्पश्चात् उक्त अपराध की आशंका से फिर विशेष भाव से श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता की घोषणा की है।

इसी कारण से श्री व्यासदेव के भी चित्त की अप्रसन्नता।

इसीलिये—दूसरे की बात क्या? स्वयं श्री व्यासदेव को अपने पुराणादि समुदय शास्त्र की रचना करने पर भी उनमें कृष्णायशः और महिमादि का वर्णन प्राधान्यरूप से न करने के कारण चित्त प्रसन्न न हुआ था, तदनन्तर जब उन्होंने श्रीमद्भागवत में कृष्णकथादि का प्राधान्य कीर्तन किया तभी उनका चित्त प्रसन्न हुआ।^१

१. वेद, धर्म, योग—नाना शास्त्र करिव्यास।

त्रिलोद्वेक चित्ते नाही वासे न प्रकाश॥

महा गोप्य ज्ञाने भक्ति बोलिला संक्षेपे।

सबे एई अपराध—चित्तेर विक्षेप॥

नारदेर वाक्ये भक्ति करिला विस्तार।

तबे मनो दुःख मेल, तारिल संसार॥ (श्री चै०/मध्य/१०५ः)

तात्पर्य—वेद, धर्म, योग, नाना शास्त्र की रचना करके श्री व्यास जी को जरा भी चित्त में प्रसन्नता नहीं हुई। भक्ति महा गोपनीय है यह सोचकर भक्ति को उन्होंने छिपाकर संक्षेप में हर जगह वर्णन किया था इसी अपराध से चित्त अशान्त रहा। श्री नारद जी के कहने से भक्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया उससे उनके मन को शान्ति मिली और उन्होंने जगत का उद्धार कर दिया।

अतएव इससे भी भगवत् विषय की—विशेष भाव से कृष्ण और साक्षात् उनके सम्बन्धीय विषय को सर्वमूलता या सर्वश्रेष्ठता विशेष भाव से प्रतिपन्न होने योग्य है। इसलिये वेदादिशास्त्र प्रतिपादित सर्व मूल विषय को ही सर्वोपरि स्थापन पूर्वक दूसरी सभी को तत्सम्बन्धीय या तदानुषङ्गिक रूप में समझकर उन विषय के अनुशीलन में प्रवृत्त होने पर भी उसके द्वारा किसी अपराध की सम्भावना नहीं रहती।

पूर्वोक्त लीलावतार के अतिरिक्त भागवत में “अवताराह्यसंख्येया हरेः—” (१।३।२६) इत्यादि श्लोक में, गुणावतार, मन्वन्तरावतार, युगावतार प्रभृति भी सूचित हुये हैं। उक्त श्लोक में ‘हरे’ शब्द से पूर्ववत् कृष्ण ही समझ में आते हैं। अर्थात् स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही उक्त सब अवतारों के भी अवतारी हैं।

शास्त्र—प्रमाण छोड़कर भगवद्वस्तु के निर्णय करने का कोई भी दूसरा प्रमाण नहीं है।

एकमात्र शास्त्रोक्त लक्षण से ही भगवद्वस्तु प्रमाणित होती है। शास्त्र प्रमाण व्यतीत सभी भगवद्वतारों का दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये शास्त्रोक्त लक्षण से ही भगवान् निर्णीत होते हैं; ‘शास्त्रयोनित्वात्’—ब्रह्मसूत्र में यही बात कही गयी है। तब भागवत में जो यह कहा गया है कि अवतार ‘असंख्य’ हैं, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि शास्त्रोक्त लक्षणादि और आविर्भाव कालादि व्यतीत अनर्दिष्ट या अनियमित भाव से भी भगवान् का अवतार हो सकता है। ब्रह्माण्ड असंख्य होने के कारण शास्त्र लक्षणान्वित

कालादि नियम निर्दिष्ट, गुणावतार, मन्वन्तरावतार, युगावतार प्रभृति सभी भगवद्वतार एक ब्रह्माण्ड की तरह, असंख्य प्रकाश से, असंख्य या अनन्त ब्रह्माण्ड में आविर्भूत होकर धर्म संस्थापनादि कार्य में नियुक्त रहते हैं। इसलिये सब अवतार असंख्य है, ऐसा कहा गया है। जिस प्रकार चार युग में शास्त्र-लक्षणान्वित शुल्कादि चार युगावतार होने पर भी, उन्हीं की ही असंख्य प्रकाश में, यथाक्रम से और यथा समय में अभिव्यक्ति होने से युगावतार भी असंख्य है। उसी तरह गुणावतार, मन्वन्तरावतार, द्वितीय और तृतीय पुरुषावतार प्रभृति के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। इसलिये अवतार असंख्य होने पर भी शास्त्रोक्त लक्षण द्वारा ही भगवद्वस्तु का परिचय पाया जाता है। एकमात्र शास्त्रोक्त लक्षण द्वारा ही भगवान् प्रमाणित होते हैं और शास्त्रोक्त भजन द्वारा ही भगवान् अनुभूत होते हैं। वर्तमान धर्म संकट के दिनोंमें यह बात भी विशेष भाव से स्मरण रखना चाहिये।

अतएव वेदादि सभी शास्त्र-प्रमाणों से श्रीकृष्ण का ही स्वयरूपता या स्वयं भगवत्ता प्रतिपादित हुई।

‘सर्वादि होने के कारण श्रीकृष्ण ही सर्वज्ञ हैं।’

श्रीकृष्ण अथवा तदीय विशेष कृपा के अतिरिक्त कृष्ण को यथार्थरूप से जानना किसी के लिये सम्भव नहीं है क्योंकि वह सर्वादि और सर्वमूल कारण है। सभी के आदि कारण होने से तत्परवर्ती सभी को वह जानते हैं, किन्तु सबों के पूर्ववर्ती होने के कारण उन्हें यथार्थरूप से कोई भी नहीं जानता तभी तो श्रुति ने कहा है,—

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्तिवेत्ता।

तमाहुरग्रयम पुरुषं महान्तम्॥ (श्वेता० ३।१६)

इसका अर्थ,—जो कुछ जानने योग्य है, वह सभी वह जानते हैं, किन्तु उनको (प्रकृष्ट रूप से जानने वाला कोई नहीं है। ब्रह्मविद्गण उनका कीर्तन सब का आदि और महानपुरुष कहकर करते हैं।

तीनों काल के सभी जानने योग्य विषय उन्हें अवगत हैं, किन्तु उन्हें कोई नहीं जानता, यह बात उन्होंने स्वयं ही गीता में कही है; यथा—

वेदोहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन।

भविष्यति च भूतानि मान्तु वेद न कश्चन॥

(गीता ७।२६)

इसका अर्थ,—हे अर्जुन! भूत, भविष्यत, वर्तमान, त्रिकाल का सब कुछ मैं अच्छी तरह से जानता हूँ किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।

श्रीकृष्ण के अवतारत्व के सम्बन्ध में विभिन्न

मतवाद और उसका समाधान।

इसलिये देखा जाता है कि सभी शास्त्रों में श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता परिगीत होने पर भी उनकी माया से शास्त्र का यथार्थ तात्पर्य अवगत न हो सकने के कारण, पूर्ववर्ती सुधिगण में से भी किसी ने उनको केश का अवतार, किसी ने क्षीरोदशायी विष्णु का अवतार और फिर किसी ने वामन देव का अवतार; किसी ने वैकुण्ठाधीश नारायण का अवतार—इत्यादि प्रकार नाना

अवतारों के स्वरूप में उन्हें व्यक्त किया है।^१

इससे यही प्रमाणित होता है कि,—

(१) कृष्ण या उनकी विशेष कृपा के अतिरिक्त कृष्ण को प्रकृष्ट रूप में कोई नहीं जानता।

इसलिये इस विषयमें अपनी अपनी उपलब्धि के परिमाणानुसार इस प्रकार नाना जनों की नाना प्रकार की उक्ति स्वाभाविक ही है।

स्वयं भगवान् के शरीर में सभी अवतारों की स्थिति।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि केवल स्वयं भगवान् के आविर्भाव के समय श्री नारायण आदि दूसरे सभी अवतार उनमें मिलित होकर भू-भारहरणादि कार्य किया करते हैं। इसीलिये समस्त भगवत्-स्वरूप सर्वाश्रय श्रीकृष्ण में अवस्थान करते हैं। केवल स्वयं भगवान् के सम्बन्ध में ही यह विशेषत्व है।

‘पूर्ण भगवान् अवतरे जेई काले।

आर सब अवतार ताते आसि मिले॥

नारायण चतुर्व्यूह मत्स्याद्यवतार।

युग-मन्वन्तरावतार यत आछे आर॥

सभे आसि कृष्ण-अंगे होय अवतीर्ण।

ऐछे अवतरे कृष्ण भगवान् पूर्ण॥’ (श्री चै० १।४।६-११)

१. उक्त सब भ्रान्त मतवाद के खण्डन के विषय में विस्तारित आलोचना श्रीमद्रूप गोस्वामि चरण कृत ‘श्री लघु भागवतामृत’ में और श्री जीवपादकृत ‘श्रीकृष्ण सन्दर्भ’ में देखना चाहिये।

तात्पर्य—पूर्ण अवतार जिस समय अवतीर्ण होते हैं। उनके साथ और जितने भी अवतार हैं सब आकर मिल जाते हैं। नारायण, चतुर्व्यूह, मत्स्य आदि अवतार, युग-मन्वन्तरावतार तथा और भी जितने अवतार हैं वह सभी आकर श्रीकृष्ण के अंग में समाकर अवतीर्ण होते हैं इस तरह श्रीकृष्ण जो पूर्ण अवतार है, अवतीर्ण होते हैं।

अतएव यही समझ में आता है कि जिसमें जिस अवतार के अनुभव करने के योग्य जिस प्रकार की भक्ति का विकास है, उसके एक ही परिपूर्णरूप श्रीकृष्ण को उसी रूप में ही उपलब्धि की है।

‘एहो तो भक्तेर वाक्य—नहे न्याभिचारी।

सकल सम्भवे ताते जाते अवतारी॥

अवतारीर देहे सब अवतारेर स्थिति।

केहु को न मते कहे, जे मन जार मति॥’

(श्री चै० १।२।६३-६४)

तात्पर्य—यह भी भक्त का वाक्य है। गलत नहीं हो सकता। अवतारी के लिये सभी कुछ सम्भव है। अवतारी के देह में सारे अवतारों की स्थिति है। कोई किसी भी तरह कहे जिसकी जैसी बुद्धि हो।

अतएव इसके द्वारा भी यही प्रतिपन्न होता है कि—

(२) श्रीकृष्ण ही सर्वावतारी—सर्वाश्रय और स्वयं भगवान हैं।

श्रीकृष्ण चैतन्य और उक्त नाम धारण करने की सार्थकता।

इसी तरह श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु की स्वयं भगवत्ता के सम्बन्ध में शास्त्र प्रमाणादि का अभाव नहीं है जिसके विषय में

विस्तृत आलोचना बाद में अन्यत्र प्रदर्शित की जायगी। श्रीकृष्ण से उनका स्वरूप अभिन्न है, इस सम्बन्ध में यहाँ केवल दिग्दर्शनार्थ साधारण भाव से कई एक बात की आलोचना की जाती है। श्रीकृष्ण के विषय में पूर्ण ज्ञान या परिपूर्ण चेतना और उनके प्राप्ति का प्रकृष्ट उपाय शास्त्र में निहित रहने से, श्री चैतन्य के आविर्भाव के पहले उनका यथार्थ स्वरूप जगत् में प्रकाश नहीं हुआ था क्योंकि श्रीकृष्ण को पूर्णरूप में कृष्ण के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जानता। इसलिये जो प्रकृष्टरूप में उनको जानता हैं और केवल उपदेश से ही नहीं अपितु स्वयं आचरण करके प्रकृष्ट रूप में उनके पाने का उपाय भी प्रदर्शन कर देते हैं; वह आविर्भाव विशेष में उन्हीं श्रीकृष्ण को छोड़कर दूसरे और कोई नहीं हैं—उनके आचरण से और 'श्रीकृष्ण चैतन्य' नाम धारण करने से ही यह बात आसानी से प्रमाणित होती है।

‘युग धर्म प्रवर्तन होय अंश होईते।

आमा बिना अन्ये नारे ब्रज प्रेम दिते॥

(श्री चै० १।३।२०)

तात्पर्य—युग का धर्म तो अंश द्वारा प्रचार हो सकता है किन्तु मेरे बिना 'ब्रज प्रेम' कोई नहीं दे सकता।

युग धर्म का प्रवर्तनादि कार्य अंशादि दूसरे अवतारों से ही सम्पादित होता है किन्तु 'ब्रज प्रेम' रूप जो भक्ति की परमावस्था है और जो स्वयं भगवान को वश करने का एकमात्र उपाय है, वह एकमात्र अवतारी कृष्ण के अतिरिक्त दूसरे किसी अवतार द्वारा अदेय वस्तु है। इसलिये दूसरों द्वारा अदेय, ब्रह्मादि वांछित 'ब्रज प्रेम' जिन्होंने बिना विचार अनित्य जगत् में विपुल भाव से वितरण

करके परमाश्चर्य औदार्य प्रकाश किया है; वह स्वयं श्रीकृष्ण से अभिन्न ही हैं, दूसरे कोई नहीं है। यह बात इसके द्वारा स्वतः ही प्रतिपन्न होती है। इसके साथ ही साथ कृष्ण के विषय में प्रकृष्ट चेतना और पूर्णज्ञान भी जीव-जगत् को प्रदान किया जाता है, यह बात उनके 'श्रीकृष्ण चैतन्य' नाम से समझ में आ सकती है। यह भी कृष्ण से उनका अभिन्न-स्वरूपत्व का दूसरा एक विशेष प्रमाण है।

‘शेष लीलाय नाम धरे श्रीकृष्ण चैतन्य।

कृष्ण जानाये सब विश्व कैल धन्य॥

(श्री चै० १।३।२७)

तात्पर्य—शेष लीला में श्री निमाई का नाम श्रीकृष्ण चैतन्य हो गया। उन्होंने विश्व को श्रीकृष्ण के विषय में वह ज्ञान कराया जो अब तक अविदित था और इस तरह विश्व को धन्य कर दिया।

स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ही आविर्भाव विशेष में श्रीकृष्ण चैतन्य हैं।

अब विवेच्य विषय यह है कि जब श्रीकृष्ण ही वेदादि-शास्त्र-प्रमाणित स्वयं भगवान् या सर्वावतारी हैं और 'स्वयं भगवान्' एक से अधिक होते नहीं तब उनका विशेष आविर्भाव ही हो सकता है। इसलिये यही एक कृष्णस्वरूप ही आविर्भाव विशेष में श्रीकृष्ण चैतन्य रूप से प्रतिभात होते हैं।^१ कृष्ण से गौरकृष्ण का स्वरूपतः

१. 'श्रीकृष्णाविर्भाव विशेष एवायं गौर इत्यायाति।'

(श्री जीवगोस्वामिपाद कृत तत्त्व-सन्दर्भीय सर्वसम्वादिनी)।

अर्थ,—श्री गौर—श्रीकृष्ण का आविर्भाव विशेष है।

किसी प्रकार का भी भेद न होने के कारण उन्हें स्पष्टतः कृष्ण-स्वरूप' कहकर ही नमस्कार किया गया है,—'नौमि कृष्ण स्वरूपम्।' (चै० १।१।५)। इसके साथ ही साथ कृष्ण के इस आविर्भाव की विशेषत्व भी यहाँ व्यक्त की गयी है 'तद्वयं चैक्यमाप्तं' एवं 'राधाभावद्युति सुवलितं' (चै० १।१।५)—इत्यादि। अर्थात् कृष्ण के इस विशेष आविर्भाव का विशेषत्व क्या है? श्री राधाकृष्ण में एकीभूत होकर—श्री राधिका के भाव और कान्तिद्वारा परिमण्डित होने के कारण कृष्ण होकर भी वह गौरकृष्ण हैं। तभी तो श्री गौर-सुन्दर आविर्भाव विशेष में श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण अभिन्न स्वरूप हैं, ('अन्तः कृष्णं वहिगौरमिति' इसलिये वह 'स्वयं भगवान्' ही हैं।

अतएव, वह कृष्ण के कोई 'आवेशावतार नहीं है, इसीलिये शास्त्रोक्त आवेशावतारों में उनके नाम का उल्लेख नहीं है; वह कृष्ण के स्वांश या विलासमूर्ति भी नहीं हैं, तभी तो शास्त्रोक्त 'तदेकात्मरूप' सभी अवतारों में भी उनका उल्लेख नहीं देखा जाता है; यहाँ तक कि जिनका स्वयरूप से किसी प्रकार का भेद नहीं है, ऐसा श्रीकृष्ण की प्रकाश मूर्तियों में भी वह नहीं है; यही कारण है कि उनका वर्णन श्रीकृष्ण की प्रकाश-मूर्तियों में भी नहीं पाया जाता। साक्षात् श्रीकृष्ण ही अपने आविर्भाव विशेष में श्री गौर रूप में प्रतिभात होने से—शास्त्रोक्त श्रीकृष्ण के स्वरूप और महिमादि के वर्णन को उनके अभिन्न श्री गौर का ही वर्णन समझना चाहिये। कृष्णकथा ही गौर कथा है इसलिये शास्त्र में कृष्णकथा के अतिरिक्त गौरकथा के कीर्तन का कोई प्रयोजन नहीं हुआ।

श्री गौरकृष्ण 'छन्न' अवतार होने के कारण वेदादि शास्त्रों में 'छन्न'-लक्षण से निर्देश।

किन्तु श्रीकृष्ण में जिन वैशिष्ट्य का प्रकाश नहीं होता, वही श्रीगौर कृष्ण रूप उनके इस सीमाप्राप्त आविर्भाव का विशेषत्व है जो गौर-कथा रूप में अर्थात् श्री गौर सुन्दर के शास्त्र-प्रमाण रूप में वेदादि सभी शास्त्रों में परिगीत हुआ है।^१ अवतारी कृष्ण और उनके सब अवतारों का प्रपंच में अवतरण प्रकाश भाव में ही होता है। इसलिये शास्त्र में भी स्पष्ट रूप से उनका उल्लेख देखा जाता है। तब भी परोक्ष-प्रियता के कारण वेद में कृष्ण को आवृत्त रखने के कारण उनके यथार्थ स्वरूपादि की उपलब्धि साधारणतः दुर्लभ ही होती है। किन्तु गौर कृष्ण रूप इनका यह नित्य आविर्भाव विशेष स्वयं ही भक्त भाव में और सर्वकान्ता—शिरोमणि श्री राधारानी के भाव और कान्ति द्वारा 'छन्न' (गुप्त) है। इसलिये इस प्रच्छन्नता का आवरण हटा करके उनके विषय में उपलब्धि करना पहले की अपेक्षा अधिकतर दुर्लभ होना स्वाभाविक ही है। अवतारी कृष्ण का गौरकृष्णरूप केवल इस विशेष आविर्भाव को छोड़कर दूसरा कोई भी भगवत्-स्वरूप 'छन्न' (गुप्त) नहीं है। (छन्नः कलौयदभवः। (भा० ७।६।३८)। इसलिये सभी शास्त्रों में उनके इस 'छन्न' लक्षण का व्यतिक्रम न करके उनके विषय में प्रायशः केवल विशेषण से ही सविशेष्य वर्णित होते देखा जाता है।^१ उक्त

१. भागवत, भारत शास्त्र, आगम पुराण।

चैतन्यकृष्ण अवतारे प्रकट प्रमाण॥ (चै० १।३।६७)

२. श्री करभाजन में इसी तरह छन्न लक्षण में ही उनका वर्णन करके इस बात का स्वयं उल्लेख कर दिया है कि यह नानाशास्त्र सम्मत है,— 'नानातंत्र विधानेन कलादपि यथा शृणु॥' (भा० ११।५।३१)

दोनों कारणों से कृष्ण के विषय में उपलब्धि से भी गौरकृष्ण की उपलब्धि अधिकतर सुदुर्लभ और सौभाग्य सापेक्ष ही समझना चाहिये। यहाँ तक कि साक्षात् बृहस्पति सम श्रीलवासुदेव सार्वभौम की तरह महामनीषी ने भी पहले उन्हें न समझ सकने का अभिनय किया था।^१

**श्री राधिका के भाव और कान्ति द्वारा छन्न—
श्री राधाकृष्ण 'एकीभूत' तनु ही—श्री गौर-स्वरूप।**

विद्वदनुभव प्रमाण से भी स्वयं भगवान श्री कृष्ण का ही अभेद आविर्भाव विशेष श्री गौरकृष्ण के सम्बन्ध में महानुभव श्रील स्वरूप गोस्वामी के हृदय में जो उपलब्ध हुआ है, वह श्री चरितामृत धृत उनके कड़चा के एक श्लोक से अवगत हो जाता है; यथा,—

राधाकृष्ण प्रणय विकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मा-
देकात्मानावपि भूवि पुरा देह भेदं गतौ तौ।
चैतन्याख्यं प्रकट मधुना तद्द्वयं चैक्य माप्तं-
राधाभावद्युति सुवलितं नौमि कृष्ण स्वरूपम्॥

इसका अर्थ,—श्री राधा, कृष्ण प्रणय की प्रगाढ़तम अवस्था अर्थात् महाभाव स्वरूपा हैं; इसलिये यह श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति हैं। शक्ति और शक्तिमान के अभेदत्व के कारण वह (दोनों) एकात्मा हैं। एक आत्मा होने पर भी वह फिर अनादि काल से ही गोलोक में प्रथक देह से विराजमान रहते हैं। अब वही दोनों देह (श्री राधाकृष्ण) एकीभूत होकर श्री चैतन्य नाम से प्रकटित हुये हैं। ऐसे

१. श्री चरितामृत। मध्य, छठवां परिच्छेद द्रष्टव्य।

श्री चैतन्य को जो राधाभाव-कान्तियुक्त कृष्ण स्वरूप हैं, उन्हें नमस्कार है।

उक्त श्लोक से यही जाना जाता है कि ह्लादिनीशक्ति या तदधिष्ठात्री रूप राधिका के साथ शक्तिमान श्रीकृष्ण के अभेदत्व या एकात्मा की बात ही पहले बतायी गयी है।

तदन्तर गोलोक में दोनों की नित्य पृथक् देह के विषय में भी कहा गया है।

सर्वश्रेष्ठ में श्री गौररूप की बात बतायी गयी है। यह कैसे है?—इस समय वही दोनों (राधाकृष्ण) एकीभूत होकर (‘तद्वयं चैक्यमाप्तं’) चैतन्य नाम से प्रकट हुये हैं। दोनों एकीभूत होकर जो केवल श्री राधिका के भाव और कान्तियुक्त हैं (‘राधाभावद्युति सवलितं’) उन श्रीकृष्णस्वरूप श्री चैतन्य को नमस्कार है। इस जगह यह भी समझ लेना चाहिये कि उक्त दोनों अलग-अलग देह की अवस्था से दोनों देहों के एकीभूत होने की मध्यवर्ती ‘एक अवस्था’ भी उसमें गुप्त है। अर्थात् दोनों के बिल्कुल एकीभूत होने से पहले, एकीभूत हो रहे हैं, ऐसी भी एक अवस्था है (इस विषय का उल्लेख बाद में किया जायगा)।

इस तरह से अब यह हमारी समझ में आ गया कि भक्तभाव में अर्थात् श्री राधिका के भाव और कान्तिभाव में अर्थात् श्री राधिका के भाव और कान्ति द्वारा प्रच्छन्न स्वयं भगवान श्रीकृष्ण राधा का एकीभूत तनु ही श्री गौर-स्वरूप है।

उक्त प्रकार स्वेच्छा से भक्तभाव में ‘छन्न’ होने पर भी, सभी भक्तिमान सुमेधा के प्रेम नेत्र के सामने उनकी इस प्रच्छन्नता के हटने में देर नहीं लगती है। यह बात भी समझ में आती है कि

उक्त श्रील स्वरूप गोस्वामिपाद की उपलब्धि ही, श्रील रायरामानन्द के प्रेम-दृष्टि में यथाक्रम से प्रतिभात हुयी थी।

श्री रायरामानन्द के दर्शन में उक्त आविर्भाव विशेष की क्रमिक अभिव्यक्ति।

श्री श्रीमन्महाप्रभु के साथ साध्य साधन के विषय के बातचीत होने के पश्चात् श्रील रामानन्दराय ने उनसे पूछा,—

“एक संशय मोर आछये हृदये।
कृपा करि कहु मोरे ताहार निश्चये॥
पहले देखिलू तोमा संन्यासी स्वरूप।
एबे तोमा देखि मुई श्याम गोपरूप॥
तुमार सम्मुखे देखी काचन-पंचालिका।
तार गौर कान्त्ये तोमार श्यामअंग ढाका॥
ताहाते प्रकट देखि संवंशीबदन।
नानाभावे चंचल ताहे कमल नयन॥
एई मत तोमादेखि होय चमत्कार।
अकपटे कहो प्रभु कारण इहार॥”

(श्री चै० २।८।२२०)

तात्पर्य—एक संशय मेरे हृदय में है। कृपा करके उसका निश्चय कीजिये। पहले मैंने आपको संन्यासी के रूप में देखा। अब आपको श्याम गोपरूप में देख रहा हूँ। आपके सामने एक सोने की प्रतिमा है उनके गौर कान्ति से आपका श्याम अंग ढका है। गौरकान्ति से ढके हुये वंशी सहित आप दिख रहे हैं। और आपके कमल नयन, नाना भाव से चंचल हो रहे हैं। इस प्रकार आपको देखकर मुझे

बड़ा विस्मय हो रहा है आप बिना छिपाये बताइये कि इसका क्या कारण है?

उक्त विवरण से यह समझ में आ सकता है कि ब्रजलीला के जो श्रीकृष्ण-स्वरूप अपने आविर्भाव विशेष में जिस भाव से श्री गौर-स्वरूप में चिररूपान्तरित रहते हैं, उन्हीं ने अपनी विशेष कृपा से श्रील रामानन्द के प्रेम नेत्र के सामने क्रमशः उसे प्रकटित कर दिया था।

श्रील राय रामानन्द को प्रथम दर्शन में तो संन्यासी, मूर्ति के स्थान में एक 'श्याम गोपरूप' अर्थात् गोपरूप श्याम सुन्दर श्रीकृष्ण की स्फूर्ति हुयी थी। तदनन्तर द्वितीय दर्शन में उन्हीं कृष्ण के सन्निकट में स्वर्ण प्रतिमा-स्वरूप श्री राधिका अर्थात् श्रीकृष्ण के सहित श्री राधिका का पृथकरूप में दर्शन हुआ था।

ब्रजलीला में श्री विशाखा स्वरूप में रामानन्द का यह तो नित्य दर्शनीय वस्तु है; इसलिये सहसा इस रूप में अपने नित्य सेव्य उन युगलरूप-माधुरी को अपने आँखों के सामने आविर्भूत देखकर वह परमानन्दित तो हुये किन्तु विस्मित नहीं हुये; इसका कारण यह है कि श्री राधाकृष्ण युगल सेवा का परमानन्द, वह विशाखा रूप में ब्रजलीला में नित्य भोग किया करते हैं। इसलिये यह उनकी चिरपरिचित वस्तु है और इस आनन्द के उपभोग में भी वह चिर अभ्यस्त हैं।

इसके पश्चात् तृतीय दर्शन में जो स्फूर्ति हुई, वह बिल्कुल नयी बोध होने के कारण उसके दर्शन से रामराय इस बार विस्मित हो गये। उन्होंने देखा कि उस स्वर्णगौरांगी श्री राधा की गौरकान्ति की छटा में श्रीकृष्ण का श्याम अंग ढक गया है। उस समय भी दोनों

बिल्कुल मिल नहीं गये थे इसलिये सौदामिनी के आलोक में समाच्छन्न नीलाम्बर की तरह, उनके मुख में वंशी उसी प्रकार संलग्न थी। नाना भाव विलास में तरंगायत नयन कमल तब भी संचंचल दिखायी पड़ते थे। यह गौरसुन्दर का अपने रूप के ठीक पहले का रूप है। कृष्ण से गौर स्वरूप में रूपान्तरित होने की यह मध्यवर्ती अवस्था है। श्रीराधाकृष्ण युगल के इस अभिनव मिलनावस्था के दर्शन से श्री रामराय ने चमत्कृत होकर अकपट इसका कारण बताने के लिये श्री श्रीमन्महाप्रभु से अनुरोध किया था।

छन्नत्व के कारण आत्मगोपन में समुत्सुक श्री गौर सुन्दर ने इसके उत्तर में बताया कि इसमें कोई ऐसी कोई विशेष बात नहीं है। जो महाभागवत होते हैं, उन्हें सर्वत्र ही कृष्ण-स्फूर्ति होती है। इसलिये,—

राधाकृष्णो तोमार महाप्रेम होय।

जाहा ताहां राधाकृष्ण तोमारे स्फूरय॥

(श्री चै० २।८।२२८)

तात्पर्य—श्री राधाकृष्ण में तुम्हारा बहुत प्रेम है इसलिये जहाँ-तहाँ उन्हीं की स्फूर्ति होती है।

उनको अपने इतने निकट पाकर राय उनको इतनी आसानी से छोड़ने वाले व्यक्ति न थे। उन्होंने महाप्रभु की इस बहकाने वाली बात से निरस्त न होकर और भी अधिक आग्रह सहित कहा,—

राय कहे तुमि प्रभु छाड़ भारि भूरि।

मोर आगे निजरूप न करिहो चूरि॥

राधिकार भाव-कान्ति करि अंगीकार।

निज रस आस्वादिते करियाछ अवतार॥

निज गूढ़ कार्य तोमार प्रेम आस्वादन।
 आनुषंगे प्रेममय कैले त्रिभुवन॥
 आपने आईले मोरे करिते उद्धार।
 एबे कपट कर तोमार कोन व्यवहार॥”

(श्री चै० २।८।२२६)

तात्पर्य—श्री राय रामानन्दजी ने कहा—प्रभू मुझसे चालाकी न कीजिये मुझसे अपना रूप न छिपाइये। मैं समझ गया आपने श्री राधिका जी का भाव और कान्ति अंगीकार करके अपने रस का आस्वादन करने के लिये अवतार लिया है। आपका गूढ़ कार्य अपने प्रेम रस का आस्वादन है और आनुसंगिक रूप में जगत को प्रेमदान करके धन्य करना है। आप स्वयं मेरा उद्धार करने के लिये मेरे पास आये हैं और अब कपट कर रहे हैं, यह आपका कैसा व्यवहार है?

भक्त के इस अभिमान भरे आग्रह वाक्य से भगवान पराजित हो गये। तब प्रेम से मुस्कराते हुए अपना स्वरूप राय को प्रत्यक्ष कराया।

“तबे हांसि तारे प्रभु देखाइला स्वरूप।

रसराज महाभाव दुई एक रूप॥

देखि रामानन्द होईला आनन्द मूर्छिते।

धरिते न पारे देह, पड़िला भूमिते॥

प्रभु तारे हस्तस्पर्श कराइल चेतन।

संन्यासीर वेश देखि विस्मित होयेल मन॥”

(श्री चै० २।८।२३३)

तात्पर्य—तब प्रभू ने हँसकर रसराज और महाभाव दोनों एक

रूप में अपना स्वरूप दिखाया। उनको देखकर श्री रायरामानन्द जी आनन्द से मूर्च्छित हो गये। बैठे न रह सके, पृथ्वी पर गिर पड़े। तब प्रभू ने हँसकर उनको स्पर्श करके चेतन किया। वे पुनः श्री गौर को संन्यासी रूप में देखकर विस्मित हो गये।

श्रीमन्नमहाप्रभु ने अपने स्वरूप की पूर्ववर्ती तीन अवस्था यथाक्रम से प्रदर्शन कराकर शेष में विशेष कृपा करके श्री रामराय को साक्षात् अपना स्वरूप दर्शन करा दिया।

इस चतुर्थ दर्शन में राय ने देखा कि पूर्वदृष्ट वह साक्षात् रसराय मूर्ति श्री नन्द-नन्दन और साक्षात् महाभाव स्वरूपिणी श्री वृषभानुनन्दनी, यह दोनों एकीभूत होकर एक तप्त कांचन समुज्ज्वल गौर-मूर्ति में दिखायी दे रहे हैं।^१ दोनों इतने निविड़ (गाढ़े) भाव से सम्मिलित हैं कि कौन राधा हैं और कौन कृष्ण हैं; इसका भेद उस समय बिल्कुल परिलक्षित नहीं है, केवल राधिका की कनक कान्ति का प्रकाश सारे अंग में लक्षित हो रहा है। भाव भी ठीक उन्हीं वृषभानुनन्दिनी के ही अनुरूप है। इसके अतिरिक्त सभी एकाकार है।^२

१. 'प्रेम-विलास-विवर्त्त'। यह अन्यत्र बाद में विस्तृत भाव से आलोचित होगा।

२. श्री चरितामृत प्रभृति ग्रंथ में श्री गौरांग को कहीं तो श्री राधिका के भाव-कान्तियुक्त और कहीं-कहीं राधाकृष्ण एकीकृत प्रभृति बताया गया है; यथा,—

'राधा भाव-कान्ति दुई अंगीकार करि। (श्री चै० १।४।८६))

'सेई राधा भाव लुईया चैतन्यावतार' (चै० १।४।१७६)

'राधा भाव अंगीकरि धरितारवर्ण।' (चै० १।४।२१३)

'राधिका स्वरूप होईते तबे मन धाय।' (चै० १।४।१२७)

जल सुशीतल होने पर भी जब जमकर बर्फ हो जाता है, तब जिस प्रकार उसमें अधिकतर ठण्डक का अनुभव होता है, उसी प्रकार यह पता चलता है कि पूर्व प्रदर्शित विषय के अनुभवानन्द से इस गौररूप के दर्शन का आनन्द अधिक होने से राम राय मूर्च्छित होकर गिर पड़े थे।

श्रीमन्महाप्रभु के श्रीकर स्पर्श से जब उन्हें फिर चेतना आयी तब उनका उसी पूर्वदृष्ट संन्यासी रूप में ही दर्शन करके वह विस्मित हो गये थे।

परतत्त्व की सीमा प्राप्त परमावस्था ही—

श्री गौर स्वरूप।

यही श्री गौर स्वरूप ही जो श्रीकृष्ण का विशेष आविर्भाव

‘फिर सेई होई (राधाकृष्ण) एक एबे चैतन्य गोसाई’।

(चै० १।४।५०)—इत्यादि। श्री चैतन्य चन्द्रामृत में कहा गया है,— ‘एकीभूतं वपुरवतु वो राधया माधवस्थ।’ यहाँ राधा माधव एकीभूत बताये गये हैं।

इसका समाधान,—श्रीपाद स्वरूप दामोदर गोस्वामी के कड़चा श्लोक में पाया जाता है। ‘चैतन्याख्यं प्रकट मधुना तद्वयं चैक्यमाप्तं।

राधाभावद्युति सुवलितं नौमि कृष्ण स्वरूपम्॥”

तात्पर्य यह है कि इस समय यही दोनों (राधाकृष्ण) एकीभूत होकर श्री चैतन्य नाम से प्रकट हुये हैं। (दोनों इस प्रकार एकीभूत हैं कि राधाकृष्ण का पृथक् स्वरूप अर्थात् कौन राधा है और कौन कृष्ण है, इसकी इस समय उपलब्धि न होने पर भी) वह सब केवल राधिका के भाव और कान्ति धारणपूर्वक विराजमान हैं। इन कृष्ण स्वरूप श्री चैतन्य को नमस्कार है।

अतएव पूर्वोक्त समस्त उक्ति का भी इससे समाधान हो जाता है।

है परतत्त्व के सभी उत्कर्ष की विश्राम या सीमाप्राप्त अवस्था है। परतत्त्व की परमावस्था के सम्बन्ध में इससे अधिक और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता। इसीलिये श्री चरितामृत में कहा गया है,—

‘न चैतन्यात् कृष्णज्जगति पर तत्त्वं परमिह।’ (१।१।३)

अर्थात् इस जगत् में श्री चैतन्यरूपधारी-कृष्ण से श्रेष्ठ परतत्त्व और कुछ नहीं है। श्रीकृष्ण चैतन्य के सम्बन्ध में आपाततः (इस समय-फिलहाल) यहाँ तक ही लिखा जाता है।

श्रीकृष्ण के श्रीगौरकृष्णरूप इस आविर्भाव विशेष का कारण।

अब उक्त आविर्भाव विशेष के कारण के सम्बन्ध में इसी प्रकार संक्षेप में ही किञ्चित् दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है। विस्तृत आलोचना श्री चरितामृत प्रभृति मूल ग्रंथ में देखना चाहिये।

श्री कृष्ण हैं सर्वसेव्य—सर्व प्रभु।

‘एकले ईश्वर कृष्ण आर सब भृत्य।’

(चरितामृत १।५।१२१)

वह भक्तों की भक्ति द्वारा सेवित होकर सुखी होते हैं, और भक्तगण उनकी सेवा भक्ति द्वारा करके सुखी होते हैं। इसलिये कृष्ण सेवा-सुख के कृष्ण ‘विषय’ हैं और वही भक्तों के हृदय में आश्रय करने के कारण भक्तगण सुख के ‘आश्रय’ हैं।^१ इसलिये कृष्ण केवल

१. ‘यत्र विषये भावो भवति स विषयालम्बनविभावः कृष्ण।

यो भावयुक्तो भवत स अश्रया-लम्बन विभाव भक्तः।

(भक्ति रसामृत सिन्धु विन्दुः १४)

‘विषय’ जातीय सुख को और भक्तगण केवल ‘आश्रय’ जातीय सुख का आस्वादन करते हैं।

फिर भक्तगण द्वारा सेवित होकर कृष्ण जिस परिमाण में सुखास्वादन करते हैं, भक्त लोग उनकी सेवा करके उनकी अपेक्षा अनेक अधिक सुखास्वाद किया करते हैं। यह प्रत्यक्ष सिद्ध बात है कि जैसे सुख का ‘विषय’ पुत्र अपनी माता का प्रेम पाकर जिस परिमाण में सुखी होता है उससे अधिक सुख माता जो उस सुख का आश्रय है अपनी सन्तान से प्रेम करके अनुभव किया करती है। अतएव ‘विषय’ जातीय सुख के, श्रीकृष्ण परिपूर्णरूप से आस्वादक होने पर भी, उस अवस्था में उन्हें ‘आश्रय’ जातीय सुख का अभाव बोध होना अनिवार्य है। सर्वभक्तशिरोमणि श्री राधिका ही ‘आश्रय’ जातीय-सुख की परिपूर्ण आस्वादिका हैं।

इसलिये ‘आश्रय’ जातीय-सुखास्वादन-प्रलुब्ध श्रीकृष्ण का उसकी प्राप्ति के लिये यह प्रयोजन होता है कि उसकी अधिकारिणी-महाभाव-स्वरूपा श्री राधिका के साथ एकात्म अर्थात् एकीभूत होकर उनके प्राधान्य में^१ उनकी भाव-कान्ति धारण पूर्वक उनके भाव के आश्रय से ‘आश्रय’ जातीय सुख आस्वादन करें। तभी तो श्री चरितामृत में कहा है,—

‘सेइ प्रेमर श्री राधिका ‘परमाश्रय’।

सेइ प्रेमर आमि होइ केवल ‘विषय’॥

विषय जातीय सुख आमार आस्वाद।

आमा होइते कोटिगुण आश्रेर आह्लाद॥

१. ‘गौराङ्गी कालिया, मिशाल होइया गौराङ्गी सरस भेल।’—
(भक्तमाल २ य माला)

आश्रय जातीय सुख पाईते मन धाय।
यत्ने आस्वादिते नारि की करि उपाय॥
कभू यदि एई प्रेमार होईये 'आश्रय'।
तबे सेई प्रेमानन्देर अनुभव होय॥

(श्री चै० १।४।११४)

तात्पर्य—उस प्रेम की श्री राधिका जी 'परम आश्रय' है, और मैं उस प्रेम का 'विषय' हूँ। विषय जातीय सुख का मैं आस्वादन करता हूँ किन्तु आश्रय जातीय सुख, मेरे सुख से कोटि गुण सुख देने वाला है। आश्रय जातीय सुख पाने का मेरे बड़ा ही मन है। यत्न से आस्वादन करना चाहता हूँ पर कर नहीं पाता। कभी यदि इस प्रेम का 'आश्रय' होऊँ, तब इस प्रेमानन्द का ठीक अनुभव कर पाऊँ।

श्रीकृष्ण स्वरूप में अपूर्ण तीन इच्छाओं का पूर्ण करना ही—श्री गौरकृष्णरूप इस आविर्भाव विशेष का मुख्य प्रयोजन।

एकमात्र उक्त उपाय अवलम्बन द्वारा ही श्रीकृष्ण यह उपलब्धि करने में समर्थ होते हैं कि—

- (१) श्री राधिका की प्रेम-महिमा कैसी है?
- (२) इस प्रेम द्वारा श्री राधा जिस अद्भुत माधुर्य का आस्वादन करती है, वह माधुर्य कैसा है?
- (३) हमारा ऐसा माधुर्य आस्वादन करके श्री राधिका को जो सुख प्राप्त होता है वह सुख किस प्रकार का है?

१. 'श्री राधायाः प्रणय महिमा'—इत्यादि। (चै० १।१।६) दृष्टव्य।

उक्त तीन अपूर्ण वांछा पूर्ण करने की लालसा से श्रीकृष्णचन्द्र श्री राधा से एकीभूत और उनकी भाव-कान्ति से विमण्डित होकर श्री शचीगर्भसिन्धु से श्री गौरचन्द्र रूप में आविर्भूत हुये।

श्रीकृष्ण स्वरूप में वह केवल आस्वाद्य होने से अर्थात् 'विषय' जातीय सुख में ही पूर्ण रहने से उक्त तीनों प्रकार की वांछा उस अवस्था में अपूर्ण रहती हैं किन्तु श्री गौररूप में उक्त वांछात्रय के पूर्ण होने से वह 'आश्रय' जातीय सुख के भी आस्वादक हो जाते हैं। इसलिये आस्वाद्य या 'विषय' और आस्वादक या 'आश्रय'—इन दोनों जातीय सुख में ही परमतत्त्व का परमस्वरूप है—इस भाव में 'परमास्वाद्य' होकर भी 'परमास्वादक' रूप में नित्य ही परिपूर्ण रहते हैं। रसस्वरूप परतत्त्व की परमावस्था का यह रसास्वादन ही श्री चैतन्य अवतार का मुख्य प्रयोजन है।^१

आनुषङ्गिक या गौण प्रयोजन—जीव को श्री नाम और प्रेमदान।

और इस अवस्था में श्रीकृष्ण के विषय में पूर्णरूप से ज्ञान कराने के साथ अन्य द्वारा अदेय ब्रजप्रेम, केवल अपने नाम से ही समुदित कराकर बिना किसी विचार के उसे जीव जगत में प्रदान करना ही उनके अवतरण का आनुषङ्गिक या गौण प्रयोजन है। उनके इस गौण प्रयोजन द्वारा जीव का मुख्य या परम प्रयोजन सुसिद्ध हो जाता है।

१. श्री चरितामृत १।४।१७६-१८३ और ऐ १।४।४-५ दृष्टव्य।

श्री भगवान् के ऐश्वर्य से माधुर्य ही प्रधान है।

ऐश्वर्य का प्रकाश ही ईश्वरत्व का साधारण लक्षण है। ऐश्वर्य के अनुभव से ही ईश्वर को जाना जाता है। ऐश्वर्य के अनुभव द्वारा ही षडैश्वर्यपूर्ण श्री भगवान् को जगत् भगवान् समझ सकता है। तभी तो ईश्वर के ऐश्वर्य ज्ञान से ही प्रायः सारा जगत् पूर्ण है। भगवान् जिस प्रकार ऐश्वर्यमय हैं; उसी प्रकार नित्य माधुर्यमय भी वह हैं। इसलिये स्वांशादि सभी भगवत् स्वरूपों में ऐश्वर्य का प्रकाश ही अधिक रहता है किन्तु जिस स्वरूप में ऐश्वर्य के साथ साथ माधुर्य का जितना अधिक प्रकाश लक्षित होगा, उस स्वरूप में भगवत्ता की पूर्ति भी उसी परिमाण में अधिक समझना चाहिये।^१

जहाँ पूर्णेश्वर्य के साथ पूर्ण माधुर्य का प्रकाश है, वही भगवान् का परिपूर्णस्वरूप है। श्री भगवान् का यह सम्पूर्ण स्वरूप केवल ब्रजलीला में ही अभिव्यक्त होने के कारण ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही 'स्वयं भगवान्' के रूप में शास्त्र में निर्दिष्ट हुये हैं।

‘माधुर्य’ का अर्थ ‘पूर्णेश्वर्यमय श्री भगवान्’ के नरभाव का अनतिक्रम है।

‘माधुर्य’ और ‘ऐश्वर्य’ शब्दों के विभिन्न अर्थ निरूपित हुये हैं। संक्षेप के उद्देश्य से केवल श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपादोक्त अर्थ ही यहाँ लिखा जाता है,—

‘महेश्वर्यस्य द्योतने वाद्योतने च नरलीलत्वानतिक्रमो

१. ‘माधुर्यं भगवत्ता सारं, ब्रज कैल प्रचार—इत्यादि। (चै० २।२१।६३)

माधुर्यम्।' (रागवर्त्म चन्द्रिका २।३)

अर्थात् जिस अवस्था में महैश्वर्य प्रकाश करने या न करने पर भी श्रीभगवान की नरलीला अर्थात् मनुष्य भाव का व्यतिक्रम न हो, उसे ही 'माधुर्य' कहते हैं।

इसलिये यह 'माधुर्य' या मनुष्य भाव केवल ईश्वर सम्बन्धीय समझना चाहिये। ऐश्वर्यविहीन केवल मनुष्य भाव या उनकी कोमलता आदि को 'माधुर्य' नहीं कहते। जैसे पूतना के प्राण-हरण-रूप महाऐश्वर्य प्रकाश के समय में भी स्तनपानरूप नरशिशु भाव। जैसे शकटासुर भंजनरूप महैश्वर्य के प्रकाश के समय भी उत्तानशायी तीन मास के नरशिशु का भाव या महादीर्घरस्सी से ब्रजेश्वरी द्वारा बन्धन के अशक्यावस्था रूप महैश्वर्य प्रकाश के समय भी नरशिशु की तरह माता के भय से विकलता। यही है माधुर्य।

फिर ऐश्वर्य के अप्रकाश के समय में दधिनवनीतादि चौर्यलीला में जैसे क्रीड़ा-चपल नरबालक भाव प्रभृति। इसका सार मर्म यह है कि ऐश्वर्य के प्रकाश या अप्रकाश की अवस्था में महैश्वर्यमय श्री भगवान का मनुष्योचित भाव का अव्यतिक्रम ही 'माधुर्य' है।

ऐश्वर्य का अर्थ है—श्री भगवान के नरभाव का व्यतिक्रम करके केवल ईश्वर में प्रकाश।

ऐश्वर्य का लक्षण इस प्रकार बताया गया है,—

“ऐश्वर्यन्तु नरलीलत्वस्यान पेक्षितत्वे सति ईश्वरत्वाविष्कारः”

(रागवर्त्म चन्द्रिका २।४)।

अर्थात् नरलीला की अपेक्षा न करके ईश्वरत्व का प्रकाश ही 'ऐश्वर्य' है।

जैसे जन्म के समय वसुदेव और देवकी को चतुर्भुजरूप दिखाकर 'ऐश्वर्य' का प्रदर्शन। जैसे अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन कराकर 'ऐश्वर्य' का प्रदर्शन।

श्री भगवान के केवल ऐश्वर्यज्ञान में प्रेम का शैथिल्य।

श्री भगवान के केवल ऐश्वर्यमय स्वरूप की उपलब्धि में, अर्थात् केवल ईश्वर-बुद्धि द्वारा हृदय को कपानेवाली सम्भ्रमादि के उदय होने से, भाव का संकोच होना अनिवार्य है। इसीलिये ऐश्वर्यज्ञान-प्रधान भक्ति द्वारा परमेश्वर और मनुष्य के बीच में जो संयोग स्थापित होता है, वह ऐसा सुदृढ़ नहीं हो सकता कि उसके द्वारा उनको परम आत्मीय समझकर प्राण सम निकटवर्ती किया जा सके। भगवान भी ऐसे भक्तों पर कृपा-करुणादि तो करते हैं किन्तु अपना जन समझकर उनके वशीभूत नहीं होते क्योंकि स्वजातीय भाव न होने से सम्मिलन की गाढ़ता पैदा नहीं होती।

श्री भगवान के माधुर्य-ज्ञान में अर्थात् उनकी नरभाव की उपलब्धि में प्रेम की गाढ़ता।

/ परमेश्वर को मनुष्यरूप में पाने से, अर्थात् पूर्ण ऐश्वर्यमय भगवान के 'माधुर्य' स्वरूप की उपलब्धि होने से मनुष्यरूपधारी

ईश्वर और मनुष्य का आपस में जिस भाव का विनिमय होता है, वह स्वजातीयता के कारण उसके द्वारा भगवान में और भक्त-मनुष्य में निकटतम सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्यों में आपस में जैसी प्रीति का सम्बन्ध होता है, वैसे ही इन 'मधुर' भगवान के साथ 'मेरा सखा', 'मेरा पुत्र', 'मेरा कान्त' इत्यादि प्रकार का परम ममतास्पद सम्बन्ध स्थापन द्वारा उनको प्राणों के भी प्राणरूप अत्यन्त निकटवर्ती करना सम्भव हो जाता है। दूसरी ओर केवल ऐश्वर्यज्ञान से 'मेरे परमेश्वर'—ऐसा सम्पर्क अस्वाभाविक है। अतएव मनुष्यरूपी ईश्वर या मधुर भगवान के प्रति मनुष्यों की जो भक्ति है, वह ममता से सम्बन्धित होने के कारण प्रगाढ़ होती है और तभी वह प्रीति, प्रेम, प्रणय प्रभृति नाम से कथित होती है; और श्रीभगवान भी इस भक्ति द्वारा वशीभूत हो जाते हैं।^१ मनुष्यों में आपस में प्रेम से मिलने में जिस प्रकार कोई भय, संभ्रम या तज्जनित संकोचादि नहीं रहता, उसी प्रकार जब पूर्ण ऐश्वर्यमय श्री भगवान नरलीलारूप पूर्ण माधुर्य के आवरण में अपने को 'मधुर' करके अपने भावानिष्ट भक्त के गोचरीभूत होते हैं तभी मनुष्य और भगवान में निकटतम संयोग होता है। 'माधुर्य प्रेम' का प्रभाव ही ऐसा है कि वह भगवान के 'माधुर्य' या मानवोचित भाव को अतिक्रम करके 'ऐश्वर्य' या ऐश्वरिक भाव का प्रकाश होने नहीं देता। फिर यदि किसी विशेष क्षेत्र में उसका प्रकाश हुआ भी, तो

१. इसीलिये श्रुति ने भी उनको 'भक्ति वश' कहा है,—'भक्तिवशः पुरुषः'—इत्यादि।—श्रुति।

भक्त लोग उनमें ईश्वर-बुद्धि न करके वैसी अवस्था में भी उनको निज जन रूप में ही समझा करते हैं।^१ परिपूर्ण ऐश्वर्यमय श्री भगवान का यह परिपूर्ण माधुर्यमय या 'मधुर' स्वरूप ही—श्रीकृष्ण है। उसे वह केवल ब्रजलीला में ही प्रकट किया करते हैं और इसे अनुभव करने योग्य परिपूर्ण माधुर्य भावमयी भक्ति या प्रीति केवल ब्रजवासियों में अवस्थित रहकर 'रागात्मिका' नाम से प्रसिद्ध है। यही दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर क्रम से उत्कर्ष प्राप्त होकर ब्रजरमागण में और उनमें भी श्री राधिका ही में सीमा या अवधि प्राप्त हुयी है। तदनुगा अर्थात् 'रागानुगा' भक्ति के अनुशीलन द्वारा जीव भी उसी तरह का अधिकार प्राप्त करने के योग्य हो जाता है। इस विषय में श्री चरितामृत में वर्णित श्रीकृष्ण की उक्ति;—
यथा,—

ऐश्वर्यज्ञाने ते सब जगत मिश्रित।
ऐश्वर्य शिथिलप्रेमे नाही मोर प्रीत।
आमारे ईश्वर माने—आपनारे हीन।
तार प्रेमे वश आमि न होई आधीन॥
आमाके तो जे जे भक्त भजे जेई भावे।
तारे से से भावे भजि ए मोर स्वभावे॥
मोर पुत्र, मोर सखा, मोर प्राणपति।
एई भावे करे जेई मोर शुद्धरति॥
आपनारे बड़ माने, आमा के सम, हीन।
सर्वभावे होई आमि ताहार अधीन॥

१. केवलार शुद्ध प्रेम ऐश्वर्य न जाने।
ऐश्वर्य देखिलेऊ निज सम्बन्ध से माने॥' (श्री चै० २।१६।१७२)

माता मोरे पुत्र भावे करेन बन्धन।
 अति हीन ज्ञाने करे लालन-पालन॥
 सखा शुद्ध सख्ये करे स्कन्धे आरोहन।
 तुमि कोन बड़ लोक? तुमि आमि सम॥
 प्रिया यदि मान करि करये भर्त्सन।
 वेद स्तुति होईते ताहा हरे मोर मन॥
 ऐई शुद्ध भक्त लुईया करिब अवतार।
 करिब विविधविध अद्भुत विहार॥
 वैकुण्ठाद्ये नाही जे जे लीला प्रचार।
 से से लीला करिब जाते मोर चमत्कार॥

इत्यादि—(श्री चै०।१।४।१६-२५)

तात्पर्य—ऐश्वर्य के ज्ञान से ही सारा जगत मुझे जानता है।
 ऐश्वर्य के ज्ञान से प्रेम शिथिल हो जाता है अतः मुझे अच्छा नहीं
 लगता है। जो मुझको ईश्वर मानता है और अपने को हीन मानता
 है उसके ऐसे प्रेम से मैं अधीन नहीं होता हूँ। मुझको जो जो भाव
 से भजता है। मैं भी उसको उसी भाव से मानता हूँ। मेरे पुत्र, मेरा
 सखा, मेरे प्राणपति—जो इस शुद्ध भाव से मुझे प्रेम करता है व
 अपने को बड़ा मानता है, मुझे बराबर या कम समझता है। उसका
 मैं सब तरह से अधीन हो जाता हूँ। मेरी माता मुझे पुत्र भाव से
 बाँधती है। छोटा समझ कर लालन पालन करती है। सखा शुद्ध
 सख्य भाव से मेरे कन्धे पर चढ़ते हैं तुम क्या बड़े लोग है। हम-
 तुम समान है प्रिया जब मान करके झगड़ा करती है तो वह मुझे
 वेद स्तुति से भी अधिक अच्छा लगता है। ऐसे ही शुद्ध भक्तों को
 लेकर मैं अवतार लूँगा और विविध प्रकार से विहार करूँगा।

बैकुण्ठ आदि में भी जिन लीलाओं का प्रचार नहीं है। वह लीलायें मैं कहूँगा। जो कि मुझे भी चमत्कारित कर देगी।

श्रीकृष्ण का 'माधुर्य' प्रचार ही श्री चैतन्य और उनके श्री चरणानुचरगण का प्रधान वैशिष्ट्य।

स्वयं श्रीकृष्ण को छोड़कर श्रीकृष्ण का उक्त निगूढ़ अभिप्राय और स्वरूपादि का यथार्थ किसी दूसरे को विदित नहीं है। श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु से ही प्रकृष्ट रूप में इसका प्रकाश जंगत में हुआ है, जिससे यह विदित हो जाता है कि वह श्रीकृष्ण ही हैं।

श्रीकृष्ण स्वयं की भगवत्ता जिनको पहले विदित थी, उन लोगों ने प्रायशः उन्हें देवलीला अर्थात् गोलोक विहारी के रूप में ही उपलब्धि करके उसी भाव में ही वर्णन किया है। देवता और मनुष्य का सम्मिलित तो निर्वाध और निःसंकोच नहीं होता, किन्तु मनुष्य से मनुष्य का मिलन सहज साध्य होता है। इसलिये जहाँ 'एक प्रकार' (भगवान और भक्त) की स्वजातीयता नहीं रहती वहाँ मनुष्य से भगवान दूर में ही रह जाते हैं।

किन्तु स्वयं भगवत्ता में श्रीकृष्ण माधुर्यमय हैं अर्थात् 'नरलीला' और 'नरवपु' उनके स्वरूप हैं^१ अर्थात् स्वयं रूप में वह

१. गीता में 'दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं—। इत्यादि श्लोक में श्रीकृष्ण का सुन्दर, कोमल मनुष्य रूप या नरवपु को ही पूर्वोक्त श्लोक में 'स्वकं रूपं' अर्थात् स्वकीय स्वरूप बताया गया है।

(गीता ११।५०-५१) दृष्टव्य।

विष्णु पुराण में भी उनके नराकृति स्वरूप का ही उल्लेख देखा जाता है; यथा,—

'यत्रावतीर्णा कृष्णाख्यं परब्रह्म नराकृतिम्।'

(४।११।२)

नित्य ही नराकृति है; इसलिये वह आगन्तुक या सामयिक नहीं है—नरलोक के लिये इस सर्वापेक्षा गौरव की, आनन्द की और आशा की वाणी की घोषणा करना ही श्रीकृष्ण चैतन्य और उनके श्री चरणानुचर गोस्वामियों का परम वैशिष्ट्य है। श्रीकृष्ण के महामाधुर्य के विषय में श्री चरितामृत में जो विस्तारित भाव से वर्णित हुआ है, उसका दिग्दशनार्थ निम्न में उसका इंगित मात्र किया जाता है।

“कृष्णोर यतेक खेला, सर्वोत्तम नरलीला।

नरवपु तांहार स्वरूप।

गोपवेश, वेणुकर, नरकिशोर, नटवर;

नर लीलार होय अनुरूप॥

कृष्णोर मधुर रूप सुन सनातन।

जे रूपेर एक कण, डुबाय सब त्रिभुवन,

सर्व प्राणी करे आकर्षण॥ इत्यादि

(श्री चै०।२।३१।८३)

तात्पर्य—‘श्रीकृष्ण यतेक खेला’ खेला—लीला। अर्थात् श्रीकृष्ण की मत्स्य-कूर्मादि अवतार सम्बन्धीय सभी लीलाओं में सर्वोत्तम ‘नरलीला’ है अर्थात् माधुर्यमय नरलीला ही सर्वश्रेष्ठ है। ‘नरवपु तांहार स्वरूप’ अर्थात् स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप या स्वकीय रूप ही ‘नरवपु नराकृति’ है। ‘स्वरूप’ कहने से यही प्रतिपन्न होता है कि यह नित्य और अनादि है, सामयिक नहीं है। श्री भगवत्-सम्बन्धीय माधुर्य का अर्थ ‘नरभाव’ के बाद सौन्दर्यादि अर्थ भी प्रदर्शित होता है। यह नरवपु फिर अशेष सौन्दर्य, मधुरता, वैचित्र्य और वैदग्ध्यादिमय है। इस विषय में ‘गोपवेश’ वेणुकर,

नवकिशोर, नटवर;—इन्हीं चार असमोर्द्ध माधुर्य का उल्लेख किया गया है, जिनका दूसरे किसी भगवत्-स्वरूप में या भगवत्-लोक में प्रकाश नहीं है।

उक्त चारों माधुर्य की उक्ति में यथाक्रम से, रूपमाधुर्य, वेणुमाधुर्य, प्रेम माधुर्य और लीला माधुर्य का प्रकाश हुआ है।^१ 'नरलीला होय अनुरूप' अनुरूप-सादृश्य। अर्थात् उपादान में भिन्न होने पर भी कृष्ण की नरलीला, नरलोक के आकार प्रकारादि के निकटतम सादृश्य है। 'कृष्णोर मधुर रूप सुन सनातन।' कृष्ण के रूप माधुर्य की कथा श्रवण करो, जिस रूप सागर का केवल एक कण त्रिभुवन को डुबाकरके अपना और सब प्राणियों का चित्त आकर्षण करता है, इत्यादि।^२

कृष्ण लोक के साथ निखिल जीव लोकों में मनुष्य लोक का ही सादृश्य होने से निकटतम सम्बन्ध।

किन्तु मनुष्य और भगवान् में विशेषत्व यह है कि श्री भगवान् के स्वरूपादि सभी चिदानन्दमय हैं; उनमें देह-देही का भेद नहीं है; मनुष्य की देह-देही पृथक् है। आत्मा के अतिरिक्त मनुष्य के देहादि सभी प्राकृत या जड़मय हैं। तब भी ब्रह्माण्डगत समस्त प्राणियों में मनुष्य का यह वैशिष्ट्य है कि उपादान में पृथक् होने पर भी—

१. 'चतुर्द्धा माधुरी तस्य ब्रज एव विराजते।
प्रेम कीड़योर्वेणोस्तया श्री विग्रहस्थ च॥

(भागवतामृत कणा—८)

२. 'कृष्णमाधुर्येण एक स्वाभाविक बल।

कृष्ण आदि नरनारी करये चंचल॥

(चै० १।४।१२८)

स्वयं भगवान् के साथ आकार और प्रकारगत मनुष्य लोक का जितना अधिक सादृश्य है, उतना दूसरे किसी लोक के किसी प्राणी के साथ नहीं है।

उपादान में पृथक् होने पर भी श्रीकृष्ण वपु के साथ नरवपु का सादृश्य जिस प्रकार है वैसा दूसरे किसी जीव लोक के साथ नहीं है। केवल आकार ही नहीं—प्रकार में भी, कृष्ण लोक के साथ नरलोक का जितना अधिक सादृश्य है उतना अन्य लोक के साथ नहीं है।

स्वयं भगवत् लोक में या कृष्णलोक में कृष्ण और कृष्ण के सखा का जैसा आचरण है, नरलोक में भी सखा के साथ सखा का आचरण वैसा ही है। कृष्णलोक में पुत्र और माता में या कृष्ण और कृष्ण-माता में जो लाल्य-लालकादि सम्बन्ध का आचरण है, नरलोक में माता-पुत्र के आचरण में वह जितना सादृश्य है, देवलकादि में उतना नहीं है। कृष्णलोक में कृष्ण और कृष्णकान्तागण की प्रेमविलास-रीति जिस प्रकार है, नरलोक में कान्त-कान्तागण की रीति के साथ उसका जितना सादृश्य है, किन्नरादि लोक में वैसा नहीं है। इसी प्रकार अन्यान्य विषय के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

कृष्णलोक का सब कुछ अप्राकृत चिदानन्दमय है
और मनुष्य लोक का सब कुछ प्राकृत होने पर
भी काया और छाया की तरह दोनों में
निकटतम सादृश्य है।

यह भी विशेष भाव से स्मरण रखना आवश्यक है कि मनुष्य लोक का साधारणतः आकार, प्रकार, आचार, व्यवहारादि जो कुछ है, वह सभी मायिक है। इसलिये जड़-धर्म विशिष्ट है; किन्तु कृष्णलोक में जो कुछ है वह सभी अप्राकृत और चिदानन्दमय—शुद्ध सत्त्व का विलास है, दोनों में यही महव्यवधान (पार्थक्य) है! तब भी जिस प्रकार काया और छाया एक दूसरे से पृथक् होने पर भी छाया के साथ काया का सबसे अधिक निकटतम सादृश्य रहता है, उसी तरह निखिल जीव लोकों में केवल नरलोक ही आकार प्रकार में गोलोक या स्वयं भगवत् लोक के सबसे अधिक सादृश्य है; इसलिये निकटतम स्वजातीय सम्बन्ध है।

**कृष्णलोक के आदर्श में नरलोक तो है किन्तु
नरलोक के आदर्श में कृष्णलोक नहीं है।**

फिर साथ ही साथ यह भी विवेच्य है कि काया और छाया में निकटतम सादृश्य तो है, किन्तु जैसे काया से छाया की उत्पत्ति होती है, छाया से काया की नहीं; वैसी ही कृष्णलोक के साथ छाया के सदृश्य नरलोक का अनेकांश में आकार प्रकारगत एक रूपता तो है परन्तु 'कृष्णवपु' के आदर्श से ही 'नरवपु' है, न कि 'नरवपु' के आदर्श से कृष्णवपु। वह ('कृष्णवपु') तो नित्य और अनादि का भी आदि है। इसी तरह प्रकारादि अन्य विषय के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

मनुष्यदेह यदि नराकृति न होकर अन्य रूप या किन्नराकृति होती, तब भी 'कृष्णस्वरूप' जैसा है वैसा ही रहता। किन्तु केवल मनुष्य लोक के ही दुर्भाग्य से तब फिर 'कृष्णस्वरूप' का परिचय

‘नरवपु’ की तरह कहकर न दिया जाता, अपितु ‘कृष्णवपु’ ही कहा जाता। ऐसा होने से, श्रीकृष्ण के साथ नरलोक का उक्त गौरव-जनक सादृश्यगत स्वजातीयता का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। तभी तो सब प्राणियों में मनुष्य लोक की यह सर्वोपरि सौभाग्य की बात को स्मरण कराने के लिये वैष्णव कवि ने गाया है—

सुनहु मानुष भाई,

मनुष्य सत्य सवार ऊपर, जाहार ऊपर नाई।

मनुष्य जन्म ही कृष्ण भजन के लिये सर्वाधिक अनुकूल।

श्रीकृष्ण अपने लोक में भक्तों के प्रेममय दास्य संख्य, वात्सल्य, और मधुरभाव से सेवित होते हैं। नरलोक का मायिक दास्य, संख्यादि भाव उनका ही छाया की तरह होने से मनुष्य के लिये उन सब भावों की कथा सुनकर उस विषय की उपलब्धि और अभ्यास जितना सहज और स्वाभाविक है, वैसा दूसरे प्राणी के लिये नहीं है।^१ इसलिये मनुष्य रूपी भक्त होकर उक्त सब भावों को भक्ति-विभावित करके श्रीकृष्ण में समर्पण कर सकने का सुयोग्य मनुष्यों को जितना रहता है, वह सुयोग देवलोक में भी नहीं मिलता। यही कारण है कि शास्त्र में उक्त हुआ है कि देवताओं को भी मनुष्य जन्म लेने की इच्छा रहती है।^२ कृष्णलोक के साथ

१. ‘भजते तादृशी क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ।’ (भा० १०।३३।३७)

२. ‘लब्धा जन्मामर प्रार्थ्य मानुष्य—’

(भा० ११।२३।२२)। अर्थात् देवगण का भी प्रार्थनीय मनुष्य जन्म।

उक्त प्रकार से मनुष्यलोक का सदृश्य रहने से प्राणियों में मनुष्य जाति जितना स्वयं भगवत् स्वरूप के सन्निकट वर्ती है, उतना निकट सम्बन्ध दूसरे किसी प्राणी के साथ नहीं हो सकता है। अतएव इस तरह से कृष्णलोक के द्वार पर खड़ा होकर भी, मनुष्य यदि जन्मगत वैशिष्ट्य न समझकर, उसके अनुकूल साधन के अभाव के कारण उस स्थान से भ्रष्ट हो जाय, तो ऐसी अवस्था में मनुष्य जन्म सर्वाधिक व्यर्थ हो जाता है।^१ 'गोल' में प्रवेश का सुयोग खोकर 'गोल' के सर्वापेक्षा सन्निकटवर्ती 'गेंद आउट' होकर जिस प्रकार फिर बहुत पदाघात से ताड़ित होता रहता है, उसी प्रकार मनुष्य जन्म के उक्त सुयोग खोने वाले मनुष्य के लिये फिर चौरासी लक्ष जन्म के चक्कर में पड़कर माया की लातें खाना ही यथार्थ आत्म हत्या है, जिसका उल्लेख उन्हीं श्री भगवान ने स्वयं ही किया है; यथा—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं

गुरुर कर्णधारम् ।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमानु भवाब्धिं

न तरेत्स आत्महा॥

(श्री भा० ११।२०।१७)

इसका अर्थ—सर्ववांछित फल प्राप्ति का मूल स्वरूप कोटि चेष्टा द्वारा भी सुदुर्लभ किन्तु किसी भाग्य से अनायास लभ्य स्थावरत्व से भगवत् प्राप्ति पर्यन्त समस्त साधन विषय में सपटु,

१. 'सृष्ट्वापुराणि—' (भा० ११।६।२८)। लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं—' (भा० ११।६।२६)। ऐषा बुद्धिमतां बुद्धिः—' (भा० ११।२६।२२) इत्यादि देखना चाहिये।

गुरुकर्णधार समन्वित, मेरे द्वारा अनुकूल वायु से चालित, संसार समुद्र से पार उतरने की नौका स्वरूप मनुष्य देह प्राप्त होकर जो व्यक्ति भवसमुद्र पार होने के लिये उद्यम न करे, वही यथार्थ आत्मघाती कहा जाता है। अतएव 'माधुर्य' के अर्थ से जिस तरह पूर्ण ऐश्वर्यमय श्री भगवान का 'नरवपु' और 'नरलीला' समझा जाता है, उसी तरह फिर माधुर्य के अर्थ से अशेष सौन्दर्य लालित्य चारुता, मधुरता, और वैदग्ध्यादि सभी गुणों को भी समझा जाता है। यह माधुर्य चराचर सर्व जगत् को और कृष्ण के निज चित्त को भी आकर्षण करता रहता है। कृष्ण का माधुर्य कहने से उक्त उभय (दोनों) अर्थों के युगपत् संयोजना ही समझना चाहिये। उनमें से जिन 'माधुर्य' का प्रकाश दूसरे किसी भागवत् स्वरूप में नहीं—वह लीला माधुर्य, प्रेम माधुर्य, वेणुमाधुर्य, और रूप माधुर्य है—इन चारों माधुर्य का प्रकाश केवल स्वयं भगवान ब्रजेन्द्रनन्दन श्री कृष्ण का ही वैशिष्ट्य है।^१

केवल ब्रज प्रेम को छोड़कर अन्य किसी उपाय से कृष्ण-माधुर्य की पूर्ण अनुभूति असम्भव।

फिर उसका आस्वादनोपयोगी 'प्रेम' जहाँ चरमोत्कर्ष सीमा प्राप्त है—उस ब्रज की 'रागभक्ति' के आनुगत्य बिना उक्त कृष्ण

१. लीला प्रेमणा प्रियाधिक्यं माधुर्यो वेणुरूपयोः।

इत्य साधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम्॥ (भक्ति रसामृत ० २।१।४३)

माधुर्य का आस्वादन भी दूसरे किसी भी उपाय से सम्भव नहीं हो सकता है। तभी तो श्री चरितामृत में कहा गया है—

कर्म, तप, योग, ज्ञान, विधिभक्ति, जप, ध्यान-इहा होइते
माधुर्य दुर्लभा।'

(२।२१।१००)

इस तरह यहाँ आपाततः (इस समय) केवल दिग्दर्शनार्थ उक्त संक्षिप्त आलोचना से हम लोग कम से कम यह तो समझ गये कि कृष्ण के अतिरिक्त जिसे दूसरा कोई नहीं जानता, उन श्रीकृष्ण के स्वरूपादि के सम्बन्ध में पूर्ण चैतन्य (ज्ञान) जीव जगत् को प्रदान करना, वेदोक्त उस 'रस ब्रह्म' अर्थात् शृंगार-रसराज-मूर्ति श्रीकृष्ण के असमोर्द्ध महामाधुर्य का सम्वाद और श्रीराधिका की प्रेम महिमा और कृष्णनाम की महिमा के साथ श्री ब्रजलोक की महिमा प्रभृति जो जगत् के लिये अज्ञात और अप्रकाशित विषय था, उन सब को परिपूर्ण रूप से जगत् में प्रकाश करना और प्रचार करना ही श्रीकृष्ण चैतन्य और उनके श्री चरणानुचरगण का प्रधान वैशिष्ट्य है।

तभी तो श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने अपने श्री चैतन्यचन्द्रामृत ग्रंथ में आवेश में भरकर लिखा है—

प्रेमा नामाद्भुतार्थः शृवण पथ गतः कस्य

नाम्नो महिम्नां

को वेत्ता कस्य वृन्दावन विपिन महा माधुरीषु

प्रवेशः।

को ना जानाति राधां परमरस चमत्कार माधुर्य

सीमा-

मेकश्चैतन्य चन्द्रः परम करुणया

सर्वमाविश्रकार॥

इसका अर्थ—‘प्रेम’ नामक यह अपूर्व शब्द पहले किसके सुनने में आया था? श्री नाम की महिमा भी किसने जानी थी? श्री वृन्दावन की महामाधुरी के विषय में भी किसका प्रवेश हुआ था? किसको श्री राधिका के परम रस—चमत्कार माधुर्य की सीमा अवगत थी? एक श्री चैतन्य चन्द्र ने ही परम करुणा के वशवर्ती होकर समस्त जगत में उसे प्रकटित किया है।

अतएव इसके द्वारा श्रीकृष्ण चैतन्य का सीमा प्राप्त श्रीकृष्ण-स्वरूपता ही प्रकाश होती है इसलिये—

“न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परतत्त्व परमिह॥”

सप्तम उद्भाषन

उपासक के विचार से भगवद्भक्त का या
सर्वमूल श्रीकृष्ण-भक्त का मुख्यत्व
प्रतिपादित होगा।

सकाम पुरुषार्थ—भुक्ति और मुक्ति; गुण-संस्पृष्ट
जीव के लिये प्रकृष्ट निष्काम भाव धारणातीत।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष,—यह चतुर्वर्ग ही 'पुरुषार्थ' नाम से शास्त्र में उक्त और लोक समाज में विदित हैं। उनमें से धर्म, अर्थ, और काम—यह त्रिवर्ग भुक्ति की श्रेणी में और मोक्ष मुक्ति की श्रेणी में गिने जाते हैं अर्थात् प्राकृत जगत में साधारणतः 'भुक्ति' और 'मुक्ति' को छोड़कर दूसरे किसी पुरुषार्थ की प्रसिद्धि नहीं है। स्वसुखवासनामूलक—इस काल में लाभ, पूजा प्रतिष्ठादि और धन-धान्यादि और परकाल में स्वर्गादि विषय भोग ही 'भुक्ति' नाम से और उनकी अनित्यता प्रभृति दोषों के देखने पर उसके फल-भोग वासना के मिट जाने से—(राहु ग्रस्त चन्द्रमा की मोक्ष प्राप्ति की तरह) माया या जड़ता-पाश से मोक्ष-लाभ ही 'मुक्ति' नाम से कथित होती है। तमः और रजोगुणात्मक भुक्तीच्छा से मुक्तीच्छा को विषय वासना के विरति हेतु 'निष्काम' तो कहते हैं किन्तु वास्तव में दोनों ही स्वसुख-तात्पर्यमय होने के कारण सकाम और सकैतव ही हैं। सत्त्वादि प्राकृत गुण-संस्पृष्ट जीव के लिये प्रकृष्ट निष्काम भाव की

धारणा ही एक तरह से असम्भव है, यही कारण है कि 'स्वार्थ' अर्थात् स्वसुख तात्पर्यमय पुरुषार्थ या स्व-प्रयोजन सिद्धि के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रयोजन, साधारणतः मायिक जीव जगत के समझ में आने का विषय नहीं होता। तभी तो शास्त्र द्वारा धर्मार्थ काम और मोक्ष को स्वप्रयोजन 'भुक्ति' और 'मुक्ति' नामक पुरुषार्थ के रूप में ही प्रचार किया गया है।

शुद्धा-भक्ति ही यथार्थ निष्काम इसलिये यही परम पुरुषार्थ है।

प्राकृत गुणातीत श्री भगवत् विषया शुद्धाभक्ति या यथार्थ निष्काम या आत्मसुख तात्पर्य शून्या—केवल भगवत्-सुख या सर्वमूल श्रीकृष्ण-सुख तात्पर्यमयी है। श्रीकृष्ण-प्रीति की कामना को छोड़कर इसमें लेशाभास मात्र भी स्वसुख तात्पर्यमय कर्म और ज्ञानादि का संस्पर्श न रहने से यही यथार्थ अनाबिल और अकैतव विषय है।^१ इसलिये निर्गुण भक्ति ही सब जीवों का एक मात्र पुरुषार्थ या प्रयोजन तो है किन्तु अज्ञानान्ध जीव को ऐसी कोई अभिज्ञता नहीं रहती कि स्वसुख-तात्पर्य के अतिरिक्त भी कोई पुरुषार्थ या स्वप्रयोजन सिद्ध हो सकता है, तभी तो कृष्णसुख तात्पर्यमय भक्ति-सुख के स्थान में अगत्या स्वसुख-तात्पर्यमय भुक्ति और मुक्ति सुख ही जीव जगत् में प्रयोजन रूप में निरूपित

१. निर्गुणा या शुद्धा भक्ति के लक्षण के सम्बन्ध में 'अन्याभिलाषिता शून्यं—' इत्यादि और श्री नारदपंचरात्रोक्त—'सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं—' इत्यादि श्लोक दृष्टव्य। (श्रीमद्रूप गोस्वामिचरण कृत भक्ति रसामृतं सिन्धुः। (१।१।११-१२)

हुआ है।

पुरुषार्थ-चतुष्टय होते हैं—कैतव या आत्मवंचना रूप कपटता।

‘कैतव’ शब्द का अर्थ कपटता या आत्मवंचना होता है।^१ अज्ञानादि से यह उत्पन्न हुआ करता है; इसलिये कैतव या आत्मवंचना अज्ञान-तम का ही फल है। धर्मार्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय इस अज्ञानता का फलस्वरूप आत्म प्रतारण मात्र है। इसका कारण यह है कि आत्मा की जो प्रकृष्ट परितृप्ति और प्रयोजन, कृष्णभक्ति है, उससे इसके द्वारा आत्मा को वंचित किया जाता है। इसीलिये श्री चरितामृत में कहा गया है^२—

अज्ञान तमेर नाम कहि जे कैतव।

थर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, वांछा एई सब॥

तार मध्ये मोक्षवांछा कैतव प्रधान।

जाहा होईते कृष्ण भक्ति हो अन्तर्धान॥

(श्री चै० १।१।५०)

तात्पर्य—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की इच्छा अज्ञान रूपी अन्धकार है जो कपट कहलाता है। उसमें से मोक्ष की इच्छा प्रधान कपट है क्योंकि उससे श्रीकृष्ण भक्ति अन्तर्धान हो जाती है।

इससे यह समझ में आता है कि भुक्ति और मुक्ति दोनों प्रकार

१. ‘दुः संग कहि—कैतव आत्म वंचना।’ (चै० २।२४।७०)

२. इस युक्ति के साथ निम्नोक्त श्रुति वाक्य का अभिन्न तात्पर्य दृश्य।
‘अन्धं तमः प्रविशन्ति—’ इत्यादि। (ईशो० ६ एवं वृ० आ० ४।४।१०)

के पुरुषार्थ में ही कैतव या आत्मवंचना निहित रहती है। भुक्ति के रास्ते में भागने वाले जीव की पृथक् सत्ता रहती है। इसलिये किसी न किसी दिन महत्-संगादि द्वारा प्रकृष्ट प्रयोजन जो कृष्णभक्ति है, उसके लाभ की आशा तो रहती है, किन्तु संसार में गतागति से मुक्ति चाहने वाले जीव के लिये ब्रह्म के साथ सायुज्य अर्थात् तादात्म्य प्राप्त होने से उसकी पृथक् सत्ता के समाप्त हो जाने के कारण, कृष्ण भक्ति प्राप्त करने की सम्भावना असम्भव प्रायः हो जाती है। यही कारण है कि मोक्षवांछा को 'कैतव प्रधान' कहा जाता है।

इस सकैतव 'भुक्ति' और मुक्ति धर्म से 'भक्ति' या भागवत-धर्म की^१ परमविशुद्धता के सम्बन्ध में श्रीभागवत में भी (१।१।२) यही बात उक्त होते देखी जाती है—

'धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽम् परमो निर्भत्सराणां सतां'—
इत्यादि।

अर्थात्—इस भागवत शास्त्र में निर्भत्सर साधनों के अनुष्ठेय परम धर्म निरूपित हुआ है। यह धर्म ('प्र' = प्रकटरूप से, 'उज्झित' = परित्यक्त, 'कैतव' = कपटता या वंचना) प्रकृष्टरूप से कैतव रहित है।

इसके टीका में श्रीधरस्वामिपाद ने 'प्र' शब्द का अर्थ 'प्रशब्देन मोक्षामिसन्धिरपि निरस्तः'।

लिखा है। अर्थात् 'प्र' शब्द द्वारा इसमें मोक्ष की अभिसन्धि

१. साक्षात् भक्तेरपि भागवतधर्माख्यात्वम्।'

(श्री जीवपाद कृतः भक्ति सन्दर्भः। २।१६ अनु०)

अर्थ,—साक्षात्-भक्ति को ही भागवत धर्म कहते हैं।

तक भी निरसन की गयी है। इसका तात्पर्य यह है कि केवल यही नहीं कि इस श्री भगवत् प्रोक्त निर्मत्सर साधुओं के आचरणीय परमधर्म में केवल भुक्ति की अभिसन्धि रूप कैतव परित्यक्त हुआ है, अपितु इसमें मोक्ष या मुक्ति के अभिसन्धि रूप कैतव पर्यन्त भी वर्जित हुआ है। यह भक्तिधर्म इतनी सुनिर्मल और अकैतव है।

यहाँ 'मोक्ष' शब्द से रूढ़ि-वृत्ति द्वारा ब्रह्म सायुज्य मुक्ति ही लक्षित होने पर भी मोक्ष शब्द से मुक्ति मात्र को ही समझा जाता है। इसीलिये श्री जीव गोस्वामीचरण ने उक्त 'प्र' शब्द का अर्थ और भी थोड़ा विस्तार करके लिखा है; 'प्र शब्देन सालोक्यादि सर्वप्रकार मोक्षाभिसन्धिरपि निरस्तः।' (क्रम सन्दर्भः १।१।२) अर्थात् उक्त 'प्र' शब्द केवल ब्रह्म-सायुज्य मुक्ति ही नहीं अपितु सालोक्यादि सर्वप्रकार की मुक्ति भी परित्यक्त हुई है।

ब्रह्म-सायुज्य मुक्ति (उपास्य के साथ एकत्व प्राप्ति) के अतिरिक्त दूसरी चार प्रकार की मुक्ति का उल्लेख भी शास्त्र में किया गया है। वह है—(१) सालोक्य, (उपास्य श्रीभगवान के साथ एक लोक में वास) (२) सामीप्य, (उपास्य के सन्निकट में अवस्थिति) (३) सारूप्य, (उपास्य के समान रूप प्राप्ति) (४) साष्टि, (उपास्य के समान ऐश्वर्य लाभ)। सायुज्य, (उपास्य के साथ एकत्व की प्राप्ति) फिर दो प्रकार का है—१ ब्रह्म-सायुज्य और (२) ईश्वर सायुज्य। इनमें पहले से दूसरा तो और भी अधिक आत्मवंचना या सकैतव है। मिश्रा भक्ति के फलस्वरूप अवशिष्ट चतुर्विध मुक्ति में से यदि किसी में सेवा की अनुकूलता रहती है। तो सेवा के उद्देश्य से कोई कोई भक्त कदाचित् उसे ग्रहण कर लेते हैं; नहीं तो केवल स्वसुख तात्पर्य होने के कारण यह मुक्ति चतुष्टय यदि भगवान देना भी

चाहते हैं तब भी शुद्ध भक्त लोग उन्हें कभी भी ग्रहण नहीं करते ; क्योंकि केवल कृष्ण सुख-तात्पर्यमयी सेवा मात्र ही उन लोगों का एकमात्र प्रयोजन रहता है। इस विषय में श्री चरितामृत की उक्ति यथा—

“भट्टाचार्य कहे—मुक्ति नहे भक्ति फल।
 भगवद्विमुखेर होय दण्ड केवल॥
 कृष्णेर विग्रह जेई सत्य नाहि माने।
 जे-ई निन्दा युद्धादिक करे तार सने॥
 सेई दुईयेर दण्ड होय—ब्रह्मसायुज्य मुक्ति।
 तार मुक्ति फल नहे, जेई करे भक्ति॥
 यद्यपि से मुक्ति होय पंच प्रकार।
 सालोक्य, समीप्य, सरूप्य, सृष्टि सायुज्य, आर॥
 सालोक्यादि चारि यदि होय सेवा द्वार।
 तवे कदाचित भक्त करे अंगीकार॥
 सायुज्य शुनिते भक्तेर होय घृणा भय।
 नरक वांछये तबू सायुज्य न लेय॥
 ब्रह्मे ईश्वरे सायुज्ये दुई प्रकार।
 ब्रह्म-सायुज्य होई ते ईश्वर-सायुज्य धिक्कार॥

(श्री० चै० २।६।२३६-२४२)

तात्पर्य—श्री सार्वभौम भट्टाचार्य जी ने कहा कि मुक्ति भक्ति का फल नहीं है। वह केवल भगवद्विमुख के लिये दण्ड है। जो भगवान की निन्दा करते हैं या उनसे युद्ध करते हैं। उनको दण्ड स्वरूप सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। इसलिये जो भक्ति करता है उसका फल मुक्ति नहीं है। मुक्ति पाँच प्रकार की होती है। सालोक्य,

समीप्य, सारूप्य, साष्टि सायुज्य। सालोक्यादि मुक्ति के द्वारा यदि भगवान की सेवा मिले तो कदाचित् भक्त स्वीकार करते हैं किन्तु सायुज्य सुनकर भक्त को घृणा होती है और भय लगता है भक्त नरक की इच्छा कर सकता है पर सायुज्य मुक्ति नहीं चाहता। सायुज्य मुक्ति दो प्रकार की है। एक ब्रह्म सायुज्य दूसरी ईश्वर सायुज्य। ब्रह्म सायुज्य से ईश्वर सायुज्य और भी निकृष्ट है।

इस तरह से यह समझ में आया कि श्रीभगवत् सेवा या सर्वमूल श्रीकृष्ण-सेवा-तात्पर्यमयी शुद्धा भक्ति को छोड़कर भुक्ति से लेकर सालोक्यादि मुक्ति पर्यन्त सभी सकैतव अर्थात् अज्ञानादि प्रसूत आत्म वंचना या कपटतामय है। तभी तो श्री भगवान द्वारा देना चाहने पर भी भक्त लोग उनकी सेवा के अतिरिक्त भुक्ति, मुक्ति कुछ भी ग्रहण करते; यह बात भगवान के निजोक्ति से भी जानी जा सकती है; यथा—

सालोक्य साष्टि, समीप्य, सारूपैकत्व मय्युत।

दीयमानं न ग्रहणन्ति बिना मत्सेवनं जनाः॥

(श्री भा० १३।२६।१३)

इसका अर्थ—भगवान ने कहा कि हमारे भक्त लोग हमारी सेवा के अतिरिक्त सालोक्य साष्टि सारूप्य समीप्य और सायुज्य—यह पाँच प्रकार की मुक्ति हमारे प्रदान करने पर भी ग्रहण नहीं करते।^१ अतएव यही प्रति पन्न होता है कि शुद्धा भक्ति ही एक मात्र निष्काम और कपटता शून्य होने के कारण सुनिर्मल और परम शान्त या अचंचल है और उसके अतिरिक्त भुक्ति मुक्ति और सिद्धि

१. 'मत्सेवया प्रतीतं ते—' इत्यादि।

(भा० ६।४।६७) दृष्टव्य।

प्रभृति सभी सकाम और सकैतव होने के कारण अशान्त या वासना-चंचल हैं।

‘कृष्णभक्त निष्काम, अतएव शान्त।

भुक्ति, मुक्ति सिद्धि कामी—सकलि अशान्त॥

(श्री चरितामृत २।१६।१३३)

तात्पर्य—श्रीकृष्ण भक्त निष्काम होते हैं अतः शान्त रहते हैं। भुक्ति मुक्ति और सिद्धि चाहने वाले सदा अशान्त रहते हैं।

इस तरह से यह समझ में आ गया कोयल के अण्डे को अपना अण्डा समझकर कौवा जिस तरह आत्म प्रतारित और विडम्बित होता है, उसी तरह कारणस्वरूप परमात्म वस्तु की प्रतिविधान के स्थान में^१ आत्म-सुख साधन प्रयास से जीवात्मा का सुखसाधन द्वारा किम्बा देहेन्द्रिय में आत्मबोध करके उसकी प्रीति साधन द्वारा जीव अपने को आत्म वंचित या विडम्बित करता है।

कारण का सुख पोषण ही कार्य की सुख-पुष्टि का प्रकृष्ट उपाय ।

जिस तरह कारणस्वरूप वृक्ष-मूल में जल देने से तत्काल—शाखा-पल्लवादि की प्रकृष्ट पुष्टि और प्रसन्नता साधित होती है, किन्तु पृथक् भावसे शाखा-पल्लवादि में जल देने से ऐसा नहीं होता।^२ उसी तरह परमात्मावस्तु की परमावस्था या सर्वकारण

१. परमात्म वस्तु के प्रीति के निमित्त ही सब प्रिय हुआ करते हैं, यह विषय निम्नोक्त श्रुति में देखना चाहिये। ‘तदेतत् प्रेयः पुत्रात्—’

(वृ०आ० १।४।८)। ‘न वा अरेपत्युः कामाय’—इत्यादि। (ऐ २।४।५)

२. ‘यथा तरोर्मूल—’ (भा० ४।३।१।१४)

स्वरूप श्रीकृष्ण की प्रसन्नता विधान द्वारा जीवात्मा की जैसी परितृप्ति साधित होती है, पृथक् भाव से स्वसुख-तात्पर्यमय स्वार्थसिद्धि की अभिसन्धि द्वारा कभी भी वह सम्भव नहीं है—यह न समझ पाना अज्ञानता का ही फल है।

जीवात्मा, परमात्मवस्तु का ही आश्रित-तत्त्व है। ऐसा सम्बन्ध होने से जीव का एकमात्र कर्तव्य और प्रयोजन होता है—परमात्मा की परमावस्था उन्हीं सर्व कारण श्रीकृष्ण की प्रीति विधान करना। कृष्ण सुख-तात्पर्य अर्थात् केवल श्री हरि तोषण द्वारा, उसके आनुषंगिक फल से—अपने सुख की इच्छा न रहने पर भी, उनके सुख से अपने को सुख होता है। ('सुख वांछा नाई, सुख होय कोटिगुण। चै० १।४।१५७) यही जीव का यथार्थ निष्काम या परमशुद्ध अकपट भाव है। इसी का ही नाम शुद्धा भक्ति है जिसके द्वारा जीव को प्रकृष्ट प्रसन्नता लाभ होती है। ('ययात्मा सुप्रसीदति।' भा० १।२।६)

जीव की साधारणतः भक्ति के स्थान में भुक्ति और मुक्ति के विषय में प्रवृत्ति का कारण।

तब भी जीव जगत में जो भगवद्भक्ति की जगह में भुक्ति और मुक्ति, पुरुषार्थ के आसन पर अधिष्ठित हो रही हैं, उसके कारण के सम्बन्ध में संक्षेप में दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है। श्रद्धा ही सभी प्रवृत्ति का मूल है। हृदय में श्रद्धा का विकास न होने से किसी कर्म में—किसी भी विषय में जीव प्रवृत्त नहीं होता। श्रद्धा का अर्थ 'विश्वास या निश्चयता' है। जीव की स्वाभाविकी श्रद्धा सत्त्वादिगुण के अनुसार प्रधानतः तीन प्रकार की होती है, तामसी

और राजसी श्रद्धा तज्जातीय भुक्ति विषय में और सात्त्विकी श्रद्धा मुक्ति विषय में प्रवृत्ति कराने की कारण होती है। शुद्धा भक्ति 'निर्गुणा' है। इसलिये साधारणतः गुण-संस्पृष्ट जीव में निर्गुणा या भागवती श्रद्धा के अभाव के कारण उस विषय में स्वतः जीव की प्रवृत्ति पैदा नहीं हो सकती। यदृच्छालभ्य या अहैतुकी महत् कृपा और संगीति से समुत्थित श्री हरिकथादि के युगपत् संयोग से ही मायास्पृष्ट जीव के हृदय में निर्गुणा भागवती श्रद्धा-मूलक स्वप्रकाश शुद्धाभक्ति उदय होती है। इसके अतिरिक्त ऐसी भक्ति के प्राप्त करने का दूसरा उपाय नहीं है। यही कारण है कि निर्गुणा भक्ति के प्राप्त करने का सौभाग्य अत्यन्त सुदुर्लभ होने से, जीव की स्वभाविकी सगुणा श्रद्धानुरूप भुक्ति और मुक्तिरूप पुरुषार्थ ही शास्त्र में अगत्या (लाचारी में) विहित हुये हैं। भक्ति ही जीव मात्र का आत्मधर्म होने के कारण भक्ति द्वारा भगवद्भजन के लिये अधिकारी का विचार नहीं है।^१ इसलिये सभी जीव कृष्ण-भजन के अधिकारी हैं। ('सर्वेषां मदुपासनम्।' भा० ११।१८।४२-४३) तभी तो श्री भगवान् ने कहा है कि मेरी उपासना करना सभी प्राणियों का कर्तव्य है। किन्तु उसमें प्रवृत्ति के मूल में जिस श्रद्धा की विद्यमानता आवश्यक है। (श्रद्धावान् भजते यो मां—'॥—गीता, ६।४७), वह निर्गुणा भागवती श्रद्धा, निर्गुण और अहैतुक महत्संगीति के बिना अलभ्य है। इसीलिये निर्गुणा अर्थात् निष्काम और सुनिर्मल भागवत्-धर्म के अनुशीलन में साधारणतः जीव की

१. गीता ६।३०-३२ दृष्टव्य।

'नीच जाति नहे कृष्ण भजने अयोग्य।'

इत्यादि दृष्टव्य। (चै० ३।४।६२-६४)।

प्रवृत्ति देखी नहीं जाती है। उसकी जगह में सत्त्वादि गुण संयुक्त अर्थात् सकाम और सकैतव भुक्ति और मुक्ति स्पृहारूप पिशाची के अनुवर्त्ती होकर, मुख्य प्रयोजन स्वरूप भक्ति-सुख से जीव को वंचित होना पड़ा है, यही समझना चाहिये। जीव की यह महादुःख और विपद की बात ही श्रीमद्रूप गोस्वामि चरण ने निम्नोक्त श्लोक में वर्णन किया है,—

‘भुक्ति-मुक्ति-स्पृहायावत् पिशाची हृदि वर्तते।

तावद्भक्ति सुखस्थान कथमभ्युदयो भवेत्॥

(श्री भक्ति रसामृत०/पूर्व २।१५)

इसका अर्थ,—जब तक भुक्ति और मुक्ति वासनारूपा पिशाची हृदय में वर्तमान रहती है, तब तक कैसे हृदय में भक्ति-सुख का अभ्युदय होगा?

पुरुषार्थ का प्रकृष्ट अर्थ ‘स्वार्थ’ नहीं है,—

परमपुरुषार्थ अर्थात् ‘कृष्णार्थ’ है।

अब ‘पुरुषार्थ’ शब्द का प्रकृष्ट तात्पर्य समझ लेना आवश्यक है। पुरुष का जो प्रयोजन है उसी का ही नाम ‘पुरुषार्थ’ है। देहरूप पुर में जो शयन रहता है, उसे पुरुष कहते हैं (‘पूरि शेते इति पुरुषः’)^१। यह बात श्रुति से भी जानी जाती है कि देहरूप पुर में दैहिकादि कर्मफल के भोक्तरूप में जीवात्मा और तदस्पृष्ट अवस्था में केवल उसके साक्षीरूप से परमात्मा अवस्थान करते हैं। अतएव

१. ‘द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया—’ इत्यादि।

(श्वेता० ४।६) (मुण्डक० ३।१।१)।

देहपुर में जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ही अवस्थान है इसलिये दोनों ही 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हैं। जीवात्मारूप पुरुष से परमात्मारूप पुरुष सभी विषय में 'उत्तम' है अर्थात् वह परमेश्वर हैं इसलिये उन्हें पुरुषोत्तम कहते हैं।^१ मूलतः सर्वकारण श्रीकृष्ण ही अन्तर्यामी परमात्मा या पुरुषोत्तम की परमावस्था अर्थात् पूर्णपुरुष है।^२ कृष्ण-विस्मृत अनादि बहिर्मुख जीव के अन्तर्मुख न होने तक परमात्मवस्तु का साक्षात्कार नहीं होता। इस अवस्था में अज्ञानादि के कारण जीव अपने को स्वकृत कर्मों का कर्ता और उसके फल का भोक्ता समझता है। इसलिये स्वसुख-तात्पर्यमय भुक्ति को ही स्वप्रयोजनरूप 'पुरुषार्थ' निश्चय करता है। अतएव ऐसी अवस्था में स्वप्रयोजन या स्वार्थ को छोड़कर परमात्म-पुरुष या उसके प्रयोजन के विषय की बात अर्थात् कृष्णार्थ की बात मन में उदय होने की भी कोई सम्भावना नहीं रहती। यही कारण है कि भुक्तिरूप पुरुषार्थ—आत्म-सुख-तात्पर्यमय सकैतव पुरुषार्थ है या यों कहा जाय कि आत्मवंचना है।

फिर जिन्हें उसके फल भोग की अनित्यता और उसके कारण जन्म-मृत्युरूप भयावह संसार दुःखादि के देखने से भुक्ति विषय में निर्वेद या विराग उत्पन्न हो गया है, वह लोग ~~संसार के~~ दुःख की निवृत्तिरूप स्वप्रयोजन सिद्धि के अभिप्राय से, मुक्ति को ही स्वप्रयोजनपर 'पुरुषार्थ' समझा करते हैं। ऐसे मुक्ति-कामी लोगों को भी जीवात्मा और परमात्मा के विषय में उनकी अभेद दृष्टि होने के कारण—स्वार्थ या स्वप्रयोजनपर पुरुषार्थ के अतिरिक्त

१. गीता—१५।१७

२. भागवत, १।७।४ व १।७।७

परमात्मवस्तु का प्रयोजन या 'कृष्णार्थ' रूप परमपुरुषार्थ के सम्बन्ध में अनुसन्धान नहीं रहता। अतएव मोक्ष या मुक्तिरूप पुरुषार्थ भी 'स्वार्थ' अर्थात् स्वप्रयोजन पर होता है इसलिये अधिकतर कैतव या आत्मवंचना है। सालोक्यादि मुक्ति में परमात्मवस्तु—श्री भगवद्भूति रहने पर भी, भगवत्सुख-तात्पर्य की अपेक्षा स्वसुख-तात्पर्य का प्रधान्य रहता है, अतएव यह भी अकैतव पुरुषार्थ या यथार्थ कृष्णार्थ नहीं होता।

वहिर्मुख जीव में केवल कृष्णोन्मुखता के उन्मेष से ही परमपुरुषार्थ की उपलब्धि।

अब शुद्धा-भक्ति की बात कहीं जाती है। किसी भी अतिभाग्य से—अहैतुकी महत्कृपादि द्वारा अनादि कृष्ण-वहिर्मुख जीव को अन्तर्मुखता प्राप्त होने से या कृष्णोन्मुख होने से ही परमात्म वस्तु की उपलब्धि होती है। तभी केवल निजकारण और सर्वकारण-स्वरूप सर्वान्तर्यामी जीवकी अवस्थिति पुरुष-रूप में है, उन्हीं परमपुरुष का अर्थ—अर्थात् पुरुषोत्तम का प्रयोजन-बोध हृदय में समुदित होता है, जिसके फल से—वृक्ष की जड़ से जल-सेवन द्वारा उसकी शाखा-पल्लवादि की प्रसन्नता विधान की तरह, आत्मसुख सन्धान अन्तर्निहित होकर उसकी जगह केवल भगवत्सुख तात्पर्य या सर्वमूल कृष्ण-सुख-तात्पर्य मात्र ही हृदय में जाग्रत हो उठता है। ऐसी अवस्था में केवल कृष्ण-सुख में ही अपने को प्रकृष्ट सुखी और अपने सुख से उनका सुख विधान ही अधिकतर सुखकर बोध होता है, तब फिर पृथक् भाव से आत्म-सुख-वांछा-प्रयोजन का लेशाभास मात्र भी नहीं रह जाता। 'कृष्णार्थ' ही तब एकमात्र

पुरुषार्थ का स्थान ग्रहण कर लेता है। इसके अतिरिक्त दूसरे किसी पुरुषार्थ की बात तब उसके समक्ष ही में नहीं आती। इसलिये कृष्णोन्मुख भक्त जीव के हृदय में केवल यह अनुभव होता है कि श्री हरितोषण का एकमात्र उपाय—प्रेम भक्ति को छोड़कर जीव का दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है—दूसरे सभी पुरुषार्थ सकैतव और सकाम हैं।

पुरुषार्थ चतुष्टय के अतीत (परे) प्रेम भक्ति ही पंचम पुरुषार्थ।

इसलिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चतुर्विध सकैतव और सकाम पुरुषार्थ रूप स्वार्थ की सीमा अतिक्रमपूर्वक पंचम स्थानीय पुरुषोत्तमार्थ अर्थात् कृष्णार्थ या परम पुरुषार्थ रूप अकैतव प्रेम भक्ति ही को गौड़ीय वैष्णवाचार्यगण ने 'पंचम पुरुषार्थ' के नाम से निर्देश पूर्वक उसको परम् स्वतन्त्रता और विशुद्धता का वैशिष्ट्य प्रदर्शन किया है; यथा,—

कृष्ण विषयक प्रेमा—परम पुरुषार्थ।

जार आगे तृणातुल्य चारि पुरुषार्थ॥

पंचम पुरुषार्थ—प्रेमानन्दामृत सिन्धु।

मोक्षादि आनन्द जार नहे एक बिन्दु॥

(श्री चै० ११।७।८१-८२)

तात्पर्य—श्रीकृष्ण से प्रेम परम पुरुषार्थ है, उसके आगे चार पुरुषार्थ तृण तुल्य हैं। पंचम पुरुषार्थ जो श्रीकृष्ण प्रेमानन्दामृत सिन्धु है उसके समक्ष मोक्षादि का आनन्द एक बिन्दु के भी समान नहीं है।

अतएव भगवद्भक्ति या मूलतः कृष्ण विषयक प्रेम-भक्ति को ही परमपुरुषार्थ या कृष्णार्थ जानना आवश्यक है, जिसकी तुलना में स्वार्थरूप दूसरे सभी पुरुषार्थ तृण प्रायः तुच्छ बोध होते हैं—

**भक्तों के हृदय में ही केवल कृष्ण-सुख-तात्पर्य
रूप शुद्धा भक्ति के उदय होने से समस्त
स्वसुख—तात्पर्य का अवसान।**

जीव के हृदय में परमपुरुषार्थ की उपलब्धि और प्रेम भक्ति का अविर्भाव होने से ही केवल सर्वसेव्य श्री भगवान की सेवा सुख के अतिरिक्त भक्तलोग स्वनिमित्त अप्राकृत नित्य सुख-स्वरूप भगवत्-लोक में वास और भगवत् तुल्य ऐश्वर्यादि की भी उपेक्षा करते हैं,—यह बात हमने श्री भगवान के निजोक्ति से ही जानी है। जो ऐसी अप्राकृत भगवत्तुल्य नित्य सुख सम्पद की उपेक्षा सेवा के अनुरोध में किया करते हैं, उन परम् शुद्ध और निष्काम भक्तों के लिये यह कौन सी बड़ी बात है कि प्राकृत और अनित्य ब्रह्मा, इन्द्रादि के ऐश्वर्य को आकाश-कुसुमवत् अलीक समझें? ^१ तभी तो स्वयं भगवान ने स्वयं ही कैमुत्य न्याय से इसका उल्लेख किया है; यथा,—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्यं
न सार्वभौम न रसाधिपत्यम्।
न योग सिद्धिरिपुनर्भव वा

१. कैवल्यं नरकायते त्रिदशपुराकाशपुष्पायते—'—इत्यादि। (श्री चैतन्य चन्द्रामृत ६५ दृष्टव्य।)

मय्यार्पितात्मेच्छति मद्दिनान्यत्॥

(श्री भा० ११।१४।१४)

इसका अर्थ,—जिनका आत्म पर्यन्त सर्वस्य मुझ में समर्पित हो चुका है, ऐसे मेरे भक्त लोग मुझे छोड़कर ब्रह्मपद, इन्द्रलोक, सार्वभौमपद, पातालादि का आधिपत्य, अथवा अणिमादि योग सिद्धि किम्बा ब्रह्म-सायुज्य मुक्ति, किसी की प्राप्त की इच्छा नहीं करते।

इसलिये यह समझ में आ गया कि एकमात्र श्री भगवत्-प्रीति वासना या मूलतः श्रीकृष्ण-सुख-तात्पर्य को छोड़कर भगवद्भक्त लोग अपने लिये प्राकृत या अप्राकृत किसी भी सुख-सम्पद की इच्छा नहीं करते। अतएव शुद्धा भक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा यथार्थ निष्काम और निष्कपट भाव नहीं है। ऐसी भक्ति की शुद्धता के प्रभाव से सर्वाधीश^१ श्री भगवान भी अपनी इच्छा से स्वयं ऐसे भक्तिमान् भक्त के वशीभूत हो जाते हैं।

आप्तकाम श्री भगवान में केवल विशुद्धा भक्ति या भालवासा (प्रेम) पाने की कामना।

यह समझ लेना चाहिये कि वास्तव में ऐसी बात नहीं है कि 'भगवान का प्रयोजन' किम्बा 'कृष्ण-सुख-तात्पर्य' प्रभृति कहने से ऐसा विचार हो कि भगवान को कोई न कोई अभाव है। वह तो

१. 'सर्वस्यमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वमिदं प्रशस्ति'। श्रुतिः।

अर्थ,—वही परमात्मा सबके वशकारी, सब के अधिपति, सबके नियामक हैं। वह सभी पर शासन करते हैं।

पूर्ण और आप्त काम हैं। उनकी सृष्ट अनन्त ब्रह्माण्ड में उन्हें किसी विषय का प्रयोजन या अभाव नहीं है। किन्तु उन्हें केवल एक वस्तु की आकांक्षा रहती है और वह निखिल सृष्ट-पदार्थों में केवल शुद्ध या भक्त जीवहृदय की विशुद्ध प्रीति—प्रेम या सरल भाषा में यो कहा जाय कि भालवासा (प्रेम) पाने की उनकी आकांक्षा। इस प्रेम में लेने-देने का हिसाब नहीं रहता,—प्रतिदान की अपेक्षा नहीं रहती,—केवल प्रेम के लिये ही प्रेम। इसी का ही नाम निष्काम शुद्धा भक्ति या कृष्ण-प्रेम है। श्री भगवान् पूर्ण होने के कारण, स्वरूप वैभव के अन्तर्गत अनन्त भक्तों के पूर्ण प्रेम या निविड़ भालवासा (गाढ़ प्रेम) के द्वारा निरन्तर अभिषिक्त होने पर भी, जीव-कोटि द्वारा अनन्त शुद्ध जीव का प्रेम पाने की भी आकांक्षा उनको बनी रहती है।^१ उनकी ऐसी आकांक्षा रहने के कारण अनादि बहिर्मुख जीव-जगत् के लिये भी परम आशा की बात यह है कि इस विशुद्ध भालवासा या भक्ति के द्वारा जीव मात्र के लिये किसी दिन भगवत्-सम्मिलन की सम्भावना भी है। वह सर्वाधीश होकर भी केवल भक्त की भक्ति द्वारा ही वशीभूत या उनके अधीन हो जाया करते हैं। यह बात श्रुति और स्मृति से भी जानी जाती है।^२

‘रस’ और ‘भाव’ की सक्रियता से ही आनन्द का विकास।

१. ‘पूर्णमदः पूर्णमिदमित्यादि। (वृ० आ० ५।१।१)

२. ‘भक्ति वशः पुरुषः—श्रुतिः।

अहं भक्त पराधीनो’—इत्यादि। (भा० ६।४।६३)

शास्त्र में यह भी जानने में आता है कि श्री भगवान या मूलतः श्रीकृष्ण ही पूर्ण रस स्वरूप हैं।^१ आनन्द ही रस का धर्म है। रसरूप उत्स (श्रोत) से आनन्द की धारा उत्साहित हुआ करती है। भक्ति या भालवासा (प्रेम) का दूसरा नाम 'भाव' है। 'भाव' आनन्द की 'वृत्ति' है। भावरूप वृत्ति के संस्पर्श से ही रस वस्तु में रसता उत्पन्न होती है जो आनन्द को सक्रिय या तरंगाणित करती है। यह उच्छ्वसित आनन्द उसके 'विषय'—श्री भगवान को आनन्दित करता हुआ अपने 'आश्रय'-भक्त को भी उसी प्रसादी आनन्द से अर्थात् भगवत्-सुख से सुखी किया करता है। इस आनन्द के कणमात्र के आभास से ही विश्वसंसार विधृत और विमुग्ध है।^२

आनन्द जहाँ निर्विशेष है, वहाँ यह समझना चाहिये कि भावरूप वृत्ति न रहने से वह आनन्द निष्क्रिय अर्थात् वैचित्र्यहीन-निस्तरंग है। अतएव श्रीकृष्ण सर्वमूल रस हैं, तभी तो भक्ति अर्थात् भाव या भाववासा (प्रेम) पाकर आनन्दित होने की और आनन्दित करने की वासना उनमें अवश्य ही रहेगी। सत्त्व, आनन्द और उसकी वृत्ति या भालवासा—यह चिद्-वस्तु के ही स्वधर्म हैं। जड़ में तो कोई आनन्द नहीं है, तभी भालवासा (प्रेम) भी नहीं है। अतएव श्री भगवान के लिये भक्त की भक्ति या भालवासा की आकांक्षा दूषण नहीं है; भक्तवात्सल्य ही भक्तिवश श्री भगवान का सर्वोत्तम भूषण या उनकी महा-महिमा है।

१. 'रसो वै सः।' (तैत्ति० २।७)

२. 'एतस्यैवानन्दस्थान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।' (वृ०आ० ४।३।३२)

केवल भक्त के साथ भगवान का सापेक्ष सम्बन्ध।

श्री भगवान सभी जीवों के लिये समदर्शी या निरपेक्ष हैं। कोई भी उनका शत्रु या मित्र नहीं है। किन्तु ऐसा होने पर भी जो लोग ऐकान्तिक भाव से उनका भजन करते हैं, ऐसे भक्त लोग उनमें ही अवस्थान करते हैं अर्थात् हरिमय हो जाते हैं और वह (भगवान) भी ऐसे सभी भक्तों में अवस्थान करते हैं।^१ भक्त और भगवान के इस प्रकार सापेक्ष सम्बन्ध में संबद्ध होना भगवान का वैषम्य नहीं है। यह तो भक्त की ही भक्ति का प्रभाव है।

अतएव जो लोग केवल श्री भगवान की सेवा या प्रीति-बांछा के अतिरिक्त किसी भी सुख का सन्धान तक अपने लिये नहीं रखते—सृष्ट जगत में एकमात्र सृष्टा—श्री भगवान का अर्थ या प्रयोजन छोड़कर अर्थात् परमपुरुषार्थ या कृष्णार्थ के अतिरिक्त जिन्हें स्वार्थरूप सब पुरुषार्थ ही अर्थ हीन मालूम होते हैं; जिनका आत्म पर्यन्त सर्वस्व उनके श्री चरण में समर्पित है, जो लोग केवल उनके ही सुखविधान के लिये उन्हें चाहते हैं, ऐसे शुद्ध भक्तों की सुनिर्मल भक्ति से वशीभूत न होकर—उनको आत्मदान न करके श्री भगवान उनकी उपेक्षा करें, यह कैसे हो सकता है?

मुनिवर दुर्वासा के प्रति यही बात उन्होंने “अहं भक्त पराधीनो” इत्यादि श्लोक में (भा० ६।४।६३-६६)। स्वयं ही श्रीमुख से उल्लास सहित व्यक्त किया है। उसका अर्थ यह है कि—हे द्विजवर मैं भक्त पराधीन हूँ—भक्त के निकट मेरी स्वाधीनता नहीं है। साधुओं द्वारा मेरा हृदय ग्रस्त हो गया है। मैं भक्तजन प्रिय

हूँ। जिनका मैं ही एकमात्र गति हूँ, ऐसे सभी भक्त-साधुओं को छोड़कर मुझे अपने आत्मा किम्बा आत्यान्तिकी लक्ष्मी भी प्रिय नहीं है।

जो लोग अपने पुत्र, कलत्र, ग्रह, स्वजन, धन, प्राण और यह लोक व परलोक पर्यन्त सभी तुच्छ समझकर मेरे शरणागत हुये हैं, उनको परित्याग करने में मैं कैसे उत्साही हो सकता हूँ। सर्वत्र समदर्शी साधुगण मुझे अपने अपने हृदय में बाँधकर उसी प्रकार वशीभूत कर लेते हैं, जिस प्रकार साध्वी स्त्री सत्पति को वशीभूत कर लेती है। इत्यादि।

अतएव निष्कपट और निष्काम अर्थात् परमशुद्ध भक्त के हृदय की निर्मल भक्ति या भालवासा को छोड़कर दूसरे किसी साधन द्वारा भगवान को वशीभूत नहीं किया जा सकता है, यह बात भी उन्होंने स्वयं ही प्रकाश कर दी है,—यथा,—

‘न साधयति माँ योगो न संख्यं धर्म उद्धव।

न स्वयाध्यायस्तपसत्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

(श्री भा० ११।१४।२०)

इसका अर्थ,—हे उद्धव, आसन, प्राणायामादि अष्टांग योग, तत्त्वविचारादिरूप सांख्य, वेदाध्यायन, तपस्या, संन्यास—यह सब मुझे वैसा वशीभूत नहीं कर सकते, जैसा मुझमें वर्द्धिता भक्ति द्वारा मैं वशीभूत होता हूँ।

‘ज्ञान, कर्म, योग, धर्म नहे कृष्ण वश।

कृष्ण वश हेतु एक प्रेम भक्ति-रस॥

(श्री चै० १।१७।७१)

तात्पर्य—श्रीकृष्ण केवल प्रेम भक्ति से वश में होते हैं। वे ज्ञान,

कर्म, योग, धर्म से वश में नहीं होते हैं।

इस तरह से अब यही स्थरीकृत होता है कि भगवद्भक्त या मूलतः श्रीकृष्ण भक्त ही यथार्थ निष्काम या श्रुति की भाषा में— 'अकामहत' होते हैं।

समस्त श्रुति में प्रच्छन्नता के आवरण में निष्काम भगवद्भक्त की ही सर्व श्रेष्ठता कीर्तित हुई है।

अब हम यह देख सकेंगे कि आच्छादित भागवत्-धर्म रूप सभी वेदों में परोक्षवाद के आवरण में आवृत श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण भक्ति की तरह निष्काम भक्तों की या मूलतः श्रीकृष्ण भक्तों की सर्वश्रेष्ठता का विषय भी उसी तरह परोक्ष या अस्पष्ट भाव से ही व्यक्त किया गया है। अनावृत वेद स्वरूप श्रीमद्भागवत से ही इसका प्रकृष्ट तात्पर्य अवगत होगा। किन्तु ग्रंथ के विस्तार हो जाने के भय से उनमें से केवल कुछ श्रुतिवाक्य के सम्बन्ध में संक्षेप से नीचे दिग्दर्शन कराया जाता है:—

यदा सर्वे प्रमुचन्ते कामा तेहस्य हृदिश्रिताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भगवत्यत्र ब्रह्म समुश्नुते॥

(काठके० ६।१४)

इसका अर्थ,—जो समस्त कामना मर्त्य जीव के हृदय में आश्रय किये हुये हैं, वह सभी कामना जब पूर्णरूप से विनष्ट हो जाती हैं। तभी मर्त्य अर्थात् संसारी जीव अमृतत्व लाभ करता है और तभी ब्रह्म को प्राप्त कर पाता है।

यथा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनु शासनम्॥ (काठके० ६।१५)

इसका अर्थ,—जब इस लोक में हृदय की सभी ग्रंथी टूट जाती हैं तब मर्त्य जीव अमर हो जाता है। यही मात्र (इस शास्त्र) का उपदेश है। परोक्षवाद के अस्पष्टता में आवृत श्रुति के इन दो मंत्रों के विषय में यथाक्रम से आलोचना की जाती है। प्रथमोक्त मंत्र में ब्रह्म प्राप्ति का उल्लेख होने से, साधारण अर्थ में तो ऐसा मालूम होता है कि यह ज्ञानी सम्बन्धीय है किन्तु स्थिर भाव से पर्यालोचना करने पर दोनों मंत्रों की भक्तपरता ही प्रतिपन्न होगी।

श्री भागवतीय श्लोक से इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है,—
‘न काम कर्मवीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।

वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥ (११।२।५०)

इसका अर्थ,—जिसके चित्त में भोगवासना और विषय कामना का बीज उद्भव नहीं होता और जिसे केवल वासुदेव भगवान का ही सहारा रहता है, वही व्यक्ति भागवतोत्तम है।

ब्रह्म ज्ञान और परमात्मा साक्षात्कारादि द्वारा भी ज्ञानी व योगीगण अमृतत्व प्राप्त करते हैं, इसका भी वेदादि शास्त्रों में उल्लेख देखा जाता है। ‘यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतवचं गच्छति।’ (काठके० २।३।८)। अर्थात् जिसे जानकर जीव मुक्त होकर अमृतत्व प्राप्त कर लेता है। इसी तरह अनेक जगह अमृतत्व का अर्थ होता है—मोक्ष लाभ करना या जन्म-मृत्यु अतिक्रम करना। शब्द के मुक्त प्रगृहावृत्ति द्वारा^१ अर्थात् उसके अर्थ की गति जितनी

-
१. शब्द की वृत्ति दो प्रकार की होती है। बिना लगाम का घोड़ा जैसे अपनी इच्छानुसार दौड़कर अपनी गति की चरम सीमा तक पहुँच सकता है, उसे मुक्त प्रगृहावृत्ति कहते हैं। लगाम लगे रहने पर वह वैसा नहीं कर सकता, यह संकोचात्मिका वृत्ति कहलाती है।

दूर तक जाने की शक्ति, हो, वहाँ तक जाने देने से अमृतत्व का अर्थ भक्ति या भागवतधर्मरूप अमृत का समुद्र ही समझ में आता है। इसलिये यह भी जान लेना चाहिये कि भक्ति रसामृत सिन्धु के जल में निमग्न भक्त लोग केवल मृत्यु को अतिक्रमरूप अमृतत्व ही प्राप्त नहीं कर लेते, अपितु वह लोग तो सर्वमूल परतत्त्व या स्वयं भगवान का अधरामृत तक प्राप्त कर लेते हैं।^१ इस मुक्त प्रग्रहावृत्ति द्वारा ही निम्नोद्धृत सभी मंत्रों का अर्थ निर्णय किया जाता है।

उक्त श्रुति वाक्य में 'प्रमुच्यन्ते कामा'—और भागवतोक्त 'प्रोज्झित—कैतवः' (१।१।२) का एक ही अर्थ है। सुतरां उक्त भागवतीय श्लोक में 'प्र' शब्द द्वारा जिस तरह मोक्षाभिसन्धि अर्थात् मुक्ति कामनारूप कैतव पर्यन्त परित्यक्त हुआ है, श्रुत्युक्त 'प्रमुच्यन्ते' में 'प्र' शब्द का अर्थ उसी तरह का ही समझना चाहिये। अर्थात् यहाँ भी 'प्र' शब्द से मोक्ष कामना पर्यन्त जीव की स्वार्थ सम्बन्धीय सभी कामना के विनष्ट होने की बात बतायी गयी है। केवल शुद्धा भक्ति के उदय होने से भी जीव के हृदय से मुक्ति की कामना तक निकल जाती है। इसलिये उक्त मंत्र का भक्तपरता ही सूचित होता है और भी देखा जाता है कि उक्त श्रुति वाक्य में 'अथ मर्त्योऽमृतो भवति' अर्थात् तब मर्त्य—संसारी जीव अमृतत्व प्राप्त करता है,—इस उक्ति के साथ भागवतीय 'यं ज्ञात्वामृतमुश्नुते' (भा० ६।३।२१) अर्थात् भक्ति या भागवत धर्म की अनुभूति से जीव अमृतत्व को प्राप्त होता है,—इस श्लोक के अर्थ का एक ही तात्पर्य सूचित होने से, उक्त श्रुति वाक्य के निगूढ़ अर्थ से भक्तपरता

१. भागवत ६।३।२१ श्री जीवपादकृत क्रम सन्दर्भः टीका देखना चाहिये।

ही प्रतिपादित होता है।

सर्वशेष्य—श्रुत्युक्त 'अत्र ब्रह्म समश्नुते'—अर्थात् उसी समय ही ब्रह्म को प्राप्त होता है,—इस ब्रह्म शब्द का निगूढ़ तात्पर्य श्रीकृष्ण ही हैं, यह भी परवर्ती श्रुतिवाक्य के आलोचना से, भागवतीय श्लोक के अर्थ द्वारा ही प्रतिपन्न होगा।

अब परवर्ती श्रुतिवाक्य का अभिप्राय समझना चाहिये। 'यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येहग्रंथयः' अर्थात् (पूर्वोक्त ब्रह्म प्राप्ति या दर्शन के फल से) 'जब इस लोक में हृदय की ग्रंथि समूह प्रकृष्ट रूप से टूट जाती है'—यहाँ भी 'प्र' शब्द से पूर्वोक्त अभिप्राय अर्थात् मुक्ति की कामनारूप ग्रंथि तक विनष्ट या टूट जाने की बात ही बतायी गयी है। दूसरी श्रुति में और भी विस्तृत भाव से इसी का ही उल्लेख देखा जाता है; यथा,—

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २।२।८)

इसका अर्थ,—उसी परावर के दर्शन करने से हृदयग्रंथि (अविद्याजनित विषय कामनादि) खुल जाने से सभी संशय मिट जाते हैं और उस साधक के सभी कर्म क्षय हो जाते हैं। पूर्वोक्त 'ब्रह्म' और इस 'परावर' शब्द का प्रकृष्ट अर्थ श्रीकृष्ण ही है, यह बात अनाच्छादित वेदस्वरूप श्री भागवतीय श्लोक के अर्थ से ही हम जान सकेंगे,—

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यते सर्व संशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥

(श्री भा० ११।२०।३०)

इसका अर्थ,—(श्री कृष्ण ने उद्धव से कहा है) श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ निखिल प्राणी में परमात्मा का रूप से प्रकाशित मैं ही हूँ। मुझ दर्शनकारी^१ व्यक्ति की अर्थात् मेरे भक्त की हृदयग्रंथि टूट जाती है, सभी संशय मिट जाते हैं और कर्मबन्धन क्षय हो जाता है।

अतएव एकमात्र भक्ति ग्राह्य श्रीकृष्ण का दर्शनादि केवल उनके भक्तों का ही अधिकार है। यही कारण है कि उक्त दोनों मंत्रों में निष्काम भक्त को ही भक्तिरूप अमृतत्व के प्राप्त होने की बात और उसके आनुषंगिक फल से, मुक्तिवांछा पर्यन्त सभी कामना प्रकृष्ट रूप में मिट कर, मुख्य फल से श्रीभगवत् या सर्वमूल श्रीकृष्ण के साक्षात्कार की बात अर्थात् भक्तपरता ही सूचित हुई है, यही समझ में आता है। विशेषतः 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' अर्थात् 'इसी समय ही ब्रह्म को प्राप्त होता है' इस उक्ति से भी यह समझ में आता है कि केवल भक्ति द्वारा ही बिना भोगे प्रारब्ध पर्यन्त सभी कर्मबन्धन क्षय होने से, उसी देह में ही सिद्ध भक्तों को यहीं—इस लोक में ही भगवद्दर्शनादि हो जाता है या भगवत्-प्राप्ति हो जाती है।

दूसरी ओर—ज्ञानादि अन्य किसी उपाय से बिना भोगे प्रारब्ध कर्म का क्षय नहीं होता^२, और प्रारब्ध के क्षय होने पर देहान्त होने से, शरीर के अन्त होने पर सायुज्यरूप में ब्रह्मप्राप्ति

१. निर्विशेष ब्रह्म—ज्ञातव्य वस्तु है, सविशेष भगवान् दर्शनीय वस्तु हैं। उक्त सभी श्रुति में दर्शन व प्राप्ति की बात स्पष्टता उल्लेख रहने से यह भगवत् सम्बन्धीय ही समझ में आता है इसलिये भक्त पर है।
२. 'यद्वक्षसाक्षात्कृतिनिष्ठयापि' इत्यादि।
(श्री मद्रूप गोस्वामिचरणकृत श्रीकृष्णनामाष्टक ४ देखना चाहिये।)

सम्भव होती है। इसलिये परोक्ष भाव में होने पर भी, निष्काम भक्त की इस लोक में ही भगवत-प्राप्ति की बात उक्त दोनों मंत्रों में सूचित हुई जान पड़ती है।

अतः पर इस विषय में दूसरी एक श्रुति वाक्य के तात्पर्य की पर्यालोचना की जाती है।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।

सर्व भूतेषु चात्मनं ततो न विजुगुप्सते॥

(ईश० ६)

इसका अर्थ,—जो आत्मा में (परमात्मा में) सभी पदार्थों को देखते हैं और सभी पदार्थों में आत्मा को देखते हैं, इसलिये वह किसी से घृणा नहीं करते।

उक्त प्रच्छन्न श्रुति वाक्य में 'जो' और 'आत्मा' शब्द के साधारण अर्थ से तो सर्वत्र परमात्मदर्शी योगी या ज्ञानी का भी लक्षण हो सकता है। किन्तु मुक्त प्रग्रहावृत्ति द्वारा उक्त सभी शब्दों की चरमगति या मुख्य तात्पर्य श्री भगवान में और श्री भगवद्भक्ति में ही पर्यवसित है, यह बात सभी निगूढ़ वेद के सुस्पष्ट अर्थ स्वरूप भागवतीय श्लोक से ही अवगत हो जावेगी। यथा,—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।

भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(श्री भा० ११।२।४५)

इसका अर्थ,—जो चेतन व सचेतन सभी पदार्थों में अधिष्ठित आत्मा को श्री भगवान के आविर्भावविशेष रूप में सन्दर्शन करता है और जो आविर्भूत आत्मास्वरूप श्री भगवान के सभी पदार्थों का दर्शन करता है, वह भागवतोत्तम होते हैं।

इस तरह से समझ में आ गया कि, श्रुति में प्रच्छन्नभाव से उक्त मंत्र में जिस विषय का वर्णन हुआ है, उसका प्रकृष्ट अर्थ श्री भागवत से ही विदित हो जाता है और वह है—परमशुद्ध भगवद्भक्तों की ही कथा। इससे और अधिक उल्लेख अनावश्यक है। और भी देखा जाता है कि श्रुति में (तैत्ति० २।८) 'ते ये शतं मानुषा आनन्दाः'—इत्यादि आनन्द मीमांसा में, 'श्रोत्रियस्थ चाकामहतस्य'—अर्थात् (श्रोत्रियस्य—वेदज्ञस्य) (अकाम हतस्य—काममुक्तस्य)—इस उक्ति द्वारा, जो निष्काम और वेदज्ञ के पूर्णानन्द की बात का उल्लेख किया गया है, इसका साधारण अर्थ, स्थल-विशेष में प्रयुक्त हो सकने पर भी, उक्त 'निष्काम' और 'वेदज्ञ' शब्द की चरमगति जिस जगह पर्यवसित है, (मुक्त प्रग्रहावृत्ति द्वारा प्राप्त) वह निगूढ अर्थ 'भगवद्भक्त या सर्वमूल कृष्णभक्त है।^१ यह बात कि केवल भक्त ही प्रकृष्ट निष्काम है पहले प्रतिपादित हो चुकी है।

अब यह देखना है कि प्रकृष्ट वेदज्ञ कहने से क्या समझा जाता है? यह निम्नोक्त शास्त्रोक्ति से ही प्रतिपन्न हो जावेगा। यथा,—

वेद वेद्यो हि भगवान् वासुदेवः सनातनः।

स गीयते परो वेदैर्यो वेदैर्न स वेदवित्॥

(कूर्म पु० ५१।२१।२३)

-
१. लौकिक और अलौकिक सर्वानन्द ही निष्काम है अतएव पूर्णानन्दी भक्तों के आयत्ताधीन है, श्रुति का यह तात्पर्य निम्नोक्त भागवतीय श्लोक में अभिव्यक्त हुआ है;—'यत् कर्मभिर्यत्तसा—' इत्यादि (भा० ११।२०।३२-३६ द्रष्टव्य।) यं यं लोकं—' इत्यादि मंत्र (मुण्डक० ३।१।१० और उक्त मंत्र की भक्तपर व्याख्या गोविन्द भाष्य में (३।३।५१) देखना चाहिये।

इसका अर्थ,—भगवान् सनातन पुरुष वासुदेव ही सभी वेदों के वेद्यवस्तु हैं। उन्हीं की ही सर्वश्रेष्ठता सभी वेदों में परिगीत हुई है। यह बात जिन्हें विदित हो चुकी है, वही वेदवित् (वेदों के जानने वाले) हैं।

इसलिये वेद कृष्णमय है, (वेदैश्च सर्वैरहमेन वेद्यो—'॥ (गीता १५।१५)।—वेद का यह निगूढ़ रहस्य जिन लोगों के निकट स्वयं उद्घाटित हुआ है, केवल वही भक्त लोग या मूलतः श्रीकृष्ण भक्त लोग ही यथार्थ वेदविद् हैं,—सर्व भाव से यही प्रतिपादित हुआ है।

अतएव 'अकामहत' और श्रोत्रिय' शब्द में जिसे श्रुति ने अस्पष्ट भाव से निर्देश किया है, उसका निगूढ़ और चरम अर्थ 'श्री कृष्णभक्त' होता है।

अस्पष्ट श्रुति में भागवतपद का इंगित और श्री भागवत में उसका सुस्पष्ट उल्लेख।

भगवद्भक्त विषयक पूर्वोक्त सभी श्रुतिवाक्य का तात्पर्य सह, चांद्र और ब्रह्मपद के अतिरिक्त 'तृतीय' अर्थात् अप्राकृत भागवतपद के इंगित द्वारा, आप्तकाम या निष्काम भक्त के सम्बन्ध में ही निगूढ़ भाव से निम्नोक्त श्रुतिमंत्र में निर्देश किया गया है,—यह बात स्थिर भाव से चिन्ता करके देखने से ही समझ में आ सकेगी।

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः

क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहानिः।

तस्याभिद्यानात् तृतीयं देहभेदे

विश्वैश्वर्यं केवल माप्त कामः॥

(श्वेता० १।११)

तात्पर्यानुवाद,—“जिन्हें सद्गुरु के मुख से शास्त्र से परमेश्वर का तत्त्व अवगत हुआ है, उन्हें फिर देह-दैहिक ममतापाश नहीं रहता। पाश न रहने से पाशजन्य क्लेश भी नहीं रहता। क्रमशः जन्ममृत्यु का क्लेश भी नहीं रहता। ऐसे पाशनिर्मुक्त पुरुष यदि भोग के असमाप्ति तक जन्मादि ग्रहण भी करते हैं तो यह जन्मादिजन्य जो क्लेश होता है, उसे उन्हें अनुभव करना नहीं पड़ता। तत्पश्चात् उत्तरोत्तर परमेश्वर के स्मरण से लिङ्गदेह का नाश हो जाता है। लिङ्ग देह के नष्ट होने पर, ऐसे वेदज्ञ सर्वैश्वर्यसम्पन्न ‘चांद्रपद’ और ‘ब्रह्मपद’^१ की अपेक्षा तृतीय प्रकृति के गन्ध से भी अछूते भागवत पद को प्राप्त करते हैं। इसकी प्राप्ति से वह पूर्णकाम हो जाते हैं।”^२

उक्त श्रुति वाक्य में—अस्पष्ट ‘तृतीय’ शब्द के आवरण में जो निर्देश किया गया है, वह ‘चांद्र’ और ‘ब्रह्मपद’ की अपेक्षा तृतीयस्थलवर्ती अर्थात् प्रबन्धातीत वैष्णव या ‘भागवतपद’ है और यह परमपद तुरन्त ही भगवद्भक्तों को प्राप्य हो जाता है, यह बात सुस्पष्ट वेदार्थ स्वरूप श्री भागवत से जानी जाती है; यथा,—

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्माभिः पुमान्
विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्।

अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं

पदं यथा ह विषुधाः कलात्यये॥ (४।२४।२६)

इसका अर्थ,—(प्रचेतागण के प्रति श्री रुद्रदेव की उक्ति)—
स्वधर्म-परायण व्यक्ति को उनके अनेक जन्मों के पश्चात् ब्रह्मदेव

१. गीता ८।२४।२९ द्रष्टव्य।

२. प्रभुपाद श्यामलाल महोदय कृत अनुवाद।

(ब्रह्मा का पद) प्राप्त होता है। उसके पश्चात् अतिशयपुण्य से मुझको (रुद्र) को प्राप्त करता है। किन्तु भगवद्भक्तों को देहान्त पर ही (या भक्ति सिद्ध होने से ही) प्रपंचातीत वैष्णवपद (भागवतपद) मिल जाता है। जैसे, इस समय मैं रुद्र अधिकारिकवत् और सुरगण अधिकारिक रूप में वर्तमान हैं। इन हमारे पाधिकारों की समाप्ति पर लिङ्गदेह के भंग होने से हम लोग वही प्रपंचातीत पद प्राप्त करेंगे।

परोक्षवाद मेघजाल में आवृत रखा जाने पर भी, फिर यह भी देखा जाता है कि कहीं-कहीं मेघयुक्त सूर्य के आत्मप्रकाश की तरह, सुस्पष्टरूप से भी भक्त हृदय संचारिणी-भक्ति की महामहिमा दूसरे श्रुति में विघोषित हुई है; यथा,—

‘भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेव एनं दर्शयति भक्ति वशः पुरुषः। भक्तिरेव भूयसीति॥’ (प्रीति सन्दर्भधृत माठ की श्रुति।)

अर्थ,—भक्ति ही इन्हें (भक्त को) भगवान के पास ले जाती है, भक्ति ही भक्त को भगवद्दर्शन कराती है, भगवान भक्ति के वश है। भक्ति ही भूयसी (अधिक) है।

इस तरह से अब यह समझ में आ सकता है कि,—‘त्रयी’ संज्ञक वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषयत्रय जो है, उस परम निगूढ़ भागवतधर्म की विषय वस्तु—श्रीकृष्ण भक्ति और श्रीकृष्ण की सर्वश्रेष्ठता के सम्बन्ध में जिस तरह परोक्षवाद के अस्पष्टता के आवरण में समस्त वेद कीर्तित हुये हैं, (‘सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति’। कठ० १।२।१५), उसी तरह भगवद्भक्त या मूलतः श्रीकृष्णभक्त की सर्वश्रेष्ठता का विषय भी उसी मुख्य प्रतिपाद्य के अर्थात् श्री भागवतधर्म के अन्तर्गत होने से, वह विषय भी उसी तरह अस्पष्टता

के आवरण में उक्त प्रकार से ही परिगीत होता देखा जाता है।

भगवद्भक्तगण ही असमोर्द्ध महिमा में सुप्रतिष्ठित हैं।

दूसरी ओर—सुप्रकाशित वेदार्थस्वरूप श्रीमद्भागवत में इसी वेदनिगूढ भक्तों की ओर उनकी असमोर्द्ध महिमा की बात बहुत प्रकार से कीर्तित होकर, वेदों की सभी अस्पष्टता को सुस्पष्ट किया गया है। दूसरे सभी शास्त्रों में भी भक्त महिमा की विजयवार्ता सर्वोपरि और सर्वप्रकार से विघोषित है। उन सबका कुछ अंश मात्र एकत्र संगृहीतरूप में, सुप्रसिद्ध श्री हरिभक्ति विलास के दशम विलास में लिपिबद्ध हुआ है। प्रधानतः उक्त ग्रंथ से भक्त महिमा विषयक कुछ श्लोकों के शुरु का अंश निर्देश पूर्वक^१, इस ग्रन्थ के विस्तार की शंका से केवल उसका अनुवाद मात्र नीचे उद्धृत किया गया है।

श्री भगद्भक्तों का या मूलतः श्रीकृष्ण-भक्तों का—१,—
सर्ववर्णाधिकत्व—(‘ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः-७८)

अर्थ,—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यहाँ तक कि अन्तज पर्यन्त जिस किसी भी जाति के हों,—हरिभक्त होने से वह सर्वापेक्षा उत्तम हो जाते हैं।

२,—सर्वधर्मकृदत्व—(‘स कर्ता सर्वधर्माणि:-१०)

अर्थ,—हे केशव, जो तुम्हारा भक्त है, वही व्यक्ति सर्वधर्म

१. श्री शरच्चन्द्र शर्मा द्वारा प्रकाशित संस्करण से श्लोक संख्या लिखी गयी है।

कर्ता है। और जो तुममें भक्तिहीन है, वह व्यक्ति सर्वपाप कर्ता है।

३,—कर्मि, ज्ञानी और योगी से अधिकत्व—

(‘स एव ज्ञान वाल्लोके—’ ७७)

अर्थ,—संसार के हरिभक्तिमान् पुरुष ही श्रेष्ठ, ज्ञानी, श्रेष्ठ योगी और सभी यज्ञों के श्रेष्ठ कर्ता कहकर कीर्तित होते हैं।

४,—बहि, सूर्य, तारकाद्यधिकत्व—

(‘नार्नि सूर्यो न चन्द्र—’ १४५)

अर्थ,—अग्नि, सूर्य, शशि, तारका, पृथिवी, जल, आकाश, अनिल, वाक्य, मन प्रभृति की उपासना यह समझकर करने से कि यह अलग-अलग स्वयं शक्तिशाली हैं, पापनाश की सम्भावना नहीं है, किन्तु मुहूर्तकाल साधुसेवा द्वारा समस्त पाप और अज्ञानादि का नाश हो जाता है।

५,—सर्वपुरुषार्थ सिद्धत्व—(धर्मार्थ काम मोक्षारब्धः—’ १०४)

अर्थ,—हे द्विजोत्तम! इसमें कोई संदेह नहीं है कि हरिभक्तिपरायणव्यक्ति के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक पुरुषार्थ स्वतः ही सुसिद्ध हो जाते हैं।

६,—कोटिमुक्ताधिकत्व—(‘मुक्तानामपि सिद्धानां—’ १२६)।

अर्थ,—हे महामुने, कोटि मुक्त या सिद्धों में भी एक हरिपरायण प्रशान्तात्मा व्यक्ति सुदुर्लभ है।

७,—सर्वत्र पूज्यत्व—(‘सर्वत्र वैष्णवाः पूज्याः—’ ७५)

अर्थ,—स्वर्ग, मर्त्य, पाताल सर्वत्र ही वैष्णवगण देवता, मानव, पन्नग और राक्षसकुल के पूज्य हैं।

८,—सर्वतीर्थाधिकत्व—(‘ये भजन्ति जगद्योनि—’ ८२)

अर्थ,—हे नृपवर, जो लोग जगत्-कारण वासुदेव की

आराधना करते हैं, वही प्रधान तीर्थ स्वरूप हैं। उन लोगों की अपेक्षा और कोई तीर्थ विद्यमान नहीं है।

६,—गंगा यमुनादि से अधिकत्व—(येषां पादरजे नैव—१७४)।

अर्थ,—जिनके पदरज से ही गंगा, नर्मदा और यमुना के जल स्पर्श का फल मिलता है, ऐसे भक्तों के पादोदक की महिमा इससे ज्यादा और क्या वर्णन की जाय?

१०,—सर्वदेवाधिकत्व—(वैष्णवान्भज कौन्तेय—'६२)।

अर्थ,—हे पार्थ, केवल वैष्णवों की आराधना करो। दूसरे देवताओं की उपासना आवश्यक नहीं है। वैष्णव लोग निखिल देवगण सहित इस जगत् को पवित्र करते हैं।

११,—ब्रह्मा-रुद्राधिकत्व—

(कलौ भागवतनाम दुर्लभं—६५)।

अर्थ,—कलियुग में भागवत नाम दुर्लभ है, प्रायः पाये नहीं जाते हैं।^१ भगवत्पद ब्रह्मा-रुद्रपद से भी श्रेष्ठ है। यह बात बृहस्पति ने मुझसे बताया है। (इन्द्रोक्ति)।

१२,—भगवत् प्रतिनिधित्व—(न में प्रिय चतुर्वेदी—'६१)।

अर्थ,—चारों वेदों का जाननेवाला व्यक्ति यदि मद्भक्ति परायण नहीं है तो वह मुझे प्रिय नहीं है। भक्तिमान होने से स्वपच को ही दान दो या उससे लो। मेरे ऐसे भक्त को मेरी तरह ही पूज्य

१. सर्वसाधारण कलियुग में भागवत नाम दुर्लभ होने पर भी, श्रीकरभाजनोक्त कलियुग विशेष में भगवत्-परायण व्यक्ति की सुलभत्व की घोषणा की गयी है। 'कलौ खलु भविष्यन्ति नारायण परायणाः।

समझो।

१३,—लोकानुग्रहे विष्णु तुल्यत्व—(‘ये विष्णुनिरता शान्ता—’१०५)।

अर्थ,—श्री हरि में अनुरक्त, शान्त, लोगों के प्रति अनुग्रह करने में तत्पर और सर्व भूतों पर दया करने वाले साधुगण श्री हरितुल्य समझकर कीर्तित होते हैं।

१४,—भक्ति दातृत्व—(नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं—’भा० ७।५।३२)।

अर्थ,—प्रह्लाद ने कहा है कि जब तक विषयवासना शून्य महत्तम के चरण रज द्वारा अभिषिक्त न हो, तब तक लोगों की बुद्धि भगवत्-चरण के स्पर्श करने में समर्थ नहीं होती जिससे सभी अनर्थों का नाश हो जाता है।^१

१५,—भगवत् प्रियत्व—(न तथा में प्रियतम—’ भा० ११।१४।१५)।

अर्थ,—श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है कि भक्त होने से जैसे तुम मुझे प्रिय हो, वैसा ब्रह्मा पुत्र होकर भी प्रिय नहीं है, शंकर मेरा स्वरूप होने पर भी वैसा प्रिय नहीं है, संकर्षण भाई होने पर भी वैसा प्रिय नहीं है, लक्ष्मी भार्या होने पर भी वैसी प्रिय नहीं है। यहाँ तक कि अपना स्वरूप भी मुझे वैसा प्यारा नहीं है।

१६,—भगवत् पूजा से भक्त पूजा का अधिकत्व—

(आराधनानां सर्वेषां—’२६७)।

अर्थ,—(पार्वती के प्रति श्रीशिवोक्ति) हे देवि, जितनी

१. रहूगणैतत्—तपसा—‘इत्यादि। (भा० ५।१२।१२ द्रष्टव्य)।

आराधनायें हैं उनमें श्री विष्णु की आराधना ही श्रेष्ठ है, किन्तु वैष्णव की आराधना उससे भी श्रेष्ठतर जानो।^१

सर्वोपरि श्रीभगवत् वशीकारित्व।

(‘अहं भक्त राधीनो—१३४)। (‘न रोधयति मां—’२११)।

अर्थ,—श्रीकृष्ण ने कहा कि उद्धव, सर्वसंग अपसारक साधुसंग मुझे जैसा वशीभूत कर लेता है, वैसा मैं अष्टांग योग से, तत्त्वविचार रूप सांख्य से, परोकारादि धर्म से, वेद पाठ, तपस्या और संन्यास से, अग्निहोत्रादि और कुआं तालाबादि के निर्माण से, दक्षिणा दान से, व्रत से अथवा देवोपासना से, मंत्र के जप से, तीर्थयात्रा से, नियम से अथवा अहिंसादि संयम द्वारा भी वशीभूत नहीं हो सकता हूँ।

(‘तत्परो दुर्लभो नास्ति—’९३)। (अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण की उक्ति)।

अर्थ,—हे अर्जुन, मैं पुनः पुनः सत्य कहता हूँ कि इससे दुर्लभ और कुछ नहीं है। भक्त सारे जगत् का गुरु है और मैं भक्तों का गुरु हूँ, मैं जैसे सारे जगत् का गुरु हूँ, भक्त को भी वैसा ही जानो। भक्त ही मेरा बान्धव और मैं भक्तों का बान्धव हूँ। भक्त मेरा गुरु है और मैं भक्तकुलों का गुरु हूँ। भक्तगण जहाँ जाते हैं मुनिवृन्द श्रुतिगण सहित भक्तों का अनुसरण करते हैं। हे अर्जुन, जो लोग केवल मेरे भक्त हैं, वह यथार्थ भक्त नहीं हैं, मेरे भक्तों के भक्त ही मेरे सर्वोत्तम भक्त हैं। हे पार्थ, मुझमें भक्तिमान होकर जिन्होंने

१. ‘मद्भक्तपूजाभ्यधिका—’ (भा० ११।१६।२६)

मेरे लिये अपने बन्धु-बान्धवों को छोड़ दिया है, उनके पास तो मैं बिका रहता हूँ। मुझे क्रय करने के लिये दूसरा कोई भी समर्थ नहीं है।

और भी देखा जाता है,—(‘निरपेक्षं मुनि शान्तं—’ भा० ११।१४।१६) इत्यादि श्लोक में, श्री भगवान ने उद्धव से कहा है कि मैं निरपेक्ष शान्त, समदर्शी, निर्वेद मननशील भक्तों के पीछे-पीछे नित्य फिरा करता हूँ जिससे उन लोगों की पदधूलि से संलिप्त होकर मैं अपने अन्तर्गत सारा ब्रह्माण्ड को पवित्र कर लेता हूँ।

सर्वाधीश श्री भगवान की सर्वाधिक महिमा—भक्तवश्यता या भक्ताधीनता है जिसके सम्बन्ध में इससे अधिक उल्लेख निम्नयोजन है।

इससे यही प्रतिपन्न होता है कि केवल भक्तिमान की विशुद्ध भक्ति द्वारा ही श्री भगवान वशीभूत होते हैं, इसके अतिरिक्त दूसरे उपासकों की उपासनादि द्वारा उनका अनुग्रहादि तो लाभ हो सकता है किन्तु उन्हें वशीभूत करना अर्थात् अपना बना लेना—प्राण से भी प्रियतम बोध करना और उन्हें भी वैसा ही बोध कराना दूसरे किसी भी उपाय से सम्भव नहीं होता। इससे अधिक और क्या हो सकता है कि जिस तरह भक्तगण ‘भगवद्भक्तिमान’ अर्थात् ‘भगवान के भक्त हैं’, उसी तरह श्री भगवान भी ‘भक्त-भक्तिमान’ हैं अर्थात् भक्तों के भक्त कहकर श्री भागवत में कीर्तित हुए हैं, यथा,—

एवं स्वभक्तयो राजन्भगवान्भक्त भक्तिमान्।

उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात्॥

(श्री भा० १०।८६।५६)

इसका अर्थ,—हे राजन् परीक्षित! भक्त-भक्तिमान श्री भगवान वहाँ कुछ दिन रहकर अपने भक्त श्रुतदेव और बहुलाश्व राजा को सन्मार्ग का उपदेश देकर फिर द्वारका में लौट आये।

जिस तरह भक्त लोग भगवान के गुणगान में अपने को भूल जाते हैं, उसी तरह भक्तों के गुणगान में श्री भगवान को भी उल्लसित और आत्महारा होते देखा जाता है। दूसरे किसी उपासक के सम्बन्ध में ऐसा कही भी परिदृष्ट नहीं होता। इसलिये इससे भी भगवद्भक्तों की या मूलतः श्रीकृष्ण भक्तों की सर्वश्रेष्ठता ही प्रतिपादित होती है।

भगवद्भक्तों के पूर्णतः आनुगत्य होने से ही जीव का प्रकृष्ट श्रेयोलाभ होता है। यह बात भी प्रच्छन्नता के आवरण में कहीं जाने पर भी, अपेक्षाकृत स्पष्टरूप में ही श्रुति में कीर्तित होते देखी जाती है, यथा,—

‘तानुपास्व तानुपचरस्य तेभ्या शृणु हि ते त्वामवस्त्विति।’—

(ब्रह्म-सूत्र का ३।३।४७) माधवभाष्यधृत पौष्पायण श्रुति मंत्र।)

अर्थ,—पराविद्या भक्ति के उपासकों की सेवा करो, उनका आश्रय ग्रहण करो, उनसे श्रवण करो, वह तुम्हारी रक्षा निश्चय ही करेंगे।

इस तरह से यही प्रतिपादित हुआ कि सब उपासकों में एकमात्र भगवन्-वशीकार-समर्थ सिद्ध भगवद्भक्तों की या मूलतः श्रीकृष्ण भक्त की सर्वश्रेष्ठता वेदादि सभी शास्त्रों में परिगीत हुई है।

उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ, तीन प्रकार के भक्त।

भगवद्भक्तों में—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकार के भक्तों का निर्देश किया गया है। उनमें से 'सर्वभूतेषु यः पश्येद्—' (भा० ११।२।४५) इत्यादि श्लोकों में उत्तम भक्त के लक्षण बताये गये हैं।

इसका अर्थ,—जो चेतन अचेतन सभी पदार्थों में अधिष्ठित आत्मा को श्री भगवान के आविर्भाव विशेष के रूप में देखते हैं और आविर्भूत आत्मस्वरूप श्री भगवान में सभी पदार्थों का दर्शन करते हैं—वही भागवतोत्तम है।^१

मध्यम भक्तों के लक्षण के सम्बन्ध में ('ईश्वरे मदधीनेषु—' भा० ११।२।४६) इत्यादि श्लोक में कहा गया है।

इसका अर्थ,—जो ईश्वर अर्थात् भगवान से प्रेम, भगवद्भक्तों से मित्रता, अज्ञ जनों के प्रति कृपा और भगवत्-द्वेषी—वहिर्मुख लोगों के प्रति उपेक्षा प्रदर्शन करते हैं,—वह मध्यम भक्त है।

कनिष्ठ भक्तों के लक्षण (अर्चयामेव हरये—' भाग० ११।२।४७ इत्यादि श्लोकों में बताये गये हैं।

इसका अर्थ,—जो श्रद्धापूर्वक प्रतिमा में ही श्री हरि की पूजा करते हैं, किन्तु हरिभक्त की या किसी दूसरे की पूजा नहीं करते,—वह कनिष्ठ भक्त है।

सुदुर्लभा भागवती श्रद्धा के आविर्भाव के तारतम्यानुसार तीन प्रकार के भक्तों के लक्षण श्री चरितामृत में निम्नोक्त प्रकार

१. श्री भागवत के परवर्ती ४८-५५ श्लोकों में भी उत्तम भक्तों के लक्षण वर्णित हुये हैं।

से निरूपित हुए हैं।^१ यथा,—

‘श्रद्धावान् जन होय भक्ते अधिकारी।
 उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ श्रद्धा अनुसारी॥
 शास्त्र युक्त्ये सुनिपुण दृढ़ श्रद्धा जार।
 उत्तम अधिकारी सेई तारे संसार॥
 शास्त्र युक्ति नाही जाने—दृढ़ श्रद्धावान।
 मध्यम अधिकारी—सेई महाभाग्यवान॥
 जाहार कोमल श्रद्धा से कनिष्ठ जन।
 क्रमे क्रमे भक्त होईवे उत्तम॥

(श्री चै० २।२२।३८-४१)

तात्पर्य—श्रद्धा के अनुसार ही भक्ति का अधिकार प्राप्त होता है। उत्तम भक्त, मध्यम भक्त, कनिष्ठ भक्त श्रद्धा के अनुसार ही होते हैं। जिसको दृढ़ श्रद्धा होती है और शास्त्र को भली प्रकार समझते हैं वह उत्तम भक्त है और संसार का उद्धार करते हैं। जो शास्त्र को भली प्रकार नहीं समझते किन्तु भगवान के चरणों में दृढ़ श्रद्धा है। वह मध्यम भक्त है और महा भाग्यवान है। जिसकी श्रद्धा अभी कोमल है वह कनिष्ठ भक्त है किन्तु भगवान के चरणों में श्रद्धा हो गई है तो वह भी धीरे-धीरे उत्तम भक्त हो जावेंगे।

वैधी और रागानुगा भक्ति।

यह साधनरूपा भक्ति फिर प्रधानतः वैधी और रागानुगा—

१. श्री भक्ति रसामृत सिन्धुः १।२।१६-१९ देखना चाहिये।

दो प्रकार की होने के कारण भक्त भी दो प्रकार के होते हैं।^१ उनमें से जो शास्त्रविधि और शासनादि के अनुवर्ती होकर^२ कर्तव्य समझकर जो श्रवण-कीर्तनादि भगवदनुशीलन है,—वही 'वैधी भक्ति' है। इसके द्वारा ऐश्वर्य प्रधान वैकुण्ठ लोक में भगवत्सेवा मिल जाती है और ब्रजवासियों के कृष्णानुराग की कथा सुनकर लोभ के वशवर्ती होकर श्रवण-कीर्तनादि रूप जो कृष्णानुशीलन है,—उसका नाम 'रागानुगा' है।

राग भक्ति विधि भक्ति हय दुई रूप।

स्वयं भगवत्वे भगवत्वे प्रकाश द्विरूप॥

राग भक्त्ये ब्रजे स्वयं भगवान पाय।

विधि भक्त्ये पार्षद देहे वैकुण्ठे जाय॥

(श्री चैतन्य चरिता—२।२४।६१)

तात्पर्य—भक्ति दो प्रकार की है। राग भक्ति और विधि भक्ति। स्वयं भगवान और भगवान का प्रकाश दो प्रकार का है। रागानुगा भक्त ब्रज में स्वयं भगवान के पास जाता है। वैधी भक्त पार्षद देह पाकर वैकुण्ठ में जाता है।

जैसे कुल धर्म और पातिव्रत्यादि के पालन के उद्देश्य से पहले अनुरागहीन पात्र पात्री के बीच में केवल कर्तव्य बोध से शास्त्र के विधानानुसार विवाह बन्धन के समय जो मन में भाव रहता है। यही भाव-जिससे मुख्य कर्तव्य बोध तथा शास्त्र के शासन के आधीन होकर जो भगवान का भजन है, वह वैधी भक्ति है—(यह

१. 'वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा।' (भक्ति-रसामृत सिन्धुः १।२।५)

२. 'मुखनाहूपादेभ्यः—' इत्यादि। (भा० ११।५।२-३)

लौकिक दृष्टान्त है।

दूसरी तरह—पहले ही नायक-नायिका के मध्य अनुराग होने पर परस्पर मिलने की इच्छा व लोभ होने पर शास्त्रीय विधान के अनुसार विवाह बन्धन में जो मन में भाव होता है। वह भाव जो श्रीकृष्ण भजन में होता है वही रागानुगाभक्ति का व्यवहारिक दृष्टान्त है। यह रागानुगा भक्ति प्रायशः ब्रजलोक वासी भक्तों के आनुगत्य से स्वयं भगवान के विषय में ही उदगम होती है। ब्रजवासी लोगों के अनुरूप, ब्रजेन्द्रनन्दन, श्रीकृष्ण की सेवा प्राप्ति ही इसका मुख्य फल है। इस विषय में श्री चैतन्य चरितामृत में कहा गया है,—

“एई तो साधन भक्ति दोई तो प्रकार।

एक वैधी भक्ति, रागानुगा भक्ति आर॥

रागहीन जन भजे शाखेर आज्ञाय।

वैधी भक्ति बुलि तारे सर्व शाखे गाय॥”

(२।२२।५८)

तात्पर्य—यह साधन भक्ति दो प्रकार की होती है। एक वैधी भक्ति, दूसरी रागानुगाभक्ति। राग हीन जन शास्त्र की आज्ञा से जो भजन करते हैं, वह वैधी भक्ति है।

“रागात्मिका भक्ति मुख्य ब्रजवासी जने।

तार अनुगत भक्ति रागानुगा नामे॥”

(२।२२।५९)

तात्पर्य—रागात्मिका भक्ति मुख्य रूप से ब्रजवासी भक्त गण करते हैं। उनके अनुगत्य में जो भक्ति की जाती है वह रागात्मिका भक्ति कहलाती है।

“रागमयी भक्ति होय रागात्मिका नाम।

ताहा शुनि लुब्ध होय, कौन भाग्यवान्॥
 लोभे ब्रजवासी भावे करे अनुगति।
 शास्त्र युक्ति नाही माने रागानुगार प्रकृति॥”

(२।२२।८७)

तात्पर्य—रागमयी भक्ति का नाम रागात्मिका भक्ति है।
 उसको सुनकर कुछ भाग्यवान् लुब्ध हो जाते हैं और फिर लोभ
 से ब्रजवासी भक्तों की अनुगति करते हैं। रागानुगा भक्तों का
 स्वभाव है कि वह शास्त्र नियमों को नहीं मानते हैं।

एकान्ती भक्त की सर्वोत्तमता।

फिर उक्त भगवदुपासक या भक्तों में एकान्तिकी भक्त ही
 सर्वोत्तम है। जो लोग अपने भजन के अनुकूल जो कुछ है, उसके
 अतिरिक्त दूसरे सभी कर्म, सभी धर्म, सभी उपासना और सभी
 विधि-निषेध परित्याग करके, एकान्त भाव से केवल अपने आराध्य
 श्री भगवत्-पाद में निरन्तर निष्ठित रहते हैं, वही एकान्त भक्त होते
 हैं। एकान्तिगण की सर्वश्रेष्ठता के विषय में शास्त्रोक्ति, यथा,—

सत्रयाजि सहस्रेभ्योः सर्ववेदान्त पारगः।

सर्ववेदान्तविद् कोट्यां विष्णु भक्तो विशिष्य ते॥

वैष्णवानां सहस्रेभ्यो एकान्त्येको विशिष्यते।

एकान्तिनस्तु पुरुषः गच्छन्ति परमं पदम्॥

(श्री हरिभक्ति विलासधृत—१०।११७ गरुड़ वचन)

इसका अर्थ,—हजारों याज्ञिक की अपेक्षा एक सर्ववेदान्तवित्
 श्रेष्ठ है, कोटि वेदान्तवित् की अपेक्षा एक विष्णु भक्त श्रेष्ठ है, सहस्र
 वैष्णवों में एक एकान्ती वैष्णव सर्वश्रेष्ठ है। एकान्त वैष्णव को ही

श्री विष्णु^१ का परमपद प्राप्त होता है।

चिन्मय जीव में, जड़ विषय वासनारूप नित्य-क्रिया या विजातीय भाव की अवस्थिति के समय तक ही समस्त विधि-निषेधरूप बन्धन की व्यवस्था है।

साँप से डसे हुये व्यक्ति के शरीर में जब तक साँप का जंहर सक्रिय रहता है, उसी समय तक जिस तरह सुदृढ़ बन्धनादि और मंत्रौषधादि के प्रयोग की आवश्यकता रहती है, किन्तु विषमुक्त होने पर फिर डोरी से बाँधने आदि विविध प्रक्रिया का प्रयोजन नहीं रहता; उसी तरह अनादि संसार-सर्प से डसे हुये जीव के भीतर जब तक स्वसुख या स्वप्रयोजन-तात्पर्य और विषय-वासनारूप विष-क्रिया विद्यमान रहती है, तभी तक वेदादि शास्त्रोक्त बहुत प्रकार की विधि-निषेध के कठिन बन्धन और तदुपयोगी विविध क्रिया-कर्म का अनुष्ठान अवश्य ही प्रयोजनीय समझना चाहिये। माया-संस्पृष्ट जीव के हृदय में समुदित भुक्तीच्छा में—जड़-विषय-वासना और स्वसुख तात्पर्यरूप स्वप्रयोजनपरता विद्यमान रहती है; मुक्तीच्छा में—मायिक या जड़ीय विषय-सुख में विराग वशतः विषय-वासना विलीन होने पर भी, संसार के दुःख की निवृत्तिरूप स्व-तात्पर्य की या स्वप्रयोजनपरता की विद्यमानता अवश्य ही स्वीकार करनी पड़ेगी। इसलिये चिद्वस्तु जीव के हृदय में जब तक जड़ सम्बन्धीय 'भुक्ति' और सकैतव स्वप्रयोजन पर 'मुक्ति' स्पृहारूप अस्वाभाविकता सक्रिय देखी जायेगी, तब तक शास्त्रोक्त विधि-निषेध की सार्थकता और जीव को उसके अधीन रहने की आवश्यकता भी अवश्य ही स्वीकार करनी पड़ेगी।

केवल निर्गुणा भक्ति के उदय होने से ही जीव में
कृष्ण-सुख-तात्पर्यरूप स्वाभाविकता का
विकास होता है।

केवल अहैतुक महत्-संगादि के प्रभाव से चिद्वस्तु जीव में चिन्मयी शुद्धा भक्ति या भागवती वृत्ति के उदय होने पर ही, अनादि बहिर्मुख जीव का विलुप्त-प्राय स्वाभाविक भाव, भगवन्मुखता या मूलतः कृष्णोन्मुखता का उन्मेष हो जाता है। तभी ऐसे शुद्ध जीव के हृदय में कृष्ण-सुख-तात्पर्य और उनकी सेवाभिलाषरूप स्वजातीय या स्वाभाविक भाव के अतिरिक्त दूसरे सभी जड़-सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में केवल ऐसे एकान्ती भगवद्भक्तों के लिये ही शास्त्र विहित सभी विधि-निषेध भी क्रमशः एकान्त प्राप्त होकर, जो शास्त्र का मुख्य तात्पर्य है,—उसी एकमात्र विधि-निषेध में बदल जाते हैं; वह यह है,—

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्।

सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः॥

(पाञ्चोत्तर वाक्य ७२।१००)

इसका अर्थ,—सर्वदा विष्णु का स्मरण करना कर्तव्य है; उन्हें कभी मूलना उचित नहीं है। शास्त्र में जो कुछ विधि निषेध है, वह सभी इस एक विधि-निषेध के अधीन है। इसलिये उक्त शास्त्र के निर्देशानुसार और कर्तव्य समझकर जो दूसरे सभी विधि-निषेध—धर्म, कर्मादि परित्याग करके^१ एकान्तभाव से श्री भगवत्-पादपद्म

१. सर्वधर्मान् परित्यज्ये—' इत्यादि। (गीता १८।६६)

की आराधना में लगे रहते हैं, यही एकान्ती वैध-भक्त हैं।

केवल लालसा-प्रवर्तित रागानुगा भक्ति।

जो लोग उक्त शास्त्र निर्देश की अपेक्षा न करके केवल लालसा या लोभ के वशावर्ती होकर वेदधर्म, लोकधर्म, अन्य उपासना और दूसरे विधि-निषेध के बन्धन को तोड़कर एकमात्र श्रीकृष्ण-चरणाम्बुज की आराधना में एकान्तभाव से निष्ठित रहते हैं, वही एकान्ती रागानुगा भक्त हैं। नित्य सिद्ध ब्रजवासियों में अवस्थित रागात्मिका भक्ति के अनुगत रागानुगा भक्ति की विलास-भूमि केवल ब्रजलोक ही है।

ब्रजगोपिका के अनुगत मधुर भाव के उपासक या रसिक भक्तों का सर्वोत्कर्ष।

उनमें दास, सख्य, वात्सल्य से ब्रजगोपियों का मधुर भाव ही सर्वोत्तम है। इसलिये उनके अनुगत एकान्तिक भक्तों का स्थान सब से ऊँचा ही समझना चाहिये। यही लोग 'रसिक भक्त' के नाम से कथित होते हैं।^१

श्री चरितामृत में कहा गया है,—

१. श्री भागवत में (१।१।३) श्लोक में 'रसिका भावुका',—इन दो शब्दों द्वारा उन्हीं रसज्ञ या रस विशेष भावना चतुर रसिक भक्तों को ही इंगित किया गया है। श्रुत्युक्त रस ब्रह्म को परमावस्था जो है वही शृङ्गार-रसराज स्वरूप के रसिक भक्तों का प्रकृष्ट रूप में ग्राह्य विषय हुआ करता है।

सेई गोपी-भावामृते जार लोभ होय।
 वेदधर्म लोक त्यजी से कृष्ण भजय॥
 रागानुगा मार्गे तारे भजे जेई जन।
 सेई जन पाय ब्रजे ब्रजेन्द्रनन्दन॥
 ब्रज-लोकेर कोन भाव लुईया जेई भजे।
 भाव योग्य देह पाईया कृष्ण पाय ब्रजे॥
 तहाते दृष्टान्त उपनिषद् श्रुतिगण।
 रागमार्गे भजि पाइल ब्रजेन्द्र नन्दन॥^१
 अतएव गोपीभाव करि अंगीकार।
 रातदिन चिन्ते राधा-कृष्णोर विहार॥
 सिद्ध देह चिन्तित करि ताहाई रीवन।
 सखी भावे^२ पाय राधा-कृष्णोर चरण॥

(चै० २।८।१७७ व १८२)

तात्पर्य—उन्हीं गोपियों के भावामृत का जिसको लोभ होता है। वह वेद धर्म, लोक धर्म को त्यागकर श्रीकृष्ण का भजन करते हैं। जो जन रागानुगा मार्ग से भजन करते हैं वे ब्रज में ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के पास जाते हैं। ब्रज के लोगों के कोई भी भाव (दास्य सख्य, वात्सल्य, शृङ्गार) को लेकर जो श्रीकृष्ण भजन करते हैं वे अपने भावानुरूप देह प्राप्त कर श्रीकृष्ण चरण प्राप्त करते हैं। उसका उदाहरण उपनिषद् और श्रुतिगण है। जिन्होंने रागमार्ग से भजन करके श्रीकृष्ण को प्राप्त किया। इसलिये गोपी भाव को स्वीकार करके रात-दिन श्री राधाकृष्ण की लीलाओं का चिन्तन

१. 'निभृतमरुन्मनोऽक्ष—' इत्यादि। (भा० १०।८७।२३) द्रष्टव्य।

२. यहाँ सखी भाव का अर्थ है,—श्री राधाकृष्ण की सेवा परायणा 'दासी' या 'मंजरी' भाव।

करना चाहिये। साधक देह से जो चिन्ता करेगा वही सिद्ध देह में प्राप्त होगा। इस तरह सखी देह प्राप्त होगी और श्री राधाकृष्ण के चरणों की सेवा प्राप्त होगी।

पूर्ण रूप से जिन्होंने सिद्धि प्राप्त कर ली है ऐसे कृष्ण भक्तों के उत्कर्ष (उन्नति-समृद्धि) की अवधि यहीं तक है अर्थात् यह नित्य-सिद्ध-स्वरूप-शक्ति वर्ग के आनुगत्य में और उनके भाव के साथ तादात्म्य प्राप्त होकर मंजरी भाव से ब्रजलोक में श्री राधा-कृष्ण की कुंज सेवा पाते हैं। तटस्था शक्ति स्थानीय अणु चैतन्य जीव के लिये इससे अधिक लभ्य और कुछ नहीं है।

जैसे महत्-संग, वैसी ही भक्ति का विकास।

जीव के हृदय में ऐसी भक्ति के संचार के विषय में जैसी आशय-सम्पन्न भक्त की कृपा और संगीति होता है, साधकों में उसी अनुरूप या वही जातीय भक्ति का उद्गम होता है।^१ जिस तरह कीचड़ से मिले हुये जल में फिटकरी मिलाते ही वह क्रमशः परिशुद्ध होकर परिशेष में सुनिर्मल जल में बदल जाता है, उसी तरह विषय-वासना-मलिन अर्थात् सकाम जीव के हृदय में महत्-संगीति द्वारा शुद्ध भक्ति के संचार होते ही क्रमशः जीव का मलिन चित परिमार्जित होकर श्रद्धादि क्रम से परिशेष में (आखीर में) शुद्ध भक्तरूप में उसका विकास होता है। एकमात्र अपराध के संयोग को छोड़कर इस विकास में और किसी तरह की भी रुकावट या अड़चन नहीं पड़ती।

१. 'तदेवं तेषां बहुभेदेषु सत्सु तेषामेव प्रभावतारतम्येन कृपा तारतम्येन भक्ति-वासना-भेद तारतम्येन—' इत्यादि। (भक्ति सन्दर्भः। २०२ अनुः देखना चाहिये।

ब्रज प्रेमदान का अधिकार राधा-कृष्ण मिलित तनु श्री गौर सुन्दर को ही है।

उक्त सर्वोत्तम ब्रजप्रेमदान का एकमात्र अधिकार जिन्हें है—यही सीमाप्राप्त परतत्त्व—श्री राधाकृष्ण एकीभूत तनु और प्रपंच में प्रकटित मूर्तिमन्त साक्षात् प्रेमस्वरूप श्री गौर सुन्दर के एकान्त आनुगत्य से ही उनके श्री चरणाम्बुज की नित्य सेवा लाभ और उनकी सेवा के भीतर से ही ब्रज की कुंज सेवा में प्रवेश लाभ एक साथ ही संघटित हो जाता है।^१ पूर्णरूप से जिन्होंने सिद्धि प्राप्त कर ली है, ऐसे भक्तों को श्री गौरलीला-रूपी रस से भरे हुये समुद्र की ऊँची उठती हुई लहरों में बहते समय, परमानन्दमय उनके प्रेम-विलास-विवर्त्त का घनीभूत रसास्वादन होता है; और उसकी मादकता में उस रस-समुद्र में डुबकी लगाकर स्नान करने में, मंजरी-भाव से श्री ब्रज-किशोर युगुल के प्रेम-विलासरूप कुंज सेवा की रसवैचित्री का अनुभव पूर्ण रूप में होता है। रसिक भक्तों का इस रस-समुद्र में ऊपर उठना और डुबकी लगाकर स्नान करना नित्य काल के लिये ही जानना चाहिये। “गौरलीला रसानवे, से तरंगे जेबा डूबे, से राधा-माधव अंतरंग।”

(श्रील नरोत्तमदास ठाकुर महाशय)

१. 'यथा यथा गौर पदारविन्दे'—इत्यादि। चै० चन्द्रामृत ८९)। कृष्णलीलामृतसार, तार शत शत धार, दशदिगे बहे जहाँ हुईते। से, चैतन्यलीला होय, सरोवर अक्षय, मनहंस चराह ताहाते॥ इत्यादि चै० २।२५।२२३ द्रष्टव्य।

निखिल भगवत्-स्वरूप ही 'भूमा' होने से उनके
उपासक भी पूर्णानन्द के अधिकारी हैं। तटस्थ
होकर विचार करने पर उनमें पूर्णतर और
पूर्णतम निर्णय।

अब विवेच्य विषय यह है कि जिस सुख से अधिक सुख हो,
जिस सुख के प्राप्त होने पर उसकी अपेक्षा अधिक सुख के लिये
अनुसंधान रहे, वही 'अल्प' या परिच्छिन्न (सीमाबद्ध) वैषयिक सुख
है। और जिस सुख से अधिक सुख नहीं है, जिस सुख की प्राप्ति
कर दूसरे किसी सुख का अनुसंधान नहीं रहता, वही 'भूमा' या
अपरिच्छिन्न परमानन्द होता है।

श्री भगवत्-स्वरूप मात्र ही अपरिच्छिन्न और सर्वव्यापक होने
से—'भूमा' वस्तु ही है। इसलिये निखिल भगवत्-स्वरूप ही
परमानन्दमय हैं। यही कारण है कि किसी भी भगवत्-स्वरूप के
उपासकों या भक्तों को अपने उपास्य की आराधना द्वारा पूर्णानन्द
प्राप्त होने पर फिर उससे अधिकतर दूसरे किसी आनन्द की खोज
नहीं रहती। 'भूमा' वस्तु का यही स्वधर्म है। परतत्त्व के विषय में
पूर्णता से नीचे दूसरा कोई परिमाण नहीं होता, इसलिये परतत्त्व
के किसी स्वरूप के उपासक मात्र को अपने उपास्य की सर्वोत्तमता
और उनकी सेवा में अपने को पूर्ण बोध करना स्वाभाविक ही होता
है।^१ तभी तो श्री चरितामृत में कहा गया है,—

१. श्री हनुमानजी ने तभी तो कहा है,—
श्री नाथे जानकी नाथे चा भेद परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमल लोचनः॥'

‘किन्तु जार जेई भाव सेई सर्वोत्तम।

तटस्थ होइया विचारिले आछे तारतम॥ (२।८।६५)

तात्पर्य—किन्तु जिसका जो भाव है वही सर्वोत्तम है। तटस्थ होकर विचार करने से ही तारतम्य होता है।

इसलिये ‘भूमा’ होने के कारण सभी भगवत्-स्वरूप या परतत्त्व के उपासकगण अपने-अपने उपासना को सर्वोत्तम समझकर अपने को पूर्ण मानते हैं। किन्तु निरपेक्ष भाव से शास्त्रानुसंधान द्वारा, सब भगवत्-स्वरूपों में जो तारतम्य (न्यूनाधिक्य) उपलब्ध होता है, उसके अनुसार जिस तरह फिर उनमें भी पूर्णतर और पूर्णतम स्वरूप का संधान मिल जाता है, उसी तरह उनके उपासकों में भी तारतम्य स्वीकार करना पड़ता है। अतएव वेदादि सभी शास्त्रों के प्रमाण द्वारा श्रीकृष्ण का ही सर्वमूलता या स्वयं भगवत्ता स्थरीकृत (निश्चित) होने से, यही पूर्णतम परतत्त्व प्रतिपादित हुये हैं। इसलिये स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के और दूसरे सभी स्वरूपों के उपासकों या भक्तों में श्रीकृष्ण के भक्तों की ही सर्वश्रेष्ठता या पूर्णतमता अवश्य ही स्वीकार करनी होगी। इसके अनुसार भक्तगण के तारतम्य के विचार द्वारा नित्यसिद्ध ब्रजगोपिकाओं की ही सर्वाधिकत्व और उनमें फिर श्री राधिका की ही सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है।^१

भक्तों का तारतम्य (न्यूनाधिक्य); उनमें श्री

-
१. इसकी विशद आलोचना, श्रीमत् सनातन गोस्वामिचरणकृत श्री वृहत् भागवतामृत और मद्रूप गोस्वामिचरणकृत लगुभागवतामृति में भक्त्यामृत द्रष्टव्य।

राधिका ही सर्वाधिका।

मार्कण्डेयादि समस्त भक्तों में श्री प्रह्लाद श्रेष्ठ हैं। इन प्रह्लाद की अपेक्षा पाण्डवगण श्रेष्ठ हैं। पाण्डवों की अपेक्षा कुछ यादव श्रेष्ठ हैं। समस्त यादवों में उद्धव श्रेष्ठ हैं। इन उद्धव से भी ब्रजरमागण परम श्रेष्ठा हैं, और समस्त गोपियों में श्री राधिका ही सर्वाधिका या अत्यन्त श्रेष्ठा हैं। इसलिये सब भक्तों में श्री राधिका की यह असमोर्द्ध महिमा श्रुति में कीर्तित होते देखी जाती है।

अथर्वापनिषद में पुरुष-बोधिनी श्रुति की पिप्लाद शाखा में कहा गया है,—

‘गोकुलाख्य मथुरामण्डले’—इत्युपक्रम्य ‘गोविन्दोऽपि श्यामः’—इत्यादि; ‘द्विपार्श्वे चन्द्रावली राधिका च’—इति चोक्ता, ‘यस्या अंशे लक्ष्मी दुर्गादिका शक्तिः। ‘इति पठ्यते।’ (श्रीपाद बलदेव विद्याभूषणकृत, सिद्धान्तरत्नघृत। २।२२) उक्त सम्पूर्ण श्रुति वाक्य का अर्थ निम्नांकित है,—

‘मथुरा मण्डल में, श्री गोकुलाख्य वृन्दावन में कल्पतरु के मूल में, सहस्रदल पद्म के बीच में, अष्टादल केशर में, श्यामवर्ण श्री गोविन्द अवस्थान करते हैं, वह पीताम्बरधारी द्विभुज, मयूरपुच्छकृत शिरोभूषण हैं, और हाथ में वेणु व वेत्र धारण किये हुये हैं। वह निर्गुण अर्थात् प्राकृतगुण के अतीत हैं, और सगुण अर्थात् स्वरूपानुबन्धि षड्गुण विशिष्ट है। वह निराकार अर्थात् प्राकृत मूर्ति रहित हैं, और साकार अर्थात् स्वरूपानुबन्धि मनुष्याकार हैं। वह निरीह अर्थात् प्राकृत चेष्टा शून्य हैं और सचेष्ट अर्थात् समुद्र की तरंग की तरह से स्वकीय उल्लासात्मक नित्य चेष्टायुक्त हैं। उनके पास में दोनों ओर अर्थात् बायें और दाहिने

श्री राधा और श्री चन्द्रावली विराजमान हैं। वैकुण्ठेश्वरी श्री लक्ष्मी और मंत्रराजाधिष्ठात्री श्री दुर्गा प्रभृति शक्तिवृन्द इन श्री राधिका की ही अंश हैं।" इत्यादि।^१

इसलिये समस्त गोपियों में श्री चन्द्रावली और उनकी भी अपेक्षा श्री राधिका ही श्रीकृष्ण की अत्यन्त वल्लभा हैं।^२ अतएव वेदादि सभी शास्त्रों में श्री भगवद्भक्तों की और सर्वमूलतः श्रीकृष्ण के भक्तों ही की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध होती है।

१. प्रभुपाद श्रीमत् श्यामलाल गोस्वामि महोदयकृत बंगानुवाद। (सिद्धान्त-रत्न २।२२)

२. तथापि सर्वथा श्रेष्ठे राधाचन्द्रावलीत्युभे। यूथयोस्त तयोः सन्ति कोटि-संख्या मृगीदृशः॥

भयोरप्युभयोर्मध्ये सर्वमाधुर्यतोऽधिका।

राधिकाविश्रुतिं याता यद्गान्धर्वाख्या श्रुतो॥"

(श्रीमद्रूप गोस्वामिचरणकृत—श्री राधाकृष्ण गणोद्देश—परिशिष्ट्य। १४२-४२)।

अष्टम उद्भाषन

श्री उपासना के विचार से सभी वेदों
का प्रच्छन्न भागवत धर्म परता और भागवत
धर्म की एक मुख्यता प्रतिपादित होगी।

साक्षात् भगवद्भक्ति को ही सामान्यतः भागवत धर्म कहते हैं। (साक्षात् भक्तेरपि भागवतधर्माख्यत्वम्—।” भक्ति सन्दर्भः २१६ अनुः) भक्ति, भगवान्, भक्त—इन तीन में से किसी एक की कथा के आविर्भाव में, उसके साथ ही अन्य दोनों विषयों का भी अविच्छिन्न सम्बन्ध रहने से, इन तीनों विषयों का सम्मिलित भाव ही भागवत धर्म की मूलविषय वस्तु होती है। अर्थात् सर्वमूलतः कृष्ण-भक्ति कथा, कृष्णकथा और कृष्ण भक्त कथा—यह परामृत की सम्मिलित त्रिधारा, अविच्छिन्नधारा से जिस धर्म में नित्य प्रवाहिता है, पुरुष का वही ‘भागवत धर्म’ नामक परमधर्म है।

भागवत धर्म का विशेष लक्षण।

भागवत धर्म के विशेष लक्षण के सम्बन्ध में श्री निमि महाराज के प्रश्न के उत्तर में श्री कवि योगीन्द्र ने जो विस्तार से वर्णन किया है, संक्षेपार्थ उसी में से केवल कुछ श्लोक निम्न में उद्धृत किये जाते हैं,—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।

अञ्जः पुंसाभविदुषां विद्धि भागवतानिहतान्॥

(श्री भागवत, ११।२।३४)

इसका अर्थ,—भक्ति तत्त्व के विषयमें अनभिज्ञ लोगों के प्रति करुणा वशतः अनायास अपने को प्राप्त कराने के लिये जो सब उपाय साक्षात् श्री भगवान ने कहे हैं, उन्हीं सब उपाय या भजन को ही भागवत धर्म जानो!

यहाँ भागवत धर्म का स्वरूप लक्षण साक्षात् श्री भगवान कथित उनके प्राप्ति के सभी उपाय हैं और उसका तटस्थ लक्षण श्री भगवत् प्राप्ति है। अतएव भागवत धर्म के उक्त दोनों लक्षणों से यही समझ में आता है कि साक्षात् श्री भगवान कथित उनके प्राप्ति के उन सब उपाय या भजन को ही जिनके द्वारा भगवान प्राप्त होते हैं भागवत धर्म कहते हैं।

परवर्ती श्लोक में इस भागवत धर्म की विशेष महिमा व्यक्त की गयी है; यथा,—

यानास्थाय नरो राजन प्रभाद्यते कहिर्चित्।

धावन्नि मील्य वा नेत्रे न स्वलेन्नपदेदिह॥

(श्री भागवत्, ११।२।३५)

इसका अर्थ,—हे राजन्, श्रद्धावान होकर भागवत धर्म का आश्रय करने से मनुष्य मात्र कभी भी विघ्नों द्वारा पराभूत नहीं होता, और इस रास्ते में आँख मूँद कर दौड़ने पर भी न तो फिसलता है और न गिरता है।

इस तरह से उक्त श्लोक द्वारा भागवत धर्म का सार मर्म यही अवगत होता है कि,—

(१) यह धर्म साक्षात् भगवत कथित है, किसी दूसरे का कहा हुआ नहीं है।

(२) इस धर्मोक्त सभी उपायों का मुख्य फल भगवत् प्राप्ति है, दूसरा पुरुषार्थ नहीं है।

(३) इस धर्म के आश्रय करने का अधिकार हर श्रद्धान्वित व्यक्ति को है। (इसे आत्म धर्म कहते हैं, दैहिक धर्म की तरह इसमें जाति-कुल-आश्रमादि जड़-सम्बन्ध जनित किसी अधिकार का विचार नहीं है।)

(४) इस धर्म का आश्रय करने से जड़-सम्बन्धीय विघ्नों द्वारा पराभूत नहीं होना होता है।

(५) इस धर्म के रास्ते में श्रुति और स्मृति निधान रूप दोनों आँखें मूँद करके भी दौड़ने से फिसलने अथवा गिरने की सम्भावना नहीं रहती।

उक्त भागवत धर्म का तटस्थ लक्षण अर्थात् कार्य द्वारा परिचय यह है कि उसके द्वारा भगवान ही प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् भगवत्साक्षात्कार हो जाता है और उनकी सेवा मिल जाती है।

पूर्वोक्त समस्त आलोचना से विशेष भाव से हमारे यह समझ में आ जाता है कि एकमात्र शुद्धा भक्ति के अतिरिक्त भगवान को प्राप्त करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।^१ इसलिये यह स्वतः ही प्रतिपादित होता है कि अपने को अनायास (आसानी से) प्राप्त कराने के लिये श्री भगवान ने स्वयं जो समस्त उपाय उपदेश किये हैं, वह शुद्धा भक्ति को छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं है। अर्थात् श्री भगवन्नाम, रूप, गुण, लीला प्रभृति का श्रवण-कीर्तनादि रूप उपाय अथवा साधनांग सब भक्ति और उसका फल प्रेम भक्ति।

यही मूलतः श्री भगवत्-प्रोक्त उनकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय होता है।

अतएव भगवत्-कथित उनकी प्राप्ति के सभी उपाय, निर्गुणा भक्ति ही, समझ में आती है। निम्नोक्त विशेष महिमा द्वारा भी यह प्रति पन्न हो सकता है।

देह-दैहिक सम्बन्धीय सभी जड़धर्म विघ्नादि दोष युक्त हैं।

(१) 'न प्रमाद्येत कर्हिचित्' अर्थात् जिस धर्म का आश्रय ग्रहण करने से विघ्नों द्वारा पराभूत होना नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि सब प्रकार की बाधा-विघ्न अर्थात् विपद और उससे उत्पन्न भय सगुण हैं इसलिये सदोष जड़-विषय का ही धर्म या स्वभाव है। किन्तु चिद्वस्तु निर्गुणा होती है इसलिये सर्व दोष शून्य और निखिल कल्याण-गुणात्मक है। जीव चिद्वस्तु होकर भी अनादि वहिर्मुखता वशतः जब तक शरीर को ही आत्मा समझने के कारण भ्रम में पड़ा है या जड़ सम्बन्ध-युक्त है, तभी तक धर्मार्थकाम मोक्ष या भुक्ति और मुक्ति रूप सगुण देह-दैहिक धर्म में ही श्रद्धान्वित रहता है और उसी धर्म में ही लगा रहता है। चिद्वस्तु जीव के लिये सगुण और सदोष जड़ धर्म सभी अस्वाभाविक हैं और उनके साधन के रास्ते में भी बहुत विघ्नादि द्वारा प्रायशः पराभूत होना पड़ता है।^१

१. येऽन्ये अरविन्दाक्ष—(भा० १०।२।३२)

आत्मधर्म—भक्ति का पथ विघ्नादि दोष रहित है।

दूसरी ओर, निर्गुणा इसलिये निर्दोष चिन्मयी भक्ति, चिद्वस्तु के चिदंश में स्वजातीय होने के कारण जीव का स्वाभाविक या आत्म धर्म ही है। अतएव इस निर्दोष या सुनिर्मल भक्ति के रास्ता का आश्रय ग्रहण करने से सिद्ध भक्तों को किसी बाधा-विघ्नादि जड़ धर्म का सामना नहीं करना पड़ता। साधक भक्तों को जड़ सम्बन्ध रहने से उस अवस्था से क्रमशः सिद्धावस्था में पहुँचने के रास्ते में, जड़ सम्बन्धरूप विघ्न या अनर्थ से क्रमशः निवृत्ति होती जाती है। उसके अनुसार अधिक से क्रमशः अल्पतर विघ्नादि दोषों के सामने आने पर भी भक्ति के प्रभाव से वह सब विघ्नादि प्राभूत हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त पराभव प्राप्त सभी विघ्न साधकों के उन्नति की सीढ़ी बन जाते हैं।^१ इसलिये यह महिमा भक्ति के रास्ते की ही समझना चाहिये।

शुद्ध भक्ति का पथ जड़ीय विधि-निषेध के अतीत।

दूसरी विशेष महिमा यह है कि,—

(२) 'धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्वलेन्पतेदिह।' अर्थात् जिस रास्ते में श्रुति और स्मृति विधानरूप दोनों आँखें बन्द करके भी दौड़ने से फिसलने अथवा गिर जाने की सम्भावना नहीं रहती।

इसका तात्पर्य यह है कि संसारी जीवों में निर्गुणा भक्ति का संयोग न होने तक ही जड़-सम्बन्धीय आत्म-सुख तात्पर्यरूप अज्ञानता और जड़ीय विषय वासनारूप विषक्रिया की विद्यमानता

१. 'तथा न ते माधव तावकाः—' (भा० १०।२।३३)

रहती है। ऐसी अस्वाभाविकावस्था में जीव को शास्त्रोक्त विधि-निषेध के कठिन बन्धन में रखना ही मंगल जनक होता है किन्तु जब एकमात्र शुद्धा भक्ति के संयोग से उक्त विषक्रिया क्रमशः निवारित होने से जीव की स्वाभाविक अवस्था उदय हो जाती है, तब फिर शास्त्रनुसार^१ चलने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। यही कारण है कि ऐकान्तिक भक्तों के लिये ही इस भक्ति के स्वाभाविक रास्ते में श्रुति व स्मृति के विधान रूप दोनों आँखे बन्द करके बिना फिसले और गिरे हुये ही दौड़ना सम्भव होता है। अर्थात् साक्षात् अपने भजन सम्बन्धीय विधि-निषेध के अतिरिक्त शास्त्रोक्त दूसरे सभी विधि-निषेध को छोड़ देना ही केवल ऐकान्तिक भक्तों के लिये ही विधि है।^२ इसलिये उक्त विशेष महिमा भी केवल भक्ति के रास्ता की ही समझना चाहिये।

अतएव भागवत् धर्म के स्वरूप व तटस्थ लक्षण से अब हम यह समझ सके हैं कि—

(१) मूलतः उसका साक्षात् भगवत्-कथित होना आवश्यक है।

(२) सरलता से भगवत्-प्राप्ति का साक्षात् उपाय अर्थात् उसका 'मुख्या भक्ति' होना आवश्यक है।

(३) श्री भगवत्-प्राप्ति ही उसका मुख्य फल होना आवश्यक है।

१. 'पित्रदेवमनुष्यानां वेदश्चक्षुस्तवेश्वरा।' (भा० ११।२०।४)

२. यहाँ यह भी विवेच्य है कि विधि-निषेध परित्याग करने से ही ऐकान्ती नहीं हो जाता। भजन के प्रभाव से ऐकान्ती होने पर ही विधि-निषेध आप ही साधक को परित्याग कर देते हैं।

अर्थात् इसका सार मर्म यह है कि अनायास भगवत् साक्षात्कार और उनकी सेवा की प्राप्ति ही जिसका मुख्य फल है, उसके प्राप्ति के साक्षात् भगवत्कथित सभी उपाय ही साधन और साध्यरूपा 'भक्ति' है। उसी एक निर्गुण भक्ति धारा के मध्य से ही भक्ति, भगवान और भक्त कथारूप में जो परामृत की त्रिधारा एकत्र प्रवाहित है, उसी का ही नाम एक तरह से भागवत धर्म है।

समस्त वेद का प्रच्छन्न भागवत् धर्म परता।

उक्त लक्षण द्वारा विचार करके देखने से समस्त वेद का प्रच्छन्न भागवत् धर्म परता ही सिद्ध होता है।

'यो ब्रह्माणं विद्धाति पूर्व—' (श्वेता० ६।१८) इत्यादि श्रुति से जाना जाता है कि लोक-सृष्टि के आदि में जिन्होंने ब्रह्मा को पैदा करके उन्हें वेद का उपदेश किया है। यह भी समझ में आता है कि यहाँ तटस्थ लक्षण से अर्थात् कार्य द्वारा उनका परिचय देकर 'यो' अर्थात् 'जिन्होंने' शब्द के अनिर्दिष्टता के आवरण में उनका स्वरूप लक्षण प्रच्छन्न (गुप्त) रखा गया है।

अस्पष्ट वेद के सुस्पष्ट अर्थ स्वरूप श्री भागवतीय श्लोक से उनके स्वरूप लक्षण के साथ और भी सविशेष संवाद, श्रीमदुद्धव के प्रति उनकी निजोक्ति से ही जाना जायेगा।

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेद संज्ञिता।

मया दौ ब्रह्मणो प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥

(श्री भा० ११।१४।३)

इसका अर्थ,—'मदात्मक' अर्थात् मन मुझमें ही आविष्ट रहे, ऐसा मद्भिषयक धर्म (निर्गुणा भक्ति) जिसे आदि में मैंने ब्रह्मा से

कहा था, वह 'वेद' नामक वाणी समय के प्रभाव से लुप्त अर्थात् तिरोहित हो जाती है।

(१) ब्रह्मा को उपदिष्ट वेदरूप वाणी, साक्षात् श्री भगवत् या मूलतः श्रीकृष्ण कथित ही है।

(२) उन्होंने उक्त वेदवाणी को स्वयं ही 'मदात्मक' धर्म कहकर निर्देश किया है, जिसकी सरलता से प्राप्ति का एकमात्र उपाय स्वरूप शुद्धाभक्ति ही है।

(३) श्री भगवत्प्राप्ति ही उसका मुख्य फल है, इन्हीं सब लक्षणों से उसे 'भागवत धर्म' ही समझा जाता है।

अतएव समस्त वेद में परोक्ष भाव से एकमात्र श्री भागवत धर्म ही परिगीत हुआ है। इस बात का ही अस्पष्ट इंगित स्वरूप वेद ने स्वयं ही कहा है, 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति।' (काठके० २।१५) अर्थात् समस्त वेद पूज्यतम का कीर्तन करते हैं। इसी मंत्र में नाम और नामी के अभिन्नता के कारण उन्हें परोक्ष भाव से ओंकार कहा है। फिर यह रहस्य कि 'ओंकार' श्रीकृष्ण ही है, वेद के सारार्थ गीता में उन्होंने स्वयं ही प्रकाश कर दिया है; 'अहं ओंकार—' (६।१७) अर्थात् मैं ही ओंकार हूँ। इसलिये 'यत्पदम्' इस अस्पष्ट उक्ति द्वारा श्रीकृष्ण ही लक्षित होते हैं; किन्तु उनकी भक्ति और भक्त—इन तीनों का अविच्छिन्न (न छूटने वाला) सम्बन्ध होने से एक तरह से इसे भागवत धर्म ही समझा जा सकता है। अर्थात् समस्त वेद 'भागवत धर्म' ही कीर्तन करते हैं।

त्रिकाण्ड वेद का ही श्रीकृष्णपरता।

अब यदि ऐसा कहा जाय कि श्रीकृष्ण जब मूल ब्रह्म-वस्तु

हैं और सब वेद जब कर्म, देवता और ज्ञान या ब्रह्म-काण्ड इन तीनों काण्डों में विभक्त हैं; तब तो यही समझा जावेगा कि उन्होंने जो वेद को 'मदात्मक' धर्म कहा है उससे तो यही समझा जावेगा कि उन्होंने वेद के केवल ब्रह्मकाण्ड को ही निर्देश किया है; किन्तु यह उक्ति कर्मकाण्ड और उपासना या देवता काण्ड के विषय में नहीं है। इसलिये यह कैसे कहा जा सकता है कि समस्त वेद 'भागवत धर्मपरता' हैं?

इसके उत्तर में यह कहना है कि समस्त वेद जिनके निश्वास हैं; उन्हीं साक्षात् वेदमय पुरुष श्री भगवान की ही निजोक्ति द्वारा यह बात प्रचारित हुई है कि समस्त वेद भागवत धर्मपरता हैं। इसलिये इस विषयमें किसी दूसरे के बोलने का प्रयोजन क्या है? श्रीमदुद्धव से श्री श्रीकृष्ण ने स्वयं ही कहा है,—

वेदा ब्रह्मात्मविषया त्रिकाण्डविषया इमे।

परोक्षवादा ऋषियः परोक्षं च मम प्रियम्॥

(भा० ११।२१।३५)

इसका अर्थ,—कर्म, देवता और ब्रह्म,—यह त्रिकाण्डात्मक समस्त वेद ही ब्रह्मात्म-विषयक हैं।^१ मंत्रदर्शी ऋषि इसे परोक्ष भाव में, अर्थात् अस्पष्टता के आवरण में कहते हैं, क्योंकि इस विषय में परोक्ष ही मुझे प्रिय है।

१. अ ब्रह्मात्मा विषया सर्वतो वृहत्तम य आत्मा परममूलस्वरूपो भगवानऽम्—तत्परता एवेत्यर्थः।—(क्रम सन्दर्भः भा० ११।२१।३५)
अर्थ,—सर्वपेक्षा वृहत्तम जो ब्रह्म या परमात्मवस्तु है, उनका परममूल स्वरूप स्वयं भगवान मैं हूँ,—यह स्वयं भगवत्परता है। यही 'ब्रह्मात्म विषय।' का अर्थ है।

पूर्वोक्त श्लोक में श्रीकृष्ण ने ही भागवतधर्म को ही 'मदात्मक' धर्म कहा है। सर्वमूलतः श्रीकृष्ण ही ब्रह्म होने के कारण यही समझ में आता है कि यहाँ 'ब्रह्मात्मविषया' द्वारा यह निर्देश किया है कि त्रिकाण्डात्मक वेद श्रीकृष्ण पर ही है; अर्थात् कृष्णात्मधर्म या भागवतधर्म हैं। अतएव यह समझ लेना चाहिये कि केवल ब्रह्मकाण्ड ही नहीं—समस्त त्रिकाण्डात्मक वेद ही 'भागवत-धर्म' तो हैं किन्तु श्रीकृष्ण की यह इच्छा जानकर कि यह विषय खुले शब्दों में न कहा जाय, वैदिक ऋषिगण भी इस विषय में परोक्षवादी (अस्पष्टवादी) हुये हैं। ब्रह्मकाण्ड तो कुछ खुले शब्दों में है, किन्तु अवशिष्ट वेद सम्पूर्णरूप में परोक्षवाद द्वारा आच्छादनपूर्वक कर्मकाण्ड और देवता काण्ड के रूप में प्रदर्शित हुआ है। यह तो वेद का स्थूल-वाह्यर्थ है किन्तु सूक्ष्म और निगूढ़ अर्थ 'भागवत धर्म' है।

वेद का निगूढ़ और गुप्त अर्थ भक्त के सामने छिपा नहीं रहता।

समस्त वेदों की इस प्रच्छन्नता का आवरण, निष्काम—शुद्ध अन्तःकरण भक्तों की शुद्ध दृष्टि के सामने आप ही आप अपसारित होकर समस्त वेद केवल 'भागवत धर्म' के रूप में ही आत्म प्रकाश करते हैं। किन्तु सकाम साधारण जीवों के निकट वह कर्मकाण्डादि पृथक् रूप में ही परिद्रष्ट होते हैं। अतएव समस्त वेद स्थूल-वाह्य दृष्टि में तो कर्म, देवता और ज्ञान काण्ड 'त्रयी' रूप में परिद्रष्ट होते हैं किन्तु केवल भगवद्भक्तों की भक्ति-विभावित सूक्ष्म-अन्तर्दृष्टि में वह सभी भागवत धर्माख्य—कृष्ण, कृष्ण भक्ति और कृष्णभक्तात्मक

‘त्रयी’ रूप में ही आत्म प्रकाश करते हैं। वेद का यथार्थ अर्थ भक्तों को ही प्रकाशित होता है, यही मर्म साक्षात् श्रुति में भी अभिव्यक्त होते देखा जाता है; यथा—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता व्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वेता० ६।२३)

इसका अर्थ—देव में अर्थात् श्री भगवान में जिनकी पराभक्ति है, फिर देव में जैसी है, वैसी ही गुरु में भी भक्तिमान है—ऐसे महात्मा को ही यह सब विषय उपदिष्ट होकर प्रकाश हुआ करते हैं।

इस तरह से यह समझ में आ जाता है कि समस्त वेदों में केवल भागवत् धर्म ही कीर्तित हुआ है, किन्तु भगवान का अभिप्राय जानकर ऋषि लोगों ने उस विषय को खुले शब्दों में न कहकर अन्यरूप में प्रकाश किया है। विभिन्न साधारण जीवों को वह विभिन्नरूप में दिखाई देने पर भी केवल भक्तों की शुद्ध दृष्टि के सामने उसका यथार्थ स्वरूप उद्घाटित होता है।

वेद में भागवत धर्म को प्रच्छन्न (गुप्त)

रखने का तात्पर्य।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है जो निखिल जीव का आत्म धर्म है, जो जीव का सहज व स्वाभाविक धर्म है, और जो परम पुरुषार्थ है, ऐसी भक्ति या भागवत धर्म को छिपाकर दूसरे देह-दैहिक सम्बन्धीय अस्वाभाविक धर्म को जीव जगत में प्रकाशित करने की आवश्यकता ही क्या थी? और श्री भगवान और वेदविद् ऋषियों के इस अभिप्राय का कारण क्या है?

इसके उत्तर में यह कहना है कि पूर्वोक्त श्री कवि-योगीन्द्र-कथित भागवत धर्म के लक्षण के दूसरे श्लोक में (भा० ११।२।३५)।

‘योनास्थाय’ अर्थात् ‘विश्वास युक्त या श्रद्धान्वित होकर जिस धर्म का आश्रय लेने से’—

इस ‘श्रद्धान्वित’ की बात से ही उक्त प्रश्न का समाधान हो जाता है। अर्थात् दूसरे किसी अधिकार की अपेक्षा न करके,—उस विषय में श्रद्धान्वित होकर इस धर्म के आश्रय करने से नरमात्र विघ्नादि द्वारा पराभूत नहीं होता। इत्यादि।

निर्गुणा भागवती श्रद्धा ही भागवत धर्म में प्रवृत्ति का कारण है।

इस तरह से यह समझ में आ जाता है कि इसका आश्रय करने के लिये दूसरे किसी अधिकार का विचार न रहने पर भी अर्थात् जीव मात्र ही अधिकारी होने पर भी, उस विषय में श्रद्धान्वित होना आवश्यक है, क्योंकि श्रद्धा ही सब प्रवृत्ति का मूल है किसी विषय में प्रवृत्त होने के लिये उसके मूल में श्रद्धा या विश्वास न होने से उस विषय में किसी की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। यह बात पहले बतायी जा चुकी है। भागवत धर्म निर्गुण अर्थात् प्राकृत सत्त्वादि गुणातीत चिन्मय वस्तु है। इसलिये चिद्वस्तु जीव के लिये चिदशं में यही स्वाजातीय या स्वाभाविक अर्थात् सर्वदोष शून्य, सर्वकल्याण गुणयुक्त, सर्वमंगल प्रद आत्म धर्म है। उस विषय में श्रद्धा भी उसी के अनुरूप निर्गुणा और चिन्मयी होती है। अतएव इस सुदुर्लभा निर्गुणा भागवती श्रद्धा के अतिरिक्त निष्काम भागवत

धर्म की अनुभूति और अनुशीलन प्रवृत्ति किसी दूसरे उपाय से प्राप्त नहीं होती है।

सुदुर्लभ महत् संग और उससे आविर्भूत श्रीहरि प्रसंग—एक साथ इन दोनों कारणों का संयोग ही भागवती श्रद्धा-मूलक शुद्धा भक्ति के प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।

केवल यदृच्छालभ्य अर्थात् आकस्मिक (बिना कारण) प्राप्त महत् गण का प्रकृष्ट संग और वहीं आविर्भूत श्रीकृष्ण नामादि श्री हरि प्रसंग—साथ ही साथ इन दोनों कारणों के संयोग से ही अनादि वहिर्मुख जीव के हृदय में शुद्धा भक्ति का संचार होता है^१। वही भागवतादि शास्त्रोक्त श्रवण कीर्तनादि साधन में प्रकट होकर श्रद्धादिक्रम से^२ भाव और प्रेम भक्ति उदय कराकर श्री भगवत्

१. 'सतां प्रसङ्गान्नमम वीर्य—' इत्यादि (भा० ३।२५।२५) 'प्रायेण भक्ति योगेन सत्सङ्गेन—इत्यादि। (भा० ११।११।४८) देखना चाहिये। साधुसंगे कृष्णभक्त्ये श्रद्ध यदि होय। भक्ति फल प्रेम होय—संसार जाय क्षय॥" (चै० २।२२।३१)।

तात्पर्य,—साधुसंग में हरिप्रसंग होता है। दोनों के संयोग से भागवती श्रद्धा के उदय होने पर प्रेम उदय होता है। "साधुकृपा नाम बिना प्रेम नाहि होय।" (चै० ३।३।२५४)

तात्पर्य—साधुकृपा और संगदि द्वारा श्री नाम-रूप-गुण आदि के प्रसंग के संयोग से प्रेम भक्ति उदय होती है।

२. आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगो—।' इत्यादि।
(श्री भक्ति रसामृत सिन्धु १।४।११)

साक्षात्कार और उनकी सेवारूप परम पुरुषार्थ जीव के भाग्य में प्रकट करा देती है। भक्ति ही भक्ति का कारण है (भक्त्या सन्जातया भक्त्या (भा०।११।३।३१) भक्ति की इस क्रमिक (सिलसिलेवार) अभिव्यक्ति द्वारा उसके अन्य निरपेक्षता की कुछ भी हानि नहीं होती। अतएव इसके अतिरिक्त भागवत धर्म में श्रद्धान्वित और प्रवृत्त होने का दूसरा कोई उपाय न होने से साधारणतः जीव के भाग्य में यह बहुत ही सुदुर्लभ ही है, तभी तो यहाँ तक कहा है कि,—

‘कोटि मुक्त मध्ये दुर्लभ एक कृष्ण भक्त।’

अतएव गुण-संस्पृष्ट साधारण जीवों के लिये निर्गुण धर्म में प्रवृत्त होना स्वतः या दूसरों द्वारा सम्भव नहीं है,^१ यदि उक्त प्रकार से जीव के भाग्य में उसका स्वयं प्रकाश न हो। जिस किसी के हृदय में इस भागवत धर्म में श्रद्धा अर्थात् सर्वोत्तम समझकर विश्वास हो गया है और तत्जनित प्रवृत्ति जाग उठी है, तो यही अवश्य समझना चाहिये कि वर्तमान किम्बापूर्व जन्मार्जित यादृच्छिक सत्संगादि से संचारित श्रवण-कीर्तनादिरूप हरिकथा ही उसका एकमात्र कारण है।

इसलिये यह समझ में आ जाता है कि यह निर्गुणा और निष्काम भागवत धर्म ही समस्त वेद का एकमात्र मुख्य धर्म तो है किन्तु तज्जातीयता श्रद्धा के अभाव से उस विषय में प्रवृत्ति और उपलब्धि साधारण जीव के लिये जब सुदुर्लभ ही है, और इसके अतिरिक्त सकाम जीव के स्वाभाविकी श्रद्धानुरूप यदि कोई दूसरा धर्म या श्रेयोलाभ का रास्ता न रहे, तब तो ऐसी धर्महीन अवस्था

१. ‘मतिर्न कृष्णो परतः स्वतोवा—’ (भा० ७।५।३०)

में अवस्थित और स्वेच्छा से परिचालित जन समाज को अधः पतित होने की ही पूरी-पूरी सम्भावना हो जाती है।

आनुषङ्गिक सभी धर्मों के आत्म-प्रकाश करने के उद्देश्य से ही वेद में भागवत धर्म गुप्त रखा गया है।

यही कारण है कि जीव जगत् के मंगल के उद्देश्य से और उस विषय के सम्बन्ध में मंगलमय श्री भगवान का अभिप्राय जानकर वेद के प्राण-केन्द्ररूप उस निष्काम भक्ति या भागवत धर्म को जो स्वतः ही दुष्प्रवेश्य है, ऋषिगण द्वारा परोक्षवाद और नाना प्रकार के हेयाली के परदा में परम-गुह्य विद्यारूप में छिपा दिया गया है। जिसका फल यह हुआ कि इस मुख्य विषय की अनुपलब्धि के कारण, स्थल विशेष में उसके ही छद्म रूप को किम्बा आनुषङ्गिक विषय को ही मुख्य निर्णय करके, जन साधारण के लिये कर्म, देवता और ज्ञान काण्ड रूप में ग्रहण योग्य हुआ है। सकाम किम्बा स्वप्रयोजन पर जंतों की स्वाभाविकी श्रद्धानुरूप श्रेयोविधान के निमित्त, उसका ही फल स्वरूप धर्मार्थकाम या 'भुक्ति' और मोक्ष या 'मुक्ति'—इन चतुर्विध 'पुरुषार्थ' ने जीव जगत् में प्रसिद्धि प्राप्त की। इन सब धर्मों के अनुष्ठान द्वारा कम-से-कम जीव की अधोगति तो निरुद्ध हो सकती है और उनका यथोपयुक्त मंगल हो सकता

१. वेद में छिपे हुये उस परम-गुह्य-विद्या को गीता व भागवत में प्रकाश किया गया है। सर्व गुह्यं भूयः शृणु परमं वचः।" (गीता १८।६४)
"गुह्यं विशुद्ध दुर्बोधं ज्ञात्वामृतमाश्रुते।" (भा० ६।३।२१)

है। इस चतुर्वर्गरूप स्वप्रयोजन पर पुरुषार्थ की उपलब्धि और ऐसे धर्म साधन में प्रवृत्त होने के लिये भी जड़संस्पृष्ट जीव की स्वाभाविकी श्रद्धा ही उपयुक्त होती है। तामसी और राजसी श्रद्धा द्वारा यथाक्रम से हिंसायुक्त और हिंसारहित सकाम यज्ञादि कर्मों के साधन से अर्थात् 'भुक्ति' धर्म में प्रवृत्त होने से, उसके द्वारा इस लोक में सुख-भोग और परलोक में स्वर्गादि प्राप्त करने में जीव समर्थ हो जाता है। सत्त्वगुण से ज्ञान का विकास होने पर ('सत्त्वात् सज्जायते ज्ञानं—'। गीता, १४।१७) सात्त्विकी श्रद्धा द्वारा ज्ञान मार्ग के साधन से अर्थात् 'मुक्ति' धर्म में प्रवृत्त होने से उसके द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। किन्तु निर्गुणा^१ भागवती-श्रद्धा मूलक स्वप्रकाश भक्ति या भागवत धर्म, महत् संग की स्वकृपा से जब तक स्वयं जीव में संचारित न हो, तब तक उक्त प्रकार गुण-संस्पृष्ट कर्म-ज्ञानादि के हजारों साधनों द्वारा भी उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। तभी तो शास्त्र में कहा गया है,—

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादि पुण्यतः।

सेयं साधनसाहस्रैर्हरि भक्तिः सुदुर्लभा॥

(भक्ति रसामृत सिन्दुधृत—तत्रोक्ति)

इसका अर्थ,—ज्ञानमार्ग के साधन द्वारा 'मुक्ति' पाना सुलभ है; यज्ञादि पुण्य कर्म द्वारा स्वर्गादि भुक्ति लाभ करना भी सहज है; किन्तु यह हरिभक्ति ऐसे हजारों साधनों द्वारा भी सुदुर्लभ है।

भक्ति का आनुषंगिक या गौण फल जिसे भक्त तो त्याग देता है किन्तु यही सब फल कर्म-

१. 'सात्त्विक्याध्यात्मिको श्रद्धा—' (भा० ११।२५।२७) इत्यादि श्लोक

ज्ञानादि आनुषङ्गिक धर्म का मुख्य फल है।

इसलिये सकाम और स्वप्रयोजन पर जीव की श्रद्धानुरूप मुख्यरूप में ग्राह्य ज्ञान-कर्मादि भागवत धर्म के ही आनुषङ्गिक या गौण धर्म होने के कारण कर्म-ज्ञानादि के सभी मुख्य फल भक्ति या भागवत धर्म के आनुषङ्गिक या गौण फलरूप में ही प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु तब भी निष्काम शुद्ध भक्त उन सब की उपेक्षा करते हुये भगवतसेवारूप परम पुरुषार्थ प्राप्त करने के उद्देश्य से ही साधन में जुटे रहते हैं (बड़े जोर से लगे रहते हैं)। यह बात शास्त्र से ही जानी जाती है;—

‘यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराम्यतश्च यत्।

योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽज्जसा।

स्वर्गापवर्गं मद्भाम कथंचित् यदि वाञ्छति॥

(श्री भा० ११।२३।३२)

इसका अर्थ,—यज्ञादि कर्म द्वारा, तपस्या द्वारा, ज्ञान द्वारा, अष्टांग योग द्वारा, दान धर्म द्वारा और दूसरे श्रेयोसाधन द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है,—मेरा भक्त उनकी वाछां न रखने पर भी, यदि भजन की सहायता के लिये कभी किञ्चिन्मात्र भी उनकी इच्छा करता है, तो स्वर्ग, मोक्ष—यहाँ तक कि मेरा बैकुण्ठादि धाम तक सभी मेरी भक्तियोग द्वारा अनायास ही प्राप्त कर सकता है।

अतएव परोक्ष भाव में होने पर भी, केवल निष्काम भागवतधर्म में ही समस्त वेद का मुख्य-तात्पर्य समाप्त होता है, इसलिये वेदोक्त दूसरे सभी विषय को उसका आनुषङ्गिक किम्बा तत्सम्बन्धीय ही समझना चाहिये। इस कारण से सम्पूर्ण वेद केवल

भागवत धर्ममय या कृष्णमय ही हैं।

सूर्य और उसके सम्बन्धीय—ग्रह और प्रदीपादि के दृष्टान्त से वेद और भागवत का पार्थक्य निर्णय।

इसके दृष्टान्त स्वरूप में यह कहा जा सकता है कि जिस तरह गगनस्थित ग्रह-उपग्रहादि और भूमिस्थित दीपक-बत्ती आदि, एक मुख्य वस्तु सूर्य के ही विशेष प्रकाश से प्रतिभात होते हैं जो उसका आनुषंगिक अथवा सम्बन्धीय विषय के अतिरिक्त दूसरे कुछ भी नहीं है। किन्तु सूर्य के अस्तगमनरूप अदर्शन के समय में ही वह सब मुख्य और स्वतंत्र रूप से ही आकाश मण्डल और पृथ्वी में दिखायी पड़ते हैं। उसी तरह सभी वेदों के परम मुख्य भागवतधर्म के अनुपलब्धि-रूप अदर्शन समय तक ही, सकाम किम्बा स्वप्रयोजनपर साधारण जीव के लिये उसके आनुषङ्गिक या सम्बन्धीय—कर्म, देवता और ज्ञानकाण्डोक्त सभी विषय वस्तु मुख्य और स्वतंत्र रूप में अनुभूत और ग्राह्य होने योग्य होते हैं।

सूर्य के अदर्शन काल में भी विज्ञ लोगों को जिस तरह उसकी ही मुख्यता और सत्ता सर्वत्र ही अनुभूत होती है और गगनस्थित ग्रहादि और भूतलस्थ प्रदीपादि उसी के आनुषङ्गिक या सम्बन्धीय विषय को छोड़कर और कुछ भी स्वतंत्र बोध नहीं होते, सभी एक सूर्य की महिमारूप में ही परिदृष्ट होते हैं, उसी तरह सब वेदों में परम-गुह्यरूप में भागवत धर्म को सर्व प्रकार से छिपाकर रखा जाने पर भी, सूक्ष्म और शुद्ध-दृष्टि सम्पन्न भक्तों के सामने प्रच्छन्नता का आवरण आप ही हट जाता है। इसलिये यही समझ में आता है

कि शुद्ध भक्तों की दृष्टि के सामने सर्वदा ही एक भागवतधर्म का प्रकाश सर्वभाव से, सर्वत्र ही अखण्ड रहता है (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।—श्वेता० ६।१४)।

आच्छादित भागवतधर्म-स्वरूप वह सब वेद श्री भगवान की निःश्वास की तरह ही अस्पष्ट हैं और उस पर भी परोक्षवाद द्वारा ढके हैं, जिससे उसके सम्बन्धीय होने पर भी, वेद से ही विभिन्न श्रद्धान्वित व्यक्तिगण द्वारा अपनी अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न विषय को मुख्य किम्बा स्वतंत्र रूप से ग्रहण करना सम्भव हुआ है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि श्री भगवान के अभिप्राय के अनुसार ही उन्हें अस्पष्ट रखा गया है।

फिर जिस तरह सूर्य के उदय काल में उसके सम्बन्धीय या उसके प्रकाश से प्रकाशित ग्रहादि और प्रदीपादि अपने आप ही अदृश्य किम्बा अप्रकाशित हो जाते हैं और जिस तरह उनकी जगह में महा-सूर्य ही अपनी महिमा से आप ही प्रकाशित और सर्वत्र चमकता रहता है, उसी तरह सुप्रकाश भागवतधर्म स्वरूप श्री मद्भागवत घोर कलियुग के अन्धकार से ढके हुए जगत् के भाग्य में सूर्य की तरह समुदित हुई है।^१ यह बात उसी भागवत से ही अवगत हो जाती है।

कृष्णे स्वधामोपगते धर्म ज्ञानार्दिभिः सह।

कलौ नष्ट दृषामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः॥

(श्री भा० १।३।४३)

१. '—तदिदं पुराणमेवार्कः न तु शास्त्रान्तरवद्यपिस्थानीयं यत् ।' (क्रम सन्दर्भः भा० १।३।४३)

इसका अर्थ,—भागवत धर्म और भगवत् ज्ञानादि के साथ श्रीकृष्ण के स्वधाम पधारने पर, इस कलियुग में उस विषय में अज्ञानान्धकार से आवृत पुरुषों के हितार्थ यह पुराणरूप सूर्य श्रीमद्भागवत उक्त धर्म और ज्ञान के प्रकाश के निमित्त, कृष्ण के प्रतिनिधि स्वरूप में प्रकट हुआ है।

(क्रम सन्दर्भः टीकानुसार)

इसलिये इसके उदय होने से, उसके आनुषङ्गिक या सम्बन्धीय सभी विषय उसमें ही कहीं तो अदृष्टा और कहीं निस्प्रभरूप में अवस्थान करते हुए अपने कारणस्वरूप—उसी परम मुख्य भागवत धर्म का ही सम्बन्ध घोषणापूर्वक अपने को गौरवान्वित करते हैं, अस्पष्ट वेद का यह निगूढ़ अभिप्राय सुस्पष्ट वेदार्थस्वरूप श्री भागवत से ही समझ में आ सकेगा। श्री भागवत में महापुराणोक्त सर्ग, विसर्गादि दस लक्षणों के प्रसंग से यह अवगत हो जाता है कि भागवत में जो कुछ कहा गया है, वह सभी इन दस लक्षणों ही के अन्तर्भुक्त विषय हैं। उनमें दशम वस्तु या 'आश्रय' मुख्य होता है। दूसरे नौ-लक्षण उसके आश्रित या आनुषङ्गिक विषय हैं, इसलिये सम्बन्धीय ही होते हैं। एक श्रीकृष्ण ही 'आश्रय' है अर्थात् सर्वाश्रय तत्त्व या दशम पदार्थरूप में निरूपित हुये हैं। इसलिये श्रीकृष्ण या साक्षात् उनकी विषयक या सर्वाश्रय इसलिये भागवतोक्त सृष्टि कथा, मन्वन्तर कथा प्रभृति और उनमें कथित कर्म, योग, ज्ञान, तप, दानादि वेदोक्त सभी विषय उन्हीं नव लक्षणों के अन्तर्गत हैं। अतएव वह सभी आश्रयाधीन अर्थात् कृष्णाधीन तदाश्रित तत्त्वरूप में ही इस भाव से अपना परिचय देते हैं। अतएव सूर्य स्वरूप समुदित भागवत-धर्म-मूलक श्री भागवत् से भक्ति या

भागवत धर्म की सर्वमुख्यत्व और दूसरे विषय या अन्यायन्य सभी धर्मों का उसके आनुगत्य होना ही स्पष्टतः प्रकाश होकर उसके द्वारा अस्पष्ट वेद का उक्त निगूढ़ अभिप्राय सुव्यक्त हुआ है। तभी तो श्रीचरितामृत में कहा गया है,—

‘वेदेर निगूढ़ अर्थ बूझन न जाय’।

पुराण वाक्ये सेई अर्थ करये निश्चय॥

(२।६।१३६)

तात्पर्य—वेद के निगूढ़ अर्थ को समझा नहीं जा सकता है।
भागवत पुराण ने उसी अर्थ को भली प्रकार समझा दिया है।

यहाँ पुराण शब्द द्वारा विशेष भाव से पुराणार्क श्री भागवत को ही निर्देश किया गया है। दृष्टान्त स्वरूप निम्नोक्त भागवतीय श्लोक से यही प्रदर्शित हुआ है कि—जैसे वेद में केवल ‘ब्रह्म’ शब्द की अस्पष्टता के आवरण में जिन्हें प्रच्छन्न रखा गया है, भागवत् में स्वरूप लक्षण सहित उन्हीं का ही सुस्पष्ट परिचय प्रदान किया गया है, यथा,—

अहो भाग्य महोभाग्यं नन्दगोपब्रजौक साम्।

यन्मित्रं परमानन्द पूर्ण-ब्रह्म सनातनम्॥

इसका अर्थ,—परमानन्द स्वरूप सनातन पूर्ण-ब्रह्म (श्री कृष्ण) जिनके सुहृद हैं—उन नन्दगोप ब्रजवासी लोगों का कैसा आश्चर्य भाग्य है’ कैसा आश्चर्य भाग्य है।

उक्त श्लोक से यही सुस्पष्ट अभिव्यक्त हुआ कि वेदोक्त सनातन पूर्ण-ब्रह्म श्री कृष्ण ही है!

इसलिये अब यही प्रतिपन्न होता है कि समस्त वेद का मुख्य अभिप्राय भागवत धर्म ही है जिसे छिपाकर रखने के कारण ही,

वेद में उसके आनुषङ्गिक सभी विषय मुख्य रूप से परिदृष्ट होने के योग्य हुये हैं। दूसरी ओर सुस्पष्ट वेदार्थस्वरूप श्री भागवत में सूर्य की तरह भागवत धर्म ही मुख्य रूप से समुदित होकर यह विघोषित हुआ है कि उसके सभी आनुषङ्गिक विषय अस्पष्ट या निष्प्रभ (जिसमें चमक न हो) होकर उसके आनुगत्य ही हैं; वेद और भागवत में यही पार्थक्य है।

मुख्य विषय से सम्पर्क शून्य होने से, फल देने में उसके आनुषङ्गिक विषय की अक्षमता।

अब विवेच्य विषय है कि जब श्रीकृष्ण ही सभी वेदों में कीर्तित हुये हैं, तो श्रीकृष्ण के साक्षात् सम्बन्धीय और उनके आनुषङ्गिक-सम्बन्धीय अर्थात् मुख्य और गौण दोनों विषय मिलकर, सम्पूर्णतः सभी वेद केवल भागवत धर्ममय हैं या और भी सरल शब्दों में यों कहा जाय कि भगवत् भक्तिमय है इसलिये भगवन्मय हैं। यह पहले बताया जा चुका है कि उसके अनुपलब्धि के समय में उसके आनुषङ्गिक विषयरूप दूसरे सभी धर्म को ही स्वाभाविकी सगुणा श्रद्धानुरूप मुख्य भाव से ग्रहण करने से, उसके अनुष्ठान द्वारा यथोपयुक्त श्रेयोलाभ हो सकता है। किन्तु विशेष बात यह है कि वह सभी उक्त मुख्य विषय के आनुषङ्गिक सम्बन्धीय विषय होने के कारण भगवत्-भक्ति के साथ संयोग रक्षा करने से ही वह सभी धर्म यथार्थ श्रेयोविधान में समर्थ होते हैं। यदि भगवत् या उनकी भक्ति का सम्बन्ध छोड़ दिया जाता है, तो कर्म, ज्ञान, योग, तप, व्रतादि किसी भी साधन द्वारा सिद्धि प्राप्त नहीं होती'

यह बात शास्त्र में सुस्पष्ट भाव से उल्लेख कर दी गयी है।

इसलिये दूसरे सभी धर्म एक मुख्य भागवत धर्म के ही आनुषाङ्गिक सम्बन्धीय हैं और वह सभी भक्ति के आनुगत्य से ही प्रमाणित होते हैं। अतएव श्री भगवान का साक्षात् सम्बन्धीय या मुख्य विषय तो भागवत् धर्म है और जो उसके आनुषाङ्गिक सम्बन्धीय या गौण विषय हैं, उन सभी को अपरापर धर्म समझना चाहिये।

क्रिया भेद से एक भक्ति का मुख्या और गौणीरूप प्रकाश भेद।

इसलिये भगवद्भक्ति ही मुख्या और गौणी भेद से दो रूप में प्रपञ्च में प्रकट हुयी है। जब भक्ति यादृच्छिक महत् संग और तदोत्थ श्रवण-कीर्तनादि के सहयोग से—इन दोनों युगपत् कारणों से जीव में संचारित होती है, तभी वह निर्गुण या शुद्धा भक्ति के नाम से कीर्तित होकर अपना मुख्यफल अर्थात् श्रीकृष्ण-चरणाम्बुज में प्रेम भक्ति उदय करा देती है। यही सुदुर्लभा मुख्या भक्ति है।

और जब भक्ति आनुषाङ्गिक सकाम धर्म या सभी साधनों की सिद्धि दायिनी रूप में उनके साथ संयुक्त होती है, तब वह सगुण या सकाम भक्ति के नाम से कथित होती है और अपने आनुषाङ्गिक या गौण फल द्वारा धर्मार्थ काम-मोक्ष या भुक्ति या मुक्तिरूप सभी पुरुषार्थ प्रदान कराके, सकाम या स्व प्रयोजन पर साधकों का सर्वाभीष्ट पूर्णकर देती है। यही सुलभा गौणी भक्ति है। भक्ति का ऐसा प्रभाव है कि इस गौणी भक्ति के ही सम्बन्ध किम्बा संयोग

वशतः भक्तित्व प्राप्त होकर 'कर्म' प्रभृति 'आरोपसिद्ध-भक्ति के नाम से और 'ज्ञान' व 'योग'—संगसिद्धाभक्ति के नाम से अभिहित होने योग्य और अपना अपना फल प्रदान करने में समर्थ हो जाते हैं।

अतएव कुछ स्थिर भाव से अच्छी तरह चिन्ता करने पर ही यह बात समझ में आ सकेगी कि मुख्यता किम्बा गौणी जिस भाव से भी हो—केवल भगवत् भक्ति की महिमा के अतिरिक्त वेदादि शास्त्रों में दूसरा कुछ भी कीर्तित नहीं है।

सृष्टि के आरम्भ में जीव समष्टि के प्रति सृष्टा श्री भगवान की साक्षात् वाणी ही भक्तियोग या भागवत धर्म है।

तभी तो पूर्वोक्त "कालेन नष्टा प्रलये" (भा० ११।१४।३) इत्यादि श्लोक में श्री भगवान ने समस्त वेद को ही 'महात्मक धर्म' अर्थात् तद्विषया शुद्धा भक्ति या भागवत धर्म कहकर ही निर्देश पूर्वक जब विसर्ग, अर्थात् ब्रह्मा को सृष्टि करने की सामर्थ्य की याद न थी, तभी सृष्टि के आदि में उसी को ही ब्रह्मा से कही हुयी अपनी 'वाणीरूप वेद'^१ के नाम से उल्लेख किया है। इससे यह समझ में आता है कि उनके प्रथम निःश्वासरूप से आविर्भूत शब्दमय वेद, तब भी समुद्र-निर्घोष की तरह अस्पष्ट ध्वनिरूप में महासमुद्र के गर्जन के साथ मिलकर अवस्थान करते थे। वही स्पष्टरूप से साक्षात् वाणीरूप वेद अर्थात् 'चतुःश्लोकी' द्वारा ब्रह्मा को श्री मुख से

१. 'परमीश्वरं सृष्टि समये प्रथम निःश्वासभूताः श्रुतयः—' इत्यादि। टीका स्वामिपाद। (भा० १०।८७।१२)

उपदेश किया है। इसलिये सूत्ररूप चतुःश्लोकी का अर्थ ही अस्पष्टता के आवरण में चारों वेद हैं और उसी का अर्थ श्री भागवत में परिगीत हुआ है।

अतएव इस परम् मुख्य धर्म को ही जिसे स्वयं श्री मुख कीसुस्पष्ट वाणीरूप में समष्टि-जीव-स्वरूप ब्रह्मा को उपदेश किया है, इसी को ही, संसार पथ में यात्रा के समय में सृष्टि के आरम्भ में सभी जीवों के लिये स्वयं सृष्टा का साक्षात् उपदेश जानना चाहिये। जीव के लिये इस से श्रेष्ठतर मंगल दूसरा कुछ भी नहीं है। रास्ते से भटके हुये वहिर्मुख जीवों को परम् शान्तिमय श्री चरणतले—अपने घर में लौटा ले जाने के लिये स्वयं भगवान के करुणा की प्रथम अह्वान—वाणी का ही नाम 'भागवत धर्म' है।

इस पर भी उन्होंने इस विषय में श्रद्धाहीन जीवों की उसे ग्रहण करने की अयोग्यता की बात भी सोची है। इसलिये इस उद्देश्य से कि जीव अपने सामर्थ्य से ग्रहणोपयोगी कर्म और ज्ञानरूप उसके आनुषङ्गिक धर्म ग्रहण करके यथोपयुक्त श्रेयो लाभ कर सके, साक्षात् कथित भक्तियोग के अतिरिक्त उसके आनुषङ्गिक कर्म और ज्ञान योग को भी 'मया प्रोक्ता' अर्थात् मदुक्त (मेरा कहा हुआ) बताकर भक्ति के अनुपलब्धि के समय तक उन्हें ही ग्रहण करके अवस्थान करने का उपदेश किया है। किन्तु यहाँ 'मत्कथित' शब्द का तात्पर्य शास्त्र मुख से कथित है क्योंकि वह शास्त्र योनि^१ अर्थात् शास्त्र के उत्पत्ति स्थल होने से—वेदादि शास्त्र भी उनके कथित हैं।

१. शास्त्रयोनित्वात् — (ब्रःसूः १।१।३)

श्री भगवत् प्रोक्त कर्म, ज्ञान और भक्तियोग और उनका अधिकार-लक्षण।

अतएव उनकी भक्तियोग का उपदेश सर्वादि साक्षात् श्रीमुख की चाणीरूप में और कर्मवज्ञान योग, वेदशास्त्रमुख से उपदिष्ट होने का कारण यह है कि—सब वेदों में उनका कहा हुआ मुख्य भक्तियोग परम गुह्य विद्यारूप में सुरक्षित होने से उसके अदर्शन अर्थात् अनुपलब्धि के समय उसका आनुषङ्गिक धर्म—कर्म और ज्ञानयोग मुख्यरूप से ग्रहण करना सम्भव हो जैसा सूर्य के दृष्टान्त से इसके पहले बताया जा चुका है। ताकि उनके द्वारा स्व प्रयोजन पर जीव का अभीष्ट—भुक्ति और मुक्ति सुसिद्ध हो सके। निष्काम भक्तों के लिये तो वही निगूढ़ भक्तियोग स्वयं ही आत्म प्रकाश करके अपना मुख्य फल—श्रीकृष्ण-सेवा प्रदान करेगा। इसीनिमित्त साक्षात् श्रीमुख से कथित भक्तियोग और शास्त्रमुख से कथित कर्म और ज्ञानयोग—यह तीनों योग यथाक्रम से मनुष्यों के परममंगल और मंगलार्थ तदुक्त (अपना कहा हुआ) बताकर श्री भगवान ने स्वयं ही निर्देश किया है। वेदविहित यह निगूढ़ अभिप्राय वेदार्थ स्वरूप भागवत से ही सुस्पष्ट अभिव्यक्त हुआ है, यथा,—

योगास्त्रयों मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।

ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नो पायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्री भागवत, ११।२०।६)

इसका अर्थ,—मनुष्यों के श्रेयोविधान के निमित्त मदर्पण—लक्षण कर्म योग, मेरा ब्रह्माख्य निर्विशेष आविर्भाव सम्बन्धीय ज्ञान योग और मेरा भगवदाख्य सविशेष आविर्भाव सम्बन्धीय भक्तियोग

नामक, यह तीन उपाय मैं ने बताये हैं। इनके अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय कहीं भी नहीं बताया गया है।^१

अतः पर उक्त योगत्रय के अधिकार-लक्षण वर्णित हुआ है;
निर्विण्णानां ज्ञानयोगोन्यासिनामिह कर्मसु।

तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्म योगस्तु कामिनाम्॥

(भागवत, ११।२०।७)

तात्पर्यार्थ,—जो लोग कर्म और उसके फल के भोग में 'भुक्ति' विषय में दुःख और अनित्यादि समझकर विरक्त चित्त हो गये हैं, उन्हीं लौकिक और वैदिक सर्वकर्मत्यागी अर्थात् कर्म—सन्यासियों के लिये ज्ञान योग अभीष्टप्रद होता है (अर्थात् मुक्ति प्रद होता है)। जो लोग कर्म और उसके फल में—'भुक्ति विषय' में आसक्त चित्त हैं, उन लोगों के लिये कर्म योग ही अभीष्ट प्रद होता है (अर्थात् भुक्ति प्रदान करता है)।

यदृच्छया मत्कथादौजातश्रद्धस्तुयः पुमान्।

न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

(भागवत, ११।२०।८)

तात्पर्यार्थ,—और जोलोग यदृच्छालब्ध अर्थात् किसी भगवत् भक्त के संग और कृपादि से प्राप्त सौभाग्य विशेष से^२ मेरे (श्री भगवान् के) नाम, रूप, गुण लीला—कथादि में श्रद्धान्वित हुये हैं, और कर्म और उसके फल में भुक्तिकामी की तरह सत्य समझकर अत्यन्त आसक्त किम्बा मुक्ति कामी की तरह मिथ्या समझकर

१. यहाँ अष्टांग योग—ज्ञान के ही अन्तर्भुक्त समझना चाहिये।

२. 'यदृच्छया केनापि परम स्वतंत्र भगवद्भक्त संगतत् कृपाजात-मंगलोदयेन।'
(भक्ति सन्दर्भः १२७ अनुः)

अत्यन्त विरक्त भी नहीं है, उन्हीं लोगों के लिये भक्ति-योग ही सिद्धि प्रद (अर्थात् प्रेम भक्ति प्रद) होता है।

तदन्तर उक्त तीनों योग जिस भाव से अबलम्बन करने पर जीव का श्रेयोलाभ होता है, वह बताया जाता है।

तावत्कर्मणि कुर्वीत निर्विद्येत यावता।

मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(भागवत, ११।२०।६)

तात्पर्यार्थ, —जब तक मदर्पण-लक्षण कर्म योग द्वारा चित्त शुद्ध होकर, कर्म और उसके फल में विरक्ति उदय होने से ज्ञान का अधिकार न हो, किम्बा जब तक यादृच्छिक महत् संगोत्प मेरी कथादि के श्रणादि के विषय में श्रद्धा (निर्गुणा भगवती श्रद्धा) उदय न हो, उस समय तक कर्मयोग का अनुष्ठान करते रहना चाहिये।^१

इससे अब यही समझ में आ सकता है कि—यादृच्छिक महत् संग और तदुत्प श्री हरिनाम-रूप-गुणादि-प्रसंगरूपा भक्ति, एक ही साथ इन दोनों कारणों के सुदुर्लभ संयोग से जिनमें शुद्धा भक्ति का उदय हुआ है और तत्पूर्विका शुद्धा का विकास हुआ है, उन्हीं सब भगवद्भक्तों के लिये ही शास्त्रोक्त दूसरे किसी अनुष्ठान की—दूसरे किसी धर्मोक्त विधि—निषेध के पालन की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इसी का ही नाम 'भागवत धर्म' या 'मुख्या भक्ति' हैं। सृष्टि के आरम्भ में जीव-समष्टि-ब्रह्मा को उपलक्ष करके सब जीवों के प्रति यही स्वयं सृष्टा या श्री भगवान की वाणी है। अर्थात् श्री मुख का सुस्पष्ट और परम आदेश है जो परोक्ष या अस्पष्ट भाव

१. 'अस्मिन् लोके—।' (भा० ११।२०।११)

से परम-गुह्य-विद्यारूप में सभी वेदों में छिपाकर सुरक्षित रखा गया है और श्रीमद्भागवत में सूर्य की तरह सुस्पष्ट रूप में समुदित हुआ है।

सकाम कर्म और कर्म योग में पार्थक्य।

जीव को जब तक इस परम-मुखा और अहेतु की भक्ति या भागवत धर्म का सुदुर्लभ संयोग न हो, तो उसके अनुदय और अनुपलब्धि समय तक ही वेदोक्त उसके आनुषङ्गिक सभी धर्मों में से प्रथमतः कर्मयोग का अनुष्ठान करना आवश्यक है। वेदोक्त केवल सकाम कर्मानुष्ठान द्वारा अभीष्ट भोग तो प्राप्त हो जाते हैं किन्तु काम्य-विषय के केवल उपभोग द्वारा भोगवासना नहीं मिटती, अपितु अग्नि में धृताहुति की तरह भोगवासना बढ़ती ही जाती है।^१ इसलिये भोगवासना की निवृत्ति न होने तक जन्म-मृत्यु रूप संसार गति का भी विराम नहीं होता है। अतएव केवल कर्म न करके, कर्म योग का अनुष्ठान करना ही शास्त्र को अभिप्राय है। योग का अर्थ कौशल है।^२ जिस प्रकार कौशल के साथ कर्म करने से उसके द्वारा जन्म-मृत्यु रूप संसार बन्धन नहीं होता, उसी का ही नाम 'कर्मयोग' है। परमेश्वर के उद्देश्य से कर्मफल अर्पणपूर्वक भोग में अनासक्त होकर, केवल कर्तव्य बुद्धि से कर्म का अनुष्ठान करना ही 'कर्म योग' है।^३ इस भाव से कर्मानुष्ठान करने से चित्त की शुद्धि होकर विषय-भोग-वासना मिट जाती है। तभी तो सकाम

१. 'न जातु कामः—' (भागवत, ९।१६।१४)

२. '—योगः कर्मसु कौशलम्।' (गीता, २।५०)

३. गीता, २।४७ व गीता, ३।६ देखना चाहिये।

जीव के लिये श्री भगवान ने शास्त्र द्वारा कर्म योग का उपदेश किया है, जिसके द्वारा स्वसुख-तात्पर्यमय विषय-भोग वासना संतप्त सकाम मनुष्यों का चित्त शुद्ध हो जाता है और उसके फलस्वरूप भुक्ति-इच्छा की समाप्ति हो जाती है। तब उस अवस्था में ऐसे साधक को ज्ञानयोग का अधिकार प्राप्त हो जाता है जिसके साधन द्वारा 'भुक्ति' रूप अभीष्ट या स्वप्रयोजन सिद्ध हो सकता है। अथवा चित्त की शुद्धि होने पर भक्तियोग के द्वार पर उपनीत हो जाता है अर्थात् उसके अत्यन्त निकट आ जाता है। किन्तु महत्-संगादि द्वारा संचारित शुद्धा भक्ति की संयोग के बिना उसमें प्रवेश करना सम्भव नहीं होता है। इस भक्ति के आनुषङ्गिक फल से ही चित्त-शुद्ध हो जाता है, कर्मयोग आदि की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती है। हृदय-स्थिता अनादि विषय वासना और अविद्यादि की सब ग्रंथि भक्ति के संयोग के समय से ही क्रमशः अनर्थ-निवृत्ति रूप में विलीन हो जाती है।^१

भक्तियोग में श्रद्धा का विकास होना ही महत्- कृपादि संचार का लक्षण है।

भक्ति की यादृच्छिकता व सार्वत्रिकता स्वभाव वशतः वह कब किस जीव में, किस अवस्था में, संचारित होगी या न होगी; इसका कोई निश्चय नहीं है। इसलिये मुख्याभक्ति सभी के लिये निराश और आशा की वस्तु है।

किन्तु जब किसी अवस्था में, किसी को उस विषय में श्रद्धा

१. 'यथा यथात्मा—'। (भा० ११।१४।२६)

उदय होकर उसके फलस्वरूप उसे भक्ति ही के विषय में परममुख्या बोध और अत्यादर बुद्धि हुई है और उसे केवल श्री भगवत् या मूलतः श्रीकृष्ण-सेवा और उनके संतोष विधान की इच्छा के अतिरिक्त दूसरा कोई भी प्रयोजन बोध नहीं होता है, तभी यह समझना चाहिये कि चाहे जिस भाव से भी हो, वह महत्-संगादि द्वारा शुद्धा भक्ति या भागवत धर्म का अधिकारी हुआ है।

महत्-कृपादि के संचार से ही केवल मुख्य विषय उसी रूप में ग्राह्य होता है, उसके अभाव में गौण विषय मुख्य रूप में ग्राह्य होकर, उसकी सिद्धि के निमित्त निर्गुणा-भक्ति ही सगुण रूप में प्रकाश होती है।

जीव के हृदय में शुद्धा भक्ति के आविर्भाव से श्री भागवत आदि भक्ति-शास्त्र और उसमें वर्णित सभी साधन, किम्बा तत्विषयक कथा, गीत अभिनयादि सभी मुख्य निर्गुण और प्रेमद रूप में ही ग्राह्य होते हैं। किन्तु उस विषय में श्रद्धा के अनुदय के समय में वेदोक्त उसके आनुषङ्गिक कर्म-ज्ञानादि सभी साधन मुख्यरूप से विवेचित और ग्रहीत होने के योग्य होते हैं। ऐसी अवस्था में ही उक्त समस्त साधनों की सिद्धि-देने के निमित्त, भागवतादि भक्तिशास्त्रोक्त श्रवण-कीर्तनादि—भक्ति के सभी अंग अपना स्वरूप छिपाकर, सगुण या गौण भक्ति के कपट वेश में ही आत्म-प्रकाश करते हैं। अतएव जहाँ महत्-संगादि के संयोग से मुख्या भक्ति का विकास नहीं हुआ है, वहाँ उक्त प्रकार से गौणा भक्ति के छद्म भेष

में प्रकाशित शास्त्रोक्त श्री हरिनाम, रूप, गुण प्रभृति का श्रवण-कीर्तनादि के अथवा वही लोक-समाज में कथा-गीताभिनयादि के रूप में प्रचारित और स्वप्रकाश होकर जिसकी कृपा से सहज-लभ्य हो गया है,—उसी सगुणा भक्ति के अनुशीलन द्वारा ही केवल प्रेम भक्ति को छोड़कर सकाम जीव के सभी अभीष्ट पूर्ण हो सकते हैं। यह भक्ति अपना सम्बन्ध किम्बा संयोग-मात्र प्रदान करके कर्म, ज्ञान, योग प्रभृति सभी साधनों की सिद्धि-दायिनी होती है। अनुसन्धान करने पर यह बात समझ में आ सकेगी कि कर्म, ज्ञानादि धर्मों के अनुष्ठान के साथ में ही सुकौशल से उनके अंगरूप में इस भक्ति का संयोग किया गया है। अतएव भक्ति का ऐसा अचिन्त्य प्रभाव है कि उक्त आनुषङ्गिक सभी साधनों का जो मुख्य फल है, अर्थात् वही धर्मार्थकाम मोक्ष रूप चतुर्वर्ग या भुक्ति, मुक्ति, सिद्धि प्रभृति स्वप्रयोजनपर जीव का जो कुछ अभीष्ट है, वह सभी इस गौणा भक्ति के संयोग से या सम्बन्ध से ही सिद्ध हो जाते हैं।

कर्म-ज्ञानादि का फल, उनके साधन के बिना भी केवल सगुणा भक्ति द्वारा ही प्राप्त हो जाने पर भी साधारणतः जीव में ऐसे सौभाग्य का भी अभाव।

यहाँ एक दूसरा विवेच्य विषय यह भी है कि जब सकाम किम्बा स्वप्रयोजन पर जीव के अनुष्ठेय कर्म-ज्ञानादि सभी साधनों के अंग रूप में अधिष्ठाता होकर गौणाभक्ति ही केवल भुक्ति ही नहीं; अपितु जीव के सभी अभीष्ट-मुक्ति तक पूर्ण करने में समर्था है। तब कर्म-ज्ञानादि साधन के बिना, उक्त अभीष्ट की पूर्ति के लिये

यदि केवल श्रवण-कीर्तनादिरूपा उसी गौणा भक्ति मात्र का ही अनुशीलन किया जाय, तो उसकी अपेक्षा अधिकतर सुफल प्राप्त हो सकता है; इस विषय में असम्भावना कुछ नहीं है।

किन्तु बात यह है कि उपास्य विषय में भी अपनी अभीष्ट सिद्धि के निमित्त सगुण देवता की उपासनादि में स्वतः ही सकाम जीव की आग्रह दृष्ट होती है। यद्यपि उस विषय में श्रद्धा और उसकी उपासना के सभी फल देवताओं के अन्तर्यामी रूप से श्री भगवान ही देते हैं, तथापि भगवानके भजन की प्रवृत्ति ऐसे जीवों में देखी नहीं जाती।^१ 'कामैस्तैस्तैर्हत ज्ञानाः—'। (गीता, ७।२०) इत्यादि श्लोक की आलोचना में पहले यह बात बतायी जा चुकी है। किन्तु किसी सौभाग्य विशेष के उदय होने से देवताओं की उपासना में उत्साहित न होकर सकाम अभीष्ट सिद्धि के उद्देश्य से ही यदि केवल भगवत-भजन के विषय में प्रवृत्ति पैदा हो जाय, तो वह सकाम देवताओं के उपासकों की अपेक्षा उत्तम कर्म करने वाला है। यह बात श्री भगवान ने स्वयं ही 'चतुर्विधा भजन्ते मां—' (७।१६) इत्यादि गीता के श्लोक में व्यक्त कर दी है।

उपास्य के विषय में जो बात है, वही उपासना के विषय में भी यहाँ समझना चाहिये। अर्थात् गौणा भक्ति के सामर्थ्य से ही समस्त सिद्धि प्राप्त होने पर भी, सकाम किम्बा स्वप्रयोजन पर जीव को भुक्ति, मुक्ति, सिद्धि प्रभृति सभी अभीष्ट प्राप्त करने के लिये कर्म, ज्ञान और योगादि धर्म के अनुष्ठान में जैसी स्वाभाविकी श्रद्धा और प्रवृत्ति रहती है, वैसी केवल श्रवण-कीर्तनादि रूपा गौणा

१. 'रजः सत्त्वतमो निष्ठा—' इत्यादि।

(भागवत, ११।२१।३२-३४) द्रष्टव्य।

भक्ति के अनुशीलन में प्रवृत्ति प्रायः परिदृष्ट नहीं होती।

किन्तु महत्-संगादि द्वारा संचारित न होने पर भी यदि किसी विशेष भाग्य के उदय होने से^१ अभीष्ट सिद्धि के निमित्त, ज्ञानादि आनुषङ्गिक धर्म की अपेक्षा न करके, केवल श्रवण-कीर्तनादि रूपा गौणा भक्ति का ही अनुशीलन किया जाय, तो वह उक्त प्रकार सुकृति और सुबुद्धिमता का ही परिचायक होता है। इस सम्बन्ध में श्री चरितामृत की उक्ति ही उद्धृत की जाती है,—

भुक्ति-मुक्ति सिद्धि कामी सुबुद्धि यदि होय।

गाढ़ भक्ति योगे तब कृष्णोर भजय॥

अन्य कामी यदि करे कृष्णोर भजन।

ना मागितेऊ कृष्ण तारे देन स्वचरन॥

कृष्ण कहे, आमाय भजे मांगे विषय सुख।

अमृत छाड़ि विष मांगे एई बड़ मूर्ख॥

आमि विज्ञ एई मूर्ख विषय केने दिब।

स्वचरनामृत दिया विषय भुलाइब॥

काम लागि कृष्ण भजे पाय कृष्ण रसे।

काम छाड़ि दास होईते होय अभिलाषे॥

(श्री चै० २।२२।२३-२७)

तात्पर्य—भुक्ति मुक्ति सिद्धि कामी यदि सुबुद्धि वाला हो तो उसे गाढ़ भक्ति योग से श्रीकृष्ण का भजन करना चाहिये क्योंकि अन्य कामना वाला (भक्ति न चाहने वाला) भी यदि श्रीकृष्ण का भजन करता है तो न चाहने पर भी श्रीकृष्ण अपने चरण अर्थात् भक्ति दे देते हैं क्योंकि श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरा भजन करता है

१. इसे 'महत् संगभास' कहा जा सकता है।

और विषय सुख चाहता है, अमृत छोड़कर विष मांगता है—यह कितना बड़ा मूर्ख है किन्तु मैं तो ज्ञानवान हूँ, यह मूर्ख है, मैं इसे विषय क्यों दूँगा। मैं इसे अपना चरणामृत देकर विषय भुला दूँगा। इस प्रकार काम वासना से भी श्रीकृष्ण का भजन करने से श्रीकृष्ण रस की प्राप्ति होती है। जीव के मन से कामवासना हट जाती है और उसे श्रीकृष्ण दास बनने की इच्छा जागृत हो जाती है।

अतएव यदि कोई व्यक्ति सकाम भाव से भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि के लिये कर्म-ज्ञानादि के साधन में प्रवृत्त न होकर, केवल श्रवण-कीर्तनादि रूपा सहज लभ्या सगुणा भक्ति का आश्रय लेकर ही भगवदनुशीलन में प्रवृत्त होता है, तो ऐसे सुकृति और सुबुद्धिमान व्यक्ति के लिये किसी विशेष भाग्य के कारण ऐसी अवस्था में भगवत्कृपा या भगवद्भक्त की कृपा के संयोग की सम्भावना भी अधिक हो जाती है और उसके द्वारा शुद्धा भक्ति के संयोग से परम कृतार्थ हो सकता है। ऐसे सब साधक ही—

‘साधु सगं-कृपा किम्बा कृष्णोर कृपाय।

कामादि दुःसगं छाड़ि शुद्ध भक्ति पाय॥

(श्री चै० २।२४।६६)

तात्पर्य—जीव साधुसंग अथवा श्रीकृष्ण के कृपा से काम वासना आदि बुरी इच्छाओं को छोड़कर शुद्ध भक्ति पाता है।

इससे अब यही स्थिरीकृत होता है कि श्रीभगवत् चरण कमल की प्रेम-सेवा प्राप्ति का एकमात्र उपायस्वरूप मुख्या या दुर्लभा शुद्धाभक्ति के अनुदय या अनुपलब्धि के समय में भी, केवल गौणा या सगुणा भक्ति के छद्म में सहजलभ्यारूप से प्रपंच में

विराजमाना—श्रवण कीर्तन आदि रूपा भक्ति का आश्रय करने से ही-कर्म-ज्ञानादि किसी धर्म के या अन्य किसी साधना के अनुष्ठान के बिना ही जीव के सभी अभीष्ट सरलता से पूरे हो सकते हैं। सर्वपापक्षय, नरक-निवारण, आवागमन की समाप्ति से लेकर भुक्ति, मुक्ति, सिद्धि प्रभृति पर्यन्त सभी अभीष्ट-वांछित कोई भी पुरुषार्थ प्रदान करने के लिये इस गौणाभक्ति ही का प्रभाव अचिन्तनीय अव्यर्थ है। इससे अधिक और क्या हो सकता है? जिसके आभास मात्र से ही जीव के सभी अभीष्ट यहाँ तक कि मुक्ति तक सिद्ध हो जाती हैं; यह इस भक्ति के साक्षात् प्रभाव की बातें इससे अधिक और कही ही क्या जा सकती है।

**केवल अपराध को छोड़कर भक्ति के
फलोदय में दूसरी कोई बाधा नहीं है। अवश्य
सभी क्षेत्र में निरपराध से ही भक्ति का
अनुशीलन होना चाहिये।**

श्री भगवत्-पदाम्बुज में या साक्षात् उनके सम्बन्धीय भक्ति, भक्त प्रभृति के विषय में अवज्ञादि रूप (अपमान, अवहेलनादि) किसी अपराध के हो जाने से, यहाँ तक कि मुक्तावस्था में आरूढ़

-
१. भक्ति के आभास से मुक्ति तक प्राप्त होने का दृष्टान्त; नामाभासरूप भक्ति के आभास से अजामिल को मुक्ति व (भा० ६।२।४९) चूहे द्वारा मन्दिर में दीपदानाभास से मुक्ति। मदिरापन्न व्यक्ति द्वारा मन्दिर में ध्वजारोपनाभास से मुक्ति। कुत्ते के मुँह में पकड़े हुये पक्षी को मन्दिर परिक्रमाभास से मुक्ति। (भक्ति-सन्दर्भः १५२-१५३ अनुः द्रष्टव्य।)

होने पर भी अधः पतित होना होता है। तभी तो शास्त्र में उक्त हुआ है,—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्त मानिन-

स्त्वभ्यस्त भावादविशुद्ध बुद्धयः।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः

पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रयः॥

(श्री भागवत, १०।२।३२)

इसका अर्थ,—(श्रीकृष्ण के प्रति देवगण की उक्ति) हे कमलनयन! भक्ति के अभाव से आपके प्रति विमुख जो लोग अपने को विमुक्त होने का अभिमान करते हैं, वह लोग बहुत तपस्यादि द्वारा अतिकष्ट से मोक्षपद-योग्य स्थान प्राप्त करने पर भी आपके श्री चरणों के प्रति अनादर बुद्धि करने के कारण उस स्थान से नीचे गिर जाते हैं।

निष्काम, सकाम, मोक्षकाम—सभी के लिये भक्ति ही अनुशीलनीय।

अतएव निष्काम, सकाम अथवा मोक्षकाम, चाहे जो भी हो, सभी जीवों का सर्वाभीष्ट पूर्ण करने के लिये सब अवस्था में सर्वमात्र से—केवल अपराध-शून्य होकर^१ एकमात्र भक्ति के आश्रय में अवस्थान करना सुबुद्धिमत्ता का परिचायक होता है। यह बात सुस्पष्ट वेद स्वरूप श्री भागवत में विधोषित हुई है।

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।

तीन्नेण भक्ति योगेन यजेत पुरुषं परम्॥ (भा० २।३।१०)

१. 'अपराध-शून्य' से सेवापराध व नामापराध पर्यन्त समझना चाहिये।

इसका अर्थ,—स्वसुख-कामना-शून्य—एकान्त भक्त, किम्बा सर्वकामना वाला कर्मी, अथवा मोक्ष कामनावाला ज्ञानी—चाहे जो भी हो, यदि वह सुबुद्धिमान है (अर्थात् भक्ति की श्रेष्ठता और सार्वत्रिकता के सम्बन्ध में सुविज्ञ है) तो वह ऐकान्तिक भक्तियोग द्वारा श्री भगवान की ही आराधना करेगा। इसलिये मुख्य या गौणा जिस भाव से भी हो, सब वेदों का कृष्ण भक्ति ही एकमात्र अभिप्राय है और यह भी समझ में आ सकता है कि वेदोक्त सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन, सभी प्रच्छन्नरूप में श्रीकृष्ण-विषयक ही हैं। दूसरे सभी को गौण या उसके आनुषङ्गिक विषय समझना चाहिये।^१

श्रीकृष्ण विषयक सम्बन्ध अभिधेय और प्रयोजन, चतुःश्लोकी का अभिप्राय होने से, समस्त वेद का भी यही अभिप्राय है।

अब चतुःश्लोकी के तात्पर्य की उपलब्धि होने से ही वेद का उक्त निगूढ़ अभिप्राय समझ में आ सकेगा।

प्रणव से गायत्री और गायत्री का अर्थ ही अस्पष्टता के आवरण में वेद में और सूत्ररूप में चतुःश्लोकी में अभिव्यक्त हुआ है। यह बात पहले बतायी जा चुकी है कि सृष्टि के आरम्भ में श्री ब्रह्मा से श्री भगवान ने अपने श्रीमुख से जो चतुःश्लोकी कही थी उसका तात्पर्य ही अस्पष्टता के आवरण में चारों वेदों में और सुस्पष्ट भाव से श्री भागवत में विस्तारित है।

१. गौण-मुख्यवृत्ति कि अन्वय व्यतिरेके।

वेदेर प्रतिज्ञा केवल कह्ये कृष्ण के॥—(चै० २।२०।१२८)

इस चतुःश्लोकी का मुखबन्ध या भूमिका स्वरूप उसके पूर्ववर्ती दो श्लोकों का तात्पर्य उपलब्ध होने पर ही चतुःश्लोकी का अभिप्राय और उसके द्वारा, अस्पष्ट होने पर भी, वेद का मुख्य तात्पर्य थोड़ा-बहुत समझ में आ सकता है। ग्रन्थ के विस्तार की आशंका से इस विषय में यहाँ किंचित् आभास मात्र प्रदान किया जाता है।

ज्ञानं परगुह्यं में यद् विज्ञान समन्वितम्।

सरहस्यं तदङ्गं गुहाण गदितं मया॥

(श्री भा० २।६।३०)

इसका अर्थ,—श्री भगवान ने कहा कि हे ब्रह्मन्! मैं तुम्हें अपने विषय का ज्ञान सहित परम गुह्यज्ञान तथा उसका रहस्य और उसके अंग जो कुछ हैं, उन सभी को मैं कथित रूप में (श्रीमुख की वाणी द्वारा) बतलाता हूँ, तुम उसे ग्रहण करो।

तात्पर्य—‘मद्विषयक परम गुह्यज्ञान’ को ब्रह्मज्ञानादि से भी निगूढ़ श्रीकृष्ण-विषयक ज्ञान समझना चाहिये। ‘कृष्णो भगवत्ताज्ञान संवितेर सार’ (चै० १।४।५८) अर्थात् स्वरूप शक्ति के अन्तर्गत सम्वित शक्ति का साररूप जो ज्ञान है’ न कि प्राकृत सत्त्वसंजात ज्ञान। इसलिये यह सभी ज्ञान से गुह्यतम है जो ‘विज्ञानं से समन्वित’ अर्थात् जो भी भगवदनुभव योग्य या तत्साक्षात्कार योग्य अपरोक्ष ज्ञान के सहित है; किम्बा जिनके द्वारा उन्हें प्राप्त किया जाता है,—यही ह्यादिनी-सार संयुक्त सम्वित्सार-सार-रूपा भक्ति या भागवत धर्म विषयक ज्ञान सह है। उसका ‘रहस्य’ यह है कि साधारण लोगों को अदेय (कभू प्रेमभक्ति न देय, राखे लुकईया’ (चै० १।८।१६) परम रहस्यमय सुगोप्य-प्रेम भक्ति है।

‘तदंग’ अर्थात् श्रवण कीर्तनादिरूप नवधा भक्त्यंग और उसके सभी साधनांग। यही सब साक्षात् श्रीमुख से कथित रूप में ब्रह्मा को उपदेश किया है और ग्रहण करने के लिये कहा है। इसके द्वारा पूर्वोक्त “कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेद संज्ञिता।” (भा० ११।१४।३) इत्यादि श्लोकोक्त वाणीरूप वेद अर्थात् इसी चतुःश्लोकी की बात ही समझ में आती है, निःश्वासरूप वेद जिसकी अस्पष्ट अभिव्यक्ति है। दूसरा श्लोक है,—

यावानहं यथा भावो यद्रूपगुणकर्मकः।

तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥

(श्री भा० २।६।३१)

इसका अर्थ,—मैं जैसा स्वरूप या परिमाण विशिष्ट हूँ, मैं जिन लक्षणों से सुशोभित हूँ, मैं द्विभुज-चतुर्भुजादि और श्याम शुक्लादि से जो रूप विशिष्ट हूँ और जिस प्रकार रूप-गुण-लीला विशिष्ट हूँ; उन सब का यथार्थ अनुभव तुम मेरी कृपा से करो।

उक्त स्वरूप, लक्षण रूप-गुणादि के विषय श्री कृष्ण ही हैं। अथवा यह सब उनके सम्बन्धीय भी कहे जाते हैं।

अब यह बात समझ में आ जाना चाहिये कि वेदादि शास्त्र में जो कुछ व्यक्त हुआ है, वह सभी अनुबन्ध चतुष्टय के अर्थात् चार प्रसंग के अन्तर्गत है और वह (१) विषय, (२) सम्बन्ध, (३) प्रयोजन और (४) अभिधेय हैं।

विषय के ज्ञान से सम्बन्ध का ज्ञान, सम्बन्ध के ज्ञान से प्रयोजन का ज्ञान, प्रयोजन के ज्ञान से अभिधेय या कर्तव्य निर्धारित होता है। कहीं कहीं विषय को सम्बन्ध के अन्तर्भुक्त करके सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन यह तीन ही प्रसंग रूप में भी वर्णन किये जाते हैं। इससे द्वितीय श्लोक में जो सब विषय वस्तु वर्णित हुये हैं, वह सभी कृष्ण-विषयक ही होने से श्री कृष्ण ही उन सबके विषय हैं अथवा विषय और सम्बन्ध को एकत्र करने से, उक्त सभी विषय को श्री कृष्ण-सम्बन्धीय भी कहा जाता है। इसलिये यह सब और प्रथम श्लोक में वर्णित उनका विषयक ज्ञान और विज्ञान तत्विषयक 'सम्बन्ध' है। 'रहस्य' या प्रेम भक्ति विषयक 'प्रयोजन' है। 'तदंग' सभी तत् विषयक 'अभिधेय' या कर्तव्य है। इन तीनों प्रसंगों का अन्ततः (कम से कम) आभास मात्र की उपलब्धि चतुःश्लोकी के मुखबन्ध (भूमिका का स्वरूप) श्लोक से की जाती है, वही चतुः श्लोकी में सूत्र रूप से भगवान द्वारा कथित हुआ है। जब वेद और भागवत चतुःश्लोकी की ही अस्पष्ट और सुस्पष्ट अभिव्यक्ति है, तब वेदोक्त जो कुछ विषय, सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन प्रसंग है, वह सभी श्री कृष्ण विषयक है,—अस्पष्ट होने पर भी उसके द्वारा यही समझ में आता है इसलिये चतुःश्लोकी के आभास से यही प्रतिपन्न होता है कि एक श्रीकृष्ण-विषयक सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन ही फलुधारा की तरह (गुप्त)

प्रच्छन्न प्रवाह से समस्त वेद में और यही खुले हुये प्रवाह से श्रीभागवत् में विस्तार रूप में वर्णन हुआ है।^१ इस तरह से यहाँ तक आलोचना द्वारा यही सर्व भाव से प्रतिपादित हुआ कि श्री कृष्ण विषयक, सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन रूप भागवत धर्म ही सभी वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। दूसरे सभी विषय तो कहीं उसका ही गौण किम्बा आनुषङ्गिक विषय है। इसके साथ ही साथ यह भी समझ में आ सकता है कि यदृच्छालभ्य इस मुख्या भक्ति के अनुदय और अनुपलब्धि समय तक ही सकाम किम्बा स्वप्रयोजन पर जीव का अभीष्ट लाभ करने के निमित्त तत्सम्बन्ध युक्त कर्म, ज्ञान प्रभृति उसके आनुषङ्गिक सभी धर्म के, अथवा अधिकतर सौभाग्य के उदय होने से केवल गौणी भक्ति के, आश्रय से ही अवस्थान करना शास्त्र का आदेश है।

**शुद्धा भक्ति ही परम-पुरुषार्थ है, धर्मार्थकाम
मोक्षरूप पुरुषार्थ स्वप्रयोजन वाले जीवों के लिये
उसी का ही छद्म रूप है।**

अब प्रश्न यह हो सकता है कि यदि भक्ति ही जीव का, वेदादि शास्त्रोक्त एक मात्र मुख्य प्रयोजन है, तो सभी शास्त्रों ने भक्ति को

१. 'भागवते सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन।' इत्यादि (श्री चै० १२।२५।८५। वेद शास्त्रे कहे, सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन।' इत्यादि। (श्री चै० २।२०।१०६) देखना चाहिये।

उल्लेख न करके केवल धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चतुर्वर्ग को ही पुरुषार्थरूप में क्यों निर्देश किया है? इसके उत्तर में यह कहना है कि मुख्या भक्ति ही वेदादि शास्त्र का एक मात्र तात्पर्य तो है परन्तु उसके अनुदय और अनुपलब्धि के समय में शास्त्र द्वारा सकाम और स्व प्रयोजन पर जीवों के लिये जिस तरह उसके ही छद्मरूप को अथवा उसके गौण किम्बा आनुषङ्गिक विषय को ही मुख्यरूप से ग्रहणोपयोगी करके रखने पर भी शुद्ध दृष्टि के सामने मुख्य विषय का ही प्रकाश हो जाता है,—उसी तरह एक मात्र मुख्या भक्ति ही जीव का मुख्य प्रयोजन या परम पुरुषार्थ होने पर भी, उसके अनुपलब्धि के समय उसके छद्म या गौण को ही धर्मार्थकाममोत्र नामक पुरुषार्थ रूप से स्व प्रयोजन पर जीव जगत् में प्रसिद्ध और परिचित किया गया है। भक्ति विभावित दृष्टि के सामने चतुर्वर्ग के इस प्रच्छन्नता का पर्दा अपने आप ही हटकर उसके स्थान में केवल एक भक्तिरूप परमपुरुषार्थ ही चमकने लगता है। सभी शास्त्र भी ऐसी अवस्था में ऐसे भक्त के सामने धर्मार्थ काम मोक्ष या भुक्ति और मुक्तिरूप सभी प्रच्छन्न पुरुषार्थ का मुख्य स्वरूप प्रकट कर देते हैं। तभी तो देखा जाता है कि जो 'धर्म' धर्मार्थकाम अर्थात् त्रिवर्ग या मुक्ति के मूलरूप में और जो 'भुक्ति' मोक्षरूप में जीव जगत में सुपरिचित है, उस 'धर्म' और मुक्ति का यथार्थ स्वरूप भक्ति ही है, न कि भोग और मोक्ष' यह बात निम्न स्वरों से सभी शास्त्रों ने भक्तिमान-पुरुष को बता दिया है। श्री भगवान ने स्वयम् ही श्री उद्धव से कहा है,—

‘धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तो—।’ (भा०।११।१६।२७)

अर्थात् मेरी भक्ति का अनुशीलन ही ‘धर्म’ नाम से कथित होता है।

इसी तरह यह भी शास्त्र से ज्ञात होता है कि ‘मुक्ति’ का यथार्थ तात्पर्य ‘मोक्ष’ नहीं है—भक्ति ही है; यथा,—

‘निश्चला त्वचि भक्तिर्या सैव मुक्तिर्जनार्दन।’

(श्री हरिभक्ति-विलासधृत—१०।७३ रेवाखण्डे—ब्रह्मोक्ति)।

अर्थात् हे जनार्दन! आप में अचला भक्ति ही ‘मुक्ति’ नाम से कीर्तिता होती है।

इसलिये चतुर्वर्ग का स्थूल बाह्यार्थ—भुक्ति और मुक्तिरूप पुरुषार्थ होने पर भी, उसका सूक्ष्म और निगूढ़ अर्थ भक्ति के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, यह बात भी निम्नोक्त शास्त्रोक्ति से अवगत हो जाती है; यथा,—

धर्मार्थकाम मोक्षाख्याः पुरुषार्था द्विजोत्तमाः।

हरिभक्तिपराणां वै सम्पद्यन्ते न संशयः॥

(श्री हरिभक्ति-विलास धृत—१०।१०४ बृहन्नारदीय वाक्य)।

अर्थात् हे विप्रसत्तमगण! धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष नामक पुरुषार्थ हरिभक्तों का ही सिद्ध होता है।

इसलिये इस बात के समझने में अब कोई असुविधा नहीं रह जाती है कि भक्ति ही परमपुरुषार्थ है और उसके उदय न होने के समय में धर्मार्थ काममोक्ष अर्थात् भुक्ति और मुक्ति नाम से कथित

सभी पुरुषार्थ उसी के ही छद्मरूप हैं।

शुद्धा भक्ति के अनुदय समय में भगवान में
सर्वकर्मार्पण पूर्वक अन्ततः (कुछ न कुछ)
सन्निकटवर्ती होकर अवस्थिति ही
शास्त्र विहित।

सकाम साधारण जीव का जो कुछ प्रयोजन है, वह सभी अपने लिये होता है। यही कारण है कि उसे 'पुरुषार्थ' या स्वार्थ कहते हैं। निष्काम शुद्धभक्त का जो कुछ प्रयोजन है, वह सभी परमपुरुष अर्थात् कृष्ण के निमित्त होता है, इसलिये यह 'परमपुरुषार्थ' या 'कृष्णार्थ' है।

सुदुर्लभा शुद्धा भक्ति का संयोग न होने तक किसी के लिये भी स्वप्रयोजन पर पुरुषार्थ को छोड़कर दूसरे किसी पुरुषार्थ की धारणा करना भी असम्भव है। इसलिये ऐसी अवस्था में जीव की भावना, वासना और कायिक, वाचिक और मानसिक जो भी चेष्टा है, जो भी क्रिया-कर्म है, वह सभी अपने प्रयोजन के लिये होने से, उसके द्वारा जन्म-मृत्युरूप संसार गति निरुद्ध न होकर, भय और बन्धन के कारण हो जाते हैं। यही कारण है कि कर्म में अनुरक्त जीवों को कर्मपाश से विमुक्ति का कौशल स्वरूप कर्मयोग की व्यवस्था शास्त्र में है। जब अपने ही लिये कर्म करना ही है, तब अपना कर्तृत्वाभिमान और फल-कामना-शून्य होकर,

अनासक्त भाव से सभी कर्मों का अनुष्ठान करके, उन्हें श्री भगवान् में अर्पण करना ही कर्म का कौशल है। इस तरह सकौशल से कर्मानुष्ठित होने पर कर्म बन्धन न होकर चित्त शुद्ध हो जाता है जिसका फल यह होता है कि या तो ज्ञान मार्ग में प्रवेश लाभ हो जाता है, अथवा भक्ति के द्वार पर उपनीत (उपस्थित) हो जाता है। इस अवस्था में महत्कृपादि के संयोग से भक्ति मार्ग में प्रवेश लाभ की सम्भावना भी हो जाती है; यही सर्वमुख्य भागवत धर्म के कुछ न कुछ सन्निकटवर्ती होकर रहने का उपाय है। इसलिये श्री कवि योगीन्द्र द्वारा भागवत् धर्म निर्देश करने के पश्चात् ही अनुदय के समय में जीव के श्रेयो लाभ के निमित्त निम्नोक्ति उपाय उपदिष्ट हुआ है; यथा—

कायेनवाचा मनसेन्द्रियैर्वा

बुद्ध यात्मना वानुसृतस्वभावात्।

करोति यद्यत्सकलं परस्मै

नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

(श्री भा० ११।२।३६)

इसका अर्थ,—चाहे विधि अनुसार ही हो अथवा स्वभावानुसार ही हो, देह द्वारा, वाक्य द्वारा, मन द्वारा, इन्द्रिय द्वारा या चित्त द्वारा जो सब कर्म किये जाये; वह सभी कर्म परमेश्वर—श्री नारायण को समर्पण करो।^१

१. उन्हीं परमेश्वर या मूल नारायण को निजोक्ति से भी यही बात अवगत होती है। 'यत् करोषि यदश्नासि' इत्यादि। (गीता, ६।२७) द्रष्टव्य।

शुद्ध भक्तों की सभी चेष्टा श्री भगवत्-सेवा और उनकी प्रीति विधान के लिये होती है; इसे छोड़कर उन लोगों का कोई स्वप्रयोजन नहीं होता है।

किन्तु शुद्ध भक्तों की सभी चेष्टा या कार्य श्री भगवान के प्रयोजन के लिये होते हैं। अपने लिये कोई कार्य या चेष्टा नहीं होती है। यहाँ स्वार्थ का कोई स्थान नहीं है। यही भागवतों की विशेषता है। भक्त की अखिल वासना और चेष्टा भगवद्-र्थ या मूलतः श्री कृष्णार्थ होती हैं।^१ अर्थात् श्रीकृष्ण की प्रीतिविधान के निमित्त होती है, अपने लिये कुछ नहीं।

अब यदि इस तरह विचार किया जाय कि यद्यपि भक्तों के लिये भुक्ति-मुक्तिरूप सभी पुरुषार्थों का प्रयोजन न भी हो, किन्तु जब प्रेम को ही प्रयोजनरूप में स्वीकार किया जाता है, और उसी प्रेमोदय के निमित्त श्रवण—कीर्तनादि रूपा साधन भक्ति भी उसके कारणरूप में प्रयोजनीय होती है, तब यह बात कि भक्तों का स्वनिमित्त कोई प्रयोजन नहीं है कैसे संगत हो सकती है? इसका समाधान यह है कि, 'प्रेम' श्री भगवान की ही प्रिय सामग्री है—प्रेम—मधुप श्री भगवान को एक मात्र प्रेम ही उपजीव्य (जीविका देने वाला) है। जिस तरह कुसुम में मधु का संचार भ्रमर के लिये

१. 'कृष्णार्थ अखिल चेष्टा—' (चै० १२।२२।७२)

ही होता है, उसी तरह भक्त के हृदय में प्रेम का संचार—केवल प्रेम—मधुप भगवान के ही प्रयोजन या उनकी प्रीति साधन के निमित्त होता है, भक्त को अपना कोई प्रयोजन नहीं होता है। उसी तरह प्रेम का कारण—श्रवण—कीर्तनादि साधन भक्ति के अनुष्ठान के लिये भक्तों की जो एक मात्र कामना देखी जाती है, उसमें भी अपना प्रयोजन नहीं रहता है। भक्तवश भगवान की प्रियवस्तु केवल भक्ति ही है, तभी तो उसी भक्ति द्वारा भगवत्-प्रीति साधन के लिये भक्तों को भक्ति प्राप्त करने की कामना होती है। श्री भगवान की प्रियवस्तु भगवान को पहले अर्पण करके, तदन्तर उनकी प्रसादीरूप में उसे ग्रहण करना और उनकी सेवा द्वारा उन्हें सुखी करके, अपनी सुख इच्छा न रहने पर भी, तदन्तर उनकी दी-हुयी उसी प्रसादी-सुख में सुखी होना ही भक्तों के चरित्र का वैशिष्ट्य है। इसलिये यह सम्पूर्ण विशुद्ध या निष्काम है।

(१) स्व प्रयोजन पर (स्वार्थी) सभी जीवों के सभी कार्य अपने लिये अर्थात् अपने प्रयोजन या उसके साधनरूप में ही होते हैं।

(२) सुकृति (भाग्यवान, —पुण्यात्मा) लोगों का पहले तो सभी कार्य का अनुष्ठान अपने लिये होता है किन्तु तदन्तर वह लोग उन सभी कार्यों के फल को भगवान में अर्पण कर देते हैं।

(३) किन्तु शुद्ध भक्तों के सभी कार्य भगवत्-सेवा और उनकी प्रीति-वांछा के निमित्त होते हैं। उनका कोई भी कार्य अपने लिये नहीं होता। इसलिये उनके सभी कार्य पहले ही भगवान में

समर्पण होता है, फिर यदि वह सब उनकी सेवा के अनुकूल हैं तो प्रसादी रूप में ग्रहण किये जाते हैं।

अतएव शुद्ध भक्तों के श्रवण-कीर्तनादि समस्त साधनों के अनुष्ठान के विषय में भी देखा जाता है कि वह सब भगवान को प्रिय लगने के कारण पहले उनको समर्पण करके, उनकी सेवा के अनुकूल होने से बाद में प्रसादी रूप से उसे ग्रहण किया जाता है। श्री प्रह्लादोक्त नवधा साधन भक्ति के सम्बन्ध में भी उक्त शैली ही शास्त्र में प्रदर्शित हुयी है; यथा,—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम्॥

इति पुंसार्पित विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।

क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(श्री भा० १७।५।२३-२४)

इसका अर्थ,—(दैत्यराज हिरण्यकशिप के प्रति श्री प्रह्लाद की उक्ति) श्री विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दना, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नव-लक्षण भक्ति, विष्णु में साक्षात् रूप से अर्पित करके? तत्पश्चात् किसी व्यक्ति

१. स चार्पितैव सती यदि क्रियते नतु कृता सती पश्चादर्थत—' टीका। स्वामिपाद।

अर्थ—भगवान में पहले अर्पण पीछे अनुष्ठान को श्रद्धाभक्ति कहते हैं। किन्तु कर्मार्पणादि की तरह पहले अनुष्ठान और पीछे अर्पण (शुद्ध भक्ति) नहीं है।

द्वारा अनुष्ठित होने को ही मैं उत्तम अध्ययन समझता हूँ।

केवल शुद्ध भगवद्भक्तों को ही अपने सुख की अपेक्षा सेवा का गौरव अधिक है, अतएव वह लोग सेवानन्द प्राप्त करने पर भी, सेवानन्द को त्याग कर के केवल सेवाभिलाष करते हैं।

उक्त विषय का सार मर्म यह है कि शुद्ध भक्तों को जो कुछ भी वासना व चेष्टा है और उसके द्वारा सेवा के अनुकूल समझकर जो कुछ विषय वह ग्रहण करते हैं, वह सब कुछ वह लोग भगवान् ही का समझते हैं और उसके द्वारा भगवान् की सेवा और प्रीति विधान ही उनका एकमात्र अभिप्राय रहता है। केवल भगवत् सेवा द्वारा उनके सुख विधान के अतिरिक्त भक्तों का दूसरा प्रयोजन नहीं रहता। भगवान् की सेवा द्वारा सुखी करके उनके सुख से सुखी होने का अभिप्राय भी उनका नहीं होता। इसलिये भक्त और भगवान् के केवल इस विशुद्ध सम्बन्ध में ही भक्त के लिये 'सुख' से भी 'सेवा' अनेक ऊपर की वस्तु है। यही कारण है कि केवल सेवा की वांछा (इच्छा) छोड़कर यहाँ सुख वांछा का कोई स्थान नहीं है। तभी तो सेवा द्वारा भगवान् को सुखी देखकर वह लोग उन्हीं के सुख के लिये पुनः पुनः उनकी सेवा की प्राप्ति के लिये वासना करते हैं किन्तु उनके सुख से वह लोग अपने सुख की इच्छा नहीं रखते हैं। तब भक्तों को ऐसी अपने सुख की इच्छा न रहने पर भी

भक्तवत्सल श्री भगवान् भक्त की सेवा से सुखी होकर, उसी प्रसादी सुख में भक्तों को पूर्ण रूप से निमज्जित कर देते हैं। सुख की इच्छा करके उसके लाभ से जो सुख प्राप्त होता है, भक्तों को इच्छा न रहने पर भी भगवत् प्रदत्त सुख उसकी अपेक्षा कोटिगुण अधिक होता है;—

(सुख वांछा नाई, सुख होय कोटिगुण। चै० १।४।१५७)

सुख की अपेक्षा सेवा का ही गौरव रहने से भगवत्प्रदत्त ऐसे प्राप्त सुख को भी सेवा में बाधक समझकर भक्त लोग उसे वर्जन करने के लिये बहुत चेष्टा करते हैं।

यह विषय श्री चरितामृत में उक्त हुआ है;—

निज प्रेमानन्द कृष्ण-सेवानन्द बाधे।

जे आनन्देर प्रति भक्तेर होय महा क्रोधे॥

(श्री चै० १।४।१७१)

इसका तात्पर्य—श्री कृष्ण के सेवा के आनन्द से अपने को आनन्द आता है तो उससे सेवा में बाधा आने लगती है। इस पर भक्त को उस आनन्द पर भी क्रोध आने लगता है। उन्हें सेवा में बाधा सह्य नहीं है।

इसका दृष्टान्त; यथा,—

अङ्गस्तन्तारन्त मुत्तुङ्गयन्तं

प्रेमानन्दं दारुको नाभ्यनन्दत्।

कंसारातेर्वीजने साक्षा—

दक्षोदीयानन्त रायो व्यधायि॥

(भक्ति रसामृत सिन्धु । पश्चिम । २ लह०।२४)

इसका तात्पर्यार्थ,—कृष्ण का सारथि दारुक एक दिन कृष्ण को चंवर से हवाकर रहा था। कृष्ण—सेवा के फल से दारुक के चित्त में बहुत अधिक आनन्द होने के कारण उसके शरीर में स्तम्भ नाम सात्त्विकभाव उदय होने से हाथ रुक गया जिससे सेवा में विघ्न होने लगा। इसलिये दारुक ने ऐसे प्राप्त प्रेमानन्द को भी अभिनन्दित न करके उसकी निन्दा ही की थी;—

गोविन्द प्रेक्षणाक्षेपि वाष्पुराभिवर्षिनम्।

उच्चैरनिन्ददानन्दमरविन्द-विलोचना॥

(भक्ति रसामृत सि०। दक्षिण । ३ लहं । ३२)

इसका अर्थ,—कमलनयना किसी एक कृष्ण-कान्ता ने, गोविन्द दर्शन जनित आनन्दाश्रु समूह को कृष्ण-दर्शन में विघ्न समझकर उसकी निन्दा ही की थी।

अतएव जिस सेवा में प्रेमानन्द भी विघ्नस्वरूप मालूम होता है, उसके साथ अप्राकृत सालोक्यादि मुक्ति सुख की किम्बा और भी नीचे के प्राकृत सुख की तुलना कैसे हो सकती है? निष्काम और निर्मलचित्त भक्त इसी प्रकार स्वप्रयोजन-तात्पर्य शून्य होते हैं।

अवश्य यह सम्पूर्ण निष्काम भाव कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम भक्त्याधिकारी भेद से यथा क्रम से ही प्रादुर्भूत होते हैं, यह भी समझ रखना चाहिये।

इससे अब हमारी समझ में आ गया कि एक मात्र शुद्धा भक्ति के अतिरिक्त आत्म-सुख तात्पर्य या स्वप्रयोजन परता-शून्य पूरा

पूरा निष्काम या सुनिर्मल विशुद्ध भाव दूसरा कहीं भी नहीं है। परम् पुरुष श्रीकृष्णार्थ को छोड़कर सिकी दूसरे सम्बन्ध का लेशाभास भी इस में न होने से यही 'परम पुरुषार्थ' होता है।

तभी तो अपनी इच्छा से श्री भगवान की भक्ताधीनता।

इसलिये भ्रमर जिस तरह प्रस्फुटित ताम-रस कोष में अपनी इच्छा से संबद्ध हो जाता है, देव मुनीन्द्रगुह्य सर्वाधीश श्री भगवान भी उसी तरह अपनी इच्छा से भक्त के प्रेम भक्ति-पाश में आबद्ध होकर भक्ताधीन हो जाते हैं। स्वप्रयोजन पुरुषार्थरूप स्वार्थान्वेषी जीव जगत् में इस प्रकार निःस्वार्थ और निष्काम धर्म धारणातीत या दुर्बोध होने के कारण यह मुख्या भक्ति या भागवत धर्म ही समस्त वेद-वन्दित सर्वसार सम्पद होने पर भी उक्त कारण से वेद में परमगुह्यरूप में इसे बहुत छिपाकर गुप्त रखा गया है। जिसका फल यह है कि इसके अनुदय काल में इसके ही छद्मरूप किम्बा गौणरूप अथवा तदानुषङ्गिक समस्त विषय को मुख्यरूप से निवेचित होकर उनके द्वारा धर्मार्थिकाम मोक्षरूप स्वप्रयोजन पर पुरुषार्थान्वेषी व्यक्तियों का स्वाभीष्ट पूर्ण हो सकता है—

समग्र ऋग्वेद वर्णित सोम-रहस्य और गुह्य
मधु-विद्या ही प्रच्छन्न भागवती विद्या या श्री

कृष्ण-प्रेम रहस्य है।

समस्त वेद का मुख्य अभिप्राय भगवद्भक्ति या भागवत धर्म में ही पर्यवसित है। वह अत्यन्त रहस्यावृत वैदिक हेयाली भाषा में और उसके ऊपर परोक्षवाद के प्रच्छन्नतारूप में वर्णित है जिस में घुसकर जो लोग उसके सूक्ष्म मर्म के अनुसन्धान करने में कुछ समर्थ हुये हैं, ऐसे वेदविद् मनीषिगण में से^१ किसी किसी ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि समस्त वेदों में कर्मकाण्ड प्रधान ऋग्वेद में प्रायः सर्वत्र ही सोम-याग, सोमपान, सोमस्तुति अर्थात् सोम घटित व्यापार ही भरा पड़ा है। सत्र, अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोमादि अधिकांशयज्ञ-यज्ञादि का सोम ही प्रधान अंग है। साधारण या बाह्यार्थ में 'सोम' एक प्रकार की विशेष लता है। उसका रस मादकता-शक्ति-सम्पन्न और विस्वाद है। यज्ञ में यही सोमरस देवताओं को प्रदान किया जाता है। यहीं निर्वेदित सोमरस ऋषिलोक भी स्वर्गादि लोक की प्राप्ति की कामना से पान करते हैं।

वेदोक्त सोम का यही स्थूल या बाह्यरूप होने पर भी, इसमें अवश्य ही कोई सूक्ष्म अर्थ छिपाया गया है जिसका प्रकृष्ट मर्म सुविज्ञ 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विक्-प्रधानगण के अतिरिक्त किसी दूसरे को अवगत न था। इसी 'सोम' पदार्थ को 'इन्द्र', 'राजा', 'मधू' प्रभृति के नाम से भी वेद के अनेक स्थल में निर्देश किया जाता

हुआ देखा जाता है, और उसी सोम के सम्बन्ध में केवल पीने की बात ही नहीं है, अपितु यज्ञ के समय में इसी सोम को उद्देश्य करके ऐसी बहुत प्रार्थना और स्तव-स्तुति विरचित हुयी हैं जिससे सोम और सोम रस को कहीं तो परमदेवता-परमात्मा या परमेश्वर और कहीं उन्हीं परमेश्वर या 'श्री भगवान' की 'भक्ति' अर्थात् भगवत् प्रेम-सुधा-प्रेम मदिरा को छोड़कर दूसरा कुछ भी समझने का कारण पाया नहीं जाता है। इन समस्त अर्थों के साथ प्राकृत लता विशेष की वंदना किम्बा उसके निर्यात से प्रस्तुत किसी मादक द्रव्यविशेष की स्तव-स्तुति की बात मानने पर किसी प्रकार भी उस भाव के साथ संगति नहीं होती।

फिर वेद में कहीं कहीं मधू-विद्या नामक किसी एक गोपनीय अर्थात् गुह्य-विद्या का उल्लेख देखा जाता है। यह साधारण लोगों में प्रकाश योग्य न था। कहते हैं कि एक दिन इन्द्र ने दधीचि ऋषि को उसी 'मधु-विद्या' का उपदेश किया था और इसे अन्यत्र प्रकाश करने पर उनका सिर काटा जायेगा—इस तरह प्रतिज्ञा बद्ध कराकर यह गुह्य विद्या उनको प्रदान किया था। 'मधु' शब्द जब सोम का ही समपर्याय रूप में देखा जाता है, तब यह 'मधु विद्या' 'सोम रहस्य' को छोड़कर और कुछ भी नहीं है' ऐसा अनुमान करना किसी तरह भी असंगत समझ में नहीं आता है।

यह सोमरस फिर इन्द्र की अतिशय प्रिय सामग्री की तरह उसी वेद ही में उल्लेख किया गया है। 'इन्द्र' शब्द भी अनेक जगह परमात्मा-परमेश्वर का प्रच्छन्न नाम है, यह बात भी पहले साक्षात्

श्रुतिवाक्य से समर्थित हो चुकी है। वेद में बहुत जगह 'इन्द्र', 'सविता', 'अग्नि' प्रभृति नाम से इस परमात्मवस्तु परमेश्वर को ही परोक्ष भाव से निर्देश किया गया है, ऐसा नहीं है कि यह बात और उन सब जगह में जो अभिप्राय है वह कुछ स्थिर भाव से महान् प्रयत्न करने पर समझ में न आ सके। इसलिये सोम रस को इन्द्र की अतिशय प्रिय वस्तु की तरह उल्लेख करके इन्द्र के आवरण में यही प्रकाश किया गया है कि भक्ति प्रिय श्री भगवान की भक्ति ही यह प्रिय सामग्री है ('भक्तिवशः पुरुषो'। श्रुति।) इसलिये यह अनुमान करना किसी तरह पर भी असंगत नहीं है कि 'सोमरस' भगवत् प्रेम का ही प्रच्छन्न इंगित है। इससे यह बात भी असंकोच कही जा सकती है कि पूर्वोक्त 'मधु-विद्या' या 'सोम रहस्य', 'गुह्य भक्ति विद्या' अर्थात् भगवद्भक्तिरहस्य या भागवत धर्म को छोड़कर और कुछ नहीं है।

इसलिये अब यह आसानी से समझ में आ सकेगा कि यज्ञादि कर्म-काण्ड-प्रधान बताकर जो ऋग्वेद प्रसिद्ध है, उसमें इन्द्रादि देवता और उनके उद्देश्य से जो सब याग-यज्ञादि विहित हुये हैं, उनका अधिकांश 'सोम' और 'सोमरस' यदि श्री भगवान् और भगवद्भक्ति का ही नामान्तर या सांकेतिक शब्द हैं, तो ऐसा होने से बाह्य दृष्टि में कर्म प्रधान समस्त ऋग्वेद भी प्रच्छन्न सलिला (जलाशय) की फल्गु धारा की तरह भीतर में श्री भगवान या मूलतः श्रीकृष्ण और उनकी सम्बन्धीय प्रेम भक्ति-कथारूप सुधा-धारा ही बहाता है, इस बात के भी कहने में कोई भी बाधा नहीं पड़

सकती है।

अतएव विषय वासना-संतप्त, रजस्तमोगुण में भरे हुये सकामकर्म-संचल साधारण लोगों के लिये निर्गुण और निष्काम भक्तिरहस्य दुर्बोध होने से, उसकी अनुपलब्धि के समय में सकाम लोगों की कर्मनिष्ठा विचलित या विक्षुब्ध न करने के उद्देश्य से समस्त वेद का मुख्य अभिप्रायरूप यह 'मधुविद्या' या 'सोमरहस्य' नामक भक्ति या भागवती विद्या को वेद में विशेष रूप से छिपाकर रखा गया है, इस प्रकार की बात का भी आभास उसी वेद के किसी किसी जगह से विदित हो जाता है। यथा,—

‘आच्छद्विधानैर्गुपितो वार्ह तैः सोम रक्षितः।’

(ऋग्वेद १०।८५।४)

अर्थात् हे सोम, स्तोत्रगण गुप्त रखने के अभिप्राय से ही तुम्हारे रहस्य को आच्छादन करके रखते हैं।

**श्रुति द्वारा वेदगुह्य उसी भागवत धर्म का इंगित
और उसके समन्वय से श्री भागवत में उसका
सुस्पष्ट समाधान।**

अतएव समस्त वेद में किसी एक विशेष रहस्य में जो रहस्य परमगुह्य और निगूढ़ रूप से संरक्षित हुआ है, उसके बाह्यार्थ द्वारा उसका प्रकाश नहीं होता है, किन्तु परोक्षभाव में होने पर भी, वस्तुतः इस रूप में भागवत धर्म का ही इंगित श्रुति द्वारा निम्नोक्त

प्रकार से प्रदर्शित होते देखा जाता है; यथा,—

‘तद्वेद गुह्यो पनिषत्सु गुढम्

तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्।

ये पूर्व देवा अथयश्च तद्विदुः—

स्ते तन्मया अमृतो वै बभूवुः॥

(श्वेताश्र० ५।६)

इसका अर्थ,—जो वेद में दुर्बोध्य विद्या है, सभी उपनिषदों में गूढरूप से अवस्थित है और जो वेद का कारणस्वरूप हैं, उन्हें ब्रह्मा जानते हैं पूर्व देवता (शम्भू प्रभृति) और ऋषिगण (कतिपय श्री नारदादि) को वह विषय अवगत हुआ था। उन लोगों ने तन्मय (तद्भावयुक्त) होकर अमृतत्व लाभ किया था।

उक्त वेद गुह्य-विद्या का सुस्पष्ट सारार्थ

गीता में (६।१-२) ‘राजविद्या’, ‘राजगुह्य’ इत्यादि शब्दों में वर्णित विषय से जिस तरह जाना जाता है,—उसी तरह हमें उसी वेद गुह्य विषय का प्रकृष्ट परिचय वेद के सुस्पष्ट विस्तारार्थ स्वरूप श्री भागवतोक्त भागवत धर्म के वर्णन में मिल सकता है। केवल दिग्दर्शनार्थ उससे कई एक श्लोक और उनका संक्षिप्त मर्म यहाँ उद्धृत किया जाता है,—

अजामिलोपाख्यान में अपने दूतों से श्री धर्मराज की उक्ति;—

धर्म तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतं

ने पै विदुः ऋषियो नापि देवाः।

न सिद्ध मुख्या असुरा मनुष्याः

कुतो नु विद्याधरचारणादयः॥

(श्री भागवत, ६।३।१६)

अर्थ,—साक्षात् भगवान द्वारा कहा हुआ इस तदात्मक धर्म (अर्थात् भक्ति या भागवत धर्म) को जब ऋषिगण, देवगण, सिद्धगण, कोई भी नहीं जानते, तब फिर असुरगण, मनुष्यगण और विद्याधर और चारणादि कैसे जान सकेंगे? (अर्थात् इस बात का कहना ही निष्प्रयोजनीय है कि वह लोग इसके समझने में असक्त हैं।)

यदि कोई नहीं जानता, तो इस प्रकार के धर्म के अस्तित्व के सम्वन्ध में प्रमाण क्या है? इस सन्देह की आशंका से फिर कहते हैं,—

स्वयंभूतारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिवैयासकिर्वयम्॥

द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भराः।

गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृत मश्नुते॥

(श्री भागवत, ६।३।२०-२१)

पूर्वोक्त 'तद्वेदगुह्यं—' (श्वेता० १०।१५।६) इत्यादि श्रुतिवाक्य के समन्वय (मीलान) से भागवतीय श्लोक का एक ही तात्पर्य विदित हो जावेगा; यथा,—

हे दूतगण। ब्रह्मा, ('ब्रह्म वेदते'—श्वेता०) नारद, शम्भु, सनत्कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, व्यासनन्दन

शुकदेव और मैं (धर्मराज)—यही हम लोग बारह जन^१ इस भृगवत धर्म के रहस्य को जानते हैं। (‘ये पूर्वदेवा [रुद्रादयः] ऋषयश्च [नारदादयः] तद्विदुः!—श्वेता०।)

यह वेद में गुह्यरूप से छिपा रहता है। (‘तद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढम्।’ श्वेता०।), यह विशुद्ध अर्थात् निर्गुण और निष्काम है, इसलिये कैतवादि रहित है। इसी कारण से सगुण और सकाम कर्मादि वाले साधारण स्मृति शास्त्रादि में इसका प्रकाश न होने से, भोगैश्वर्यादि या अर्थवादादि विषय में ही आसक्त मलिनचित्त साधारण लोगों के लिये यह भागवत धर्म (‘ब्रह्म योनिम्—’ श्वेता०। अर्थात् वेद किम्बा ब्रह्मा के जो उत्पत्ति स्थल हैं—वही श्री भगवान और तदात्मक धर्म) दुर्बोध है। किन्तु किसी विशेष भाग्य से इसे जान सकने पर अमृतत्व प्राप्त किया जाता है, (स्ते तन्मया अमृता वै बभूवः व भूवुः।—श्वेता०।

इसलिये वेद गुह्य विषय का रहस्य, जो अस्पष्ट भाव से पूर्वोक्त श्रुति में इंगित किया गया है,—उसी श्रुतिमंत्र के सहित ‘स्वभूरादि’ उक्त भागवतीय श्लोकार्थ के समन्वय से अब हम स्पष्ट ही यह समझ गये कि भागवत-धर्म ही वेदगुह्य विद्या हैं जिसकी परामृत धारा फल्गुदारा की तरह समस्त वेद में और खुली हुयी धारा से समग्र भागवत में प्रवाहित है।

१. ‘यही द्वादशजन’ कहने से यही समझा जावेगा कि उनको और उनके अनुग्रहीत सम्प्रदाय-परम्परा को छोड़कर दूसरे महागुणयुक्त होने पर भी इस भागवत धर्म को नहीं जानते हैं।

‘महाजनों द्वादशेभ्यस्तदनुग्रहीत-सम्प्रदायिभ्यश्च—’ इत्यादि (श्री भक्ति सन्दर्भः। ११० अनुः)

सब वेदों में भक्तियोग या भागवत धर्म की ही एकमुख्यता स्वयं भगवान द्वारा समर्थित।

अतएव जीव मात्र का आत्म धर्म या मुख्य श्रेयों साधन बहुत नहीं हैं—एक ही हैं और वह भागवत धर्म या सर्वमूलतः 'प्रेम धर्म' ही है; इसके अतिरिक्त वेदादि शास्त्र में बाह्यतः जो बहुत से कर्तव्यों का निर्देश देखा जाता है, वही सभी उसी शुद्धा भक्तिके अनुदय में समय में या उस विषय में उपलब्धि के अभाव में अगत्याकरणीय (लाचारी में करने के) विषय है,—यह बात भी उसी वेद के कारणस्वरूप स्वयं श्री भगवान की निजोक्ति द्वारा ही श्रीमदुद्धव के प्रश्न के समाधान में समर्थित हुयी है। अतएव भागवत धर्म की एक-मुख्यता के विषय में इस से अधिक दूसरे प्रमाण की और क्या आवश्यकता है? बहुत ही संक्षेप से यहाँ उस विषय का किञ्चित् दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है। विस्तारित विषय मूल ग्रंथ में देखना चाहिये।^१

वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्म वादिनः।

तेषां विकल्प प्राधान्यमुताहो एक मुख्यता॥

(श्री भागवत, ११।१४।१)

इसका अर्थ,—उद्धव ने कहा कि कृष्ण! वेदवादिगण बहुत अर्थात् नाना प्रकार श्रेयः साधन की बात बताते हैं। उनमें से एक ही प्रधान या मुख्य है और दूसरी गौण हैं किम्बा सभी प्रधान या मुख्य हैं?

१. श्री भागवत, ११।१४।१-१३ सभी श्लोक देखना चाहिये।

परवर्ती 'भवतोदाहृत स्वामिन्—'इत्यादि श्लोक में इस प्रश्न का संक्षेप में समाधान के उद्देश्य से श्री उद्धव स्वयं ही कहते हैं,— हे स्वामिन्! आपने किन्तु अन्य निरपेक्ष अर्थात् परम् स्वतंत्र भक्तियोग का मुझे उपदेश दिया है; जिसके प्रभाव से दूसरे साध्य और साधन के विषय में आसक्ति-शून्य होकर चित्त एक मात्र आप ही में आविष्ट हो जाता है।

अनन्तर श्री उद्धव द्वारा जिज्ञासित विषय के उत्तर देने के प्रसंग में 'कालेन नष्टा प्रलये—' (भा० ११।१४।३) इत्यादि श्लोक में श्रीभगवान ने ब्रह्मा को सब से पहले अपनी वाणीरूप वेद द्वारा जो तदात्मक भक्ति योग मात्र का ही उपदेश किया था, वही व्यक्त किया है।

इस भक्ति या भागवत धर्ममय वेद की उत्पत्ति की कथा से आरम्भ करके, तत्परवर्ती सभी श्लोकों में यह भी उल्लेख कर दिया है कि वह वेद किस तरह ब्रह्मा, मनु, भृगु, प्रभृति, महर्षिगण से लेकर उनकी संतान सन्तति और शिष्य परम्परा में देवता, दानव, मनुष्य, विद्याधरादि, क्रम से विस्तार हुआ है।

उसके पश्चात् यह बात भी भगवान ने व्यक्त कर दिया है कि सत्त्व-रजस्तमोगुण-सम्पन्न उन सभी प्राणी और उनकी बुद्धियों के विभिन्न स्वभाव और श्रद्धा के भेद से ही, उसी एक वेदार्थ के व्याख्यान में नाना प्रकार श्रेयः साधन वाक्य समुत्पन्न हुये हैं।

उक्त स्वभाव वैचित्र्य के कारण मनुष्यों में भी वेद के विषय में विभिन्न मतवाद प्रकाश हुये हैं। यहाँ तक कि, अविज्ञ किसी किसी व्याख्याता के उपदेश परम्परा से कोई कोई तो वेद-विरुद्ध पाखण्ड-

मतावलम्बी भी हो जाते हैं। उन्होंने यह भी प्रकट कर दिया है अतः पर श्री भगवान ने उद्धव से कहा है,—

मन्माया मोहितधियः पुरुषः पुरुषर्षभ।

श्रेयो वदनत्यने कान्तं यथा कर्म यथा रुचि॥

(श्री भागवत, ११।१४।६)

इसका अर्थ,—इस प्रकार विभिन्न पुरुषों के गुण, कर्म और श्रद्धा के भेद से, वह लोग वेद की एकमुख्यता (अर्थात् मद्भक्ति तात्पर्य) उपलब्धि न कर सकने से, नाना प्रकार श्रेयः साधन की बात कही है,—हे पुरुष श्रेष्ठ उद्धव! उन्हें मेरी माया से मोहित हुये ही समझो!

इसलिये वेद का यथार्थ स्वरूप अवगति के निमित्त, वेद जिनके निःश्वास हैं—इन साक्षात् वेदमय पुरुष स्वयं भगवान के श्रीमुख की उक्ति के बाद और किसी प्रमाण की सार्थकता नहीं रह जाती है। अतएव श्री भगवान की निजोक्ति से ही समस्त वेद में भक्तियोग की ही पूर्व सिद्धता और साक्षात् भगवत्-प्रवर्तिता हेतु परम मुख्यता और तद्भिन्न दूसरे सभी श्रेयों की तदानुषङ्गिकता या गौणता किम्बा स्वबुद्धि प्रवर्तित आधुनिकता^१ की बात की ही सुस्पष्ट उपलब्धि होती है। इसलिये समस्त वेद में श्रीभागवत धर्म ही की एक-मुख्यता प्रतिपादित हुयी है।

१. 'अग्रे च भक्तियोग सर्वे पाक्सिद्धता साक्षात् श्री भगवत्-प्रवर्तिता स्वयमेव मुख्यता, परेषास्त्वीनता यथा रुचि नानाजन प्रवर्तिता नुच्छता चेति।'—(भक्ति सन्दर्भः । ७५ अनुः)

नवम् उद्भाषन

युग धर्म के विचार से श्रीकृष्ण चैतन्य—
प्रकटित कलियुग में सुदुर्लभा भक्ति की
सहजलभ्यता रूप समुज्ज्वल वैशिष्ट्य
प्रतिपादित होगी।

साधारणतः शुद्धा भक्ति की सुदुर्लभता।

इस तरह से यहाँ तक आलोचना द्वारा यही स्थिरीकृत हुआ है कि यद्यपि 'भागवत धर्म' या विशुद्धा भगवद्भक्ति ही सब जीवों का एक मात्र अमृतमय सर्वश्रेष्ठ जीवनोपाय है और इसीलिये सभी वेदादि शास्त्रों का यही मुख्य अभिप्राय है तथापि उस विषय में श्रद्धा की सुदुर्लभता ही साधारण जीवों के लिये उसकी प्राप्ति में एक बड़ी भारी अड़चन है!

यह भी निश्चय है कि श्रद्धाहीन मनुष्यों को उसके प्रयोजन की भी अवश्य ही कोई उपलब्धि नहीं होती। किन्तु यदि किसी भाग्य से ऐसी निर्गुणा भागवती श्रद्धा का उदय हो गया, तो जीवमात्र को फिर किसी दूसरे अधिकार की अपेक्षा नहीं रहती, अपितु उस विषय की श्रेष्ठतम प्रयोजनीयता अनुभूत होते ही वही सुदुर्लभा शुद्धा भक्ति सहजलभ्या होकर स्वयं ही आविर्भूत हो जाती है। परन्तु ऐसी निर्गुणा श्रद्धा का उदय होना परम स्वतंत्र महत्संगति के सापेक्ष है और यादृच्छिक महत्संगति भी प्रायशः सुदुर्लभ ही

है, ('महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।—नारद भक्ति सूत्र । ३६)
इसलिये अनादि बहिर्मुख जीव के लिये भक्तिरूपा ऐसी अप्राकृत
परमामृतधारा के साथ जीवन-धारा का संयोग स्थापन करना
अत्यन्त दुर्लभ है।

जिस तरह स्वाति-नक्षत्र की वर्षा के बूँद के स्पर्श से कोटि
कोटि सीपियों में से कहीं किसी एक के अन्दर मुक्ता का संचार
होता है, उसी तरह कोटि जीवों में से कहीं किसी जीव के हृदय
में यादृच्छिक महत्कृपा-वारि के संस्पर्श से निर्गुणा भगद्भक्ति—
कृष्णप्रेम संचारित होता है। इसलिये ऐसी शुद्धा भक्ति की
सुदुर्लभता स्वाभाविक ही है। तभी तो 'कोटि मुक्त मध्ये दुर्लभ एक
कृष्ण भक्त।' यह भी विचार करने से समझ में आ सकता है कि
जो वस्तु जितनी अधिकतर मूल्यवान होती है, उसके ग्राहक की
भी संख्या भी उसी अनुपात में अल्प से अल्पतर देखी जाती है।
जागतिक किसी मूल्य से निर्गुणा शुद्धा भक्ति प्राप्त नहीं की जा
सकती, इसलिये यह वस्तु अमूल्य ही है। ऐसी अमूल्य वस्तु के ग्राहक
की संख्या सर्वापेक्षा अल्प ही होगी, इसलिये इस विषय में यह
अल्पता भी उसके सर्वश्रेष्ठ होने का एक मुख्य प्रमाण है! तभी तो
समस्त जीव के तारतम्य के विचार से भक्त जीव की ही सर्वश्रेष्ठता
शास्त्र में प्रदर्शित हुयी है। 'जीवा श्रेष्ठा ह्यजीवानां—' (भागवत
६।६।२८-३४ देखना चाहिये) इत्यादि भागवतीय श्लोक में श्री
भगवान की निजोक्ति देखना चाहिये। इस बात का और अधिक
उल्लेख निम्नप्रयोजन है कि ऐसी भगद्भक्ति चिरदिन से जीव के भाग्य
में सुदुर्लभा ही है!

**श्री गौराङ्ग प्रकटित वर्तमान कलियुग का
असाधारणत्व।**

तथापि इस जीव जगत् के लिए परम आशा और आनन्द का संवाद यह है कि ब्रह्मा के एक दिन या एक कल्पकाल में केवल इसी वर्तमान कलियुग में ही भव-विरंचि वांछित यह परमा भक्ति सभी जीवों के लिये अत्यन्त सहजलभ्य हुई है। यह बात शास्त्र से प्रमाणित होती है कि यह विशेषत्व वर्तमान कलियुग को छोड़कर कल्पान्तर्गत सत्यादि दूसरे किसी युग की नहीं है। तभी तो विशेष कलियुग की उक्त परम् वैशिष्ट्य के कारण सत्यादि युग के भी महापुण्यवान समस्त प्रजा इस भक्ति-धन्य कलियुग में जन्म लेने की प्रार्थना करते हैं; (‘कृतादिषु प्रजा राजन्कलाविच्छन्ति सम्भवम्।’ भा० ११।५।३८)। इसका कारण यह है कि जैसे दूध का नवनीत उसका सार घी होता है, वैसे ही सब वेदों का प्राणधारा स्वरूप भागवत-धर्म या भक्ति योग का सार ब्रज-प्रेम या ‘प्रेम-धर्म’ प्रतिकल्प में एक बार अपनी विलास-भूमि ब्रजलोक के साथ स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन श्री कृष्ण द्वारा प्रपंच में प्रकटित हुआ करता है। किन्तु उस समय वह प्रेम जगत् में प्रकटित व प्रदर्शित होने पर भी उनके द्वारा प्रदत्त नहीं होता।

भक्तगण द्वारा जो भक्ति स्वाति-जल बिन्दु की तरह अति विरल भाव से ही कहीं किसी जीव में संचारित होती है सर्वलीलासार उस ब्रजलीला के समय में श्री कृष्णरूपी समुद्र की यह इच्छा होती है कि इस भक्ति का परमसार और अन्य द्वारा अदेय ब्रज प्रेमरूपी जल की बड़ी भारी बाढ़ से एक बार पूर्णरूप से जीव जगत् को डुबा दें। किन्तु फिर उन्होंने यह सोचा कि ऐसी भक्ति देने का अधिकार तो उन्होंने भक्तों को ही दे रखा है और

उस समय उनका सर्वेश्वरत्व प्रकाश है,^१ इसलिये ऐसा करने से भक्त का अधिकार अतिक्रम करना होगा और वह भक्ताधीन है। यही कारण है कि उस समय उनकी उक्त वासना अपूर्ण रह जाती है। तभी तो देखने में आता है कि यद्यपि उन्होंने अरिगणों (दुश्मनों) को भी मुक्तिदान किया है किन्तु भक्तिदान प्रायशः किसी को भी नहीं किया।^२ ('मुक्तिं ददाति कर्हिचित्सम न भक्ति योगम्'। भा० ५।६।१८)।

सर्व भक्तिसार ब्रज-प्रेम के दान में एक मात्र

श्री गौर-जलधर का ही अधिकार।

यही कारण है कि उक्त प्रतिबन्धकता के प्रतिकार के लिये और अपनी तीनों वांछा^३ के साथ तदानुसंगिक रूप से यह प्रेम-दान-वासना भी पूर्ण करने के लिये ब्रज के श्याम सुन्दर महाभाव-स्वरूपिणी सर्व भक्त-शिरोमणि श्री राधिका के हेमतनु के परमाणु से अपने श्याम अंग को ढक कर उनके भाव और क्रान्ति के प्राधान्य

१. एक कृष्ण सर्व सेव्य जगत् ईश्वर। आरयत सब तार सेवकानुचर"
(चै० १।६।१०)
२. कृष्ण यदि छूटे भक्ते भुक्ति मुक्ति दिया। कभू प्रेम भक्ति ना देय राखे लुकाइया।। (चै० १।८।१६)
३. तीन वांछा जो ब्रजलीला में श्री कृष्ण पूर्ण नहीं कर सकते निम्नांकित है—
(१) श्री राधिका की प्रेम महिमा।
(२) अपना माधुर्य कैसा है।
(३) इस माधुर्य को आस्वादन करके श्री राधिका को कैसा सुख होता है!

से अपने को छिपाकर अपने आविर्भाव विशेष कनकोज्ज्वल श्री गौर सुन्दर के रूप में इसी कलियुग के प्रथम सन्ध्या में नदिया में अवतीर्ण हुये।^१ उस समय अपनी परिपूर्ण भगवत्ता के साथ परिपूर्ण भक्त-भाव के मिले रहने से भक्त का अधिकार उल्लंघन नहीं होता। ऐसा अवस्था में अपनी महा भक्तत्व के कारण पूर्व संकलित तीनों वांछा के पूर्ण करने में और उसके साथ साथ जगत में बहुत समय से अदेय ब्रज-प्रेम स्वतंत्र साधु संग की अपेक्षा न करके स्वयं विपुल भाव से प्रदान करने में फिर कोई बाधा नहीं रह जाती।

जिस तरह समुद्र को अपने द्वारा पृथ्वी को जल से भर देने की इच्छा रहने पर भी अपने भाव में रहने की अवस्था में सम्भव नहीं है, किन्तु जब अपने आविर्भाव विशेष में सूक्ष्मतर भाप बनकर बहुत से बादलों में बदल जाता है और बिजली की चमक से शोभित होकर आकाश में परिव्याप्त होता है, तभी जिस तरह गर्जन सहित प्रचुर वर्षा द्वारा पृथ्वी को जल से भर देना संभव होता है, उसी तरह ब्रज में भापरूपी प्रेमोश्रुविगलित और विद्युत के रंग की तरह श्री राधा के कनक कान्ति से शोभित होकर गौर-जलधर के रूप में जीव के भाग्यरूपी आकाश में उदय होता है, तभी उस समय श्री हरिध्वनि-मेघमन्दर के गम्भीर गर्जन के साथ अजस्र धारा में प्रेमरूपी वर्षा से जगत को डुबाकर मर्त्य जीव समूह को प्रेमामृतत्व प्रदान करने में समर्थ होता है। सृष्टि के इतिहास में इस से अधिक परमाश्चर्य घटना और कोई भी नहीं हो सकती! किन्तु इस बात की उपलब्धि करने के लिये उसके अनुरूप श्रद्धा या मनोवृत्ति का होना आवश्यक है!

१. ब्रह्मा एकदिने तेहों एक बार। इत्यादि।

सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को उपलक्ष्य करके जीव समष्टि के प्रति स्वयं सृष्टा द्वारा उपदिष्ट भागवत-धर्म रूप जो करूणा की आह्वान वाणी प्रदत्त होती है, वह ब्रह्मा के दिन के प्रायः मध्यवर्त्ती काल में दोपहर के सूर्य की तरह ही पूर्ण महिमा में प्रकाशित होती है और स्वयं भगवान जीव जगत के भाग्यरूपी आकाश में समुदित होकर नवनीत से निकले हुए घी की तरह पूर्वोपदिष्ट भागवत-धर्म की सार सम्पद—‘ब्रज प्रेम’ और उसके प्राप्ति का परमोपाय—‘कृष्ण-नाम’ उक्त प्रकार से जगत में प्रकृष्ट और परिपूर्णरूप में प्रकाश करके और बिना किसी बाधा के यथेच्छरूप में प्रदान करके इस कलियुग को सब युगों की अपेक्षा परम धन्य कर देते हैं!

भागवत-धर्म का परमसार—‘प्रेम-धर्म’ और उसके प्रदाता श्री गौर-कृष्ण ही सब वेदों के निगूढतम विषय।

वेदगुह्य भागवत-धर्म के भी अभ्यन्तर में और भी निगूढरूप में छिपे हुये ‘प्रेम धर्म’ के प्रकाश और प्रदान का एक मात्र अधिकार जिसे है, वह रसराज महाभाव-मिलित-मूर्तिमन्त प्रेम स्वरूप में प्रच्छन्न श्री गौर-कृष्ण वेद के गहन प्रदेश में छिपा हुआ सर्वनिगूढतम तत्त्व है।^१ इसलिये निखिल भगवत्-स्वरूपों में स्वयं भगवान का

१. “अशेष श्रुतिगूढ वेशं—” (चै: चन्द्रामृत—५७)

अर्थात्—अशेष श्रुति सकल के मध्य में जो निगूढ भाव से प्रविष्ट रहते हैं। ‘गतिरतिश्येनोपनिषदां—’ (श्री रूपकृत स्तवमाला में चैतन्याष्टक १, २) अर्थात् सभी उपनिषदों की चरमगति जहाँ सीमा प्राप्त है;

केवल यही सीमा प्राप्त आविर्भाव विशेष ही सर्वकान्ता शिरोमणि के भाव-कान्ति द्वारा 'छन्नत्व' (छिपे हुए) के कारण (छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ सत्त्वम् (भा० ७।६।३८) जिस तरह सर्वापेक्ष दुर्बोध्य विषय है, उसी तरह किसी भाव्य के उदय होने से इसे समझ लेने पर फिर और कुछ समझना अवशेष नहीं रहता। अध्यात्मिक जगत् में इसके पहले साध्य अवधि जहाँ तक आविष्कृत हुयी थी, उन सब के ऊपर यह गौर-तत्त्व ही निरतिशय निगूढ़ रूप में अवस्थित होने के कारण जगत के लिये यह दुर्ज्ञेय ही था! तभी तो उन्होंने स्वयं ही श्रील रामानन्द द्वारा जगत् में अपना तत्त्व प्रकाश कराने के अभिप्राय से उनसे यह सुनने पर भी कि 'कान्ता प्रेम सर्व साध्य सार' है संकोच सहित फिर पूँछा था—

प्रभु कहे एई साध्यावधि—सुनिश्चय।

कृपा करि कहु यदि आगे किछु होय॥”

(श्री चै० २।८।७३)

तात्पर्य—श्रीमन् महाप्रभू ने कहा कि यह निश्चय ही साध्य की सीमा है किन्तु यदि इससे भी आगे कुछ हो तो कृपा करके कहिये।

श्री रामानन्दराय की यह धारणा ही न थी कि ब्रह्मा उद्धवादि वन्दित ब्रजगोपियों का मधुर रसात्मक कान्ता प्रेम के ऊपर भी किसी साध्य वस्तु की बात जगत में कोई पूँछ सकता है। तभी तो उन्होंने प्रश्नकर्ता को ही वही निगूढ़ तत्त्व बताकर संशय पूर्वक आश्चर्य से कहा था—

“राय कहे इहांर आगे पूछे हेन जने।

एत दिन नाहिं जानि आछये भुवने॥”

(श्री चै० २।८।७४)

तात्पर्य—श्री रामानन्द राय ने कहा कि आज तक इस संसार में इससे आगे पूछने वाले को मैं नहीं जानता अर्थात् आज तक इससे आगे किसी ने भी नहीं पूछा।

इस प्रश्न के उत्तर में शेष पर्यन्त श्री राम राय ने जो कुछ कहा था, स्वयं प्रश्नकर्त्ता ही थे वही उत्तर अर्थात् प्रेम-विलास-विवर्त के परिणति-स्वरूप-सर्वसाध्य की शेष सीमा परमावस्था श्री गौर सुन्दर।^१

जगत में उस समय तक अप्रकाशित रहने के और उसके परम गुह्यत्व होने के कारण उनकी कृपा विशेष के बिना उस सीमा प्राप्त परतत्त्व का पता पाना सुदुर्लभ ही है। यही कारण है कि उसके स्थान में उनका केवल प्रच्छन्न महा भक्त-स्वरूप ही साधारणतः जगत में प्रसिद्ध और परिचित होता है।^२ वस्तु शक्ति बुद्धि की अपेक्षा नहीं करती। इसलिये उन्हें परम-भक्त-स्वरूप में ही उपलब्धि करने पर भी, उनके आनुगत्य होने से जो 'ब्रज-प्रेम' दूसरों द्वारा न तो प्रकाश करने और न प्रदान करने योग्य है और जो भवविरंचि वांछित है, वह उनके प्रवर्तित श्री हरिनाम-कीर्तन से ही इस

१. श्री चरितामृत २।८।५४-१५७ तक देखना चाहिये।

२. 'अहमेव कलौ विप्र नित्यं प्रच्छन्न-विग्रहः। भगवद्भक्त रूपेण लोकान् रक्षामि सर्वथा।

(लघु भा०।२ श्री पाद बलदेवकृत टीकाधृत-वृहन्नारदीय वाक्य)
'एइमत भक्तभाव करि अंगीकार। आपनि आचरि भक्ति करिल प्रचार॥'

कलियुग में जीव मात्र के लिये सुखलभ्य हो जाता है। यही वर्तमान युग का असाधारण वैशिष्ट्य है।

यह बात अपने दूत के प्रति धर्मराज के उक्ति से ही अवगत हो गयी है कि वेद गुह्य भागवती विद्या अर्थात् भक्ति या भागवत धर्म के सम्बन्ध में देवताओं और ऋषियों में बहुत थोड़े व्यक्तियों को उसका ज्ञान था। इसलिये उसी भागवत-धर्म की सार-सम्पद 'प्रेम धर्म' और विशेषतः उसके विलास-विवर्त्तरूप चरम सीमा के विषय में प्रायः कोई भी नहीं जानता था।^१ किम्बा श्री शुक-नारदादि की तरह किसी को कुछ अवगत भी था तो उन्होंने प्रकृष्टरूप से उसे प्रकाश नहीं किया। 'प्रेम धर्म' की उस अनिर्वचनीयता की बात—अनिवर्चनीय प्रेम स्वरूपम् मूकास्वादनवत्' (नारद भक्ति सूत्र) इत्यादि सूत्रों से भी जानी जाती है।

श्री भागवत में वर्णित रासलीला के 'न पारयेऽहं—' (१०।३२।२२) इत्यादि श्लोक में स्वयं भगवान् गोपीनाथ श्री कृष्ण का गोपी-प्रेम के निकट ऋणी रहने की बात व्यक्त है। इसी सूत्र या बीज में ही सूक्ष्मरूप से श्री गौर कृष्ण की आविर्भाव रूप उक्त ऋण-परिशोध लीला निहित है! इसका परम निगूढ़ रहस्य प्रायशः जगत में प्रकाश नहीं हुआ था जो विशेष भाव से श्री चैतन्य चरिता मृत के चतुर्थ परिच्छेद में उक्त भागवतीय सूत्र के भाष्यरूप में प्रकाश किया गया है।

अतएव उक्त प्रकार से उस विषय का ज्ञान किसी न किसी

१. प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं भा० ६।३।२५) भ्रान्तं यत्र मुनीश्वरैरपि पुरा—' इत्यादि (श्री चैतन्य चन्द्रामृत २४)

को होने पर भी और शास्त्र विशेष में निहित रहने पर भी देवता या ऋषियों में से किसी ने भी प्रकृष्ट रूप से जगत में प्रकाश और प्रदान करने की चेष्टा नहीं की। इसका दूसरा विशेष कारण यह भी है कि साक्षात् स्वयं भगवत्-विषयक पूर्णज्ञान, तद्विषयक ब्रज-प्रेम-धर्म और इसी ब्रज प्रेम के प्राप्त करने का परमोपाय समहिमा श्री नाम इनका जगत में प्रकाश व प्रदान करने का अधिकार एक मात्र उन्हीं स्वयं भगवान को ही है। यहाँ तक कि कोई दूसरा भगवतावतार भी इस अधिकार में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।^१ प्रेम धर्म की यही विशेषता है। यद्यपि इस विशेष अधिकार के विषय में वह (स्वयं भगवान श्रीकृष्ण) परम स्वतन्त्र हैं तब भी उनका भक्त-वश्यता स्वभाव होने के कारण वह भक्ताधीन हैं, तभी तो भक्त की मर्यादा की रक्षा के निमित्त भक्त भाव अंगीकार करके ही वह वस्तु जो दूसरों द्वारा अप्रकाश्य और अदेय है जगत में प्रकाश और प्रदान करते हैं और स्वयं भी अपनी तीनों इच्छायें पूर्ण करते हैं!

**श्री गौरावतार के समय में ही दूसरों द्वारा अदेय
ब्रज प्रेम का अबाध और अजस्र (अविच्छिन्न)
भाव से वितरण।**

इन्हीं रस-राज महाभाव मिलित गौर-कृष्ण रूप मूर्तिमन्त प्रेम स्वरूप के अवतार के समय में ही अपने माधुर्य और रस विशेष के आस्वादन के अतिशय आनन्द में उनके परम उदार्य स्वभाव का

२. युगधर्म प्रवर्तन होय अंश हुईते।

आमा (कृष्ण) बिना अन्ये नारे ब्रज-प्रेम दिते॥ (श्री चै० १।३।२०)

पूर्णप्रकाश हुआ है।^१ तभी तो उन्होंने, देय, अदेय, पात्रापात्र किसी प्रकार का विचार न करके केवल देंगे, यही प्रतिज्ञा से^२ कल्पतरु से भी अधिक उदारता के साथ उस समय के आचाण्डालों तक सभी जीवों को, यहाँ तक कि स्थावर जंगम तक को अदेय ब्रजप्रेम प्रदान किया था। हेमदण्ड समबाहु उठाकर हरिध्वनि के साथ प्रेम-दृष्टि से जब देखते थे,^३ तब वह कृष्ण-नाम की ध्वनि और उसकी प्रतिध्वनि आकाश के वायु के साथ जितनी दूर तक पहुँचती थी। उतनी दूर तक के जीव मात्र की अनादि वहिर्मुखता जनित कठिन विषय वासना और आत्मेन्द्रिय प्रीति वांछादि निमेष में मिट जाती थी और तुरन्त ही कृष्ण-सेवा-वासना रूप सुनिर्मल प्रेम भाव के उदय होने से वह सब जीव परम धन्य हो जाते थे। फिर उनके संग से दूसरों को भी वही प्रेम भक्ति प्राप्त हो जाती थी।^४ स्वार्थ रूप कैतव (कपट) जो ब्रह्मनिष्ठ हृदय में भी विद्यमान रहता है

१. 'उदार्येणा च कोटिकोटिगुणितं कल्पद्रुमं ह्यालयन् ।

(चै० चन्द्रामृता।६२)

२. माँगे वा ना माँगे केहु-पात्र वा अपात्र।

इहार विचार नाहि, जाने 'दिव' मात्र॥

(चै० १।६।२७)। चै० १।६ परिच्छेद-कल्प-वृक्ष वर्णन दृष्टव्य

तात्पर्य—कोई माँगे अथवा न माँगे। पात्र और अपात्र का बिना विचार किये वे केवल सबको भक्ति दान देते रहें।

३. बाहुतुलि हरि बोलि प्रेमे दृष्टे चाय।

करिया कल्मष नाश प्रेमे ते भा साय॥”

(चै० १।३।४६)

तात्पर्य—जब श्री मन महाप्रभु दोनों बाँहें उठाकर हरि बोल कर प्रेम दृष्टि डालते हुये संकीर्तन करते थे। तब कलियुग का सारा पाप नष्ट हो जाता था और जगत प्रेम भक्ति से सराबोर हो जाता था।

४. चरितामृत।२।७।६४-११५ तक देखना चाहिये

उसे निमेषकाल में दूर करके तुरन्त ही ब्रह्मादि वाञ्छित परम दुर्लभ और निष्काम ब्रज प्रेम का संचार कर देते थे। इसकी अपेक्षा अत्याश्चर्य और अत्याद्भुत प्रभाव का परिचय दूसरों कोई भी नहीं दे सकता है।

मरजगत में यह प्रेमामृत की वर्षा ही उनके सीमाप्राप्त स्वयं भगवत्ता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।

इस भक्त भाव में छिपे हुये श्री चैतन्य की सीमा स्वयं भगवत्ता का प्रमाण, प्रायशः उसी प्रकार छन्न लक्षण से ही वेदादि बहुत शास्त्रों में विद्यमान रहने पर भी स्थिर भाव से चिन्ता करने पर समझ में आ सकता है कि मर जगत में अप्रकाश्य और अदेय ब्रज प्रेम का इतना प्रत्यक्ष सिद्ध महाप्लावन संघटन करने की अपेक्षा, उनके स्वयं भगवत्ता का अधिकार प्रमाण और कुछ भी नहीं हो सकता। तभी तो इस मर्त्य जगत में इस परमामृत की महावन्या स्वयं प्रत्यक्ष करके विस्मय-विह्वलचित्त से मनीषी श्री पाद प्रबोधानन्द सरस्वती ने लिखा है।

रक्षोदैत्यकुलं हतं कियदिदं योगादिवर्त्मक्रिया

मार्गो वा प्रकटीकृतः कियदिदं सृष्ट्यादिकं वा कियत् ।

मेदन्युद्धरणादिकं कियदिदं प्रेमोज्जलाया महा-

भक्तेवर्त्मकरी परां भगवतश्चैत्य मूर्तिं स्तमः

(श्री चैतन्य चन्द्रामृत।५६)

इसका अर्थ—श्री नृसिंह-राम-कृष्णादि मूर्ति द्वारा राक्षस और दैत्य कुल विनाशादि कार्य कौन सी बड़ी बात है? कपिलादि मूर्ति द्वारा योग मार्गादि प्रकट करना ही कौन सी बड़ी बात है? जो

किसी और अवतार के द्वारा प्रकटित नहीं हुआ, उस प्रेमोज्ज्वल महाभक्तिपथ को इस कलियुग में प्रदर्शन करने वाले भगवान श्री चैतन्य-मूर्ति की मैं वन्दना करता हूँ।

मर जगत् में श्री नाम और प्रेम की वर्षा के उस भरे बादल के दिन को स्वयं प्रत्यक्ष करके और स्वयं भी उसी प्रेम वृष्टि से परिसित होकर विस्मयाविष्ट महानुभव श्री सरस्वतीपाद ने लिखा है।

अभदगेहे गेहे तुमुलहरिसंकीर्तन रवो—

वभौ देहे देहे विपुलपुलकाश्रुव्यतिकरः।

अपि स्नेहे स्नेहे परम मधुरोत्कर्ष पदवी

दनीयस्याम्नायादपि जगति गौरेऽवतरति॥

(ऐ।३०)

इसका अर्थ—श्री गौर हरि के जगत् में अवतीर्ण होने से घर-घर में तुमुल हरिसंकीर्तन ध्वनि हुयी, शरीर में पुलकाश्रुधारा शोभित हुई, स्नेहादिक्रम से उत्तरोत्तर प्रेम भक्ति की चरमात्कर्ष मधुर-पदवी—जो वेद में भी परम गुह्य है, उस प्रेम का प्रकाश हुआ।

बाँध के टूट जाने पर जिस तरह नदी की तेज धारा सबसे पहले नीचे की भूमि को डुबोती है, फिर क्रमशः ऊपर को उठती है, उसी तरह गौराकृति—परमस्वतन्त्र—सीमा प्राप्त स्वयं भगवान के कृपारूपी प्रेम धारा सहित तूफान ने इतना ही नहीं कि, पात्रापात्र किसी का विचार न करके वहिर्मुख सर्व जगत् को सहसा प्लावित कर दिया है, अपितु उनमें से जो और भी अत्यन्त दुर्गत, पतित, सन्तप्त, दुर्वासना-पीड़ित, घृणित, सर्वनीचाशय लोग थे, उन्हीं को सबसे पहले उस कृपा-वर्षा से स्नान कराकर प्रेम-भक्ति

से सुसज्जित किया, फिर वही कृपा व प्रेम क्रमशः उर्द्धाभिमुखी हुयी है। प्रत्यक्षदर्शी महानुभाव, श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वती ने अपने श्री चैतन्य चन्द्रामृत में, 'पात्रापात्रविचारणं न कुरुते,' 'पापीयानपि'—इत्यादि दो श्लोकों में जो कुछ वर्णन किया है, संक्षेपार्थ केवल उसका अनुवाद मात्र नीचे दिया जाता है।

जो प्रभु (स्वतन्त्र परमेश्वर) पात्रापात्र विचार, आत्मपर भेद दर्शन, देयादेय विवेचना, किम्बा कालाकाल की प्रतीक्षा न करके; श्रवण, दर्शन, प्रणाम और ध्यानादि द्वारा दुर्लभ भक्ति रस तुरन्त प्रदान करते हैं, ऐसे भगवान गौर हरि मेरी एक मात्र गति हैं। (११२) अति पातकी, हीन जाति, कदाचारी चरम-दुष्कृति परायण, चाण्डालाधम, सदा दुर्वासनारत, कुस्थान जात, कदेशवासी और कुसंग से विनष्ट व्यक्ति गण भी जिनकी कृपा से तुरन्त ही उद्धार हो गये हैं, उन गौर हरि का ही मैं एकान्त भाव से आश्रय करता हूँ। (४०)

उक्त प्रत्यक्षदर्शी महानुभाव ग्रंथकार ने इन प्रेमावतार का और उनके द्वारा जगत में अत्याद्भुत प्रेम-वन्या के सृजन का परम आश्चर्य वैशिष्ट्य अपने ग्रंथ में सर्वत्र ही समुज्ज्वल भाव से वर्णन किया है। बहुत बढ़ जाने के भय से उस विषय का दिग्दर्शन मात्र ही यहाँ कराया गया है!

एकमात्र 'छन्न' अवतारी—श्री गौर हरि को वेदादि शास्त्र में प्रायशः उसी तरह 'छन्न' लक्षण निर्देश किया गया है।

वेद, उपनिषद, भागवत, महाभारत, पंचरात्र, और पुरा-

णादि नाना, शास्त्रों में एक मात्र 'छन्न' अवतार कनक कान्ति श्री गौर सुन्दर की सीमा प्राप्त स्वयं भगवत्ता का प्रमाण प्रायशः उसी तरह 'छन्न' लक्षण से या किञ्चित् प्रकाश से उक्त होते देखा जाता है। इसलिये वेद के सर्वनिगूढ़ इस गौर-तत्त्व की उपलब्धि विशेष सूक्ष्म भाव से प्रयत्न किये बिना नहीं हो सकती। यही कारण है कि इन सभी शास्त्र-प्रमाणों की दूसरी जगह विस्तारित भाव से आलोचना की आवश्यकता समझकर इस जगह उस विषय के सम्बन्ध में दो एक श्लोक का केवल दिग्दर्शन मात्र संक्षेप में कराया जाता है।

सभी श्रुतियाँ स्वतः ही प्रच्छन्न हैं। फिर इन निगूढ़तम 'छन्न' अवतार के निर्देश के विषय में अधिकतर प्रच्छन्नता अवलम्बित होगी, यह बात आसानी से अनुमान की जा सकती है। उक्त प्रमाण के और उस विषय में प्रच्छन्नता के कई एक दृष्टान्त मात्र प्रदर्शित किये जाते हैं।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं

कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।

तदाविद्वान् पुण्यपाप विधूय

निरंजनः परमं साम्यमुपैति॥

(मुण्डकं० ३।१।३)

इसका अर्थ—जब दृष्टा, ईश्वरों के प्रभु, ब्रह्म योनि स्वर्णवर्ण अर्थात् हेमकान्ति पुरुष का दर्शन करता है, तब वह विद्वान् (प्रेम भक्तिमान्) होता है। उसके पाप-पुण्य और पापजनित सभी कर्मसमाप्त हो जाते हैं। वह निरंजन (मायालेप शून्य) होकर उस पुरुष की परम समता प्राप्त करता है।

उक्त श्रुति वाक्य में स्वरूप-लक्षण आच्छादन पूर्वक केवल तटस्थ लक्षण से अर्थात् कर्मद्वारा परिचय देकर उन्हें प्रथमतः ब्रह्म योनि कहकर निर्देश किया गया है। ब्रह्म योनि शब्द के तीन अर्थ हैं—(१) वेद (२) बृह्मायोनि (३) निर्विशेष ब्रह्म। जो इन तीनों के कारण या उत्पत्ति स्थल किम्बा प्रतिष्ठा या आश्रय है, वही 'ब्रह्मायोनि' है।

सर्वमूलतः श्रीकृष्ण ही तीनों के कारण है, यह विषय पहले अनेक जगह प्रतिपादित हो चुका है। अतएव श्रीकृष्ण ही उक्त मन्त्र के निर्देश्य वस्तु है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि श्रीकृष्ण तो नवनीरद श्याम वर्ण हैं, किन्तु उक्त मन्त्र में उस पुरुष को 'रुक्मवर्ण' अर्थात् स्वर्णकान्ति क्यों बताया गया है? इसका उत्तर यह है कि श्रीकृष्ण सीमा प्राप्त आविर्भाव विशेष की अवस्था में अपनी प्रेयसी की भाव कान्ति द्वारा छन्न होकर^१ स्वर्ण गौर रूप में प्रकटित होते हैं, यह निगूढ़तम गौर स्वरूप ही छन्नलक्षण से केवल 'रुक्मवर्ण' शब्द से निर्देश किया गया है।

यदि यह कहा जाय कि यह निर्विशेष ज्योतिर्मय ब्रह्म का निर्देशक है तो यह बात ठीक नहीं जँचती क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म कभी वेद और ब्रह्मा का कारण नहीं हो सकता। विशेषतः ब्रह्म है 'ज्ञेय वस्तु'—'दर्शनीय नहीं है', किन्तु द्रष्टा द्वारा इनको दर्शन करने की बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इसलिए यह सुरम्य (सुन्दर)

१. 'छन्नत्वं—प्रेयसी-त्विषावृतत्वम्।' (लघु भा० टीकार २—श्री बल्देव)

दर्शनीय कनक कान्ति श्री गौर सुन्दर ही हैं।

श्रुति में वर्णित दूसरे लक्षणों से भी यह गौर-कृष्ण ही समझ में आते हैं। यह 'कर्तारमीश' अर्थात् सर्वेश्वर प्रभु होते हैं।^१ यह स्वयं भगवान का ही निर्देशक है, दृष्टा 'विद्वान' होता है। पराविद्या का सार ही 'भक्ति विद्या' है। इस 'भक्ति विद्या' में विद्वान को प्रेम भक्तिमान कहते हैं। श्री चरितामृत की भाषा में—

प्रभु कहे कौन विद्या—विद्या मध्ये सार।

राय कहे कृष्ण-भक्ति बिना विद्या नाहि आर।।

(चै० २।८।१६६)

तात्पर्य—प्रभू ने पूँछा सारी विद्याओं में कौन सी विद्या श्रेष्ठ है श्री राय रामानन्द जी ने उत्तर दिया कि भक्ति (कृष्ण विद्या) ही विद्या है और कुछ भी विद्या कहने योग्य नहीं है।

'पुण्य पाप विधूय निरंजनः' अर्थात् दृष्टा उन स्वर्णकान्ति पुरुष का दर्शन करके पुण्य-पाप से छूट जाता है और माया-लेप-शून्य हो जाता है। श्रुति के इस प्रच्छन्न उक्ति का सुस्पष्ट अर्थ श्री चरितामृत की भाषा में यह है—

श्री अंग श्री मुख जेई करे दर्शन।

तार पाप क्षय होय पाय प्रेम धन।।

(चै १।३।५०)

तात्पर्य—श्रीमन्महाप्रभू के जो भी अंग और श्रीमुख का दर्शन करता था उसके सारे पाप नष्ट हो जाते थे और वह श्रीकृष्ण प्रेम धन प्राप्त कर लेता था।

उनके दर्शन का अनुसंगिक या गौण फल पुण्य-पाप की समाप्ति और माया से विमुक्त है। मुख्य फल 'विद्वान्' अर्थात् प्रेम भक्तिमान् होना है। 'परम साम्यमुप्यति।' अर्थात् दृष्टा उन पुरुष की परम् समता प्राप्त कर लेता है। जगत् में दूसरों द्वारा अप्रकाश्य और अदेय 'ब्रजप्रेम' अपने अवतार काल में स्वयं भक्तभाव से जिस प्रेम और नामरस का आस्वादन करते हैं, उसी अपने आस्वादित नाम और प्रेम के आस्वादन का अधिकारी दूसरों को भी बना देते हैं। श्री चरितामृत की भाषा में,—

आपने आस्वादे प्रेम नाम संकीर्तन॥

सेई द्वारे आचाण्डाले कीर्तन संचारे।

नाम-प्रेम माला गांथि पराइल संसारे॥

(चै० १।४।३६)

तात्पर्य—श्रीमन्महाप्रभू ने स्वयं प्रेमनाम संकीर्तन का आस्वादन करके उसी के द्वारा चाण्डाल तक को कीर्तन का आस्वादन कराया। उन्होंने नाम-प्रेम की माला गूँथ कर पूरे संसार को पहनाया। परम समता होने का अर्थ यही है।

निगूढतम 'छन्न' अवतार को उक्त प्रकार से प्रच्छन्नरूप में निर्देश करने पर भी यही समझ में आता है कि श्रुति के निर्देश्य वस्तु श्री राधाभाव द्युति सुवलित—कृष्ण-स्वरूप स्वर्ण-कान्ति श्री गौर सुन्दर ही हैं।

युगावतार और युगधर्म; साधारण और विशेष।

अब युगधर्म के सम्बन्ध में संक्षेप से किञ्चित् दिग्दर्शन मात्र

कराया जाता है। सत्यादि चतुर्युग में युगधर्म प्रवर्तन के निमित्त शास्त्र में निम्नोक्त चार युगावतार की बात उक्त हुयी है।

कथ्यते वर्णनामेभ्यां शुक्लः सत्ययुगे हरिः।

रक्तः श्यामः क्रमात् कृष्ण स्त्रेतायां द्वापरे कलौ॥

(लघु भा०। युगावतार प्रकरण)

इसका अर्थ,—वर्ण और नाम द्वारा श्री हरि यथा क्रम से सत्य युग में शुक्ल वर्ण और शुक्ल नाम, त्रेता में रक्त वर्ण और रक्तनाम, द्वापर में श्याम वर्ण और श्याम नाम, कलियुग में कृष्ण वर्ण और कृष्ण नाम धारण करके अवतीर्ण और उक्तनाम से कथित होते हैं। यह साधारणतः सब चतुर्युगों के सब युगावतारों का संक्षिप्त परिचय हुआ!

किन्तु कल्पकाल में अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन में एक बार,—वैवस्वत-मन्वन्तरीय अष्टाविंशं चतुर्युग के द्वापर में, स्वयं भगवान् श्री कृष्णचन्द्र, अपने ब्रजलोक और परिकरों के साथ, प्रपञ्च में अवतीर्ण होते हैं। ब्रज-लीला और ब्रजप्रेम जगत् में प्रदर्शन कराके उस लीला के अप्रकट होने पर फिर उसी द्वापर के ठीक परवर्ती कलियुग में^१ आविर्भाव विशेष में पीतवर्ण (स्वर्ण-वर्ण) और परम भक्त भाव में प्रच्छन्न होकर श्री गौर सुन्दर रूप में अवतीर्ण होते हैं! श्रीकृष्ण के नामकरणोपलक्ष में श्री गर्ग मुनि ने इसी विशेष चतुर्युग के सम्बन्ध में ही जिसमें स्वयं भगवान् प्रकट हुए हैं निम्नोक्त

१. अयमवतारः श्वेतवाराह कल्पगताष्टाविंशतितम् वैवस्वत मन्वन्त्रीयकलौबोध्यः—(लघु भाष्य भा० टीका—४ श्री बल्देव)

प्रकार से निर्देश किया है।

आसन्वर्णाखो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं ननूः।

शुक्लोरक्तस्तथा पीत इदानी कृष्णता गतः॥

इसका अर्थ,—हे ब्रजराज, युग युग में श्री भगवत्-मूर्ति प्रकटनकारी^१ अर्थात् सर्व अवतारी आपके इस पुत्र के शुक्ल, रक्त और पीत, यह तीन वर्ण हो चुके हैं। इस समय यह कृष्णत्व को प्राप्त हुए हैं।

इस श्री गर्गोक्ति में भी देखा जाता है कि सत्य और त्रेता में पूर्वोक्त शुक्ल और रक्त—इन साधारण युगावतार की बात कही गयी है। विशेषत्व या साधारणत्व—इसके द्वापर और कलियुग के (अवतारों) में है। द्वापर के श्याम (शुक पत्राभ श्याम) वर्ण और नाम विशिष्ट साधारण युगावतार के स्थान में कृष्ण कहकर निर्देश किया गया है! 'इदानीं कृष्णतांगतः' अर्थात् अब कृष्णत्व प्राप्त हुए हैं। 'कृष्णत्व कहने से, प्रसिद्ध 'कृष्णस्तु भगवान स्वयम्' (भा० ११, ३, २८) इस न्याय से, स्वयं भगवत्ता जिन्हें है उन्हीं को ही समझा जाता है और उसी स्थान में 'कृष्ण' शब्द से सर्वाकर्षकत्व प्रकट होता है जिससे भी यह समझ में आता है कि युगावतारादि निखिल भगवत्-स्वरूप को आकर्षण पूर्वक जो अपने स्वरूप में अन्तर्भुक्त करते हैं, उन ऐसे स्वयं भगवान श्रीकृष्ण को ही निर्देश किया गया

१. परवर्ती श्लोक में 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।' (भा० १०।८।१५) अर्थात् आपके इस पुत्र के गुण-कर्मनुरूप दूसरे बहुत नाम और रूप हैं—इत्यादि उक्त द्वारा श्री कृष्ण को ही इन अवतारों का अवतारी बताकर निर्देश किया गया है।

है। इसलिये यह समझ में आता है कि उस समय के 'श्याम वर्ण' और नामधारी साधारण युगावतार श्रीकृष्ण में ही मिले रहते हैं।

अब कलियुग के अवतार की बात अविशिष्ट रह जाती है। चार युगों में शुक्ल व रक्त तो सत्य व त्रेता युगों में हुए और 'इदानीं' अर्थात् द्वापर में श्रीकृष्ण हुए इसलिये यह बात स्वतः ही समझ में आ सकती है कि पीत वर्णावतार परवर्ती (उसके ठीक बाद के) कलियुग में ही होगा। किन्तु इस विशेष कलियुग में असाधारण अवतार 'छन्न' बताया गया है। इसलिये कुछ छिपा रखने के अभिप्राय से 'होगा' न कहकर 'आसन्' अर्थात् 'हुआ था', ऐसा कहा गया है। इस अतीत काल को निर्देश करके यह बात छिपा दी गयी कि अतीत कल्प में जिस तरह यह अवतार हुआ था उसी तरह वर्तमान कल्प में भी होगा। अर्थात् यही समझ में आता है कि इस असाधारण द्वापर युग में अवतीर्ण कृष्ण—स्वयं भगवान का ही आविर्भाव विशेष, इस द्वापर के ठीक बाद वाले कलियुग में पीत वर्ण होकर होगा। यह भी समझना चाहिये कि उस समय के कृष्ण वर्ण और नामधारी साधारण कलियुगावतार भी इन्हीं पीतवर्ण स्वयम् भगवान में ही मिलित रहेंगे। अतएव कल्प के मध्य में पूर्वोक्त द्वापर युग की तरह यह वर्तमान कलियुग भी असाधारण कलियुग है जिसमें स्वयम् भगवान श्रीकृष्ण का आविर्भाव विशेष श्री राधिका की स्वर्ण—कान्ति और परम् भक्तभाव छिपकर 'पीत' अर्थात् हेमकान्ति श्री गौर सुन्दर के रूप में प्रकटित होता है। श्री प्रह्लादोक्त छन्न कलौयदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्—(भा० ७, ६, ३८) इत्यादि वाक्य से इन्हीं छन्नावतारी श्री गौर हरि को ही प्रच्छन्न इंगित किया गया है। कल्पकाल के मध्य में केवल उक्त एक मात्र

विशेष कलियुग में, वह भी फिर 'छन्न लक्षण' में स्वयम् तत्त्व या स्वयम् भगवान् आविर्भूत होते हैं। इसलिये उनको 'त्रियुग' नाम से कहने में कोई भी अन्तर नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त सर्वसाधारण कलियुग में कृष्णादि सभी अवतारों में कोई भी 'प्रत्यक्षरूप धृक' (अर्थात् स्वयमरूप किम्बा तदेकात्मरूप) नहीं है। यह सभी होते हैं—आवेशावतार।^१ इसलिये कलियुग में श्री भगवान् का दूसरा कोई भी प्रत्यक्षरूप धारी अवतार न होने के कारण उन्हें 'त्रियुग' नाम से घोषित किया जाता है।

साधारण कलियुग का लक्षण और युग धर्म।

अब सर्व साधारण कलियुग के लक्षण और धर्म के सम्बन्ध में शास्त्र में जो वर्णन हुआ है उस विषय की संक्षेप में किंचित् आलोचना की जाती है।^२

कलौ न राजन् जगतां परमं गुरुं

त्रिलोक नाथानतपाद पङ्कजम्।

प्रायेण मर्त्या भगवन्त मच्युतं

यक्ष्यन्ति पाखण्ड विभिन्न चेतसः॥

-
१. 'प्रत्यक्ष रूप धृग देवो—' इत्यादि श्लोक और श्री बलदेवपादकृत टीका देखना चाहिये। (लघु भा० । युगावतार प्रकरण)
अन्येषु कलियु तु क्वचित्, श्यामत्वेन, क्वापि—शुक पत्राभत्वेन वावतारस्योक्तेः, स च स च तदविष्टो जीव विशेषः। (ऐ। कृष्ण वर्ण इत्यादि मंगलाचरण श्लोक के टीका में)
 २. भागवत के १२।३।२३-४२ श्लोक में कलियुग के सभी विशेष लक्षण वर्णित हैं

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः

पतन्स्वलन्वा निवणे गृणन्पुमान्।

विमुक्तकर्मर्गिलउत्तमां गतिं

प्राप्नोति यक्षयन्ति न तं कलौजनाः॥

(श्री भा० १२।३।४३-४४)

इसका अर्थ—हे राजन्। कलि कवलित मानव गण पाखण्डियोंकी प्रेरणा से विभिन्न प्रकार से हत विवेक होकर जगत के परम गुरु त्रिलोकीनाथ भगवान् अच्युत की आराधना प्रायः नहीं करेंगे। (४३)

जिसका नाम मरण समय लेने से समस्त कर्म बन्धन से छूटकर सर्वोत्तम गति प्राप्त होती है, उक्त प्रकार के श्री भगन्नाम को भी कलियुग की जनता गृहण नहीं करेगी। (४४)

इस प्रकार से साधारण कलियुग के लोगों की धर्म विमुखता वर्णन पूर्वक फिर कलियुग का युग धर्म व दूसरे युग धर्म से कलियुग की महिमा का आधिक्य वर्णित हुआ है।

काले दोषनिधे राजन्नस्ति ह्यको महान्गुणः।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्त सङ्गः परं ब्रजेत्॥

कृते यद्वयायतो विष्णुं त्रेताया यजतो मखैः।

द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्री भा० १२।३।५१-५२)

इसका अर्थ,—हे राजन्! निखिल दोषनिधि स्वरूप होने पर भी कलियुग का एकमात्र महत् गुण यह है कि इस युग के लोग

केवल श्रीकृष्ण के नाम कीर्तन से ही सब पापों से विमुक्त होकर परमपद (भक्ति) प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। (५१)

सत्य युग में ध्यान द्वारा, त्रेता में यज्ञ द्वारा, द्वापर में परिचर्या अर्चन) द्वारा जो फल प्राप्त होता है, कलियुग में वह सभी श्री हरिनाम कीर्तन से प्राप्त हो जाते हैं। (५२)

इस तरह यहाँ पर सर्वसाधारण कलियुग के सम्बन्ध में यही अवगत होता है कि पाखण्ड मार्ग वाले बहिर्मुख व्यक्तियों के प्ररोचना (ऐसे प्रदर्शन जिसे लोग पसंद करें और रुचि पैदा हो) से कलियुग के हत विवेक मानवगण प्रायः भगवत् परायण नहीं होते। यहाँ तक कि जो श्रीनाम जिस किसी प्रकार भी लेने से ही सब कर्मपाश से विमुक्त करके परमागति प्रदान करता है—वही भगवन्नाम कलियुग का युगधर्म होने पर भी जनता उसे भी ग्रहण नहीं करती!

इसलिये इस प्रकार बहुत दोषपूर्ण कलियुग के युगधर्म के रूप में जो सर्वापेक्षा सहज साध्य और सर्वोत्तम—ऐसा एक बड़े गुण का संचार किया गया है—वह श्री भगवन्नाम कीर्तन है। सत्यादि तीनों युगों में ध्यानादि सुकठिन साधन द्वारा जो सब फल प्राप्त होते थे, कलियुग में केवल श्री हरिकीर्तन से ही उन सब फलों के साथ परमपद अर्थात् भगवद्भक्ति तक प्राप्त हो जाती है। यही कलियुग का विशेष महात्म्य है। परन्तु प्रायः साधारण लोगों में उसके ग्रहण करने की प्रवृत्ति का अभाव देखा जाता है। अतएव सर्वसाधारण कलियुग में 'कृष्ण' नाम और 'वर्ण' विशिष्ट युगावतार द्वारा साधन में सहज और महिमा में सर्वश्रेष्ठ श्री हरिनाम कीर्तन

युगधर्म रूप में प्रवर्तित होने पर भी उसके ग्रहण करने के अभाव की बात ही स्पष्टतः प्रमाणित हुयी है! यह तो सर्वसाधारण कलियुग की बात हुयी।

प्रच्छन्न लक्षण से छन्न रूप में अवतीर्ण श्री गौर हरि का श्री मद्भागवत में निर्देश।

अब विशेष विवेच्य यह है कि पूर्वोक्त सब श्रुतियों के अस्पष्ट उक्ति का सुस्पष्ट अर्थ सभी जगह श्री भागवत से ही अवगत हुआ है। किन्तु श्रुतियुक्त 'यदा पश्यः पश्यते रुक्म वर्ण'—(मुण्डक—(३।१।३) इत्यादि परम निगूढ़ और रहस्यमय मंत्रों के समाधान के विषय में पूर्ववत् सुस्पष्ट न होकर भागवत में अधिकतर प्रच्छन्नता का परिचय मिलेगा। भागवत में परम रहस्यपूर्ण इन सभी श्लोकों में प्रच्छन्नतरूप अधिकतर अस्पष्टता के समाधान का जो प्रयास है वही एकमात्र छन्नावतार—रुक्मवर्ण स्वर्णकान्ति श्री गौर सुन्दर के सुस्पष्ट प्रमाण रूप में ही विवेचित होने योग्य हो जाता है।

श्री गर्गोक्ति के समर्थन में श्री करभाजन वर्णित असाधारण चतुर्युग और उसमें द्वापर और कलियुग की विशेषता।

सत्यादि युग में श्री भगवान कौन युग में किस वर्ण और नाम से और विधि से मनुष्यों द्वारा पृथ्वी में आराधित होते हैं? श्री निमि महाराज के प्रश्न के उत्तर में श्री करभाजन योगीन्द्र ने जो कुछ कहा है (श्री भागवत के ११।५।२०-४० सभी श्लोकों में विशेष

भाव से देखने योग्य है) यहाँ उस विषय में किंचित आलोचना की जाती है।

पूर्वोक्त गर्गोक्ति से जिस असाधारण या विशेष चतुर्युग की बात अवगत हुयी है श्री करभाजन ने भी उसी विशेष चतुर्युग का प्रसंग वर्णन किया है। गर्ग जी ने उस चतुर्युग के सत्य और त्रेता में जिस प्रकार शुक्ल और रक्त—यही साधारण युगावार होने की बात कही है; उसी प्रकार करभाजन जी ने भी विशेष चतुर्युग के सत्य और त्रेता में इन्हीं साधारण युगावतार का होना बताया है। इन दोनों युगों में कोई विशेषत्व नहीं बतायी गयी है। गर्ग जी ने द्वापर और कलियुग में ही जैसा असाधारणत्व प्रदर्शित किया है वैसा ही करभाजन के वर्णन से भी जाना जायेगा।

गर्गोक्ति 'इदानीं कृष्णानां गतः।'

इस उक्ति द्वारा असाधारण द्वापर के स्वयं भगवान श्री कृष्ण के अवतरण को ही निर्देश किया गया है। करभाजन जी ने द्वापर युग के सम्बन्ध में दो अर्थ बोधक 'श्याम' नाम का उल्लेख करके 'द्वापरे भगवान् श्यामः—' इत्यादि (भा० ११।५।२७) साधारणतः साधारण द्वापर युगावतार के शुक पत्राभ श्याम) इंगित मात्र करके परवर्ती 'नमस्ते वासुदेवाय—' (भा० ११।५।२६) इत्यादि श्लोक में, श्रीकृष्ण—चतुर्व्यूह सभी को प्रणाम किया है जिससे यह समझ में आ सकता है कि विशेष भाव से उक्त 'श्याम' नाम से स्वयं भगवान श्याम सुन्दर को ही निर्देश किया गया है।

गर्ग जी ने उस द्वापर के ठीक बाद कलियुग के विषय में पूर्व

कल्प के दृष्टान्त से जिस प्रकार प्रछन्न लक्षण में (पीत)—इस वर्ण मात्र के उल्लेख द्वारा श्रुत्युक्त उन्हीं 'रुक्मवर्ण' श्री गौर सुन्दर को ही निर्देश किया है, उसी प्रकार करभाजन वर्णित दो अर्थ बोधक 'कृष्णवर्ण त्विषा कृष्णं—' (भा० ११।५।३२) इत्यादि श्लोकों में, सामान्यतः 'कृष्ण' नाम और वर्णयुक्त साधारण कलियुगावतार का इंगित मात्र करके^१ विशेष भाव से उक्त असाधारण कलियुगीय समस्त वर्णन से तो यही समझ में आता है कि छन्न लक्षण से एक मात्र छन्नावतारी—वहीं 'पीत' या वेदोक्त 'रुक्म वर्ण' श्री गौर-कृष्ण ही कीर्तित हुये हैं।

इस असाधारण द्वापर और कलियुग में स्वयं भगवान का आर्विभाव होने के कारण उस समय के युगावतार स्वयं भगवान में ही प्रविष्ट रहते हैं।^२ इसलिये गगोक्ति में उसका उल्लेख नहीं है। करभाजन के दो अर्थबोधक वर्णन में द्वापर कलियुग के साधारण युगावतार को भी विदित करने के लिये सामान्यतः उनका इंगित मात्र करके विशेष भाव से इस असाधारण दोनों युगों के असाधारण अवतार अर्थात् अवतारी की बात ही कीर्तित हुयी है। क्रमशः समझ में आ जावेगा कि छन्नत्व (छिपे हुये) होने के कारण कलियुग विशेष के अवतार की बात ही विशेष भाव से रहस्यपूर्ण है।

१. कृष्णः कलियुगे विभुः—हरिवंश।

२. 'पूर्ण भगवान अवतरे जेई काले।

आर सब अवतार ताते आसि मिले॥" इत्यादि

रहस्यमय दो अर्थ बोधक शब्द से साधारण
कलियुगावतार और वर्तमान विशेष कलियुग में
छन्न रूप में अवतीर्ण श्री गौर-कृष्ण को
प्रच्छन्न लक्षण से निर्देश।

श्री करभाजन वर्णित निम्नोक्त दो अर्थ बोधक शब्द से प्रथम
साधारणतः सर्व साधारण कलियुग के 'कृष्ण' नाम और वर्ण
विशिष्ट युगावतार को इंगित मात्र करके, दूसरे अर्थ से उसी
असाधारण अवतार अर्थात् सर्वावतारी श्री हरि को ही अधिकतर
प्रच्छन्न लक्षण में विशेष रूप से वर्णन किया है।

कृष्णवर्णं त्विषा कृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।

यज्ञैः सङ्कीर्तनं प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥

(श्री भा० ११।५।३२)

इसका अर्थः—कृष्ण वर्ण, कान्ति अकृष्ण (अथवा कृष्ण) अंग,
उपांग, अस्त्र और पार्षद सहित अवतीर्ण उन भगवान् की आराधना
उस समय सुबुद्धि व्यक्तिगण श्रीनाम संकीर्तन प्रधान पूजोपकरण
द्वारा करते हैं।

साधारण कलियुगावतार के पक्ष में अर्थ,—'कृष्ण वर्ण', 'वर्ण'
कहने से 'वर्णन' अर्थात् 'आख्या' या नाम को समझा जाता है।
इसका अर्थ इस तरह यह हुआ कि 'कृष्ण' यह नाम जिसका है।
'त्विषा कृष्णं' कान्ति या देहवर्ण जिसका कृष्ण है। अर्थात् जो कृष्ण
नाम और वर्णविशिष्ट है। ('कृष्णः कलियुगे विभूः'—हरिवंश)।
अंग, उपांग अस्त्र और पार्षद के साथ अवतीर्ण उन्हीं श्री भगवान्

का उस समय सुबुद्धि व्यक्ति, श्रीनाम संकीर्तन प्रधान यज्ञ द्वारा आराधना करते हैं। इस जगह 'संकीर्तन' का अर्थ है। 'कीर्तन' अर्थात् भगवन्नाम उच्च स्वर से या धीरे स्वर से कहना।

इस जगह 'सुमेधसः' अर्थात् सुबुद्धि व्यक्तिगण कहने का तात्पर्य यह है कि नाम संकीर्तन प्रधान उपासना ही युगधर्म होने पर भी सर्व दोषनिधि साधारण कलियुग के मनुष्य लोग प्रायः उसका आचरण नहीं करते (यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ॥ भा० १२।३।४४) इसलिये उनमें से बहुत थोड़े लोग जो उक्त युगधर्म का आचरण करते हैं वहीं सुमेधा अर्थात् सुबुद्धि व्यक्ति हैं। यही मामान्यतः साधारण कलियुग के युगावतार का निर्देश है।

अब असाधारण कलियुग के लिये उक्त श्लोक का निगूढ़ और आच्छादित अर्थ का दिग्दर्शन मात्र नीचे लिखा जाता है।^१

'कृष्णवर्ण' अर्थात् स्वयं भगवान् श्रीकृष्णत्व का अभिव्यंजक 'कृष्ण' का वर्णयुगल 'श्रीकृष्ण चैतन्य' के नाम में विराजित है! किम्बा जो श्रीकृष्ण का वर्णन करते हैं अर्थात् स्वयं कृष्ण होकर वह निज परमानन्द विलास स्मरण जनित महा उल्लास वशतः जो दूसरों के लिये अप्रकाश्य है (मां तु वेद न कश्चन ॥ गीता ७।२६) कृष्णावतार सम्बन्धी नाम रूप, गुण, लीला का प्रकृष्ट रूप से वर्णन और गान करते हैं एवं जो जीवों के प्रति परम कारुणिकता

१. उक्त श्लोक की विस्तारित आलोचना श्री जीवपाद और विश्वनाथ चक्रवर्ती पाद की टीका में देखना चाहिये।

वशतः वही कृष्ण और कृष्ण नाम सब लोगों को उपदेश करते हैं—
वही 'कृष्णवर्ण' हैं।

'त्विषा कृष्ण'—अर्थात् उक्त प्रकार से कृष्ण वर्ण होकर, जो कान्ति में अर्थात् वहिः स्फुरति अंग प्रभा में 'अकृष्ण' अर्थात् 'पीत' हैं।

'अकृष्ण' के अर्थ से यह समझा जाता है कि जो कृष्ण वर्ण न हो किन्तु वह पीतवर्ण हैं ऐसा निश्चय करने का क्या कारण है? इसके उत्तर में यह कहना है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जिस विशेष द्वापर में अवतीर्ण होते हैं, उसके ठीक परवर्ती कलियुग में वही श्रीकृष्ण ही आविर्भाव विशेष में पीत वर्ण में छन्न होकर अवतीर्ण होते हैं। इसलिये पूर्वोक्त '—तथा पीत' (भा० १०।८।१३) इस गर्ग वाक्य द्वारा और 'छन्न कलौ यदभव' (भा० ७।६।३८) इत्यादि प्रह्लाद के कहने के अनुसार जब इस विशेष कलियुग में पीतवर्ण—प्रच्छन्न अवतार की बात विदित हो गयी है तब 'अकृष्ण' कहने से और किसी वर्ण की कल्पना न करके, उक्त शास्त्र प्रमाण के आधार पर पीत वर्ण ही समझना चाहिये। पूर्वोक्त श्रुति ने भी उनको 'रुक्मवर्ण' कहकर छन्न लक्षण से ही निर्देश किया है। उस रुक्म या स्वर्ण वर्ण का नाम ही पीत वर्ण है।

इस तरह से "त्विषा आकृष्णम्।" इसका निगूढ अर्थ होता है—पूर्वोक्त प्रकार से 'कृष्ण वर्ण' होकर निज कान्ता शिरोमणि का 'पीत' अर्थात् हेमकान्ति द्वारा प्रच्छन्न रूप में जो इस विशेष कलियुग में अवतीर्ण होते हैं—वह यही श्री गौर सुन्दर हैं। 'साङ्गोपाङ्गात् पार्षदम्।' इसका सरल अर्थ यह है श्री नित्यानन्द

अद्वैत जिसके अंग हैं, श्रीवास पण्डितादि जिसके उपाङ्ग हैं, अविद्या छेदनकारी श्री हरिनाम जिनके अस्त्र हैं, और श्री गदाधर-गोविन्दादि जिनके पार्षद हैं। इन सब के साथ मिलकर^१ जीव की अविद्या कल्मषादि नाश करने के लिये महाबली रूप से अवतीर्ण होते हैं।^२—‘यज्ञैः संङ्कीर्तन प्रायैर्यजन्ति—’ अर्थात् उस समय में संकीर्तन प्रधानरूप अर्चन अर्थात् पूजा सामग्री द्वारा उनकी आराधना की जाती है। इस जगह संकीर्तन का अर्थ—बहुत लोग मिलकर भगवान्नाम गान है। इसी का ही नाम संकीर्तन है।^३ यह उन्हीं विशेष कलियुगीय अवतार का ही प्रवर्तित हैं।

‘सुमेधसः’ का अर्थ गर्गोक्ति ‘शुक्ल रक्तस्तथा पीत’।

प्रह्लादोक्त ‘छन्न कलौ यदभव।’ कर भाजनोक्त ‘कलावप यथा शृणु॥’ इत्यादि वाक्य का यथार्थ तात्पर्य (जो पहले बताया जा चुका है) के धारण करने की उपयुक्त शोभनीय बुद्धि जिनकी है— इस जगह उन्हें ही ‘सुमेधा’ शब्द से लक्षित किया गया है।^४ यह भी उस युग का वैशिष्ट्य है कि अदूर भविष्य में इस युग विशेष में बहुत व्यक्ति ‘सुमेधा’ होंगे।

अतएव यह साधारण कलियुग नहीं है। यह श्री गर्गोक्त और श्री प्रह्लादोक्त असाधारण कलियुग है। यह निम्नोक्त समस्त प्रमाण

१. इसका विशेष अर्थ क्रम संदर्भ टीका (भा० ११।५।३२) में देखना चाहिये।

२. ‘प्रत्यक्ष ताहार’ इत्यादि (चै० १।३।४६-६१) द्रष्टव्य।

३. ‘संङ्कीर्तनं बहुभिर्मिलित्वातद्गानं सुखं; श्रीकृष्णागानं तत्प्रधानैः (क्रम संदर्भः टीका ऐ)

४. श्री चक्रवर्ती पादकृत टीका के अनुसार

से भी सुस्पष्ट प्रतिपन्न होगा।

साधारण कलियुग से श्री गौर प्रकटित वर्तमान कलियुग का वैशिष्ट्य।

साधारण कलियुग के लोग प्रायः भगवत् विमुख और भगवन्नाम ग्रहण से वंचित रहते हैं। इन पूर्वोक्त 'कलौ न राजन्'—(भा० १२।३।४३-४४) इत्यादि शास्त्र उक्तियों से यह बात जानी जाती है। करभाजन वर्णित इस विशेष कलियुग के विषय में कहा गया है।

कृतदिषुप्रजाराजन्कलाविच्छन्ति सम्भवम्।

कलौ खलु भविष्यन्तिनारायण परायणाः॥

(भा० ११।५।३८)

इसका अर्थ,—हे राजन्, सत्यादि तीनों युगों के लोग कलियुग में जन्म लेना चाहते हैं क्योंकि कलियुग के लोग हरिपरायण होंगे।

अब उक्त श्लोक के विषय में विवेच्य यह है कि—प्रथमतः—जिस साधारण कलियुग के प्रायः लोग स्वभावतः हरि विमुख होते हैं उस युग में सत्यादि युग के पुण्यवान् प्रजागण यदि जन्म ग्रहण करेंगे कलिधर्म के स्वभाव वशतः वह लोग किस प्रकार हरि परायण होंगे?

इसलिये इस प्रकार के युग में उन लोगों का जन्म ग्रहण करने की इच्छा कभी भी नहीं हो सकती। अतएव जिस युग विशेष में लोग स्वभावतः हरि परायण होंगे—श्री करभाजन वर्णित उसी कलियुग विशेष में ही उन लोगों को जन्म लेने की इच्छा होती है, यही ठीक मालूम होता है।

द्वितीयतः—उक्त श्लोक में 'भविष्यन्ति' अर्थात् भविष्य काल वाचक 'होंगे' इस उक्ति द्वारा परवर्ती किसी युग विशेष को ही निर्देश किया गया है। यदि यह महिमा सर्वसाधारण कलियुग की होती तो 'होंगे न कहकर' होते हैं ऐसा कहा जाता है। अतएव गर्गोक्ति 'पीत' वर्ण' में प्रच्छन्न श्री गौरकृष्ण प्रकटित यही वर्तमान असाधारण कलियुग है—यह स्पष्ट ही समझ में आ जाता है।

श्री गौर हरि-प्रकटित असाधारण कलियुग विशेष निदर्शन से निर्दिष्ट।

और भी देखा जाता है कि उक्त श्लोक के संयोग से ही इस असाधारण कलियुग को निम्नोक्त रूप में विशेष भाव से चिन्हित किया है। यह सुस्पष्ट लक्षण से समझा जा सकता है। जिस असाधारण कलियुग में यह पीत वर्ण प्रच्छन्न स्वयं भगवान् अवतीर्ण होंगे, उनके अवतरण के पहले उसी युग में प्रकाश्य भाव से बहुत प्रसिद्ध स्थानों में और बहुत परिमाण में परम वैष्णव वातावरण आविर्भूत होकर बहुत लोगों को भक्ति दान से कृतार्थ करेंगे। अन्य किसी कलियुग के लिये इस प्रकार निदर्शन या चिन्ह नहीं है। इसलिये वर्तमान कलियुग ही इन सुस्पष्ट लक्षणों से चिन्हित कलियुग विशेष है। यह निम्नोक्त लक्षण से ही विशेष भाव से प्रमाणित होता है।

क्वचित्क्वचिन्महाराज द्राविडेषु च भूरिशः।

ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी॥

कावेरी च महापुन्या प्रतीची च महानदी।

(श्री भा० ११।५।३६)

इसका अर्थ,—हे महाराज, किसी किसी स्थान में और द्राविड़ देश में—जहाँ ताम्रपर्णी नदी, कृतमाला, पुण्य सलिला पयस्विनी, कावेरी और पश्चिमवाहिनी महानदी आदि नदियाँ प्रवाहित हैं, उन सब स्थानों के बहुत व्यक्ति हरिभक्त होंगे।

इस तरह से यह देखा जाता है कि उक्त वर्णन में 'क्वचित् क्वचित्' इस अनर्दिष्ट उक्ति द्वारा किसी किसी स्थान को प्रच्छन्न रखा गया है। इनसे भिन्न प्रकाश्य भाव से द्राविड़ देश और ताम्रपर्णी, कृतमाला, कावेरी प्रभृति प्रसिद्ध पुण्य सलिला सभी नदियों के तट स्थित सब देशों में हरि भक्त परायण महानुभव वैष्णवगण के आविर्भाव से उन सब प्रदेशों के जनगण बहुत परिमाण में नारायण परायण होंगे, यह सुस्पष्ट वर्णित हुआ है।^१

अब यह समझने में कोई असुविधा नहीं रह जाती कि इस प्रकार सुस्पष्ट उक्ति द्वारा इसी वर्तमान युग में उक्त सभी स्थानों में आविर्भूत सुप्रसिद्ध श्री सम्प्रदायभुक्त^२ महानुभवपरम् वैष्णवोः को ही निर्देश किया गया है।

इस विषय में फिर कोई संशय नहीं रह जाता कि उक्त लक्षण द्वारा निर्दिष्ट इस वर्तमान युग में ही उसके परवर्ती समय में उन्हीं पीत वर्ण प्रच्छन्न स्वयं भगवान् श्री गौर-कृष्ण का आविर्भाव हुआ

१. 'द्रविड़ेषु भूरिशः इति श्री वैष्णवादापेक्षया।' (क्रम सन्दर्भः)

२. 'द्रविड़ादि देश विख्यात परम भागवतानां जेषामेव बाहुल्येन तत्र वैष्णवत्वेन प्रसिद्धातात् श्री भागवत् एक—'क्वचित् क्वचित् महाराज द्रविड़ेषु च भूरिशः' इत्यनेन प्रथित महिम्नां साक्षात् श्री प्रभृतिः प्रवृत्त सम्प्रदायानां श्री वैष्णवामिधानां—' इत्यादि। (तत्त्व सन्दर्भः। २७ अनुः)

है। यह भी उक्त वर्णन से समझा जाता है कि उनको ही एक मात्र छन्न अवतार कहकर, तत्सम्बन्धीय गौड़, उत्कलादि प्रदेश समूह को, द्रविड़ादि की भांति सुस्पष्ट निर्देश न करके, 'क्वचित् क्वचित्' अर्थात् 'अन्य किसी किसी स्थान में' इस प्रच्छन्न लक्षण में निर्देश^१— इस प्रच्छन्नता के प्रयास द्वारा उन्हीं छन्न अवतारी को अधिकतर सुस्पष्ट ही किया गया है क्योंकि उनके सम्बन्धीय स्थानों को सुस्पष्ट करने से, प्रह्लादोक्त 'छन्नः कलौ यदभव—(भा० ६।६।३८) इत्यादि वाक्य में उनके इस प्रच्छन्नता लक्षण का व्यतिक्रम हो जाता और उसके द्वारा उनको (छन्न अवतार) कहकर समझने में असुविधा का कारण होता।

अतएव वर्तमान युग में उक्त विशेष लक्षण से पहचान लेने से यही प्रतिपन्न होता है कि—जिस प्रकार राजाधिराज चक्रवर्ती के शुभागमन के पहले राज आमात्यगण आगमन करके उस शुभानुष्ठान की सूचना द्वारा सुसंवाद की घोषणा करते हैं। उसी प्रकार इस युग में स्वयं भगवान के अवतरण से पूर्व उक्त, भगवत् पार्षद स्थानीय महानुभाव वैष्णवों का आविर्भाव और उनके द्वारा अन्य युग में दुष्प्राप्य वैधी^२—शुद्धा-भक्ति पर्यन्त जन समाज में

१. 'क्वचित् क्वचित् गौड़ादौ श्रीकृष्ण चैतन्य देवावतारेण।'

(क्रम सन्दर्भः २७ अनुः)।

चकारादेगौड़ोत्थोः (श्री चक्रवर्तीपाद)

२. राम भक्ते ब्रजे स्वयं भगवान पाय।

विधिभक्ते पार्षद देहे वैकण्ठ जाय।।

(चै० २।२४।६१-६२)

विपुल भाव से संचार रूप परम मांगालिक अनुष्ठान ही स्वयं भगवान के शुभाविर्भाव रूप इस युग की असाधारण महिमा की घोषणा और शंख ध्वनि स्वरूप कहकर अवधारण किया जा सकता है।

कल्प में केवल इस युग में केवल असाधारण लक्षण द्वारा यह सूचित होता है कि—इस असाधारण कलियुग में ही केवल उसके परवर्ती काल में भागवत धर्म की सार सम्पद और अन्य युग में अचिंत्य और अन्य द्वारा अदेय 'प्रेम धर्म' या 'ब्रज प्रेम' पीतवर्ण में छिपे हुए स्वयं भगवान ब्रजेन्द्रनन्दन द्वारा^१ सारे जगत को बिना किसी विचार के प्रदान की जायेगी जिससे सृष्टि की श्रेष्ठतम् सार्थकता सम्पादित होगी और उसी असाधारण महा महिमा के कारण सत्यादि युग के पुण्यवान लोग भी इस युग में जन्म पाने की इच्छा करेंगे।

श्री करभाजन के निर्देश द्वारा द्राविड़ादि प्रदेश में परम भागवतगण, स्वयं भगवान के प्रपंच में अवतरण को शुभवार्ता उक्त प्रकार से प्रचार के लिये अग्रदूत के रूप में इस कलियुग में आविर्भूत हुए थे। यह बात वह लोग जानते थे या भगवान की इच्छा से न भी जानते रहे हों किन्तु भगवत प्रेरणा से कार्यतः निम्नोक्त विषय से यही प्रमाणित होता है।

१. नन्दसुत बुलि जारे भागवते गाय।
सेई कृष्ण अवतीर्ण चैतन्य गोसाई।।

(चै० १।३।६१)

तात्पर्य—श्री भागवत में नन्दपुत्र कहकर जिनका वर्णन है, वे श्रीकृष्ण ही श्री चैतन्य महाप्रभू के रूप में अवतीर्ण हुये हैं। अर्थात् वे ही श्री चैतन्य महाप्रभू हैं।

शास्त्र सिद्ध विद्वदनुभव के प्रमाण से भी श्री चैतन्य और उनके परिकरगण के अतिरिक्त उनके पहले कोई भी श्रीकृष्ण और ब्रज परिकर के रूप में विनिर्णीत नहीं हुए।

शास्त्र सिद्ध भगवतावतार की तरह शास्त्र सिद्ध भक्तगण के शुद्ध अन्तःकरण की अनुभूति और उपलब्धि के ही 'विद्वदनुभव' प्रमाण कहकर शास्त्र प्रमाण के समान ही परम सत्य रूप से विज्ञ परम्परा में हमेशा (सदा) विवेचित होता आया है। शास्त्र प्रमाण की तरह 'विद्वदनुभव' द्वारा श्रीकृष्णचैतन्य, श्री राधिका की भावुकान्ति से आच्छादित श्रीकृष्ण रूप में और उनके नित्य सिद्ध परिकर गण प्रायः ही ब्रज परिकर रूप में विनिर्णीत हुये हैं।^१

उसी प्रकार श्री चैतन्य के पूर्ववर्ती धर्म सम्प्रदाय के आचार्यों या परम भागवतों के भी पूर्वस्वरूप 'विद्वदनुभव' द्वारा ही स्थिरीकृत हुये हैं, उसकी सत्यता के लिये भी किसी प्रकार का संशय करने का अवकाश नहीं है। तभी तो देखा जाता है कि उक्त जगत्पूज्य आचार्यों में कोई लक्ष्मण के, कोई सूर्य किम्बा सुदर्शन के, कोई समीरण (वायु) के, कोई श्री शंकर के अवतार निर्दिष्ट हुये हैं। फिर उक्त भागवतों में कोई कोई बैकुण्ठाधीश श्री भगवान के पाञ्चजन्य के, गदा के, खड्ग के अथवा कोई कुमुद के, कौस्तुभ के, श्री वत्स के और बनमाला के, या कोई भूशक्ति के और कोई कोई भगवत्पार्षद विष्वक्सेन के और गरुड़ के अवतार रूप में निरूपित

१. श्री गौरगङ्गोदेश्य दीपिका और अनन्त संहिता प्रभृति देखना चाहिये।

हुये हैं।

किन्तु विशेष भाव से लक्ष्य करने का (पहचाने जाने का) यह विषय है कि—सपरिकर श्रीकृष्ण चैतन्य के अवतरण के पहले जो जगत के मुख्य सम्प्रदाय के आचार्य किम्बा महाभागवत आविर्भूत हुये हैं उन लोगों में से किसी ने अपना पूर्वस्वरूप श्रीकृष्ण या किसी ब्रज परिकर के रूप में नहीं दिया। मालूम होता है कि यही समझकर कि—

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही आविर्भाव विशेष में परवर्ती समय में सपरिकर अवतीर्ण होंगे उक्त आसन आदि उन्हीं के लिये ही संरक्षण रखा गया है और पूर्ववर्ती महानुभावों का जो यथार्थ पूर्व स्वरूप है वही व्यक्त किया गया है। उक्त स्वरूप निर्वाचन यदि आधुनिक काल की तरह स्वकल्पित होता, तो श्री चैतन्य के आविर्भाव के पहले भी कोई न कोई श्रीकृष्ण के रूप में या उनके किसी ब्रज परिकर के रूप में निरूपित हो जाते। इसलिये यह विशेष तात्पर्यपूर्ण है और इस वर्तमान युग में श्री गौर-कृष्ण के आविर्भाव पूर्ववर्ती द्रविड़ादि प्रदेशीय भागवतों के आविर्भाव में उक्त प्रकार से संयोग सूत्र द्वारा यथा क्रम से मुख्य और आनुसङ्गिक रूप में श्री करभाजन की उक्ति द्वारा जो व्यंजित होता है वह भी विशेष भाव से प्रतिधान करने का विषय है!

रहस्यमय वन्दना—दो श्लोकों में केवल विशेषण से महाप्रभु श्री गौर-कृष्ण का ही निर्देश।

इसके पश्चात् इस असाधारण वर्तमान कलियुग के उपास्य

के विषय में निम्नोद्धृत वन्दना के दो श्लोक की रहस्यमयता स्पष्ट ही समझी जा सकेगी। पूर्ववर्णित सत्यादि युग त्रय के वर्णन में सर्वत्र ही उपास्य विषय का कोई नामोल्लेख दिखायी न देगा। यहाँ तक कि तत्सम्बन्धीय गौड़ उत्कलादि सब स्थानों के नाम भी गुप्त लक्षण से वर्णन करने के अभिप्राय से 'क्वचित् क्वचित्' अर्थात् "अन्य किसी किसी स्थानों में"—इस प्रकार प्रच्छन्न (गुप्त) इङ्गित की बात पहले कही जा चुकी है।

यह जो सुस्पष्ट रूप से प्रच्छन्नता रूप अस्पष्टता का प्रयास है—यह क्या विशेष तात्पर्य पूर्ण नहीं है? वह तात्पर्य यह है कि—एक मात्र 'छन्न' अवतारी रूप से इस युग में जो अवतीर्ण हुये हैं, उन्हें छन्न (गुप्त) लक्षण द्वारा ही व्यक्त किया गया है। अन्य कोई अवतार 'गुप्त' नहीं है इसलिये निम्नोक्त दो वन्दना में केवल विशेषण द्वारा ही उनको विशेषित करने का प्रयास देखा जायेगा।

ध्ययं सदा परिभवन्ममभीष्ट दोहं
तीर्थस्पदं शिवविरंचिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
बन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥

(श्री भा० ११।५।३३)

इसका संक्षेप अर्थ^१—हे महापुरुष! जो सदा ध्यान करने योग्य, मायाकृत पराभव (मोह) को हरने वाले वान्छित फल देने वाले, तीर्थ स्वरूप, शिव और ब्रह्मादि से वन्दित, शरणदायक सेवक का दुःख दूर करने वाले एवं संसार-समुद्र के लिये जहाजरूप है' तुम्हारे उन ऐसे चरणारविन्दों की वन्दना करता हूँ।

१. उक्त श्लोक का विशदार्थ श्री चक्रवर्तीपाद कृत टीका में देखना चाहिये।

श्लोक 'महापुरुष' शब्द से श्रुति ने जिसको 'महान् प्रभुवै पुरुष' श्वेता० ३।१२) कहकर अस्पष्ट इङ्गित किया है, उक्त तीन शब्दों के मध्य में केवल अद्यन्त शब्द के संयोग से ही इस जगह में 'महान पुरुष' या 'महापुरुष' शब्द की उद्भावना है। इसका निमूढ़ रहस्य यह है कि महाप्रभु श्री गौर सुन्दर को ही छन्न (गुप्त) रूप से निर्देश किया। 'महाप्रभु' शब्द भी उक्त श्रुति के आदि और मध्य के दोनों शब्दों के संयोग मात्र है।

उक्त वन्दना में 'शिव, विरञ्चि द्वारा प्रणत' एवं 'तीर्थास्पद' अर्थात् गंगादि सर्व तीर्थों की पवित्रतामय तुम्हारे श्रीचरणारविन्द हैं। यह दोनों विशेषण उनके सर्वेश्वरत्व महामहिमा को प्रकाश करते हैं। शेष सब विशेष उनके निरुपाधि महाकारुण्य का परिचय देते हैं। क्योंकि यह पहले बताया जा चुका है कि महत्कृपा के अतिरिक्त साक्षात् भाव से जनसाधारण को भगवत् कृपामृत का संयोग होना केवल इसी असाधारण अवतार का ही वैशिष्ट्य है। और भी विशेष दृष्टव्य यह है कि पूर्वोक्त सत्यादि युग के स्तव या वन्दना सब साक्षात् उपास्य के विषय में ही परिणीत हुये हैं किन्तु यहाँ उपास्य के चरणारविन्दों की महिमा ही कीर्तित हुयी है। यह भीसमझ में आ सकता है कि इसके द्वारा उनकी असमोर्द्ध महामहिमा ही विघोषित हुई है।

**महापुरुषाख्य वही महाप्रभु श्री गौर-कृष्ण ही
श्रीरामादि निखिल अवतारों के अवतारी
अर्थात् स्वयं भगवान्।**

द्वितीय वन्दना भी अधिकतर रहस्यपूर्ण है। यथा—

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरोप्सितराज्य लक्ष्मीं

धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।

मायामृगं दयितयोप्सित मन्वधाव,

द्वन्द्वे महापुरुष ने चरणारविन्दम्॥

(श्री भा० ११।१५।३४)

इसका संक्षेप अर्थ—हे पुरुष! हे धर्मात्मन! पिता के बचन-पालन के निमित्त सुदुस्त्यज्य सुरगणवांछित राज्य वैभव को छोड़कर जो वन को चले गये तथा प्रिया के अभीष्ट कपट मृग के पीछे दौड़े। उन आपके चरणारविन्दों की वन्दना करता हूँ।

प्रथम वन्दना में जिन महापुरुष का उद्देश्य है, इसमें भी वही है। विभिन्नता केवल यह है कि पूर्वोक्त श्लोक में विशेष भाव से श्री रामचन्द्र के सम्बन्ध में कोई इंगित पाया नहीं जाता किन्तु इसमें रामावतार सम्बन्धी किसी नाम का उल्लेख न होने पर भी इसके भावार्थ से श्री रामचन्द्र ही प्रतीत होते हैं। पूर्ववर्ती टीकाकारों ने श्री रामचन्द्र के पक्ष में ही व्याख्या की है^१ किन्तु 'कलावपि तथा श्रणु' भा० ११।५।३१ की उक्ति द्वारा श्री करभाजन ने इस जगह केवल कलियुग के उपास्य और उपासना की बात कही है। इसलिये उसमें त्रेता युग के अवतार की बात, वह भी वर्तमान अट्ठाईस चतुर्युग के त्रेता की नहीं—चौबीसवें चतुर्युग के त्रेता में अवतीर्ण^२ श्रीराम का प्रसङ्ग, अप्रासङ्गिक ही जान पड़ना स्वाभाविक है। किन्तु

१. उक्त श्लोक की व्याख्या क्रमसन्दर्भ में श्रीकृष्ण पक्ष में और श्रीचक्रवर्ती पादकृत टीका में श्री गौर पक्ष में देखना चाहिये।

२. 'कौशल्यायां दशरथान्नवदुर्वादिल द्युतिः। त्रेतायामा-विरभवत्-चतुर्विंशे चतुर्युगे॥' (—लघु भा०। लीलावतार प्रकरण)

वास्तव में यह अप्रासङ्गिक नहीं है, परम रहस्यपूर्ण है। वह निगूढ़ रहस्य यह है—प्रथमोक्त बन्दना में 'महापुरुष' (महाप्रभु श्री गौर सुन्दर के लिये ही प्रच्छन्न निर्देश)। धर्मिष्ठ तुमने (श्री रामावतार में) सुदुस्त्यज्य सुरगण वान्छित राज्य लक्ष्मी परित्याग पूर्वक पिता के बचन के पालन के निमित्त वन में गमन किया था। इत्यादि। ऐसे तुम्हारे चरणारविन्दों की मैं वन्दना करता हूँ।

इसका तात्पर्य यह है—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के बाद ही, परावस्थ^१ अर्थात् षडैश्वर्यमय भगवत्ता का परिपूर्ण प्रकाश के अनुसार शास्त्र में श्री रामचन्द्र ही निरूपित हुये हैं। इसलिये 'रामादि' कहने से यह समझ में आ जाता है कि श्री रामचन्द्र को पहले कहकर निखिल अवतार के श्रीकृष्ण ही अवतारी हैं। इसी से तो ब्रह्म संहिता में कहा है—'रामादिमूर्तेषु कलानियमेन तिष्ठन्' (५।३६) अर्थात् जो परमपुरुष रामादि मूर्ति में स्वांश कलादि नियम से स्थित होकर प्रपञ्च में नानावतार प्रकाश करते हैं—इत्यादि,—उसी प्रकार उक्त छन्न लक्षण में वर्णित उन्हीं स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का प्रच्छन्न आविर्भाव विशेष बताकर, उनको श्री रामचन्द्र का अवतारी रूप में निर्देश किया है। इससे यही प्रमाणित होता है कि वही रामादि निखिल भगवदवतारों के अवतारी अर्थात् स्वयं भगवान् हैं—यह रहस्य ही उक्त वन्दना में निहित है, इसलिये श्री रामावतार का प्रसङ्ग अप्रासङ्गिक न होकर उक्त तात्पर्य पूर्ण

१. नृसिंह-राम-कृष्णेषु षडगुण्यं परिपूरितम्।

परावस्थास्तु ते तस्य दीपाद्युत्पन्नदीपवत्॥

(लघु भा० धृत पाद्मवाक्य)। उत्तरोत्तर परावस्था की पूर्णता रहने से श्रीकृष्ण ही परिपूर्णपरावस्थ—स्वयं भगवान्।

ही होता है।

परावस्थ के अनुसार श्री रामचन्द्र के बाद ही श्रीनृसिंह का स्थान है। इसलिये यही छत्र अवतारी श्रीगौर हरिश्रीनृसिंह के भी अवतरी हैं। यह बात पूर्वोक्त “छत्रः कलौ यदभवत्त्रियुगोऽथ स त्वम्।” (भा०—७।६।३८) अर्थात् कलियुग विशेष में गुप्त रूप से जो अवतीर्ण होंगे वह आप ही हैं, इसीलिये ‘त्रियुग’ नाम से कहे जाते हैं। यह बात प्रह्लाद के वाक्य से प्रकाश हो जाती है।

यथाक्रम से साधारण कलियुग की और वर्तमान विशेष कलियुग की संकीर्तन रूप उपासना वैशिष्ट्य!

पूर्वोक्त दो अर्थ बोधक शब्द में जिस प्रकार सामान्यतः साधारण कलियुग की ओर विशेषतः इस वर्तमान असाधारण कलियुग के उपास्य के विषय में वर्णन हुआ है, अतः पर देखा जायगा कि कलियुग के उपासना के विषय में भी उसी प्रकार निम्नोक्त दो श्लोक यथाक्रम सामान्यतः साधारण और विशेष भाव से वर्तमान कलियुग के सम्बन्ध में वर्णित हुये हैं।

कलि सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।

यत्र सङ्कीर्तनेवैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्येत॥

(भा० ११।५।३६)

इसका अर्थ,—सारग्राही, गुणज्ञ श्रेष्ठ व्यक्तिगण कलियुग का सम्मान करते हैं, इसका कारण यह है कि इस कलि में केवल नामसंकीर्तन द्वारा सभी स्वार्थ सिद्ध हो जाते हैं।

तात्पर्य—कठिन रोगाक्रान्त, मुमुर्ष व्यक्ति के सेवनार्थ सुविज्ञ

चिकित्सक जिस प्रकार सहजग्राह्य, सर्वोत्कृष्ट औषधि की व्यवस्था करते हैं, उसी प्रकार सर्वथा बहिर्मुख कलियुग के लोगों के लिये एक मात्र श्री नाम संकीर्तन रूप सहजसाध्य और सर्वश्रेष्ठ उपासना युगावतार द्वारा प्रवर्तित होता है। नाम सङ्कीर्तन की महामहिमा के विषय में जो सुविज्ञ है केवल वही गुणदर्शी लोग ही कलि के इस सार भाग अर्थात् गुणांश मात्र ही ग्रहण करके कलियुग को बहुत सम्मान देते हैं।^१

इतनी महिमायुक्त होने पर भी साधारण कलियुग में उसके, ग्राहकाभाव की बात ही पहले कही जा चुकी है। स्वार्थी जीव के स्वार्थ की सीमा 'भुक्ति' और 'मुक्ति' पर्यन्त है। इसके ऊपर 'शुद्धा भक्ति' तो 'कृष्णार्थ' ही है। यह निष्काम भक्ति केवल साधुसंग के द्वारा ही श्री नामादि भगवत प्रसंग से जीव में संचारित होती है। यही नाम का मुख्य फल है। साधुसंग के बिना केवल नामसङ्कीर्तनादि से उसका गौण फल ही स्वार्थ की सीमायुक्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पर्यन्त स्वप्रयोजनपर जीव का स्वाभीष्ट सिद्ध होता है। साधारण कलियुग के सब जीव प्रायः श्री नाम ग्रहण के उन्मुख नहीं होते। इसलिये साधारण कलियुग में—यहाँ तक कि—भक्त व भगवान नाम पर्यन्त दुर्लभ कहकर शास्त्र में उक्त हुआ है। ('कलौ भागवतं नाम दुर्लभं नैव 'लभ्यत' इत्यादि')।

इसका उल्लेख ही निष्प्रयोजन है कि उस समय महत् संग द्वारा श्रीनाम से शुद्धा भाक्ति प्राप्त करना बिल्कुल ही दुर्घट विषय था।

१. प्रणमिह कलियुग सर्वयुग सार।
श्री हरिनाम संकीर्तन जाहाते प्रचार।।

ऐसे विमुख युग में भी, उनमें से जो सुबुद्धिमान हैं वही अन्ततः भुक्ति मुक्ति रूप स्वार्थ सिद्धि के उद्देश्य से श्री नाम कीर्तन करते हैं और केवल उसी नाम कीर्तन द्वारा उनके सर्वस्वार्थ सुसिद्ध हो जाते हैं—यही उक्त श्लोक का अभिप्राय है! इसके पश्चात् वर्तमान असाधारण कलियुग के विषय में निम्नोद्धृत श्लोक में जो उक्त हुआ है वह समझ में आ जायेगा।

न ह्यतः परमोलाभो देहिनां भ्राम्यतामिह।

यतो विन्देन परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः॥

(श्री भा० ११।५।३७)

इसका अर्थ,—जन्म, मरण रूप संसार भ्रमणकारी देहधारियों के लिये इससे अधिक परमलाभ और दूसरा कुछ नहीं है क्योंकि संकीर्तन से परम शान्ति मिलती है और संसारक्षय हो जाता है।

तात्पर्य—इस जगह श्रीनाम संकीर्तन का फल 'परमलाभ' एवं 'परमशान्ति' बताया गया है। उसका आनुसङ्गिक फल संसार क्षय है। तटस्था शक्ति स्थानीय जीव के लिये सर्वोत्तमा स्वरूप शक्ति का अधिकार प्राप्त करना केवल भक्ति द्वारा ही साधित होने के कारण भक्ति लाभ को ही जीव का यथार्थ लाभ कहा गया है।^१

तभी तो भगवान ने स्वयं कहा है 'लाभो मद्भक्तिरुत्तमः।' (भा० ११।१६।४०) अर्थात् मेरी भक्ति ही उत्तम लाभ है।

१. जीव के 'क्षति प्राप्य' और लाभ के सम्बन्ध में ग्रन्थकार कृत 'जीवेर स्वरूप और स्वधर्म' पुस्तक का ही (तीसरा संस्करण) ३ पृष्ठ देखना चाहिये।

भगवद्भक्ति ही जब उत्तम लाभ है, तब 'परमलाभ' शब्द से परमाभक्ति अर्थात् स्वयं भगवत्सम्बन्धीय 'ब्रजप्रेम' या रागानुगा भक्ति को ही समझना चाहिये, जिससे अधिक या समान दूसरा कोई लाभ नहीं है।

जीवात्मा की सम्यक प्रसन्नता का नाम ही 'शान्ति' है। आत्मा की यथार्थ प्रसन्नता भक्ति प्राप्त होने से ही साधित होती है 'ययात्मा सुप्रसीदित्ति' (भा० १।२।६)। साधारणतः बैधी भगवद्भक्ति ही जब प्रकृष्ट रूप शान्तिस्वरूप होती है तब इसके समझने में कोई असुविधा नहीं रह जाती कि परमाशान्ति शब्द से स्वयं भगवत् सम्बन्धीय 'ब्रजप्रेम' या रागानुगारूपा परमाभक्ति लाभ की शान्ति को ही निर्देश किया गया है।

इस तरह से वर्तमान असाधारण कलियुग में स्वयं भगवत् प्रवर्तित श्री नाम संकीर्तन का फल 'ब्रजप्रेम' या रागानुगाख्या परमाभक्ति होता है जिसकी परमशान्ति संगिनी है। साधारणतः भगवद्भक्ति का आनुसङ्गिक फल ही जब जन्म-मृत्युरूप संसार गति की निवृत्ति है तब ब्रजप्रेम रूप परमाभक्ति प्राप्त होने से संसार काबन्धन छूट जायेगा, इसमें अधिक बात क्या है।

साधारणतः भगवद्भक्ति के उदय होने से शास्त्रोक्त सभी विधि निषेध अतीत हो जाते हैं, यह बात पहले आलोचित हो चुकी है। इसलिये स्वयं भगवत् सम्बन्धीय 'ब्रजप्रेम' रूप परमाभक्ति का उदय ही सभी विधि निषेध के छूट जाने का प्रकृष्ट स्थल है। इसी के निर्देश स्वरूप इस रागानुगा-भक्ति-प्रधान विशेष कलियुग की महिमा कीर्तन के परिशेष में ही उस विषय 'दिवर्षि भूताप्त नृणां'

एवं 'स्वपादमूल' इत्यादि दो श्लोक सन्निवेशित किये गये हैं। इसलिये यह भी विशेष तात्पर्यपूर्ण है इस प्रकार उक्त रहस्यपूर्ण कलियुग के वर्णन में सामान्यतः साधारण कलियुग अवतार और तत्प्रवर्तित श्री नाम संकीर्तन को इङ्गित मात्र करके, विशेष भाव से गुप्त लक्षण में वर्तमान असाधारण कलियुग के उपास्य और उपासना के विषय में जो कुछ कीर्तित हुआ है, उसके द्वारा एक मात्र छन्न अवतार श्री श्री गौर हरि ही निर्दिष्ट हुये हैं। यही सब प्रकार से प्रतिपन्न होता है। विशेषतः श्री करभाजन के उक्त वर्णन से श्री नाम संकीर्तन के प्रवर्तन रूप विशेष लक्षण केवल साधारण कलियुगावतार और श्री चैतन्य अवतार^१ के अतिरिक्त अन्य किसी दूसरे भगवत् स्वरूप में प्रयुक्त नहीं हो सकता, यह बात थोड़ा मनन करने से समझ में आ जायेगी। इसके अतिरिक्त शिव व ब्रह्मा प्रणत चरणारविन्दु और श्री रामादि सभी अवतारों के भी अवतारीरूप में जो सभी भगवत् लक्षण हैं वह आवेशावतार स्वरूप कलियुगावतार के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकते, तब इसमें कोई संशय नहीं रह जाता है कि उक्त सभी वर्णन एक मात्र पीतवर्ण प्रच्छन्न स्वयं भगवान् श्री गौर सुन्दर को छोड़कर दूसरे किसी भगवान् स्वरूप के सम्बन्ध में नहीं है।

अब अगर ऐसा कहा जाय कि एक मात्र छन्नावतार बताकर उनके सम्बन्ध में उक्त प्रकार के प्रच्छन्न लक्षण में वर्णन करना उनके उपयुक्त ही हैं और उक्त वर्णन में एक मात्र गौर हरि को ही निर्दिष्ट

१. युगधर्म प्रवर्तइमू—नाम सङ्कीर्तन (चै० १।३।१७)

किया गया है। किन्तु इसके साथ ही साथ यदि किसी शास्त्रान्तर में भी जैसे श्री भगवत् विषयक शत् नाम या सहस्र नाम में कहीं भी श्री गौरावतार सम्बन्धीय सुस्पष्ट कोई भी नाम देखा जाय तो फिर यह समझने के लिये कि उक्त समस्त वर्णन उन्हीं के विषय में है कोई भी असुविधा नहीं रह जाती।

इसके उत्तर में यह कहना है कि इसका प्रमाण महानारत और पुराणादि अन्य अनेक शास्त्रों में विद्यमान रहने पर भी इस जगह संक्षेपार्थ विस्तारित आलोचना सम्भव नहीं है। इस विषय में संक्षेप में केवल दो एक दृष्टान्त मात्र सुप्राचीन शास्त्र श्री नारद-पंचरात्र (ज्ञानामृतसार) से^१ प्रदर्शित किये जाते हैं।

उक्त ग्रन्थ के चतुर्थरात्रि के अष्टम अध्याय में श्री बालकृष्ण के सहस्र नाम स्तोत्र में (११६-११७ संख्यक श्लोक दृष्टव्य) चैतन्य नाम का उल्लेख देखा जाता है। यह बात और भी स्पष्ट समझ में आती है कि यह श्री चैतन्यावतार सम्बन्धीय नाम है क्योंकि ठीक उसमें पहले पूर्ववर्ती चरण में 'नित्यानन्द' और 'अद्वैत' के नाम भी उल्लेख हुये हैं। इस तरह से चैतन्यावतार विषयक पास पास इन तीन प्रसिद्ध नामों का सन्निवेश तात्पर्य पूर्ण ही समझा जावेगा। यथा—

भक्तप्रियो भक्तिदाता दामोदर इभस्पतिः।

इन्द्र दर्पहरोऽनन्तो नित्यानन्द चिदात्मकः॥ (११६)

-
१. एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित पुस्तक रामेश्वर भट्टाचार्य द्वारा अनुवादित। वेणीमाधव दे द्वारा चित्पुर रोड २८ नम्बर, शोभा बाजार से १२८१ बंगला साल में प्रकाशित और विद्यारत्न यन्त्र में अरुणोदय घोष द्वारा मुद्रित।

चैतन्यरूपश्चैतन्य श्वेतना गुणवर्जितः।

अद्वैताचार निपुणोऽद्वैतः परमनायकः॥ (११७)

इसी तरह उक्त सहस्र नाम स्त्रोत में गौरावतार सम्बन्धीय सुस्पष्ट 'गौर' नाम का भी उल्लेख देखा जाता है:—यथा—

‘नीलः श्वेतः सितः कृष्णो गौरः पिताम्बर छदः॥ (६८)

इनके प्रसिद्ध विश्वम्भर भी उक्त ग्रन्थ के चतुर्थ रात्रि के तीसरे अध्याय में श्री विष्णु के सहस्र नाम में उक्त हुआ देखा जाता है।

‘विश्वम्भरस्तीर्थपादः पुण्यश्रवण कीर्त्तनः। (४५)

यहाँ तक कि जो नाम एकमात्र श्री गौर सुन्दर के अतिरिक्त दूसरे किसी भगवत् स्वरूप के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकता, ऐसा शचीसुत नाम भी पूर्वोक्त श्री बालकृष्ण सहस्र नाम स्त्रोत में (चतुर्थरात्रि अष्टम अध्याय) स्पष्टतः परिदृष्ट होगा। यथा—

शचीसुत जय प्रदः।’ (१५४)

इसलिये इस अतिशय सुस्पष्ट ‘शचीसुत’ नाम के उल्लेख से ही पूर्वोक्त ‘विश्वम्भर’, ‘गौर’, ‘चैतन्य’, यह तीनों नाम इन्हीं शचीसुत गौरावतार सम्बन्धीय नामरूप में ही प्रतिपन्न होने योग्य हैं।

इसी प्रकार छन्नत्व निवन्धन एक मात्र गौरावतार ही करभाजन के प्रच्छन्न वर्णन से स्वतः प्रमाणित होने पर भी उक्त शास्त्र सिद्ध ‘शचीसुत’ प्रभृति सभी नामों की विद्यमानता के द्वारा भी, श्री करभाजन द्वारा लक्षण में वर्णित—अनुक्तनामा, पीतवर्णन में प्रच्छन्न वही स्वयं भगवत् स्वरूप शचीसुत—गौर हरि हैं। इस विषय में पूर्वोक्त संशय का फिर और कोई अवकाश नहीं रह जाता है।

श्री भगवान् प्रमाणित होते हैं—एक मात्र शास्त्र प्रमाण द्वारा।^१ इसके अतिरिक्त दूसरा कोई प्रमाण नहीं माना जाता है। अतएव स्वयं प्रच्छन्न होकर सर्वापेक्षा निगूढतम होने पर भी, श्री गौर स्वरूप ही, सब तरह से शास्त्र सिद्ध स्वयं भगवान् ही हैं।

ऐसे शास्त्र प्रमाणित भगवान् जिन्हें केवल उनकी कृपा से^२ विशेष स्थल में अनुभूत होते हैं उन्हें 'कृपासिद्ध' कहते हैं। और जिन्हें तत्कृपालब्ध शास्त्र सिद्ध साधन द्वारा^३ साधारण स्थल में वह अनुभूत होते हैं उन्हें ही 'साधन सिद्ध' नाम से उल्लेख करते हैं। इसके अतिरिक्त भगवत् अनुभूति का दूसरा कोई उपाय नहीं।

सत्यादि तीनों युगों में श्रीनाम विद्यमान रहने पर भी और साधारण कलियुग का युगधर्म होने पर भी जनसाधारण का उसके ग्रहण में उन्मुखता का अभाव।

सर्व साधारण कलियुग के युगावतार प्रवर्तित युग धर्म के विषय में पहले कहा जा चुका है।

इस विषय में विशेष बात यह है कि श्रीनाम सभी समय में—सभी युगों में सर्वोत्तम साधनरूप में सर्वोपरि जय युक्त होकर विराजमान रहने पर भी^४ साधारण बुद्धि में युग धर्म ही प्रधान

१. शास्त्र योनित्वात् (ब्र: सू० १।१।३)

२. 'यमेवैष वृण्यते तेन लभ्य—' (कठोप० १।२।६)

३. 'आत्म वा अरे द्रष्टव्यः श्रुतव्यो मन्तव्ये। निदिध्यासितव्यो—'
(वृ० आ० १२।४।५)

४. चारियुग में तारक ब्रह्म नामरूप में नाम की विद्यमानता शास्त्र सिद्ध।

रहता है और सत्यादि युगत्रय में ध्यानादि युग धर्म के अनुष्ठान में ही प्रायः जन साधारण की प्रवृत्ति देखी जाती है। नाम ग्रहण में उन्मुखता न होने से, विशेष सुकृती और सुबुद्धिमान को छोड़कर वह प्रायः^१ ग्रहणीय नहीं होता। धर्मानुष्ठान के विषय में कलियुग के लोगों को सर्वापेक्षा पश्चात्पद जानकर करुणामय भगवान के नियम में यही सर्वोत्तम धर्म नाम संकीर्तन ही कलियुग के युग धर्मरूप में प्रवर्तित हुआ है जिससे इस युग के लोग का विशेष सौभाग्य की सूचना मिलती है। किन्तु कलि के सब जीवों का ऐसा दुर्दैव है कि वह इस सहजसाध्य और सर्वोत्तम धर्म श्री नाम के ग्रहण में भी उन्मुख न होकर प्रायशः अधर्म में ही लिप्त रहते हैं। इस नाम ग्रहण करने का फल यह होता है कि सत्यादि युगधर्म त्रय के सभी फलों के साथ अन्य युग के लिये अदेय सुदुर्लभ श्री भगवान की शुद्धाभक्ति पर्यन्त लाभ हो जाती है। यही साधारण कलियुग का विषय है।

श्री नाम ग्रहण के विषय में वर्तमान कलियुग में श्री गौर के प्रकट होने की पूर्ववर्ती अवस्था।

अतः पर श्री गौर प्रकटित वर्तमान कलियुग के वैशिष्ट्य सम्बन्ध में निम्नोक्त विषय विशेष भाव से प्रणिधान करने योग्य है।

साधारण युगावतार की जगह वर्तमान कलियुग का युगधर्म श्री नाम संकीर्तन स्वयं भगवान श्री गौर-कृष्ण द्वारा प्रकटित हुआ

१. 'तस्माद् ध्यानादि—समर्थास्ताः प्रजाजिहवोष्ठ-सन्दनमात्रस्य नाति साधनं त्वं भवेदिति मत्वा तन्न श्रद्धितवत्यश्च।' (क्रम सन्दर्भः ११।५।३७)

है। इसलिये उनके पहले के समय तक इस युग में युगधर्मरूप श्री नाम का अविर्भाव न होने से, उस काल में श्री नाम संकीर्तन का आचरण, किम्बा निरतिशय सुकृती को छोड़कर श्री नाम परायण व्यक्ति प्रायः दिखाई नहीं देते थे। यह बात श्री चैतन्य भागवतादि ग्रन्थ में जो वर्णन हुआ है उससे विदित है। यथा—

“न बखाने युग धर्म कृष्णोर कीर्तन।

दोष बहि गुण कारो न करे कथन॥

जे वा विरक्त तपस्वी अभिमानी।

ता सभार मुखेहु नाहिक हरि ध्वनि॥

अति बड़ सुकृती से स्नानेर समय।

गोविन्द पुण्डरीकाक्ष नाम कभू लोय॥

बोलिलेऊ केहु नाहि लोय कृष्ण नाम।

निरवधि विद्याकुल करेन व्याख्यान॥”

(श्री चैतन्य भागवत १।२)

तात्पर्य—कलियुग का धर्म जो श्रीकृष्ण कीर्तन है इसका कोई प्रचार नहीं करता था। बुराई के अतिरिक्त गुण की बात नहीं होती थी। जो विरक्त तपस्वी या तपस्या का जिन्हें अभिमान था उनके भी मुँह से हरिध्वनि नहीं निकलती थी। जो बहुत बड़ा पुण्यवान था वह केवल स्नान के समय गोविन्द पुण्डरीकाक्ष का नाम कभी-कभी लेता था। किसी के समझाने पर भी कोई श्रीकृष्ण का नाम नहीं लेता था। हर समय विद्याकुल का व्याख्यान होता रहता था।

यहाँ तक कि उसके बहुत पहले द्राविडादि प्रदेशीय परम भागवत लोगों के आविर्भाव के समय में भी सत्यादि युग दुर्लभ शुद्धाभक्ति विपुल भाव से जन साधारण में जो संचार की गयी

थी, वह महत्संग द्वारा अर्चन, बन्दन, दास्यादि प्रधान भक्त्यंग के संयोग से ही थी! किन्तु प्रायः नाम सङ्कीर्तन प्रधान भक्त्यंग के संयोग से न थी! क्योंकि उस समय भी युग धर्मरूप में श्रीनाम का आविर्भाव घटित नहीं हुआ था! इसलिये उक्त माङ्गलिक अनुष्ठान वर्तमान युग के आगमनोन्मुख असाधारण युग धर्म की सूचना का सुमंगल आवाहनस्वरूप था। इसलिये उस समय में भी नामग्राही व्यक्ति की सुदुर्लभता की बात ही भगवत पार्षद स्थानीय सुप्रसिद्ध आलवारगण के अन्यतम—वैष्णव श्रेष्ठ श्री कुलशेखर नृपिति कर्तृक उनके मुकुन्द माला स्तोत्र में उक्त होते देखी जाती है। यथा—

अनन्त बैकुण्ठ मुकुन्द कृष्ण गोविन्ददामोदर माधवेति।

वक्तुं समर्थेऽपि न व्यक्ति कश्चिद्होजनानां व्यसनाभिमुख्यम्॥

(१६)

इसका अर्थ,—अनन्त, बैकुण्ठ, मुकुन्द, श्रीकृष्ण, गोविन्द, दामोदर, माधव—ऐसे सब भगवन्नाम कहने में समर्थ होने पर भी कोई व्यक्ति नहीं कहता है। हाय! मनुष्यों की कैसी वहिर्मुखी गति है।^१

युगधर्म श्रीनाम के सहित श्री गौर के प्रकट होने की परवर्ती अवस्था।

नाम ग्रहण के विषय में श्री गौर के प्रकट होने के पहले की

१. उक्त स्तव में 'अश्चर्य मेनूहि मनुष्य लोके—' इत्यादि ३८ संख्यक श्लोक में भी एक ही अभिप्राय व्यक्त किया गया है।

अवस्था का इङ्गित किया जा चुका है। अब देखा जायगा कि उनके अवतरण के साथ-साथ उनके आनुसङ्गिक रूप में, वर्तमान युग का युगधर्म अर्थात् जगत् दुर्लभ उसी नाम सङ्कीर्तन का भी जगत् में विपुल भाव से सहसा आविर्भाव हुआ। आकाश में चन्द्रमा के पूर्ण उदय होने पर ही जैसे महासमुद्र उद्वेलित होता है (उमड़ उठता है) वैसे ही वर्तमान विश्व के भाग्यकाश में श्री गौर पूर्ण चन्द्रमारूप स्वयंनामी के उदय होने की मुहूर्त से ही नामामृत सिन्धु भी उद्वेलित (उमड़) हो उठा। इस नाम रत्नाकर के महोच्छ्वास से जीव जगत् के लिये जो अचिन्त्य है, ऐसा ब्रजप्रेम रूप चिन्तामणि निरन्तर जीव लोक में, इधर-उधर बिखरता रहता है। जिससे उनके महौदार्य स्वभाव का भी पूर्ण परिचय प्रकट हो जाता है। मरलोक में ब्रज-प्रेम का वितरण, सृष्टि के इतिहास में अभूतपूर्व और सर्वश्रेष्ठ घटना है।

जिससे जगत् का जन्म हुआ है^१, उन्हीं के जगत् में जन्म लीला के दिन के इतिहास की आलोचना करने से पता लगता है कि अपने अभिन्न स्वरूप श्री नाम को जन्म देकर स्वयं श्री नामी ने जन्म लीला प्रकट की थी। स्वयं भगवान श्री गौर-कृष्ण के आविर्भाव के दिन से ही इस विशेष कलियुग के युगधर्म के रूप में श्री नाम सङ्कीर्तन भी उनके साथ-साथ आविर्भूत हुआ।

केवल आविर्भाव ही नहीं—दूसरे युगों में जो नाम सहज ग्राह्य नहीं था—आज स्वयं नामी अर्थात् श्री स्वयं भगवान के आविर्भाव

१. जन्माद्यस्य यतः (ब्र०सूः १।१।१२)

के समय से वह श्री नाम भी स्वतः ही सबकी जिह्वा में स्फुरित होकर सभी के लिये भी सहज ग्राह्य हो गया। यह भी वर्तमान युग का वैशिष्ट्य है। तभी तो देखा जाता है कि श्री गौरचन्द्र ने अपने जन्म ग्रहण लीला के समय आकाश में भी चन्द्रग्रहण कराकर उस ग्रहण के छल से जगजन को भी श्री नाम ग्रहण में उन्मुखता प्रदान किया और इस कलियुग को परमधन्य करके सत्यादि युगों के लिये भी बन्दनीय कर दिया है।

“फाल्गुण-पूर्णिमा सन्ध्याय प्रभूर जन्मोदय।

सेई काले दैवयोगे चन्द्रग्रहण होय॥

हरि हरि बोले लोके हर्षित होइया।

जन्मिला चैतन्य प्रभु नाम जन्माइया॥”

(श्री चै० १।१३।१८-१९)

तात्पर्य—फाल्गुन की पूर्णिमा को सन्ध्या समय प्रभू का जन्म हुआ। दैवयोग से उस दिन उस समय चन्द्रग्रहण था इसलिये लोग हरि, हरि, हर्षित होकर कह रहे थे इस तरह चैतन्य महाप्रभु पहले नाम को जन्म देकर स्वयं अवतीर्ण हुए।

इसके पहले ग्रहणादि समय में साधारणतः लोग दान ब्रतादि शुभ कर्म के अनुष्ठान में निष्ठित रहते थे। नामग्राही लोगों की विरलता के विषय में पहले ही बताया जा चुका है। किन्तु अब इस परम् शुभ मुहुर्त से विपुल भाव में लोगों के मुख से श्री नाम का आविर्भाव हुआ जो अतीव विस्मयकर घटना हुई। तभी तो श्री चरितामृत में वर्णित हुआ है।

“जगत भरिया लोग बोले ‘हरि हरि’।

सेई क्षणे गौर कृष्ण भूमि अवतरि॥

प्रसन्न होइल सर्व जगतेर मन।

‘हरि’ बोलि हिन्दू के हास्य करये यवन।” इत्यादि

(श्री चै० १।१३।६३)

तात्पर्य—लोगों के जोर-जोर से हरि बोलने की ध्वनि से जगत पूर्ण हो गया था। उसी समय श्री गौर कृष्ण इस धरा धाम पर अवतीर्ण हुये। सारे जगत का मन प्रसन्न हो गया। मुस्लिम भी हरि हरि बोलकर हिन्दुओं से हास्य करने लगे।

श्री चैतन्य भागवत के वर्णन से भी यही व्यक्त हुआ है।

सङ्कीर्तन सहित प्रभूर अवतार।

ग्रहणेर छले ताहा करेन प्रचार॥

हेन मते प्रभूर होयल अवतार।

आगे हरि सङ्कीर्तन करिया प्रचार॥

चतुर्दिके धाय लोक ग्रहण देखिया।

गंगा स्नाने ‘हरि’ बोली जायेन धाईया॥

जार मुखे ए-जन्मेउ नाई हरिनाम।

सेहो ‘हरि’ बोली धाय करि गंगा स्नान॥

दशदिक पूर्ण होई उठे हरि ध्वनि। इत्यादि

(आदि।२ पः)

तात्पर्य—इस प्रकार सङ्कीर्तन के सहित प्रभू का अवतार हुआ। ग्रहण के बहाने से नाम का प्रचार हुआ। इस प्रकार हरि सङ्कीर्तन का पहले प्रचार करके उनका अवतार हुआ। चारों तरफ लोग ग्रहण देखकर दौड़ रहे थे। दौड़-दौड़ कर हरि बोलते हुये गंगा स्नान को जा रहे थे। जिसके मुँह से पूरे जीवन भर एक

भी हरि का नाम नहीं लिया गया था वह भी हरि बोलकर गंगा स्नान करने जा रहा था। इस प्रकार हरि ध्वनि से दसों दिशायेँ पूर्ण हो गई।

इससे यही समझ में आता है कि केवल यही नहीं कि वर्तमान युग के इस असाधारण युग-धर्म श्री नामसङ्कीर्तन श्री चैतन्य द्वारा जगत् में प्रवर्तित हुआ है^१, अपितु उनकी विशेष कृपा से वह श्रीनाम सबों के लिये ग्रहणीय भी हो गया है। आज हर व्यक्ति इच्छा होने पर श्रद्धा से या हेला से चाहे जिस भाव से भी हो, श्री नाम ग्रहण में समर्थ है, आज इस कलि प्रभाव के मध्य में भी चाहे जिस भाव से भी हो श्रीनाम संकीर्तन जो सर्वत्र ही प्रसारित हुआ है, उसके मूल में उन्हीं परम उदार श्री गौर सुन्दर की कृपा वैशिष्ट्य के लिये ही दूसरे सभी युगों से वर्तमान कलियुग महाधन्य^२ रूप में साधु और शास्त्र द्वारा सम्मानित है।

श्री चैतन्य द्वारा श्री नाम के स्वरूप और

१. सङ्कीर्तन प्रवर्तक श्रीकृष्ण चैतन्य।
सङ्कीर्तन यज्ञ तारे भजे सेई धन्य॥

(चै० १।३।६२)

तात्पर्य—श्रीकृष्ण चैतन्य सङ्कीर्तन के प्रवर्तक हैं। जो सङ्कीर्तन यज्ञ से उनका भजन करता है, वह धन्य है।
कृष्ण नाम सङ्कीर्तन। इत्यादि।

(चै० २।२०।२८४) देखना चाहिये।

२. प्रणमहि कलियुग सर्वयुग सार।
हरिनाम सङ्कीर्तन जाहते प्रचार॥

(श्री ठाकुर महाशय)

महिमादि के विषय में जगत में यथार्थ चेतना और नामापराध से सतर्की करण।

सर्वोपरि विशेष बात यह है कि श्रीकृष्ण चैतन्य के अवतरण के पूर्व श्रीकृष्ण के यथार्थ स्वरूपादि के सम्बन्ध में जगत जिस प्रकार अचैतन्य था, उसी प्रकार श्रीकृष्ण से अभिन्न श्रीकृष्ण नाम के यथार्थ स्वरूप और महिमादि के विषय में भी जगत को भ्रान्ति थी। उस समय श्री नाम की असमोर्द्ध महिमादि के विषय में उपलब्धि न होने से श्रीनाम अन्य शुभकर्मादि किम्बा ज्ञान योगादि के साथ या^१ तो बराबर या उनसे कम माना जाता था और नामापराध के सम्बन्ध में भी जनसमाज में विशेष आलोचना के अभाव से अज्ञता रहने से श्री नाम की निरतिशय महिमा के विषय में प्रायः अतिशयोक्ति विवेचित होती थी। इसलिये इस विषय में नाना प्रकार के कल्पित अर्थ करके नाम की मुक्त महिमा को संकोच व खर्वता साधन प्रयास द्वारा 'अर्थवाद' और 'कल्पनादि' रूप 'नामापराध' की सृजन की जाती थी।^२ इसके अनिवार्य फल से श्रीनाम अप्रसन्न चित्त रहते थे और अपराध-धूलि-धूसरित जगत में चुप चाप अवस्थान करते थे। इसके प्रतिकार स्वरूप श्री नाम महिमा के मूर्त विग्रह, ठाकुर श्री ब्रह्म हरिदास को पहले आविर्भाव कराकर, उनके द्वारा श्री नाम महामंत्र के आचार व प्रचार द्वारा उस विषय में अपराध मूलक

१. 'भावुकेर सिद्धान्त सुन' इत्यादि। (चै० ३।३।१८१)

२. 'केहो बोले नाम हुई ते होय पाप क्षय'। इत्यादि (चै० ३।३।१६६)
'शुनि एक पढ़ुआ ताहां अर्थवाद कैल।' (१।१७।६८) देखना चाहिये।

सभी कुसंस्कार पहले ही जनसमाज से बहुत परिमाण में दूर कराकर बाद में श्री गौर हरि स्वयं श्री नाम सङ्कीर्तन रूप युग धर्म के साथ अवतीर्ण हुये।

श्रीकृष्ण चैतन्य ने अवतीर्ण होकर जीव जगत को जिस प्रकार श्रीकृष्ण के विषय में पूर्ण ज्ञान प्रदान किया, उसी प्रकार अज्ञता वशातः पूर्ववर्ती जन समाज द्वारा उपेक्षित—अनादृत धूलि विलुण्ठित निज अभिन्न स्वरूप^१ जगन्मंगल श्री नाम को यत्न के साथ उठाकर, धूल कीचड़ झाड़ पोंछकर उनकी महामहिमान्वित चिन्तामणिमय महापीठ में सुप्रतिष्ठित करके श्रीनाम को सर्वोपरि जययुक्त किया। समस्त भक्त्यंग और साधनांग के सर्वोपरि श्री नाम का ही स्थान निरूपण पूर्वक और उसी नाम ग्रहण प्रणाली में सङ्कीर्तन का ही सर्वोत्कर्ष सर्व भाव से प्रचार किया।

केवल इसी एक नाम से जिस प्रकार जीव की वासना-मलिन चित्त दर्पण सुमार्जित होकर श्रद्धा आदि क्रम से सर्वभक्त्यंग और साधनांग उद्गम सहित, श्रीकृष्ण सेवाप्राप्तिरूप परमानन्द स्वरूप सषुद्र में निमज्जित हो जाता है—उसे स्वयं रचित शिक्षा श्लोक के प्रथम में ही प्रदर्शन करके, परिशेष में स्वयं नामी ने अपने अभिन्नात्म श्री नाम की जयध्वनि से जगत को भरकर घोषणा किया है,—‘श्री कृष्ण सङ्कीर्तनं परं विजयते’ अर्थात् यही श्रीकृष्णनाम सङ्कीर्तन सर्वोपरि परम उत्कर्ष वैशिष्ट्य के साथ जययुक्त हो

१. ‘—अभिन्नत्वान्नामनामिनोः।’ इत्यादि
(हरिभक्ति विः घृत। ११।२६६)

रहा है।

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावग्नि निर्वापणं
 श्रेयः कैरवचन्द्रिका वितरणं विद्यावधु जीवनं।
 आनन्दाम्बुधिबर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
 सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्री सङ्कीर्तनम्॥
 इसका अर्थ श्री चरितामृत से ही उद्धृत किया जाता है।
 सङ्कीर्तन होइते पाप संसार नाशन।
 चित्तशुद्धि सर्वभक्ति साधन उद्गम॥^१
 कृष्णप्रेम उद्गम प्रेमामृत आस्वादन।
 कृष्णप्राप्ति सेवामृत समुद्रे मज्जन॥

(श्री चै० ३।२०।१०-११)

तात्पर्य—सङ्कीर्तन से पाप और संसार का नाश हो जाता है
 (संसार से आवागमन छूट जाता है) चित्त की शुद्धि हो जाती है।
 सारे भक्ति के साधन उदित होते जाते हैं। श्रीकृष्ण के प्रेम का उदय
 हो जाता है और प्रेमामृत का आस्वादन होने लगता है, इस प्रकार
 प्रेम प्राप्ति हो जाती है और जीव सेवारूपी अमृत समुद्र में स्नान
 करने लगता है अर्थात् भगवान की सेवा का सौभाग्य प्राप्त
 करता है।

जिस श्री भगवान के समान न तो कोई है और न कुछ है—
 वह श्री नामी भी जिसके जयगान में विभोर है—ऐसे श्री नाम के

१. 'सर्वभक्ति नवविधभक्त्यंग (श्रवण, कीर्तन विष्णो, इत्यादि भा०
 ७।५।२३) साधन—६४ साधनांग विविधांग साधन भक्ति इत्यादि
 (पै० २।२२।६० दृष्टव्य)

साथ दूसरे सभी शुभकर्मोंदि, कोई भी, समता नहीं कर सकते^१, यहाँ तक कि यदि अज्ञता वशतः समता चिन्ता की गयी तो वह अपराधरूप में परिणत हो जायेगा,^२ यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। तभी तो नामापराध के विषय में अज्ञ जगत् को सतर्क कर देने के निमित्त ही विघोषित हुआ है—

कोटि अश्वमेध एक कृष्ण नाम सम।

जेई कहे, से पाखण्डी दण्डे तारे यम॥

(श्री चै० १।३।६४)

तात्पर्य—जो कहता है कोटि अश्वमेध यज्ञ एक श्रीकृष्ण नाम के बराबर है। वह पाखण्डी है उसे यम दण्ड देते हैं।

नवधा भक्ति में भी श्री नाम का सर्वोत्कर्ष अंगीत्व प्रचार।

‘सर्वशुभक्रिया’ कहने से, केवल धर्म व्रतादि कोही नहीं बल्कि शुभ व मंगल की चरम सीमा जिस पर्यन्त प्रसारित है, अर्थात् नवांग भक्ति^३ व भजनांग पर्यन्त का निर्देश किया गया है जिससे बढ़कर और कोई भी शुभ कर्म नहीं है। उस नवधा भक्ति के अंगरूप

१. गो कोटि दानम् ग्रहणं खगस्य प्रयाग गंगोदककल्पवासः। यज्ञायुतं मेरु सुवर्णं दानं गोविन्द कीर्तनं समं शतांशैः। हरि भक्ति वि० ११।१८६।

२. धर्म व्रत त्यागहुतादि, सर्व शुभ क्रिया साम्यमपि प्रमादः (हरि भक्ति वि० धृत पद्ये ११।२८५ अर्थात् त्याग और होमादि सभी शुभकर्मों के साथ नाम की समता चिन्तन एक नामापराध है।

३. नाम संझीर्तन होइते सर्वा नर्थ नाश।

सर्वशुभोदय—कृष्ण प्रेमेर उल्लास। (चै० ३।२०।६)

तात्पर्य—श्री नाम संझीर्तन से सारे अनर्थों का नाश हो जाता है। सारे शुभ उदय हो जाते हैं और श्री कृष्ण प्रेम की तरंग उठने लगती है।

से एक ही आसन पर श्री नाम को अवस्थान करने पर भी उनमें श्री नाम सङ्कीर्तन ही सर्वोत्कर्ष सहित जय युक्त है। इस बात के समझने की सम्भावना नहीं थी यदि जीव के परम् मंगल दाता उन्हीं स्वयं नामी श्री गौर हरि द्वारा यह सुस्पष्ट रूप से विघोषित न होती—यथा—

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविद्या भक्ति।

कृष्ण-प्रेम कृष्णदिते धरे महा शक्ति॥

तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम सङ्कीर्तन।

निरापराध नाम होइते हो प्रेम धन॥

(चै० ३।४।६५-६६)

तात्पर्य—भजन के मध्य में नवविद्या भक्ति श्रेष्ठ है। वह श्रीकृष्ण प्रेम और श्रीकृष्ण को देने की शक्ति रखती हैं। उसमें भी सर्वश्रेष्ठ श्रीनाम सकीर्तन है। निरपराध नाम से श्रीकृष्ण प्रेमधन प्राप्त होता है।

इसका तात्पर्य यह है कि कर्म, ज्ञान, योग, प्रभृति सब साधन भक्ति-मुखापेक्षी हैं।^१ और भक्ति स्वतंत्र भाव से ही अपना मुख्य फल—कृष्ण प्रेम उदय कराकर कृष्ण की सेवा प्रदान करने की महाशक्ति रखती है।

नवविद्या भक्ति ही सब साधन भजन में श्रेष्ठ है। इतनी महाप्रभावविता नवविद्या भक्ति में श्री नाम संकीर्तन ही सर्वश्रेष्ठ है। इस नाम के प्रति निरपराध होकर केवल नाम ग्रहण द्वारा ही

१. भक्ति मुख निरीक्षक कर्म योग ज्ञान।

(चै० २।२२।१४)

यथा क्रम से प्रेमरूप परम सम्पद पायी जाती है और इस युग में ऐसा प्रेम जो दूसरे युगों में अचिन्त्य है वह स्वयं भगवत् सम्बन्धीय ब्रज-प्रेम ही है।

अतएव नवविधा भक्ति के अंगरूप में अवस्थान करने पर भी उनमें वह स्वयं नामी द्वारा सर्वश्रेष्ठ रूप में निर्दिष्ट हुआ है और युग धर्म रूप में भी प्राधान्य होने से वर्तमान युग में एक मात्र संकीर्तन ही समस्त भजन या साधनांग का 'अंगी' अर्थात् बीज या कारण स्वरूप है। अन्य भक्त्यंग के द्वारा सिद्धि लाभ करना दूसरे युगों में किम्बा श्रीगौर के प्रकट होने के पहले सम्भव होने पर भी इस विशेष कलियुग में स्वयं भगवत् प्रवर्तित श्रीनाम संकीर्तन की विशेषता यह है कि केवल नाम से ही यथाक्रम से प्रेम भक्ति का कारण जो साधन भक्ति है उन सबका उदगम व विकास होने के कारण, यह विदित हो जाता है कि वह सब नाम के कार्य या 'अंग हैं' और नाम ही उन सब के कारण या अंगीरूप में है।^१

श्रीनाम से प्रेमोदय का क्रम

प्रेमोदय के क्रम के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है।

आदौ श्रद्धाततः साधूसंगोऽथ भजन क्रिया।

ततोऽनर्थ निवृत्ति स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥

अथाशक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदज्वति।

साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

(भक्तिरसामृत सिन्धुः १।४।११)

१. एक कृष्ण नाम करे सर्व पाप नाश।

प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश॥

(चै० १।८।२२)

इसका अर्थ—प्रथम श्रद्धा, उसके बाद साधुसंग (२ य) उसके बाद भजन क्रिया (सभी साधनांग का अनुष्ठान) उसके बाद अनर्थ, निवृत्ति उसके बाद निष्ठा, उसके बाद रुचि, उसके बाद आसक्ति, उसके बाद भाव, तब प्रेम उदय होता है। शुद्धा भक्ति के साधको के लिये प्रेम के प्रादुर्भाव का यही क्रम है।

श्रीभागवत (३।२५।२५) में इसी क्रम को संक्षेप में निर्देश किया गया है। 'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनु-क्रमिष्यति।' अर्थात् प्रथम श्रद्धा (श्रद्धा से आसक्ति पर्यन्त साधन भक्ति) उसके बाद रति (भाव भक्ति) फिर भक्ति (प्रेम भक्ति) इस क्रम से प्रेम उदय होता है।

श्री भागवत में 'सतांग प्रसंगात्'

(भा० ३।२५।२५)

इत्यादि श्लोकों में महत् संग के साथ हरि कथादि कायुगपत् संयोगरूप कारण से, उक्त क्रम से शुद्धा भक्ति की परिणति—प्रेम उदय होता है। यह बात पहले बतायी जा चुकी है। साधारणतः सभी समय में साधन सिद्धि की रीति से प्रेमोदय का यही नियम है। साधुसंग से प्राप्त श्री हरिनामादि के संयोग के अतिरिक्त दूसरे किसी उपाय से प्रेम-भक्ति लाभ नहीं की जा सकती है।^१

महत् रूप में प्रच्छन्न (छिपे हुये) श्री चैतन्य प्रवर्तित श्रीनाम से प्रेमोदय, सुदुर्लभ महत् संगदि की भी अपेक्षा नहीं।

किन्तु वर्तमान युग का असाधारण वैशिष्ट्य यह है कि

महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य स्वयं ही महा महत् रूप में प्रच्छन्न (छिपे हुये) स्वयं भगवान हैं। उनके प्रवर्तित और उनके आस्वादित नाम से प्रेमोदय के लिये दूसरे युग की तरह सुदुर्लभ महत् संग की भी अपेक्षा नहीं रहती। इसलिये उनका प्रवर्तित, प्रचारित और आचारित सभी भजनांगों का 'अंगी' व कारण स्वरूप इसी श्रीनाम मात्र के संयोग से ही पूर्वोक्त श्रद्धादि सभी 'साधनांग' उदगम होकर भावभक्ति और परिशेष में 'प्रेम भक्ति' का विकास कार्य अनिवार्य ही जानना चाहिये।

श्रीचैतन्य प्रवर्तित श्रीनाम संकीर्तन रूप यह युग धर्म ही प्रेम धर्म का कारण होने से उनका मुखोदगोर्ण (मुख से निकला हुआ) हरे कृष्ण इत्यादि नामों से जो उनका प्रसादी है। रागानुगा भक्ति या ब्रज प्रेमोदय संघटित हो जाता है। जो दूसरे द्वारा दिया नहीं जा सकता है। तभी तो श्रीमत् रूप गोस्वामी चरण ने अपने लघु भागवतामृत के मंगल श्लोक में लिखा है।

श्रीचैतन्य मुखोदगीर्ण हरे कृष्णेति—वर्णिका।

मज्जयन्तो जगत् प्रेमनि विजयन्तां तदाऽवयाः॥

इसका अर्थ—श्रीचैतन्य महाप्रभु के श्रीमुख चन्द्र से विगलित हरे कृष्ण इत्यादि तत्सम्बोधक^१ सभी वर्ण प्रेम तरंग में जगजन को निमज्जित करते हुये सर्वोपरि जय युक्त हो।

१. श्रीकृष्ण और श्रीगौर-कृष्ण अभिन्न स्वरूप हैं। इसलिये कृष्ण नाम और गौर नाम भी अभिन्न ही है।

समस्त साधन भक्ति का 'अंगी' व कारण होने से
श्री नाम को 'परम उपाय' कहकर निर्देश।

यह भी जाना जाता है कि वह श्रीनाम केवल साधनांग ही नहीं है अपितु नवविधा भक्ति भी पूर्णरूप से समुदित कराकर प्रेमोदय करा देता है।

एक कृष्ण नाम करे सर्वपाप क्षय।

नवविधा भक्ति पूर्ण नाम होइते होय॥

दीक्षा पुरश्चर्या विधि अपेक्षा न करे।

जिह्वा स्पर्श आचण्डाल सभारे उद्धारे॥

आनुसंग फले करे संसारेर क्षय।

चित्त आकर्षिया करे कृष्ण प्रेमोदय॥

(चै० १।१५।१०८-११०)

तात्पर्य—एक श्रीकृष्ण का नाम सारे पापों का क्षय करके नवविधा भक्ति पूर्ण कर देता है। श्रीनाम दीक्षा पुरश्चर्या आदि की अपेक्षा नहीं करते हैं। जिह्वा में स्पर्श होते ही चाण्डाल तक का उद्धार कर देते हैं। उनके गौण फल से ही संसार क्षय हो जाता है। नाम लेने वाले का चित्त श्रीकृष्ण चरणों में आकर्षित हो जाता है। और उसे उनके चरणों में प्रेम हो जाता है।

तभी तो और भी देखा जाता है कि यद्यपि अन्य भजन या साधनांगों को भी 'कृष्ण प्राप्ति' का उपाय कहा जाता है, 'कृष्ण प्राप्तेर उपाय बहुविधा होय' (चै० २।८।६४) किन्तु उन सब उपायों का भी उपाय स्वरूप अर्थात् समस्त भजनांग या साधन भक्ति का

भी कारण या 'अंगी' बताकर स्वयं नामी ने एक मात्र श्रीनाम संकीर्तन को ही इस युग में 'परम उपाय' कहकर ही स्पष्टतः घोषणा की है यथा—

हर्षे प्रभु कहे—सुन स्वरूप रामराय।

नाम संकीर्तन कलौ परम उपाय॥

(चै० ३।२०।७)

उक्त कारण से केवल नाम लक्षण से ही भक्त व वैष्णव-लक्षण निर्देश।

बहुत भजनांग के विकास द्वारा सर्वसद्गुणभूषित वैष्णवों व भागवतों का लक्षण प्रकाश होता है। किन्तु उन सब लक्षण या भजनांग के प्रकाश के विषय में कम से कम इस युग में 'अंगी' नाम ही कारण और सभी नाम के ही 'अंग' या कार्य होने से केवल कारण के उल्लेख से ही उसके कार्य की भी विद्यमानता समझ में आती है। इसीलिये स्वयं नामी द्वारा वैष्णव के लक्षण निर्देश के समय में भी केवल कृष्ण नाम के संयोग लक्षण का उल्लेख करते देखा जाता है। किन्तु उसके अंग या कार्य का उल्लेख उन्होंने नहीं किया। श्रीनाम रूप कारण के विद्यमान रहने से उसका कार्य भी अनिवार्य ही समझना होगा। तभी तो कुलीन ग्रामी द्वारा 'वैष्णव लक्षण' के विषय में प्रश्न के उत्तर में श्रीमन् महाप्रभु ने यथा क्रम से 'वैष्णव, वैष्णवतर, वैष्णवोत्तम'—यह त्रिविध वैष्णव लक्षण केवल कृष्ण नाम के संयोग लक्षण से ही निर्देश किया है। अतएव एक मात्र श्री नाम ही समस्त भजनांग का 'अंगी' या कारण है। नाम से ही

समस्त साधन भक्ति का प्रकाश होता है, इसके द्वारा यही प्रतिपन्न होता है।

प्रभु कहे जार मुखे शुनि एक बार।

कृष्णनाम पूज्य सेई श्रेष्ठ सवाकार॥

(चै० २।१५।१०७)

तात्पर्य—श्रीमन् महाप्रभु ने कहा—जिसके मुँह से एक बार भी श्रीकृष्ण का नाम निकलता है वह पूज्य है और सबसे श्रेष्ठ है।

कृष्ण नाम निरंतर जाहार बदने।

सेई वैष्णव श्रेष्ठ भज ताहार चरणे॥

जाहार दर्शने मुखे आइसे कृष्णनाम।

ताहारे जानि हो तुमि वैष्णव प्रधान॥

(चै० २।१६।७१)

तात्पर्य—आगे फिर श्रीमन् महाप्रभु ने कहा—जो निरन्तर भगवान का नाम स्मरण करता है वह वैष्णव श्रेष्ठ है। उसकी तुम सेवा करो और जिसको देखकर दूसरे के मुँह से श्रीकृष्णनाम निकलने लगे वह वैष्णवों में प्रधान है।

इससे भी समझ में आता है कि श्री चैतन्य के आविर्भाव के पश्चात् से इस युग में श्रीकृष्ण की भक्ति प्राप्त करने का मूल या कारण केवल श्री नाम ही है। तभी तो श्री चरितामृत में देखा जाता है कि प्रायशः सर्वत्र सभी क्षेत्रों में श्रीकृष्ण भक्ति—कृष्ण प्रेम उपदेश करते समय उन्होंने एक प्रकारसे केवल तत्कारण स्वरूप श्रीकृष्णनाम सकीर्तन का ही उपदेश दिया है। प्रेमदान के समय भी सर्वत्र ही नाम ग्रहण कराकर ही प्रेम दिया है।

संक्षेप में कई एक दृष्टान्त नीचे उद्धृत किये जाते हैं। विशेष

भाव से श्रीचरितामृत में बहुत जगह ऐसा ही देखने में आयेगा।
श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के प्रति—

भक्ति साधन श्रेष्ठ सुनिते होयल मन।

प्रभु उपदेश कैल नाम संकीर्तन॥

(हरे नाम श्लोकोक्ति)

एई श्लोकेर अर्थ सुनाईल—करिया विस्तार।

सुनि भट्टाचार्ये र मने होयल चमत्कार॥

(चै० २।६।२१८)

तात्पर्य—श्रीमनमहाप्रभु ने 'हरेंनामैव' का अर्थ विस्तार करके
सार्वभौम भट्टाचार्य को सुनाया, सुनकर वे विस्मित हो गये।

सेई देशे विप्र एक मिश्र तपन।

निश्चित करिते नारे साध्य साधन॥

प्रभु तुष्ट होइया साध्य साधन कहिल।

नाम संकीर्तन कर उपदेश कैल॥

(चै० १।१६।८-१३)

तात्पर्य—उस देश में तपन मिश्र नाम के एक ब्राह्मण थे। वे
साध्य क्या है और उसका साधन क्या है यह निश्चय नहीं कर पा
रहे थे। प्रभू उनसे बहुत प्रसन्न हुये और उन्होंने श्री नाम को ही
साध्य और साधन के रूप में निश्चित किया (नाम और भगवान
अभिन्न है। श्रीकृष्ण साध्य हैं और उनको पाने का साधन नाम
संकीर्तन है।

प्रेमोदय कार्य का नाम ही कारण या अंगी है इसलिये सर्वत्र
ही 'नामप्रेम' इसी कारण और कार्य का उल्लेख देखा जाता

है। यथा—

कृष्ण नाम प्रेम दिया लोक निस्तारिला॥

मथुरा चलिते प्रेमे जाहा रहिजाय।

कृष्ण नाम प्रेम दिया लोकेर नाचाय॥

(चै० २।१७।१४२)

तात्पर्य—श्रीमन्महाप्रभू ने नाम प्रेम देकर लोगों का उद्धार कर दिया। नीलाचल से मथुरा जाते समय जहाँ जहाँ रुकते थे वहाँ के लोगों को कृष्ण नाम और प्रेम देकर धन्य कर देते थे।

‘जाहा जाय, ताहां लोआय नाम सङ्कीर्तन।’

(चै० १।१६।६)

तात्पर्य—जहाँ जाते थे वहाँ लोगों से नाम सङ्कीर्तन करवाते थे।

‘नाम प्रेम प्रचारि कैल जगत् उद्धार।’

(चै० ३।३।२१३) इत्यादि।

तात्पर्य—नाम प्रेम का प्रचार करके जगत का उद्धार कर दिया।

पहले जिस प्रकार श्री भागवत धर्म की और उसमें विशेष भाव से प्रेम धर्म की एकमुख्यता प्रदर्शित हुयी है उसी प्रकार उसके साधन के विषय में वर्तमान युग में श्रीनाम की ही एकमुख्यता संस्थापन की गयी है। यह भी कलिहत जीवों के प्रति श्री गौराङ्ग की एक विशेष कृपा वैशिष्ट्य ही समझना ही चाहिए।

श्री गौर के प्रकट काल में अस्वाभाविक कृपा वैशिष्ट्य।

१. श्री गौर के प्रकट काल की अति आश्चर्य और अस्वाभाविक

कृपा वैशिष्ट्य यह है कि यद्यपि साधन सिद्ध की रीति से पूर्वोक्त श्रद्धादि क्रम से प्रेमोदय होना सर्वकाल में ही साधारण नियम है किन्तु गौर के प्रकट काल में कृपा सिद्ध की रीति से केवल नाम से ही प्रायः सर्वत्र ही प्रेम दान कार्य परिदृष्ट होता है। जिस किसी भाव से भी नाम का संयोग मात्र हुआ तो उससे शतपत्र-वेधन्याय^१ श्रद्धादि क्रम लक्षित न होने पर भी तुरन्त ही प्रेम का कारण और कार्य युगपत् समुदित हुआ है।

२. भक्ति के साधन पथ में अपराध का और विशेष भाव से नामापराध का विचार सभी समय में साधारण नियम हैं। किन्तु गौर के प्रकट काल में इन अपराधों का भी विचार नहीं रखा गया है। श्री नाम ग्रहण^२ मात्र से ही निरापराध व्यक्ति को तो तुरन्त ही प्रेमोदय हो गया है और अपराध क्षेत्र में नाम के संयोग से उसी क्षण निरापराध कराकर तत्पश्चात् ही प्रेमोदय की बात अवगत होती है। तब जो सब जगह अपराध के विषय में दण्ड दान या शासनादि वर्णित है, वह गौर प्रकट काल के समय के लिये नहीं है। इसका कारण यह है कि गौर के प्रकट काल में सर्वजीवोद्धार रूप इस समष्टि के महा अभियान के दिनों अपराधादि के विचार की सार्थकता नहीं थी। इसलिये उनके अप्रकट होने के पश्चात्

१. सुचिविद्ध शतपद्मपत्र जिस प्रकार प्रथम द्वितीयादि क्रम से विद्ध होने पर भी बहुत शीघ्र होने के कारण युगपत् ही विद्ध होते मालूम होता है। इसी को 'शतपत्रवेधन्याय' कहते हैं।

२. नितार्थ चैतन्ये नाही ए सब विचार।

नाम लेते प्रेम देन बहे अश्रु धार।

(चै० १।८।२७)

यहाँ 'नाम कहने से भगवन्नाम मात्र ही समझना चाहिये।

भविष्यत में सभी जीवों को इस विषय में सतर्क करने के उद्देश्य से तभी तो उन्होंने स्वयं कहा है कि—‘निरपराध नाम होईते होय प्रेमधन।’ क्योंकि गौर के अप्रकट समय में सर्वकाल की भांति साधारण नियम के अनुसार अपराध का विचार अवश्य रहेगा।

३. केवल साधक मात्र के लिये साधन द्वारा संसार पाश से विमुक्त होकर अपने अभीष्ट विषय में सिद्धि पाना सभी समय में साधारण नियम है। किन्तु गौर के प्रकट समय में जगत के समष्टि जीव उद्धार की बात ही अवगत होती है। अवश्य इस अचिन्त्य अलौकिक विषय का विचार वितर्क से ग्राह्य नहीं हो सकता।^१ यह केवल तदनुरूप भागवती वृत्ति द्वारा ही समझ में आ सकता है।

ब्रह्माण्डगत जीव समष्टि के उद्धार में वर्तमान बेतार विज्ञान की सूक्ष्म नीति अवलम्बित।

श्री रामचन्द्रावतार में जिस प्रकार अयोध्या वासी सभी जीवों का उद्धार हुआ था। श्रीकृष्णचन्द्र के अवतरण काल में जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड के जीवों का संसार मोचन हुआ था। उसी प्रकार श्री गौरचन्द्र के प्रकट काल में स्थावर जङ्गम ब्रह्माण्ड गत समष्टि जीव की उद्धार प्राप्ति और उनके प्रेम लाभ की बात भी अवगत होती है। यह बात श्री हरिदास ठाकुर के साथ श्री मन्महाप्रभू की इष्ट गोष्ठी में जो नाम की महिमादि के विषय में हुयी थी और जिसमें यह रहस्य सुस्पष्ट प्रकाश हुआ था समझ में आ सकेगी। इस जगह

३. ‘अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केन योजयेत्।’

(लघु भा० धृत स्कान्द वाक्ये)

संक्षेप में उस विषय का किञ्चिताभास मात्र प्रदान किया जाता है! अपनी समष्टि जीवोद्धार लीला कार्य के विषय में नाम महिमा की मूर्त विग्रह श्री हरिदास ठाकुर की बाणी द्वारा ही जीव जगत् में व्यक्त करने के छल से श्री गौराङ्ग ने उनसे पूछा—

पृथ्वी ते बहु जीव-स्थावर जङ्गम।

इहा सभार कि प्रकार होइवे मोचन॥

इसके उत्तर में श्री हरिदास की उक्ति; यथा—

हरिदास कहे—जाते ए कृपा तोमार।

स्थावर जङ्गमेर प्रथम करियाछे निस्तार॥

तुमि जेई करियाछे उच्च संकीर्तन।

स्थावर जङ्गमेर सेई होय तो श्रवण॥

सुनितेई जङ्गमेर होय संसार क्षय।

स्थावरे से शब्द लागे-ताते प्रतिध्वनि होय

प्रतिध्वनि नहे सेई करे कीर्तन।

तोमार कृपाय एई अकथ्य कथन॥

सकल जगते होय उच्च संकीर्तन।

सुनि प्रेमावेशे नाचे स्थावर जङ्गम॥ इत्यादि।

तात्पर्य—श्रीमन्महाप्रभू ने पूछा—पृथ्वी में बहुत से जीव स्थावर जङ्गम के रूप में हैं उनका कैसे उद्धार होगा? श्री हरिदास जी ने उत्तर दिया—क्योंकि सब पर आपकी कृपा है इसलिये स्थावर जङ्गम का तो आप पहले ही निस्तार कर चुके हैं। आप जब उच्च सङ्कीर्तन करते हैं तो उसको सुनकर जङ्गम का तो उद्धार हो जाता है। स्थावर से शब्द ध्वनि से प्रति ध्वनि निकलती है वह प्रतिध्वनि नहीं है। स्थावर कीर्तन करते हैं यह आपकी अकथ्य कृपा है। सारे संसार में उच्च सङ्कीर्तन होता है। उसे सुनकर स्थावर जङ्गम प्रेम

से नाचते हैं।

यहाँ सर्वजीवोद्धार का प्रथम कारण स्वरूप तत्प्रवर्तित और तदीय मुखोद्गीर्ण श्री नाम के उच्च सङ्कीर्तन की बात ही उल्लेख की गयी है। यह उच्च सङ्कीर्तन ध्वनि केवल श्रवण द्वारा ही नहीं अपितु उसके द्वारा स्पन्दित आकाश तरंग सूक्ष्म भाव से सर्वत्र संचारित होकर, उसी नाम प्रवाह के संस्पर्श से ब्रह्माण्ड गत जीव मात्र का उद्धार और प्रेम लाभ का कारण तुरन्त ही संगटित होना सम्भव हुआ है। आधुनिक आविष्कृत बेतार विज्ञान जब सुषुप्ति की अवस्था में अवस्थित था, उस समय इस वैज्ञानिक तात्पर्य को उस विषय में सम्पूर्ण अज्ञात जगत में जिस भाव से जो कुछ प्रकाश करना सम्भव था, उसी भाव से 'स्थावर' में शब्द लगता है, 'प्रतिध्वनि होती है, 'सब जगत् में उच्च सङ्कीर्तन होता है' इत्यादि वर्णन में उसका आभास समझा जा सकता है।^१

अवश्य जो सर्वविज्ञान मय पुरुष है, उनको उक्त कार्य के लिये किसी यंत्रादि की सहायता का प्रयोजन नहीं होता। उनकी इच्छा मात्र से ही उक्त विज्ञान की मूल प्रणाली के अवलम्बन से वह कार्य साधित हो सकता है— इस बात का उल्लेख ही निष्प्रयोजन है। अवशिष्ट सब कारण मूल ग्रन्थ में देखना चाहिये।

श्री चैतन्य के अप्रकट काल में भी वर्तमान युग व्यापी उनका प्रवर्तित श्री नाम से ही ब्रज—

१. इसकी विशदालोचना ग्रंथकार लिखित 'श्री गौराङ्गेर जगतोद्धार कार्य' नामक प्रबन्ध में देखना चाहिये। (श्री सोनार गौराङ्ग, दशम वर्ष। २५ संख्या। (भाद्र १३३६ साल)।

प्रेमोदय—केवल निरपराध नाम ग्रहण की अपेक्षा।

वर्तमान कलियुग व्यापी युग धर्म ही उस स्वयं नामी का प्रवर्तित प्रेमधर्म है। इस युग में उनका प्रचारित श्री नाम का ही प्राधान्य और अंगीत्व रूप वैशिष्ट्य है। उनके अप्रकट काल में यद्यपि सर्वकाल की भांति साधारण नियम से ही निरपराध और साधन सिद्धि की रीति से—श्रद्धादि क्रम से प्रेमोदय होगा, किन्तु वह प्रेम होगा—अन्य युग के लिये अचिन्त्य, अन्य के द्वारा अदेय जो स्वयं भगवान के वश करने का उपाय है—वह है उद्धवादि बन्धित, ब्रजरमागण के अनुगत 'ब्रज प्रेम'। वर्तमान युग में श्री नाम सङ्कीर्तन रूप युग धर्म का यही असाधारण वैशिष्ट्य है। इस विशेष महिमा के कारण ही सत्यादि युग के प्रजागण इस विशेष कलियुग में जन्म पाने को अधिक सौभाग्य का विषय समझते हैं।

दशम् उद्भाषन

वर्तमान युग में प्रेमोदय का परम कारण
श्री नाम की एक मुख्यता प्रतिपादित होगी
जो सभी भजनांग का अंगी है।

श्री नाम के फलोदय में केवल नामापराध वर्जन
की आवश्यकता।

वर्तमान युग में स्वयं श्री नामी की कृपा विशेष से लब्ध, तत्प्रवर्तित उनके श्रीमुखोद्गीर्ण इसीलिये अन्य महत् कृपादि निरपेक्ष, सहज, ग्राह्य और सहज साध्य श्रीनाम संकीर्तन रूप परम कारण व परम उपाय से यथा क्रम से प्रेमोदय के लिये एकमात्र नामापराध को छोड़कर और किसी की अपेक्षा नहीं है। यह बात विशेष भाव से स्मरण रखना आवश्यक है। यह अपेक्षा विरोधिताकृत नहीं है—यह नाम की अप्रसन्नता ही समझना चाहिये। क्योंकि ऐसी कोई वस्तु या चीज नहीं है जो नाम के विरुद्ध ठहर सके। जिन सब कारणों से श्रीनाम अप्रसन्न होकर स्वेच्छा से अपनी महिमा या शक्ति प्रकाश नहीं करते—वही है 'नामापराध'।

सब अपराध प्रधानतः 'सेवापराध' और 'नामापराध' भेद से दो प्रकार के हैं। सेवापराध नाम द्वारा भजन होता है। किन्तु

नामापराध से विमुक्त होने का शेष उपाय नाम ही है।^१

एकान्त भाव से श्रीनाम के शरणापन्न होकर अविरत नाम कीर्तन द्वारा ही नामापराध से मुक्त हो सकता है।^२ इसलिये नामापराध का ही आधिक्य प्रतिपन्न होता है। उसमें साधु निन्दादि महत् गण संबन्धीय अपराध ही प्रधान्य है। इस अपराध को विशेष भाव से 'वैष्णवापराध' या 'महत् अपराध' नाम से निर्देश किया गया है। संक्षेपार्थ यहाँ केवल दस प्रकार के नामापराध का नाम मात्र उल्लेख किया जाता है।

(१) साधु निन्दा (२) विष्णु से शिव को स्वतन्त्र ईश्वर बुद्धि (३) गुरुदेव की अवज्ञा (४) वेद व वेद के अनुगत शास्त्र की निन्दा (५) नाम महात्म्य श्रवण से यह समझना कि यह अर्थवाद या स्तुति मात्र है (६) ऐसा अर्थ कल्पना करना या कुव्याख्या करना जिससे नाम की महिमा खर्ब हो। (७) नाम के बल से पाप में प्रवृत्ति (८) सभी शुभ क्रियादि के साथ नाम की समता चिन्ता (९) अश्रद्धान्वित विमुख व्यक्ति को नामोपदेश (१०) नाम महात्म्य श्रवण में अप्रीति।^३

१. सर्वापराधकृदपि मुच्यते इत्यादि।

(हरि भ० विः धृत ११, २८२-पाद्म)

२. जाते नामापराधेऽपि प्रेमोदेन कथञ्चन।

सदा संकीर्तयन्नाम तदेक शरणो भवेत्॥

(हरिभक्ति विधृत ११।२८७ पद्म पुः स्वर्ग।४८ अः)

३. हरिभक्तिविलासधृत ११।२८३। 'सतां निन्दा—' इत्यादि। पाद्मवाक्य द्रष्टव्य।

कवि रत्न संस्करण।

अंगी नाम से भजनांग के विकास में प्रेमोदय का क्रम।

उक्त 'नामापराध' वर्जन पूर्वक केवल श्री भगवन्नाम ग्रहण के फल से या उसके कार्यरूप में ही पूर्वोक्त श्रद्धादि क्रम से साधक भजनक्रिया की भूमिका में उपनीत होता है। इच्छा होने से ही क्रिया का प्रकाश होता है। वही सुप्रसन्न नाम ही साधक के अंतर में 'भजनक्रिया' सम्बन्धीय इच्छा को उदगम कराकर, यथा समय श्रीगुरूपदाश्रयादि साधनांग भजन क्रिया में प्रवृत्त करा देते हैं। उक्त प्रकार से जो भजन की इच्छा या प्रवृत्ति है, उसे यही समझना चाहिये कि स्वेच्छाकृत नहीं है नामकृत ही है।

तदन्तर श्रीनाम और भजनक्रिया के फल से क्रमशः अनर्थनिवृत्ति के साथ-साथ यथाक्रम से निष्ठा, रुचि और आसक्ति रूप साधन भक्ति की सीमा अतिक्रम कराकर तत्पश्चात् भावभक्ति और परिशेष में प्रेम भक्ति का उदय कराकर श्रीनाम ही साधक को कृत कृतार्थ कर देते हैं।^१

इन सबको तत्कारण स्वरूप नाम ही का कार्य समझने से इस युग में केवल नाम की ही एक मुख्यता अर्थात् समस्त भजनांग के अंगीरूप में उपलब्ध करने के लिये असुविधा नहीं होती है। तभी तो श्री चरितामृत में कहा है :—

१. विशदालोचना श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती पाद कृत 'माधुर्यकादन्मिनी' देखना चाहिये।

एक कृष्ण नामेर फले पाई एत धन। (१।८।२४)

किन्तु इस प्रकार 'अंगी' श्रीनाम को ग्रहण करने पर भी यदि यथाक्रम और यथाकाल में नाम का कार्य अर्थात् श्रद्धादि क्रम से सब साधनांग के उदगम की अनुभूति न हो तो उस भजन में नामापराध की विद्यमानता अवश्य ही समझना होगा और निरापराध और अपराध की अल्पता और अधिकता के अनुसार साधनांग के आविर्भाव के विषय में भी यथा क्रम से द्रुत, विलम्बित या बिल्कुल नहीं होना आवश्यकभावी समझना चाहिये। भजन पथ में यही नामापराध रूप सर्वप्रधान प्रतिबन्धकता के विषय में श्रीचरितामृत की उक्ति—यथा

हेन कृष्ण नाम यदि लोय बहुबार।

तबे यदि प्रेम नहे, नहे अश्रुधार॥

तबे जानि अपराध ताहां ते प्रचुर।

कृष्ण नाम बीज ताहे न होय अंकुर॥

(श्री चैतन्य १।८।२५।२६)

तात्पर्य—ऐसे श्रीकृष्ण के नाम को बहुत बार लेने पर भी यदि श्रीकृष्ण के चरणों में प्रेम नहीं हुआ और अश्रु की धारा नहीं निकली तो समझना चाहिये कि प्रचुर मात्रा में अपराध हुआ है। इसलिये श्रीकृष्ण नाम का जो बीज डाला था उसमें अंकुर नहीं निकल रहा है।

यहाँ अपराध को ही जिस प्रकार नाम का फल न उदय होने का कारण रूप कहा है। उसी प्रकार कृष्णनाम को ही 'बीज' रूप

में निर्देश करके बीज रूप कारण से अंकुरोदगम होकर, यथाक्रम से और यथा समय जिस प्रकार काण्ड, शाखा, पल्लव, पुष्प, और फलरूप उसके कार्य का विकास होता है, उसी प्रकार प्रेमभक्ति और उसका कारण साधन भक्ति के विकास में भी नाम ही अंगीत्व व कारणत्व होना भी इसके द्वारा व्यक्त किया गया है।

भजन के प्राणस्वरूप स्मरणांग का भी अंगी श्री नाम।

यहाँ तक कि जो रागानुगा भक्ति का मुख्य व जीवन स्वरूप स्मरणांग कहा जाता है उसका भी आविर्भाव इस युग में नाम सकीर्तन का ही फल व कार्य होने से श्रीनाम ही स्मरणांग का भी अंगी है। अतएव जीवन लाभ की अपेक्षा जिस प्रकार जीवन दाता के प्रति समधिक आदर बुद्धि ही प्रशस्त कहकर विवेचित होने योग्य है, उसी प्रकार भजन के प्राणस्वरूप स्मरणांग का सहज आविर्भाव कराने से अंगी श्रीकृष्णनाम ही जय युक्त होते हैं। श्रीमद् विश्वनाथ चक्रवर्ती पाद ने अपनी रागवर्त्म चन्द्रिका में स्मरणांग को भी नाम कीर्तनाधीनत्व की बात ही उल्लेख की है।

“अत्र रागानुगायां यस्मुख्यस्य तस्यापि

स्मरणास्य कीर्तनाधीनत्वमवश्यं वक्तव्यामेव

कीर्तन सैव एतद् युगाधिकारत्वात् सर्वभक्तिमार्गेर्यु सर्व

शास्त्रैस्तस्यैव सर्वोत्कर्ष-प्रतिपादनाच्च”। (१।१४)

इसका अर्थ— इस रागानुगा भक्ति का मुख्य जो स्मरण है

उसका भी कीर्तनाधीनत्व अवश्य वक्तव्य है। इसका कारण यह है कि इस वर्तमान कलियुग में इस कीर्तन का ही अधिकार और समस्त भक्ति मार्ग में सब शास्त्रों द्वारा नामकीर्तन का ही सर्वोत्कर्ष प्रतिपादित हुआ है।^१

शून्य के पहले एक (१) प्रभृति अंक होने पर शून्य सार्थक होता है—नहीं तो सब अंकहीन शून्य का जिस प्रकार शून्य मात्र ही फल है उसी प्रकार इस युग में समस्त भजन में नाम ही मुख्य है।

देश कालादि नियम निरपेक्ष श्रीभगवन्नाम सर्वकाल ही समान महिमान्वित है परन्तु वर्तमान कलियुग विशेष में पूर्वोक्त महिमा विशेष का प्रकाश होता है। इसलिये वर्तमान युग में सर्वथा श्री नाम का ही कारणत्व रूप मुख्यत्व व अंगीत्व सर्वभाव से ही स्वीकृत हुआ है।

महाप्रभावान्वित सब भजनांग के उदय में और सब विषय में प्रवृत्ति और निष्ठादि के विकास में भी अंगी श्री नाम।

निर्गुणा भक्ति, चिदानन्दमयी स्वरूप शक्ति की वृत्ति विशेष होने से भक्त्यंग और साधनांग मात्र ही निरतिशय महा प्रभाव समपन्न हैं। इसलिये स्मरण बन्दन अर्चनादि किम्बा साधु, गुरु,

१. प्रभुपाद श्यामलाल गोस्वामी कृत अनुवाद।

भागवतादि शास्त्र, अथवा धाम, प्रसाद, तुलसी और वैष्णव-
व्रतादि निखिल भजनीय वस्तु की महिमादि की सीमा नहीं है।

अतएव जिस अंग में जिसका आवेश है उसके लिये वही
सर्वोत्तम बोध होना स्वाभाविक है। तथापि यह भी विवेच्य है कि
अन्ततः इस युग विशेष में केवल नाम कीर्तन ही जब श्री भागवतादि
शास्त्र में विशेष भाव से युगधर्म रूप में कीर्तित है और स्वयं
भगवान द्वारा 'तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ परम उपाय' और समुदय
भजनांग का 'बीज' व कारणरूप स्पष्ट ही निर्दिष्ट हुआ है तब केवल
नाम को ही उनका 'अंगी' अनुभव करके 'आश्रय पूर्वक' भजन में
प्रवृत्त होने से, उन सुप्रसन्न नाम की ही कृपा से उक्त भजनांग और
सभी साधनांग की महामहिमादि भी यथार्थ रूप से अन्तर में
अनुभूत होती है। उन्हीं नाम की कृपा से समुचित निज अभीष्ट
भजनांग में सुदृढ़ निष्ठा का आविर्भाव होता है। किन्तु अंगी नाम
को अन्य भजनांग की भांति एक अंग समझ करके और उस नाम
को भी दूसरे भजनांग के बराबर चिन्ता करके भजन करने से उसके
द्वारा अपराध का संचार होता है और उक्त भक्त्यंग व सब साधनांग
की महामहिमा और अपने अभीष्ट भजनांग में निष्ठा ऐसी अवस्था
में अंतर में अनुभूत न होकर केवल ग्रंथादि में ही लिपिबद्ध और
मुख की कथा में ही पर्यवसित हो जाते हैं।

जिसके चित्त में उक्त सब 'अंग' की अपरिसीम महिमादि
यथार्थ रूप से उदित हुयी हैं; उसके विषय में यह समझना चाहिये
कि वह अवश्य ही नाम को उनका अंगी समझकर श्रीनाम का ही
एकान्त आश्रित है।

नामाश्रय लक्षण।

अतएव इस युग में सभी भजन के कारण रूप में नाम की ही एक मुख्यता^१ होने से अन्य समस्त भजनांग का 'अंगी' व कारणरूप में ग्रहणपूर्वक उस नाम से ही कार्यरूप में समस्त साधनांग का विकास होता है और होगा, ऐसा समझकर नाम को ही प्रेमोदय का परम उपाय जानकर अति आदर बुद्धि से जो व्यक्ति नाम ग्रहण करता है, उसे ही 'नामाश्रय' कहा जाता है। युगपत् एक से अधिक सम विषय के आनुगत्य को 'आश्रय' नहीं कहा जाता। सर्वश्रेष्ठ व परम मुख्य समझकर और एकान्ती होकर एक के ही आनुगत्य का नाम 'आश्रय' है। इस भाव से नामाश्रयी होकर समस्त भजनांग में नाम को ही अंगीरूप में पकड़ सकने से उसी सुप्रसन्न नाम ही की कृपा से प्रेमोदय के लिये जो भी प्रयोजन है वह सब 'अंग' अति सहज में श्रीनाम ही ग्रहण करा देते हैं और अपने कार्यरूप में प्रकाश करते हैं और अपने अभीष्ट भजनांग में प्रकृष्ट आवेश प्रदान करते हैं। भजन पथ का निखिल मंगल इसी मंगल का भी मंगलस्वरूप श्रीनाम ही के कार्यरूप में स्वयं ही समागत होता है।^२ मुख्य भाव से श्री नामाश्रय होते ही श्री साधु-गुरु-गोविन्द-

१. कलियुगे हरिनाम एक मात्र धर्म, जेई नाम सेई हरि इथे बूझे मर्म॥
(भक्तमाल ३ य माला) नाम विने कलिकाले धर्म नाही आर।

(चै० १।३।८३)

२. 'मंगल मंगलाना'।

(हरिभ० धृत-११।२३४। प्रभास खण्ड)

धाम प्रभृति सभी विषयों में भी प्रकृष्ट रूप में प्रपन्न या आश्रित हो जाता है।

नामाश्रय होने से अपराधादि अमंगल से श्रीनाम द्वारा आश्रित रक्षण।

आश्रित को सर्वभाव से विनाश से रक्षा करना जिस प्रकार श्री भगवान की प्रतिज्ञा है^१ आश्रित को त्याग करने में जिस प्रकार वह असमर्थ है। (आश्रय करिया भजे, तारे कृष्ण नाहीत्यजे) भगवान और भगवन्नाम अभिन्न समझकर आश्रय करके भजन करने से श्रीनाम को भी उसी प्रकार अपने आश्रित को सर्वभाव से रक्षा करने की प्रतिज्ञा बद्ध ही जानना चाहिये। नामाश्रित जनो को अपराध करने की प्रवृत्ति स्वभावतः नहीं रहती और नाम को अपने आश्रित के अपराधादि सभी अमंगलों से रक्षा करने का दायित्वबोध अधिकतर रहता है इसलिये नामाश्रित के लिये नामापराधिक संघटित होने की सम्भावना बहुत ही कम रह जाती है। अनिच्छा से किसी प्रकार यदि ऐसे अपराध हो गये तो हृदयस्थित श्रीनाम ही उसे दूर करके आश्रित को भजन पथ के सभी अनर्थों से रक्षा करते हैं।^२ आश्रित की रक्षा के लिये नामी से अभिन्न श्रीनाम की ऐसी कृपा है।

१. कौन्तेय प्रतिजानीहि नमं भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ६।३१)

२. 'स्वापादमूलम—' (भा० ११।५।४२)

श्रीनाम को केवल एक भजनांग समझने से, समता बुद्धि के कारण नाम ग्रहण की अनर्थ कारिता।

दूसरी तरफ इसी अंगी या सर्वकारण स्वरूप श्रीनाम को तदंग या तत्कार्य स्वरूप अन्य साधनांग के समान ही भजन का एक अंग मात्र मननपूर्वक यदि समभाव से ग्रहण किया जाय तो ऐसा करने से सर्वशुभक्रियादि सहित नाम के तुल्य चिन्तनरूप इस नामापराध का संचार होकर यह नाम की अप्रसन्नता का कारण होता है। तब इस तरह से जब अन्य जिस किसी साधनादि शुभविषय के साथ नाम की समता चिन्तन ही अपराध है, तब उसकी अपेक्षा नाम की न्यूनता चिन्तन जो अधिकतर दोषावह है, उसका उल्लेख ही निष्प्रयोजन है। इस प्रकार से नाम समता किम्बा न्यूनता पूर्वक जो नाम ग्रहण है उससे कदापि 'नामाश्रय' नहीं होता। किसी विषय में एकान्ती न होने से उसका आश्रयत्व नहीं हो सकता। इसलिये नामाश्रयी न होकर उक्त प्रकार से नाम की समता या न्यूनता बुद्धि से केवल 'नामग्राही' होने से, अप्रसन्न नाम से भजन पथ में कुशल लाभ करना कठिन हो जाता है।

श्रीनाम के सर्वश्रेष्ठत्वादि बोध के विषय में
पूर्वपक्ष और उसका समाधान।

(१) अब यदि यह कहा जाय कि अग्नि की अव्यर्थ दाहिका शक्ति प्रकाश की भाँति नाम के स्वरूप व महिमादि विषय को

जानकर या न जानकर जिस किसी भाव से भी हो उसे ग्रहण मात्र से ही उसके प्रभाव के विस्तार की बात ही शास्त्र सिद्ध है, तब उसी नाम के सम्बन्ध में उक्त प्रकार कारणत्व, अंगीत्व व सर्वश्रेष्ठत्व प्रभृति से अवगत होकर भजन करने की क्या आवश्यकता रह जाती है?

इसके उत्तर में यह कहना है कि नाम की शक्ति प्रकाश में उनकी महिमादि के विषय में अवगत होना या न होना किसी की अपेक्षा न होने पर भी नामापराध के विषय में सचेत रहने केलिये विशेष अपेक्षा की बात शास्त्र में विशेष भाव से उक्त हुयी है। नाम की सर्वश्रेष्ठता या मुख्यता बोध न होने से, अन्य किसी शुभ विषय के साथ नाम की समता बोध से नामापराध ही होता है। इसलिये नाम के मुख्यत्व या अंगीत्व के विषय में अवगत होने की विशेष आवश्यकता ही रहती है। नाम के सम्बन्ध में अन्य किसी जानकारी की आवश्यकता न होने पर भी अपराध के विषय में जानकारी रखना एकान्त ही प्रयोजनीय है क्योंकि अनबधान में भी अपराध होने से फल भोग अनिवार्य है।

अतः पर यदि इस प्रकार कहा जाय कि यह तो समझ में आ गया कि ऐसा न होना चाहिये, किन्तु कर्म, ज्ञानादि, भक्ति-मुखोपक्षी होने पर भी स्वयं सिद्धा-भक्ति तो अन्य निरपेक्ष भाव से ही अपने मुख्य व गौण सभी फल प्रदान करने में महाप्रभाव सम्पन्न है। तब जब उन्हीं भक्त्यों के लिये उसके फलोदय में नाम के कारणत्व की अपेक्षा नहीं रहती तब भक्ति किसी दूसरे के निरपेक्ष है, यह तब कैसे सिद्ध हो सकती है इसके उत्तर में यह

कहना है कि श्रीनाम और श्रीनामी अभिन्न तत्त्व है। इसलिये भगवत् सम्बन्धीय श्रवण, कीर्तनादि का अनुशीलन ही जैसे भक्ति है वैसे ही भगवन्नाम का अनुशीलन भी भक्ति ही है। साधन भक्ति को जिस प्रकार प्रेम भक्ति का कारण कहा जाने पर भी (प्रेमरे कारण भक्ति करने प्रकाश। चै० १।८।२२) भक्ति ही भक्ति का कारण होने से 'भक्त्या संजातया भक्त्या—'

(भा० ११।३।३१)

जिस प्रकार भक्ति की स्वतन्त्रता की हानि नहीं होती, उसी तरह श्री नाम कीर्तनादि रूप भक्ति ही साधन भक्ति और प्रेम भक्ति का कारण या अंगी होने से उसके द्वारा भक्ति की अन्य-निरपेक्षता का कोई व्यक्तिक्रम नहीं होता।

(३) अब यदि यह कहा जाय कि भक्ति के चतुषष्टि (६४) साधनांग में से निम्नोक्त पंच अंग को ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है यथा—

साधुसंग, नाम कीर्तन, भागवत श्रवण,

मथुरा वास और श्रीमूर्ति श्रद्धाय सेवन॥

सकल साधन श्रेष्ठ एई पाँच अंग।

श्रीकृष्ण प्रेम जन्माय एई पांचेर अल्प संग॥^१

(श्री चै० २।२२।७४)

तात्पर्य—साधु संग, नाम कीर्तन, भगवत् श्रवण, मथुरा वास, श्रीमूर्ति का श्रद्धा पूर्वक सेवन, ये पाँच अंग सारे साधनों में श्रेष्ठ

हैं। इन पाँच अंग के थोड़े समय के ही संग से श्री कृष्ण प्रेम उदित हो जाता है।

इस तरह जब पाँच साधनांग में नाम कीर्तन का भी स्पष्ट ही उल्लेख है। तब श्रीनाम कीर्तन को ही समस्त साधनांग का अंगी बताना किस प्रकार अवधारणा किया जा सकेगा?

इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार बीज रूप अंगी से काण्ड, शाखा, पत्र, पुष्प, और फलरूप सभी अंगों के विकास सहित उसके अंगरूप में उसके अनुरूप बीज का भी विकास होता है; दोनों बीज एक प्रकार के होने पर भी जिस प्रकार अंगबीज और अंगी बीज कार्यकारण से भेद होता है। उसी प्रकार अंगी नाम कीर्तन से ही उसके अंगरूप में सब साधनांगों के उदगम सहित उनमें अंग नाम कीर्तन की भी अभिव्यक्ति होती है। और इसी अंग बीज से भी जिस प्रकार उसके अंगरूप में शाखा, पल्लवादि का विकास होकर वह पुनः अंगी बीज का धर्म प्रकाश करता है, उसी प्रकार उक्त अंग नाम कीर्तन के श्रवणादि से दूसरे व्यक्ति में सभी साधनों को उदगम कराकर वहाँ अंगीनामरूप में ही प्रकाश हो जाता है। अतएव सर्वत्र ही सर्वकारण नाम का बीज धर्मी अर्थात् 'अंगीरूप' वैशिष्ट्य के साथ विदित होना आवश्यक है।

(४) फिर यदि ऐसा कहा जाय कि यह भी समझ में तो आ गया किन्तु भक्ति के किसी एक या एक से अधिक अंग के साधन में निष्ठा होने पर क्रम से प्रेमोदय तक की बात स्पष्ट ही उल्लिखित देखी जाती है।

एक अंग साधे केहु साधे बहु अंग।

निष्ठा होइले उपज्ये प्रेमेर तरंग॥

एक अंगे सिद्धि पाइल बहु भक्तगण।

अम्बरीषादि भक्तेर बहु अंग साधन॥

(श्री चै० २।२२।७६-७७)

तात्पर्य—भक्ति के साधन के अंग में चाहे कोई एक अंग की साधना करे अथवा बहुत अंग की साधना करे। निष्ठा के साथ साधना करने से प्रेम की तरंग उठेगी। एक अंग की साधना करने से बहुत से भक्तगणों ने सिद्धि पाई और बहुत से अंगों का साधना करने से श्री अम्बरीषादि भक्तगणों ने सिद्धि पाई।

एक अंग साधन का दृष्टान्त स्वरूप प्रथम में पद्यावलीधृत निम्नोक्त श्लोक प्रदर्शित किया जाता है; यथा—

‘श्रीविष्णो श्रवणे परीक्षिद भवद् वैयासकिः कीर्तने।
इत्यादि। (५३)

इसका केवल अनुवाद मात्र दिया जाता है अर्थात् श्रीविष्णु की कथा के श्रवण से परीक्षित, शुकदेव, कीर्तन से, प्रह्लाद स्मरण से, लक्ष्मी पाद सेवन से, पृथु पूजन से, अक्रूर वन्दन से, कपिपति दास्य से, अर्जुन सख्य से और बलिराज सर्वस्य सहित आत्म निवेदन से, भगवत् प्रेम द्वारा श्री भगवान को प्राप्त हुये हैं।

तत्पश्चात् अम्बरीषादि भक्त के बहु अंग साधन के दृष्टान्त स्वरूप—‘स वै मनः कृष्ण-पदारविन्दयो—’

(भा० ६।४।१८-२०) इत्यादि श्लोक प्रदर्शित हैं।

इस तरह भक्ति के किसी अंग के साधन से ही जब यथाक्रम से प्रेमोदय हो सकता है तब उन सब भक्त्यंगों में एक अंग रूप में अवस्थित नाम को ही समस्त भजनांग का अंगी या कारण रूप में निर्धारण करने का कोई प्रयोजन क्या रह जाता है?

इस प्रकार के संशय का समाधान यह है कि श्री भगवान का अभिन्न स्वरूप श्रीनाम सब समय सर्वभाव से सर्वोत्कर्ष के साथ विराजमान रहने पर भी सत्यादि युगत्रय में युगधर्म रूप में श्रीनाम का प्रकाश न होने से उस समय युग धर्म की अपेक्षा भक्ति के प्राधान्य विषय में अभिन्न व्यक्तिगण द्वारा भक्ति के किसी एक या एक से अधिक अंग के आश्रय से ही प्रेमोदय के लिये कोई भी अड़चन नहीं रहती।

किन्तु वही सर्वश्रेष्ठ नाम कीर्तन का कलियुग के युगधर्म रूप में आविर्भाव होने से सर्वसाधारण कलियुग में भी श्री नाम की महामहिमा विशेष का प्रकाश रहता है। विशेषतः वर्तमान कलियुग में स्वयं भगवान द्वारा प्रवर्तित आचरित, और उनके द्वारा दूसरे सभी भजनांगों में श्रीनाम को ही शास्त्र सिद्ध पारम्य सर्वोपरि विधोषित होने से विशेष भाव से वर्तमान युग में नाम की मुख्यत्व या कारणत्व के विषय में सचेतन रहकर उसके आनुगत्य ही समस्त भजन साधन अनुष्ठित होना ही कर्तव्य होता है।

इसलिये किंचित् स्थिर भाव से चिन्ता करके देखने से यह समझ में आ सकेगा कि उक्त दृष्टांत में केवल श्री परीक्षित महाराज और श्री शुकदेव जी के अतिरिक्त औरों की तो अन्य युग में सिद्धि

प्राप्त करने की बात समझ में आती है।^१ किन्तु परीक्षित महाराज व शुकदेवजी को प्रेम भक्ति लाभ के मूल में श्रवण और कीर्तन का उल्लेख देखा जाता है उसके भी मूल में श्री नाम का ही मुख्यत्व व प्राधान्य परिलक्षित होगा।

परीक्षित और शुकदेव के श्रवण और कीर्तनरूप भजनांग में भी नाम-प्रधान।

श्रवण और कीर्तन इन दो भजनांग में यथा क्रम से श्री भागवत् सम्बन्धीय नाम, रूप, गुण और लीला का श्रवण और नाम, रूप, गुण और लीला का कीर्तन ही समझना चाहिये।

इनमें नाम ही का प्रथम उल्लेख होने से उनमें मुख्यत्व रूप में नाम का ही प्राधान्य प्रतिपन्न होता है। प्रायशः किसी उक्त क्रम को भंग करके नाम के पूर्व में रूप किम्बा गुणादि का संयोग देखा जायगा।^२ अतएव इस कलियुग में श्री परीक्षित ने श्रवणरूप जिस भक्त्यंग द्वारा सिद्धि लाभ किया है उसके भी मूल में मुख्यरूप से अग्रगण्य श्री नाम ही था। श्री शुकदेव के कीर्तनांग भजन के मूल में भी मुख्य रूप से श्री नाम ही की अवस्थिति की बात जानी जाती है। अतएव यह समझ में आ सकता है कि श्री चरितामृत में यही

१. नित्य सिद्ध भक्तों का जो साधन है वह उनके माधुर्यास्वादन की अपरिहार्यता अथवा जीव को भजन की शिक्षा देने के निमित्त ही समझना चाहिये।

२. यथा क्रम प्राप्तम् श्रवणम्। तच्च नाम-रूप-गुण-लीलामय शब्दानम् श्रोत स्पर्श इत्यादि। (भक्ति सन्दर्भ २४८ अनु)

अभिप्राय उक्त हुआ है।

वर्तमान कलियुग में अर्क (सूर्य) की भांति समुदित श्री भागवत शास्त्र भी नाम प्रधान।

विशेषतः जो कृष्णकथामय श्री भागवत उन लोगों को श्रवण और कीर्तन का विषय हुआ था, वह इस कलियुग में अज्ञानान्धकार विनाश में सूर्य की भांति समुदित^१ श्री भागवत पुराण शास्त्र भी नाम प्रधान पुराण है, यह भी 'इदं भागवतं नाम (भा० १।३।४०) इत्यादि श्लोक की टीका में परम पूज्यपाद श्रीमत् सनातन गोस्वामी प्रभु ने सुस्पष्ट रूप से व्यक्त किया है यथा— इदं पुराणं भागवतं नाम श्री भागवत संज्ञः। यद्वा नामपुराणम्—नाम प्रधानं पुराणमिदमित्यर्थः। सर्वत्रैव विशेषतो भगवन्नाम-महात्म्य प्रतिपादनात्'—(हरि भक्ति वि० १०।२८५) अर्थात् भागवत नामक इस पुराण में किम्बा इसमें सर्वत्र ही विशेष भाव से भगवन्नाम महात्म्य प्रतिपादित है। यह श्री भागवत नाम—प्रधान पुराण है।

यह विदित है कि वेद माता गायत्री का विस्तारित अर्थ श्री भागवत में आद्यन्त व्याप्त है,—भागवत के उपक्रम में 'जन्माद्यस्य यतः—' (१।१।१) इत्यादि श्लोकोक्त '—सत्यं परं धीमहि'—यह गायत्री को ही इंगित किया है। फिर प्रणव से गायत्री समुद्भूता

१. 'कलौ नष्ट दृशामेयः पुराणार्कोऽधुनोदितः।'

(भा० १।३।४३)

है, इस प्रणव का अर्थ ही श्री भगवन्नाम या मूलतः श्रीकृष्ण नाम है और यह भी विदित हो जाता है कि श्री भागवत वही नाम प्रधान है। भागवत के बहुत स्थलों में, 'अपन्नः संसृति घोरां यन्नाम' (१।१।१४) इत्यादि और उपसंहार में—सर्वशेष 'नाम सङ्कीर्तन यस्य—' (१२।१३।२३) इत्यादि श्लोक में इसी नाम ही का निर्देश है। इसलिये इस कलियुग में श्री नाम ही की मुख्यता या सर्वप्रधान्य रहने से, विशेषतः इस युग में प्रकृष्ट ज्ञानालोग में प्रदान निमित्त जो समुदित है वह पुराणार्क श्री भागवत शास्त्र श्री नाम प्रधान रूप से ही आविर्भूत हुआ है और अब इस बात के न समझने का कोई कारण नहीं रह जाता कि उक्त पुराण के 'श्रवण' और कीर्तन रूप भक्त्यङ्ग में नाम का ही प्राधान्य विद्यमान रहता है।

इसके साथ ही साथ यह भी विवेच्य है कि परीक्षित महाराज और श्री शुकदेव के उक्त भागवत श्रवण और कीर्तन के समय तक युगधर्म रूप श्री संकीर्तन का आविर्भाव नहीं हुआ था। इसलिये इस समय भी उनको नाम के अतिरिक्त अन्य भजनांग द्वारा अभीष्ट सिद्ध हो सकता था किन्तु असाधारण कलियुग में असाधारण 'छन्न' अवतारी द्वारा प्रेम-धर्म रूप में प्रवर्तित नाम सङ्कीर्तन रूप असाधारण युग धर्म है जो भागवत में ही विशेष भाव से निर्दिष्ट है। तभी तो इस नाम प्रधान श्री भागवत के श्रवण कीर्तन रूप में प्रकाश के समय उन लोगों ने भी उक्त प्रकार से नाम भजन के आचरण द्वारा वर्तमान युग धर्म ही का आदर्श स्थापित किया है।

अतएव वर्तमान कलियुग में श्री नाम कीर्तन का सर्वोत्कर्षरूप

पारम्य श्री भागवत में प्रतिपादित है। इस विषयमें श्री जीव गोस्वामी चरण ने अपने भक्ति सन्दर्भ में लिखा है—

‘श्री भागवतस्य परम महिमानमुक्त्वा, तदनन्तरं

श्री भागवतमुप क्रममान एव तस्य नानाङ्गवतः श्री भगवदुन्मुख तथा तन्नाम कीर्तनमेवोपदिशति। तत्रापि सर्वेषामेव परम साधनत्वेन परमसाध्यत्वेन चोपदिशति। एतन्निविद्यमानाना—
(भा० २।१।११) इत्यादि। (भक्ति सन्दर्भः २६५ अनुः)

इसका अर्थ,—श्री परीक्षित के प्रश्न के उत्तर में श्री शुकदेव ने श्री भागवत की परम महिमा का उल्लेख करके, तत्पश्चात् भागवत प्रसंग के उपक्रम से ही श्री भगवान में उन्मुखता सम्पादक विविध भक्ति-साधन में श्री नाम सङ्कीर्तन काही उल्लेख किया है क्योंकि भागवत में सबों के लिये परम साधन व परम साध्यरूप में ‘एतन्निविद्यमानानाम्—’(भा० २।१।११) इत्यादि श्लोक में श्री नामकीर्तन ही उपदिष्ट हुआ है।

वर्तमान युग में परम मुख्य या अङ्गी श्री नाम की प्रसन्नता से ही सब भजनांग का सहज आविर्भाव।

इसलिये वर्तमान युग में श्रीनाम का ही प्राधान्य सर्वभाव से प्रतिपन्न होता है। नामवर्जित किम्वा नाम के साथ समता चिन्तित किसी साधन द्वारा भी सुफल की आशा नहीं की जा सकती! इसलिये यदि समस्त भजन में परम मुख्य व सर्वश्रेष्ठ बोध से अर्थात् अङ्गी व कारण रूप से परम आदर बुद्धि से श्री नाम को ही भजन

में सब से आगे संस्थापन किया जा सके तो 'अङ्गी' नाम की प्रसन्नता से उसके अंग या कार्यरूप में अन्य साधनांग भी सुपुष्ट और सुप्रसन्न होकर साधक के साधन पथ में आविर्भूत हो जाते हैं। उन्हीं सब भजनांग की शास्त्रोक्त महामहिमादि भी तब केवल ग्रन्थ में नहीं, अपितु हृदय में भी प्रतिभात हो जाते हैं। 'अङ्गी' व कारण स्वरूप नाम में जिस आदर बुद्धि का विकास होगा उनके सब अङ्गों में भी उसी के अनुसार आवेश और निष्ठादि आविर्भूत कराकर नाम ही की कृपा से यथा समय प्रेम उदय होगा! और वह प्रेम भी अन्य युग के लिये अचिन्त्य और अन्य द्वारा अदेय 'ब्रज प्रेम' होगा। यही इस नाम सङ्कीर्तन प्रधान युग में भजनका मूलरहस्य है।

वर्तमान युग में नाम वर्जित कोई भी साधना सिद्ध नहीं होती।

अतएव श्री नाम का प्राधान्य सर्वकाल में ही समभाव से विद्यमान रहने पर भी इस विशेष युग में विशेष युगधर्म रूप में आविर्भूत और स्वयं भगवत् कृपा से सभी के ग्राह्य होने से इस युग में नाम वर्जित कोई भी साधना सिद्ध नहीं होती।

किसी कर्मांग के अनुष्ठान में भी कलिदोष कृत छिद्र किम्बा सब प्रकार की न्यूनता के संस्कार के लिये उसके साथ नाम ही का संयोग अति आवश्यक है।^१ अन्य भक्त्यंग के अनुष्ठान के विषय में

१. 'मंत्रतंत्रतश्छिद्रं—' यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या—'।

(हरिभक्ति वि० ११।१८० देखना चाहिये)

जो लोग आग्रहशील हैं, उनके लिये भी अपने भजनांग के साथ नाम का संयोग एकान्त ही प्रयोजनीय है। वहाँ अङ्गरूप से नामग्रहण होने से उस अप्रसन्न नाम की प्रसन्नता विधान के निमित्त विशेष भाव से अति चेष्टा से समस्त नामापराध वर्जन पूर्वक भजन करना आवश्यक होता है।

वर्तमान युग में एक मुख्य नामाश्रय से ही भजन अत्यन्त प्रशस्त।

किन्तु परम मुख्य व अङ्गी बोध से परमादर बुद्धि से नाम ग्रहण करना ही नामाश्रय है। इस प्रकार स्वतंत्र भाव से केवल श्री नाम का एकमुख्य व सर्वकारण रूप में आश्रय लेकर भजन करना ही इस युग में अत्यन्त प्रशस्त है। इसके द्वारा बीज से काण्ड, शाखा, पल्लव आदि के विकास की भांति सुप्रसन्न नाम की कृपा से तत्कार्यरूप में सभी भजनांग के विकास से अन्य युग का अचिन्त्य 'ब्रज प्रेम उदय हो जाता है। अपराधादि से यदि साधक सतर्क रहा तो नाम ही साधक हो अपने अश्रित दोधते निज दायित्व संरक्षण पूर्वक साधन पथ में परिचालन करते हैं। उक्त विषय में श्रीमद् जीव गोस्वामी प्रभु द्वारा निम्नोक्त अभिप्राय व्यक्त किया गया है।

‘तस्मात् सर्वत्रैव युगे श्रीमत् सङ्कीर्तनस्य समानमेव सामर्थ्यम्।
कलौत् श्री भगवताकृपया। तद्ग्राह्यत इत्यपेक्षयैव तत्र तत् प्रशंसेति
स्थितम्। अतएव यद्यन्यापि भक्तिः कलौ कर्तव्या, तदा तत्संयोगे
नैवेत्युक्तम् ‘यज्ञैः सङ्कीर्तन प्रायैः इति। अत्र च स्वतंत्रमेव नाम

सङ्कीर्तनमत्यन्त प्रशस्तम्। 'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्—
इत्यादौ।' (क्रम सन्दर्भः ११।५।३६)

इसका अर्थ सुस्पष्ट है।

अतएव स्वयं भगवान् द्वारा ब्रज-प्रेम धर्म रूप में प्रवर्तित वर्तमान कलियुग के इस युगधर्म में श्रीनाम सङ्कीर्तन की ही परम मुख्यत्व^१ रहती है, यही सर्वभाव से प्रतिपादित होने योग्य है।

इसी श्री नाम ही की प्रेमधर्म बीजत्व या कारणत्व रूप शास्त्र सिद्ध असमोर्द्ध महिमा ही स्वयं श्री नामी द्वारा उद्घाटित होकर उस विषय में आज्ञानाच्छन्न जीव जगत् में पूर्ण चेतना प्रदान करती है। इस पर भी यदि नाम की सर्वमुख्यता किम्बा अङ्गीत्व के विषय में अनवधान पूर्वक दूसरे सब शुभक्रियादि—यहाँ तक कि सर्व शुभ की चरम सीमा प्राप्त अन्य भजनांग के साथ भी समता चिन्ता की गयी तो वह अपराधरूप गण्य होने योग्य होगी जिससे भजनपथ में अनर्थ सृजन की सम्भावना हो जायगी। केवल नामापराध के अतिरिक्त नाम के फलोदय में कोई भी प्रतिबन्धकता नहीं है, यह बात पहले भी बतायी जा चुकी है।

साधारण कलियुगधर्म रूप में श्री नाम का अङ्गीत्व व मुख्यता।

१. श्री चैतन्य प्रवर्तित नाम सङ्कीर्तन ही ब्रजप्रेमोदय का कारण होने से इसे प्रेम सङ्कीर्तन कहा जाता है—“चैतन्येन सृष्टि एव प्रेम सङ्कीर्तन। इत्यादि। (चै० २।११।८६-८८ देखना चाहिये)

साधारण कलियुग धर्म रूप में भी देखा जाता है कि नाम कीर्तन की ही एकमुख्यता अर्थात् एक मात्र अङ्गीत्व ही निर्दिष्ट है।

“कलेदोष निधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्त सङ्ग परं ब्रजेत्॥”

(भा० १२।३।५१)। इत्यादि

अर्थात् कलियुग दोष निधि—होने पर भी—‘हि’ शब्द द्वारा निश्चित रूप से दृढ़ता के साथ कहा गया है कि इसमें एक महत् गुण है और वह श्रीकृष्ण नाम सङ्कीर्तन है। इसलिये निश्चय रूप से गणना पूर्वक ‘एक ही गुण और वह भी महत् गुण (पारम्य व्यञ्जक) है और सभी ‘दोष’ हैं। ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि कलियुग में नाम को ही अङ्गीत्व रूप एक मात्र मुख्यता निर्देश किया गया है। अर्थात् यदि एक मात्र नाम कीर्तन को ही अपनाया जाय (अर्थात् परम् मुख्य बोध से आश्रय किया जाय) तो अन्य समस्त गुण भी पकड़ में आ जायें (अर्थात् तत्कार्यरूप में प्रकाशित हो जायें) और यदि उसी एक मुख्य श्री नाम का एकान्त भाव से आश्रय न लेकर उसके तुल्य या उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ बोध से अन्य सब गुणों को अपनाया जाय तो वह सभी ‘दोष निधि’ होंगे (अङ्गी न अपनाने से अंग का विकास किससे होगा?) साधारण कलियुग में भी जब नाम ही की अङ्गीत्वरूप एक मात्र मुख्यता रहती है तब इस असाधारण कलियुग में स्वयं भगवान् द्वारा प्रवर्तित ब्रजप्रेम प्रद श्री नाम सङ्कीर्तन की परम् अङ्गीत्वरूप एक मात्र मुख्यता होगी, इसमें अधिक बात क्या है।

श्री चैतन्य कर्तृक हरेनाम श्लोक का प्रकृष्ट तात्पर्य- प्रचार द्वारा श्री नाम की एक मुख्यता घोषणा।

तभी तो देखा जाता है कि वर्तमान युग में श्रीनाम की एकमुख्यता के विषय में शास्त्र निर्देश पहले जो उपेक्षित अवस्था में केवल ग्रन्थ में ही लिपिबद्ध था उसे उस विषय में आज्ञानाछन्न जन समाज में संस्थापन करके उसके यथार्थ तात्पर्य सहित स्वयं नामी ने जगत में विघोषित कर दिया।

हरेनाम हरेनाम हरेनामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथाः॥

(बृहन्नारदीय ३८।१२६)

यह भी प्राणिधान योग्य है कि वर्तमान में श्रीनाम की एकमुख्यता के विषय में उनके द्वारा उक्त श्लोक की दृढ़ता व्यंजक व्याख्या जैसी प्रचारित हुई है, उसकी अपेक्षा अधिकतर दृढ़ता सम्पादन के लिये दूसरी कोई भाषा नहीं हो सकती है।

“दाढ्यं लागि हरेनाम उक्ति तीन बार।

जड़ लोक बुझाईते पुनरेवकार॥

केवल शब्द पुनरपि निश्चय करण।

ज्ञान-योग-तप-कर्म आदि निवारण॥

अन्यथा जो माने तार नाहिक निस्तार।

‘नाही’ ‘नाही’ ‘नाहीं’ तीन तीने एवकार॥”

(श्री चै० १।१७।२०-२२)

तात्पर्य—दृढ़ता करने के लिये तीन बार हरि का नाम लिया गया है। मूर्ख लोगों को फिर समझाने के लिये 'एव' शब्द का प्रयोग किया है ज्ञान, योग, तप, कर्म आदि के निवारण का निश्चय करने के लिये 'केवल' शब्द का प्रयोग दुबारा किया है। इसके बाद भी जो न मानेगा उसका निस्तार नहीं है, नहीं है, नहीं है। तीन बार नहीं त्रिसत्य करने के लिये कहा है।

इस तरह अन्ततः (कम से कम) इस युग के लिये शास्त्र में जहाँ कहीं कोई भजन साधन उक्त हुआ है उनमें नाम ही को मुख्य समझना चाहिये। अर्थात् अंगी नाम के आश्रय से ही उनकी कृपा से उनके अंग स्वरूप उस भजन के विषय में प्रवृत्ति अर्थात् इच्छा और क्रिया का विकास होगा।

भक्ति जब अंगी श्री भगवान का ही अंग या शक्ति विशेष है तब उन्हीं भगवान से अभिन्न श्री भगवन्नाम या मूलतः श्रीकृष्ण नाम के लिये निखिल भक्त्यंग या उनसे प्रकाशित साधनांग का 'अंगी' होना कौन-सी अधिक बात है।

अतएव सब भक्त्यंग सहित श्री भगवन्नाम को अंगांगी सम्बन्ध से संबद्ध जानकर अंगी श्रीनाम का ही मुख्य रूप से आश्रय लेकर निरापराध भजन करने से उनकी कृपा से और उनके कार्यरूप में अभिप्रेत सब भजनांग का भी उद्गम होकर यथा समय ब्रज प्रेमोदय होने के लिये इस युग में कोई बाधा नहीं रहती किन्तु नामी से अभिन्न उस सर्व कारण श्रीनाम के प्रति अति आदर बुद्धि न रखकर समता या न्यूनता बोध से भजन करने पर कलिकाल में 'गति

नाई"। यह बात त्रिसत्य करके तीन बार कहीं गयी है। इसलिये अब इस विषय में और किसी बात का उल्लेख निष्प्रयोजन है। तभी तो देखा जाता है कि सर्वोपास्य श्री भगवान के साथ ब्रह्मा, रुद्रादि अन्य किसी भी उपास्य की समता चिन्ता जिस प्रकार अपराधरूप में शास्त्र में निर्दिष्ट है ('यस्तु नारायण देवं—' इत्यादि) उसी प्रकार भगवन्नाम के साथ अन्य किसी उपासना या भजनादि की समता चिन्ता भी अपराधजनक कहकर शास्त्र में निर्दिष्ट है। इसके द्वारा भी नाम और नामी की अभिन्नता व्यंजक महामहिमा ही प्रचारित हुयी है। किन्तु किसी दूसरे साधनांग के सहित किसी और साधनांग की समता मनन करने में किसी भी अपराध की बात कहीं भी उल्लिखित नहीं है। यह भी नाम की सर्वोत्कर्ष महिमा विशेष का परिचायक है।

“श्री नाम की सर्वाध्यक्षता।”

विशेषतः साधु, गुरु, शास्त्रादि अपर भक्ति स्थानों में अपराध होने से वह नामापराधरूप में ही गिना जाता है और कहा जाता है और उन्हीं सब अपराध के खण्डन के विषय में भी सर्वशेष श्रीनाम के ही आश्रय से अविरत नामकीर्तन द्वारा ही उसका प्रतिकारोपाय विहित होने से नाम की सर्वाध्यक्षता ही प्रतिपन्न होती है। यहाँ तक कि श्रीनामी अर्थात् भगवान की सेवादि के विषय में अपराध होने से उनकी सेवा द्वारा वह खण्डित नहीं होता। किन्तु उसका प्रतिकार भी वही नामकीर्तन ही शेषाश्रय रूप में निर्दिष्ट हुआ है

जिससे नामी से नाम की कृपाधिक्य के कारण नामी से नाम की ही असमोर्द्ध महिमा परिगीत हुई है।^१

अतएव जो श्रीनाम सभी जीवों के शेषाश्रय रूप में अवगत होता है उसी नाम को भजन पथ के प्रथम आश्रय रूप में ग्रहण करना ही अधिकतर सुमेधा व सुबुद्धि का परिचायक है और तब अपराधादि के होने की संभावना भी कम रह जाती है।

इस तरह नामी से अभिन्न होने पर भी कृपा में आधिक्य प्राप्त ऐसे श्रीकृष्णनाम के स्वरूप के सम्बन्ध में सचेत रहने से उस विषय में कभी भी मुख्यता की जगह जिस प्रकार समता किम्बा न्यूनता बुद्धि रूप अपराध नहीं होता उसी प्रकार उनकी महिमादि के विषय में सर्वाधिक्य बोध होने से, उनके श्रवण में उल्लसित न होकर अप्रीति होना^१—ऐसे अपराध का अवसर न आयेगा। तभी तो नामी से नाम की अभिन्नता के विषय में और प्रेमोदय से जगत्-निस्तार के कार्य में उनके सर्वकारणत्व के विषय में उक्त हुआ है।

कलिकाले नाम रूपे कृष्ण अवतार।

नाम होईते होय सर्व जगत् निस्तार॥

(श्री चै० १।१७।१६)

१. वाच्यं वाचकमित्युदेति—'

(श्रीमद्रूप गोस्वामिपाद कृत श्रीकृष्णनामाष्टक—६ देखना चाहिये।)

२. 'श्रुतेऽपि नाम महात्म्यो यः प्रीतिरहितो धमः।

(हरि भक्ति व० १।१।२८६ अर्थात् नाम की महिमा के श्रवण में अधम व्यक्ति को प्रीति नहीं होती।

तात्पर्य—कलियुग में नामरूप में श्रीकृष्ण का अवतार हुआ है। नाम से ही सारे जगत का उद्धार होगा।

महाभागवतों के आचरण में भी नामाश्रयता।

अब महाभागवतों के आचरण से भी प्रमाणित हो सकता है कि वह लोग केवल भक्ति के एक अंगरूप—समता बुद्धि से नामग्राही मात्र नहीं थे किन्तु परम मुख्य बोध से परमादर सहित अंगीरूप श्रीनाम ग्रहण द्वारा नामाश्रयी थे।

महानुभव श्रीमत् सनातन गोस्वामी चरण ने अपने श्री वृहत् भागवतामृत ग्रन्थ में श्री भगवन्नाम के परम मुख्यत्व के सम्बन्ध में अनेक जगह उल्लेख किया है। अधिक हो जाने के भय से उन सबको उद्धृत करना सम्भव नहीं है इसलिये उनके मंगलाचरण श्लोकों में से एक श्लोक का कुछ अंश मात्र यहाँ प्रदर्शित किया जाता है। 'जयति जयति नामानन्द रूपं मुरारे'—इत्यादि। श्लोक के शेष चरण में श्रीनाम के सम्बन्ध में कहा गया है—'परमममृतमेकं जीवनं भूषणं मे।' अर्थात् अमृत जिस प्रकार जीवनदान करता है, उसी प्रकार, हे नाम! आप हमारे लिये एकमात्र अमृतरूप में जीवन स्वरूप हों, आपने प्रकृष्ट भजन का विकास किया है। जीवन लाभ से जिस प्रकार भूषण का संयोग होता है, उसी प्रकार हे नाम! आप अपने कार्यरूप में भक्त्यंग और साधनांग किम्बा सात्विकादि रूप सब भूषणों का विकास करके आप मेरे भूषण स्वरूप हुये हैं। इसी से ही समझा जाता है कि श्रीनाम के प्रति किस प्रकार पारम्यबोध

से—परमादरबुद्धि सहित नामाश्रय करके जीव को नामाश्रयी होने की शिक्षा दी गयी है।

महानुभव श्रीपादरूप गोस्वामी चरणकृत श्रीकृष्ण नामाष्टक स्तोत्र के अन्ततः प्रथम श्लोक मात्र प्राणिधान करने से समझ में आ सकता है कि श्रीनाम के प्रति किस प्रकार परमोत्कर्ष और परम समादर बुद्धि सहित नामाश्रित होने का आदर्श स्थापनपूर्वक जीव को भी उसी प्रकार नामाश्रित होने की शिक्षा प्रदान की गयी है।

निखिल श्रुति मौलिरत्नमाला द्युति नीराजित पाद पंकजान्त।

अयि मुक्त कुलै रूपास्यमानं परितस्तां हरिनाम संश्रयामि॥

इसका अर्थ,—निखिल श्रुतियों की शिरोरत्नमाला की स्निग्ध द्युति द्वारा तुम्हारे पादपद्म की नखमणिरूप शेष सीमा नीराजित हैं। मुक्त पुरुष गण निरंतर आपकी उपासना में नियुक्त है। हे श्री हरिनाम! श्रीनामी से अभिन्न उन्हीं आपका हम सर्व भाव से आश्रय ग्रहण करते हैं। भजन का सर्वप्रधान आदर्श स्थल श्री वृन्दावनवासी वैष्णव वृन्द के आचरण में भी देखा जाता है कि वह परम भागवत के सभी लक्षणों से भूषित होने पर भी तदंगीरूप में सर्वप्रथम और सर्वप्रधान लक्षण जो उनके आचरण में प्रकाशित था, वह श्रीनाम परायणता है अर्थात् श्रीनाम में एकान्त अनुरक्ति थी या नामाश्रयी थे। तभी तो श्री चरितामृत में उस समय के श्री वृन्दावनवासी वैष्णव गण के सम्बन्ध में वर्णन है—

वृन्दावने वैसे जत वैष्णव मण्डल।

कृष्ण नाम परायण परम मंगल॥

जार प्राणधन नित्यानन्द श्री चैतन्य।

राधाकृष्ण-भक्ति बिने नाही जाने अन्य॥

(श्री चै० १।५।२०४-२०५)

तात्पर्य—वृन्दावन में जितने वैष्णव रहते हैं। वे परम मंगल दायक श्रीकृष्ण नाम के ही परायण हैं। उनके प्राणधन श्री नित्यानन्द जी व श्री चैतन्य हैं। वे श्री राधाकृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य को नहीं जानते।

श्रीनाम के पारम्य सम्बन्ध के सभी पूर्वोक्ति की अनेक बात निम्नोद्धृत महत् हृदय की अनुभूति से भी प्रमाणित होगी; यथा—

कल्याणानां निधानं कलिमल मथनं पावनं पावनानां

पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रोच्यमानम्॥

विश्रामस्थानमेकं कविवर वचनां जीवनं सज्जनानां

बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये कृष्णनाम॥

(पद्यावलीधृत १६)

इसका अर्थ,—जो निखिल कल्याण के आधार स्वरूप कलिदोष समूह के विध्वंस कारक, पवित्रकर, समस्त वस्तु के भी पवित्रकारी, भवबन्धन मुक्ति का पाथेय (रास्ते का खर्च) स्वरूप हैं जो ब्रह्मा, नारद, व्यास और शुकादि कविवरों के^१ निर्देश वाणी के एकान्त विश्राम स्थल हैं, जो साधुओं का जीवन है और जो धर्मरूप बड़े वृक्ष के बीजस्वरूप हैं ऐसा यह कृष्ण नाम कीर्तित

१. 'तेने ब्रह्म हृदाय आदि कवये—'

होकर उसी क्षण आप लोगों के मंगलार्थ और परमपद प्राप्ति के निमित्त अपनी पारम्य शक्ति विस्तार करे।

श्रुति में भी प्रणव के उपलक्षण में श्री नाम का पारम्य कीर्तन।

श्रुति में भी देखा जाता है कि ब्रह्म प्राप्ति के लिये तद्वाचक प्रणव को ही परमाश्रय कहकर निर्देश किया गया है। इसी तरह उनके उपलक्षण में परोक्षभाव से श्री भगवत् प्राप्ति के लिये तद्वाचक श्रीनाम को ही परमाश्रय कहा गया है, यही समझ में आता है। यथा,—

‘एतदालम्बनं श्रेष्ठ मतेदालम्बनम्परम्। (काठके० १।२।१७)।
आलम्बन का अर्थ अवलम्बन या आश्रय है। इस तरह से इसका अर्थ यह है कि भगवत् प्रेमोदय कराकर श्री भगवत् प्राप्ति के लिये यह नाम ही श्रेष्ठ अवलम्बन है। केवल श्रेष्ठ कहने से अन्य किसी श्रेष्ठ अवलम्बन के साथ भी समता घटित हो सकती है इसलिये इस आशंका को दूर करने के लिये पुनर्वार विशेष भाव से कहा है कि नाम परम अवलम्बन अर्थात् परमाश्रय है।

श्रुति में प्रणव के उपलक्ष में श्रीनाम को भगवत्-साक्षात्कार के मुख्य कारण रूप में कीर्तित होते देखा जाता है; यथा—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवंचोत्तरारणिम्।

ध्यान निर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥

(श्वेता १।१४)

इसका अर्थ,—अपनी देह को अरणि एवं प्रणव को (तदु-

पलक्षित श्री नाम को) उद्धारिण करके ध्यानरूप घर्षण अभ्यास द्वारा काठ में निगूढ़ रूप से अवस्थित अग्निवत् देव अर्थात् परमेश्वर का दर्शन करो।

(‘देव’ और ‘दर्शन’ शब्द द्वारा सविशेष श्री भगवान ही को निर्देश करके यहाँ, प्रणव को प्रच्छन्न भगवन्नाम ही समझा जाता है।)

श्रुति में ब्रह्म और तद्वाचक प्रणव की अभिन्नता प्रदर्शन द्वारा परोक्ष भाव से श्रीनामी और नाम की अभिन्नात्मता ही समर्थित है।

सभी श्रुतियों में ‘ब्रह्म’ शब्द से श्रीकृष्ण को और तद्वाचक प्रणव द्वारा श्रीकृष्ण नाम को परोक्ष भाव से निर्देश किया है। यह पहले प्रतिपादित हो चुका है। तभी तो देखा जाता है कि भगवान और भगवन्नाम या मूलतः कृष्ण और कृष्णनाम जिस प्रकार अभिन्न है (अभिन्नत्वान्नामनामिनोः’।—पद्म) सभी श्रुति ‘ब्रह्म’ शब्द के आवरण में श्रीकृष्ण को ही निर्देश करती है। इसलिये ब्रह्म वाचक प्रणव या ओंकार को भी उसी प्रकार वाच्य ब्रह्म से अभिन्नरूप में कहा गया है। इसलिये वह परोक्ष भाव में कृष्ण और कृष्ण नाम के अभेदत्व का ही प्रतिपादक है। तभी तो देखा जाता है कि वाच्य या नामी को निर्देश करके कहते हैं,—‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’। (छान्दो० ३।१४।१)। अर्थात् यह समुदय ब्रह्म है। फिर तद्वाचक या नाम को निर्देश करके कहते हैं—‘ॐ मितदिं सर्वं’। अर्थात् ओंकार—यही समुदय है। अतएव

परोक्ष भाव में होने पर भी उक्त प्रकार से वाच्य और वाचक में या नामी और नाम में अभिन्नता संस्थापन द्वारा श्रुति कर्तृक मूलतः कृष्ण और कृष्ण नाम के अभेदत्व का ही निर्देश किया गया है—यही बात वेद के सारार्थ गीता द्वारा भी समझ में आती है।

प्रणव का प्रच्छन्न अर्थ श्रीकृष्ण नाम।

यह विदित कराने के लिये कि 'ब्रह्म' और 'प्रणव' रूप वाच्य और वाचक का अभेदत्व है और श्री कृष्ण ही वही 'प्रणव' के वाच्य ब्रह्म है—(पितामहस्य जगतो—) गीता ६।१७) इत्यादि श्लोक में उन्होंने स्वयं ही कहा है—'अहमोंकार' अर्थात् मैं ही ओंकार या प्रणव हूँ। इस तरह से 'प्रणव' के वाच्य ब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं और 'प्रणव' प्रच्छन्नरूप में श्रीकृष्ण का नाम है—यह बात उनके मुख की वाणी द्वारा ही प्रकाश होती है।

श्रुति का प्रायः ब्रह्म और तद्वाचक प्रणव उपलक्षित कृष्ण और कृष्ण नाम ही मुख्य तात्पर्य है। विशेष स्थल में ब्रह्म शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण का अंग प्रभास्थानीय निर्विशेष ब्रह्म है।^१ और तद्वाचक रूप में प्रणव व्यवहृत होने से वहाँ प्रणव या ओंकार निर्विशेष कृष्णनाम ही है।

श्री नाम का सर्व बीजत्व व सर्वकारणत्व।

इसलिये जब कृष्ण ही ब्रह्म हैं तब तद्वाचक कृष्ण नाम ही

१. कृष्णेर अङ्ग प्रभा परम उज्ज्वल।

उपनिषद कहे तारे ब्रह्म सुनिर्मल॥ (चै० १।५।२८)

प्रणव रूप में संकेतिक है अथवा कृष्ण नाम का ही निर्विशेष प्रकाश है—यही प्रतिपन्न होता है। अतएव श्री कृष्ण ही जिस प्रकार सर्वादि और सर्व कारण स्वरूप है (अनादिरादि गोविन्दः सर्व कारण कारणं। ब्रह्म संहिता) कृष्ण और कृष्ण नाम की अभिन्नता वशतः उसी प्रकार प्रणव उपलक्षित श्री कृष्ण नाम भी सर्व कारण अर्थात् सर्वबीज या सर्व अङ्गीरूप में ही सर्वत्र परिदृष्ट होगा। तभी तो शास्त्र में प्रणव या कृष्ण नाम सर्वकारणबीज रूप में ही कीर्तित है स सर्वमंत्रोपनिषद्वेद बीजं सनातनम्॥

(भा० १२।६।४१)

अर्थात् यह प्रणव या नाम ही समस्त मंत्र उपनिषद के रहस्य का और वेद का सनातन बीज स्वरूप है।

श्री चरितामृत में भी प्रणव को ईश्वर मूर्ति^१ अर्थात् भगवत् स्वरूप कहकर ही भगवान से अभिन्न भगवन्नाम रूप में ही निर्देश किया गया है।

प्रणव जे महावाक्य—ईश्वरेर मूर्ति।

प्रणव होइते सर्ववेद जगतेर उत्पत्ति॥

(श्री० चै० २।६।१५८)

तात्पर्य—‘प्रणव’ यह जो महावाक्य है ये साक्षात् ईश्वर की मूर्ति है। प्रणव से ही सारे वेदों और जगत् की उत्पत्ति हुई है।

१. ‘प्रणवं हीश्वरं विद्यात्—’ श्रुतिः।

प्रणव या नाम से ही वेदमाता गायत्री और समस्त वेद का विकास।

तभी तो देखा जाता है कि इसी प्रणव या नाम को समस्त वेद का मूल बीज या कारण रूप में निर्देश किया गया है। यथा— 'प्रणव एवाग्रे—'। (भा० ११।१७।११) अर्थात् वेद पहले अर्थात् विकास के पूर्व नामरूप में ही था। यहाँ तक कि वेद-माता गायत्री भी प्रणव या नाम को मस्तक में धारण करके इस बात का साक्ष्य प्रदान किया है कि नाम ही से गायत्री का विकास हुआ है। इसलिये इसमें क्या अधिक बात है कि श्रुतिरूप सन्तानें अपनी माता का अनुसरण करके श्री नाम के ही पदकमल को मस्तक द्वारा निराजन करेंगी? तभी तो श्रीमद् रूप प्रभु ने अपने श्री कृष्णनामाष्टक स्तोत्र में लिखा है;

‘निखिल श्रुति मौलिरत्न मालाद्युति नीराजित पादपंकजान्त।’ अर्थात् निखिल श्रुतियों की शिरोरत्न-माला की स्निग्ध द्युति द्वारा श्री हरिनाम के पादपद्म की शेष सीमा नीराजित होती है।^१

इस तरह से सर्व कारण प्रणव उपलक्षित श्री नाम से जिस तरह तत्कार्यरूप में समस्त वेद की अभिव्यक्ति है उसी तरह

१. प्रायः सभी श्रुतियों के शुरु में ही या परिसमाप्ति में मङ्गल स्वरूप 'ओम्' अथवा हरि शब्द के सन्निवेश द्वारा श्री नाम का ही आनुगत्य परिदृष्ट होगा।

बीजरूप कारण या अङ्गी की प्राप्ति से उसके सभी अङ्गों की प्राप्ति हो जाती है,—सभी वेदों का बीज वही प्रणव श्री हरिनाम का ही प्रच्छन्न इङ्गित है,—यही सुस्पष्ट निर्देश रूप में शास्त्रों में कहा गया है।

ऋग्वेदो हि यजुर्वेदः सामवेदोऽप्यथर्वनः।

अर्धातास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयं॥ (विष्णु धर्मोत्तर)

इसका अर्थ,—जिस व्यक्ति द्वारा 'हरि' यह दो अक्षर उच्चारित हों तो यह जानना चाहिये कि उसेको ऋकादि चतुर्वेद अध्ययन का फल प्राप्त हो गया है। उक्त श्लोक की टीका में श्री सनातन गोस्वामी प्रभु ने लिखा है,—

हरिरित्यक्षरद्वयोक्त्यैव सर्ववेदाध्ययन सिद्ध,

सर्ववेदेभ्य आधिक्यं व्यक्त मेव।'

(श्री हरिभक्ति विलास ११।१८१) अर्थात् 'हरि' इन दो अक्षरों की उक्ति से ही समस्त वेदाध्ययन सिद्ध होने से, यही व्यक्त होता है कि 'हरिनाम' सभी वेदों से अधिक अर्थात् उनका बीज स्वरूप है।

वेद में परोक्ष भाव से नाम का प्राधान्य कीर्तित हुआ है। वेद का विस्तारार्थ भागवत् भी नाम-प्रधान रूप में ही मालूम होता है।

अतएव श्री नाम से समस्त वेद का विकास के कारण समस्त वेद नाममय या नाम-प्रधान है, यह बात परोक्ष भाव से प्रणव के

निर्देश से श्रुति ने स्वयं ही व्यक्त कर दी है, 'सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति—' (काठके० १२।५) इत्यादि। अर्थात् समुदय वेद जिस पूजनीय का कीर्तन करते हैं। इत्यादि। 'तत्ते पदं संग्रहेण द्रवीमयोमित्ये तत्। उन्हें संक्षेप से बताया जाता है,—वह यही 'ओइम' है। अर्थात् उन प्रणव का समस्त वेद कीर्तन करते हैं, इस करने से सभी वेद प्रणव या नाम-प्रधान होते हैं।

अस्पष्ट वेद का सुस्पष्ट प्रकाश ही श्री भागवत है, यह बात पहले भी बतायी जा चुकी है। यही भागवतोक्त—इदं भागवतं नाम पुराणं (१।३।४०) इत्यादि श्लोक में—भागवत नाम-प्रधान पुराण है, यह पहले भी बताया जा चुका है। इसलिये सुस्पष्ट वेद स्वरूप श्री भागवत को जब नाम-प्रधान रूप में जाना जाता है तब परोक्ष भाव में प्रणव-प्रधान रूप में कीर्तित सभी अस्पष्ट वेद भी नाम-प्रधान ही हैं। यह बात अब आसानी से समझ में आ सकती है।

भागवत धर्म के आदि में अङ्गी श्री नाम है।

श्री कृष्णनाम की परम् मुख्यता के या सर्व प्रधान्य के सम्बन्ध में और भी देखा जाता है कि समस्त वेद की प्रच्छन्न सार सस्पद—भागवत धर्म है जो श्री भागवत में मुक्त धारा से प्रवाहित है। श्री भगवन्नाम को ही इस भागवत धर्म का भी अङ्गी बताकर सर्वांग्रे इस श्री भागवत में निर्देश किया गया है। श्री धर्मराज ने अपने दूतों से भागवत धर्म वर्णन करते समय बताया है,—

'भक्ति योगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥ (भा०

६।३।२२) इत्यादि। अर्थात् भगवन्नाम लक्षण भगवान् में भक्ति योग है। इस युक्ति के द्वारा नाम को ही भक्ति योग में अर्थात् समस्त भजनांग के आदिरूप में सर्वांगे निर्देश करके सर्वकारण श्री नाम ही भागवत धर्म का भी अङ्गी प्रदर्शित हुआ है।

निखिल विश्व संसार के बीजरूप में भी श्रीकृष्ण नाम ही है।

अब यह परिदृष्ट होगा कि जो केवल वेदादि के उत्पत्ति का कारण या बीजरूप ही नहीं है, अपितु निखिल विश्व संसार की अभिव्यक्ति के मूल में भी बीज या अङ्गीरूप में विराजमान रहता है, वह है श्री कृष्णनाम। परोक्ष भाव से प्रणव उल्लेख पूर्वक 'ओइम मितदिं सर्वं (तैत्ति० १।७) अर्थात् 'ओंकार ही समुदय', यह कहकर सृष्टि के कारण रूप में श्रुति ने प्रणव को निर्देश किया है। उसी प्रणव का सुस्पष्ट नाम ही श्रीकृष्ण नाम है। दूसरी श्रुति से भी यही प्रमाणित होता है। श्री गोपालतापनी उपनिषद् में (पूर्व २७-२८ दृष्टव्य) अष्टादशाक्षर मंत्रात्मक श्री नाम को ही इसी समुदय विश्व संसार का बीज या कारणरूप में सुस्पष्ट निर्देश द्वारा पूर्वोक्त प्रणव का प्रकृष्ट अर्थ सुविदित कर दिया है अतएव यही प्रतिपादित होता है कि प्रणव प्रच्छन्न कृष्ण नाम है अथवा कृष्ण नाम का ही निर्विशेष प्रकाश है। इस तरह हमें यह भी अवगत हो जाता है कि समस्त सृष्टि के मूल में भी कृष्ण से अभिन्न वही श्री कृष्ण नाम ही सर्वोत्कर्ष सहित जय युक्त रहता है।

श्री कृष्ण की कान्ता शिरोमणि श्री राधिका का भी जप्य—श्रीकृष्ण नाम।

श्रीकृष्ण नाम के पारम्य की शेष सीमा के सम्बन्ध में जो शेष बात कही जा सकती है और जिसके ऊपर और कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता, वह यही है कि उन स्वयं भगवान की स्वरूप शक्ति वर्ग में परमा जो ह्लादिनी शक्ति है, उसी ह्लादिनी का परम सार महाभाव मूर्तिमती श्री राधा ठाकुरानी हैं जो श्री गोविन्द की कान्ता शिरोमणि हैं उनका भी जप्य यही श्रीकृष्ण नाम ही है। 'जप्य स्वाभीष्टसंसर्गी कृष्णनाम महा मनुः।' (श्री राधाकृष्ण गणोद्देश—दीपिका; परिशिष्ट भाग। १७८)।

अर्थात् निज अभीष्ट कृष्णसङ्ग प्राप्ति का सहाय श्रीकृष्णनाम-महामंत्र—श्री राधिका का जप्य है।

यद्यपि नित्य सिद्धगणों को किसी साधना की अपेक्षा नहीं है तथापि कृष्ण और कृष्णनाम अभिन्न स्वरूप होने से श्रीकृष्ण नाम में भी असमोद्ध महा माधुर्य का आस्वादन पूर्ण रूप से आस्वादित होने से उनका चित्तभृंग नामरस में नित्य आकृष्ट ही रहता है। यह कभी परिहार्य का विषय नहीं हो सकता। यही बात श्री राधिका द्वारा उक्त हुयी है,—

जा जानि कनेक मधु श्याम नामे आछेगों

बदन छाड़िते नाही पारे।

जपिते जपिते नाम अवश करिलगो

के मने पाइबे सखी तारे॥

(चण्डीदास)

तात्पर्य—‘श्याम’ के नाम ने न जाने कितना मधु है कि मुख उसको छोड़ना नहीं चाहता है। उनका नाम जपते जपते मन वश में नहीं रहता। हे सखि! कैसे मैं उनको पाऊँगी?

परम साध्य होने पर भी परम साधन रूप में भी—श्रीकृष्ण नाम।

अन्याय साध्य और साधन परस्पर भिन्न होने से साध्य के प्राप्त होने पर साधन छूट जाता है किन्तु भगवन्नाम और नामी अभिन्न होने के कारण श्री भगवन्नाम या मूलतः श्रीकृष्ण नाम परम साध्य और साधन रूप में ही परिकीर्तित हुआ है।^१ इसलिये चाहे नित्य सिद्ध हों, चाहे मुक्त कुल, चाहे सिद्ध, चाहे साधक, चाहे मोक्षार्थी और चाहे विषय कामी हों, सभी के लिये सर्वभाव से श्री नाम अपरिहार्य है। यह जान लेना चाहिये कि यही कृष्ण नाम परम साध्य रूप से श्रीनारदादि मुक्त कुल के वीणायंत्रादि को उज्जीवीत करके अमृत की तरंग की भांति निरन्तर माधुर्यराशि विस्तार पूर्वक त्रिलोक को सम्मोहित और सुपवित्र करता है और यही श्री नाम ही परम साधनाकार में कृत पापी, दुराचार, निन्दुक, पाषण्डी और पतित लोगों को भी परिव्राता रूप से मरजगत् में अमृतत्व प्रदान करके सर्वोपरि जय युक्त रहता है। अतएव सर्व

१. ‘तत्रापि सर्वेषामेव परम साधनत्वेन परम साध्यत्वेन चोपदिशति।’
‘एतन्निविद्यमानाम्—’ (भा० २।१।११)। (भक्ति-सन्दर्भः। २६५ अनुः।)

कारण या बीज स्वरूप इस प्रकार के असमोर्द्धमहिमा में विराजित-नामी से अभिन्नात्म—सर्वाराध्य—सर्व सेव्य श्रीकृष्ण नाम ही नवविधाभक्त्यंग किम्बा सभी साधनांग में सर्वश्रेष्ठ^१ अर्थात् 'अङ्गी' है। ऐसा कहने में अधिक बात क्या है? श्री नामरूप कारण या बीज से उसके कार्यरूप में सभी भजनाङ्ग का उद्गम होता है। इसलिये श्रवण कीर्तनादि रूप नवांग भक्ति में पहले ही नाम, रूप, गुण, लीला श्रवण—यह क्रम निर्देश है। नाम ही को सर्वाग्ने स्थापन पूर्वक केवल नाम ही को अङ्गी और उसके अतिरिक्त दूसरे सभी को अङ्ग निर्देश किया है। विशेष भाव से श्रीः चैतन्य प्रकटित वर्तमान युग में तो तत्प्रवर्तित नाम ही की एकमुख्यता सर्वभाव से प्रतिपादित होने योग्य है। इस तरह से अब यही स्थिरीकृत हुआ कि श्री नामी से अभिन्नात्म बताकर श्री भगवान्नाम या मूलतः श्रीकृष्ण नाम ही सर्वकारण अर्थात् सर्वबीज स्वरूप हैं और दूसरे सभी अङ्ग या कार्यरूप में ही अभिव्यक्त हैं। यही कारण है कि परम साध्य होने पर भी श्री नाम परम साधन रूप में भी प्रकाशित रहता है। नाम के साध्यत्व या स्वरूपादि के विषय में यदि उक्त प्रकार का ज्ञान सम्भव न हो तो ऐसी अवस्था में कम से कम नाम के साधनत्व के विषय में पारम्य बोध होना आवश्यक है।

१. श्री हरि भक्ति विलास घृत (११।२३६) 'अधच्छित् स्मरणं—' इत्यादि श्लोक की श्री सनातन गोस्वामी पादकृत 'श्रवण कीर्तन स्मरणादि प्रकारणानापि मध्ये श्रीमन्नाम कीर्तनस्य श्रेष्ठयत् लिखन् इत्यादि टीका दृष्टव्य।

साधनरूप में श्री नाम प्रधान भक्त्यङ्ग ही सर्वश्रेष्ठ
अर्थात् दूसरे भजनाङ्ग का अङ्गी।

अर्थात् श्री नाम, साक्षात् नामी से अभिन्न होने पर भी उस नाम का सङ्कीर्तनादि रूप अनुशीलन को भक्ति के एक अङ्गरूप में विवेचित हो सकता है। ऐसी अवस्था में भी उस नाम कीर्तनादिरूप भक्त्यङ्ग को भक्ति के दूसरे अङ्ग किम्बा समस्त भजनाङ्ग में सर्वश्रेष्ठ अर्थात् परम् साधनरूप में सुविदित होने से (तार मध्ये सर्व श्रेष्ठ नाम सङ्कीर्तन चै० ३।४।६६) इस नाम प्रधान भक्ति को दूसरे सभी भक्त्यङ्ग का अङ्गी रूप में उपलब्धि करना सम्भव हो जाता है। विशेषतः वर्तमान युग में प्रेमोदय के लिये सब उपायों में भी उपाय स्वरूप अर्थात् सब भजनाङ्ग का अङ्गी बताकर नाम कीर्तनादि प्रधान भक्ति को ही तत्कारण व परम् उपाय कहा गया है।—('नाम सङ्कीर्तन कलौ परम उपाय' श्री चै० ३।२०।७)।

अतएव श्री नाम के सम्बन्ध में परम साध्य रूप में उपलब्धि के अभाव में भी कम से कम परम साधन रूप में सर्वश्रेष्ठ समझकर समस्त भजनाङ्ग के अङ्गीरूप में अति आदर बुद्धि से जो श्री नाम, ग्रहण करता है उसे भी नामाश्रयी कहा जाता है।

श्री नाम में सर्वश्रेष्ठता बोध होने से समता
चिन्तादि रूप अपराध घटित नहीं होता।

उक्त प्रकार से नाम के सम्बन्ध में सर्वश्रेष्ठता बोध किम्बा

प्रेमोदय का परम् उपाय उपलब्धि होने से नाम कीर्तनादि रूप भक्त्यङ्ग के सहित तत्कार्य या तदङ्ग स्वरूप अन्य विषय की समता मननरूप नामापराध होने की सम्भावना नहीं रहती। इसका कारण यह है जो पहले बताया जा चुका है कि सर्व शुभ क्रियादि के साथ नाम की समता या तुलना चित्तन एक नामापराध है। नाम की समता चिन्ता ही जब अपराध है तब न्यूनता चिन्ता में तो अपराध की बात का उल्लेख अनावश्यक है।

**श्री नाम के सम्बन्ध में निरपेक्ष अवस्था में उक्त
अपराध की सम्भावना नहीं है किन्तु सापेक्ष
अवस्था में ही सम्भावना है।**

यहाँ यह भी विवेच्य है कि नाम के सम्बन्ध में कोई रूप संश्लिष्ट नहीं है,—यहाँ तक कि निरपेक्ष व्यक्तिगण के लिये नाम की सर्वश्रेष्ठता किम्बा समता या न्यूनता की किसी रूप में भी चिन्ता का अवकाश न रहने से वहाँ उक्त अपराध होने की सम्भावना ही नहीं रहती। ऐसी अवस्था में (अन्य अपराध न रहने से) श्रद्धा से, हेला, से, जिस किसी भी भाव से हो, यहाँ तक कि नामाभास से भी, नाम के फल की प्राप्ति में, जब तक इस प्रकार निरपेक्ष रहा जाय तब तक कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है। किन्तु भजन के उद्देश्य से ग्रहीत होने मात्र से नाम के साथ सापेक्षता अनिवार्य ही हो जाती है। अर्थात् जिन लोगों को भजन साधन के साथ साथ नाम के रहने

से नाम के सम्बन्ध में अपेक्षा रहती है, ऐसी अवस्था में ही उन्हें नाम की सर्वश्रेष्ठता बोध न होने से दूसरे किसी विषय या भजनाङ्ग के साथ नाम को बराबर माननेका किम्बा न्यूनता चिन्ता करने का आसानी से अवकाश मिल सकता है। अतएव भजनशीला व्यक्तियों के लिये ही नाम की सर्वश्रेष्ठता या पारम्य बोध और तत्जनित नाम में आदर बुद्धि होना एकान्त आवश्यक है।

यदि उक्त प्रकार ज्ञान न होना तो कोई अपराध नहीं है किन्तु नाम का सर्वश्रेष्ठता बोध एवं उस विषय में परमादर बुद्धि न होने से उसके साधकों को क्रम से निम्नोक्त कई अपराध होने की सम्भावना रहती है। यह बात आसानी से समझ में आ सकती है।

(१) भक्त्यङ्ग पर्यन्त सभी शुभ क्रियादि के साथ नाम की समता चिन्तन।

(२) नाम के पारम्य व सर्वोत्कर्ष महिमा श्रवण में उल्लसित न होकर अप्रीति!

(३) नाम की असमोर्द्ध महिमादि के विषय में अर्थवाद अर्थात् अतिशयोक्ति व स्तुति मात्र समझना।

(४) स्वकल्पित कुव्याख्या द्वारा नाम की इस अवाध और मुक्त-महिमा के विषय में गौणवाकरण अर्थात् संकोच साधन प्रयास।

**नामाश्रय ही अपराधादि का प्रतिरोधक और
सर्वकल्याण दायक।**

किन्तु, बीज व अङ्गीरूप में—सर्वश्रेष्ठ समझकर अतिआदर

बुद्धि से नाम ग्रहण करने को ही नामाश्रय कहा गया है। नामाश्रय होकर भजन करने से वही सुप्रसन्न नाम ही नाम आश्रित को नामापराधादि सर्व अमङ्गल से संरक्षण करने के लिये प्रतिज्ञा बद्ध है। नाम की ही प्रेरणा से साधक के हृदय में अपराध की प्रवृत्ति भी नहीं होती!

अतएव यह समझ लेना चाहिये कि कल्प में केवल इसी साधारण कलियुग में ही स्वयं भगवान ने असाधारण कृपा वैशिष्ट्य के साथ अपने अभिन्नात्म श्री नाम कोयुगधर्म रूप में प्रवर्तित किया है। ऐसे श्री नाम को सर्वकारण या अङ्गी रूप में सर्वोत्कर्ष और समादर बुद्धि से आश्रय करने से उसी सुप्रसन्न श्री नाम से आविर्भूत सभी भजनाङ्गों के अनुष्ठान द्वारा अन्य युग में अचिन्त्य और अन्य द्वारा अदेय, विधि, भवादि वाञ्छित ब्रज रमागण के अनुगत स्वयं भगवान विषयक प्रेम वर्तमान युग में हर व्यक्ति को प्राप्त होना अनिवार्य ही जानना चाहिये!

वर्तमान युग विशेष में जन्म पाना अति भाग्य का परिचायक।

अन्य युग में यदि कहीं ब्रजप्रेम का विकास हुआ है तो यह समझना चाहिये कि वह अवश्य ही किसीगौर प्रगटित कलियुग के श्री नाम से संचारित हुआ है और अपराधादि किसी कारण विशेष से उसकी अभिव्यक्त रुद्ध है। जिसके उपशम के बाद वह व्यक्त हुआ है इसलिये सृष्टि के इतिहास में यह परम शुभतम युग हम लोगों

के अतिभाग्य से अब भी अन्तर्हित नहीं है। श्री गौर-लीला के प्रकट समय नाम से प्रेमोदय होने में अपराध की भी बाधा नहीं थी इसलिये उस समय जन्म लाभ का महासुयोग जिन लोगों को नहीं हुआ उन सब जीवों का पक्ष अवलम्बन करके श्रीमद् वृन्दाबनदास ठाकुर ने दुःखी होकर लिखा है,—

‘होएल पापिष्ठ, जन्म नहिल तखने’ (चै०:भा०/८ अ।)

तात्पर्य—मुझ पापी का जन्म उस समय नहीं हुआ।

तब भी उस सुयोग से वंचित होने पर भी अब भी इस कलियुग व्यापी हम लोगों का अति भाग्य का संयोग यह है कि इस समय भी निरापराध होकर भजन कर सकने पर केवल श्री नाम से ही उक्त चरम अभीष्ट प्राप्त होना अवश्य ही सम्भव हो सकता है और नामाश्रय से भजन अनुष्ठित होने पर उसी सुप्रसन्न श्री नाम के ही प्रसाद से अपराधादि की आशंका भी दूरीभूत हो जाती है।

**श्री नाम में अनुराग या आदर बुद्धि के अभाव
को ही जीव का यथार्थदुर्देव श्री नामी द्वारा
कहा गया है।**

किन्तु स्वयं भगवान् द्वारा उनके प्रगटित वर्तमान युग में अन्य युग का अचिन्त्य ब्रजप्रेमप्रद निज अभिन्नात्म श्री नाम-प्रवर्तन रूप जीव के प्रति ऐसी कृपा विस्तार किये जाने पर भी अनुराग के साथ अर्थात् आदर बुद्धि से ऐसे श्री नाम का आश्रय करने की प्रवृत्ति

के अभाव को ही वास्तव में हमारा यथार्थ दुर्देव ही समझना चाहिये। तभी तो परम उपास्य होने पर भी जिन्होंने स्वयं आचरण करके आचार्य रूप में जीवों को शिक्षा दिया है, १ उन्हीं परतत्त्व की सीमा गौर सुन्दर ने जीव का पक्ष अवलम्बन करके भक्त भाव से स्वरचित श्लोक द्वारा हम लोगों को उसी दुर्देव की बात अवगत कराने से विरत नहीं हुये।

उनके शिक्षाष्टक के द्वितीय श्लोक में उक्त हुआ है,—

नाम्नामकारि बहुधा निज सर्वशक्ति—

स्तत्रापिता नियमित स्मरणे न कालः।

एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि

दुदैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥

(श्री चरितामृत धृत ३।२०।१२। शिक्षाष्टक
का द्वितीय श्लोक)

इसका संक्षेप अर्थ,—हे भगवान्! आपने अपने एक नाम को विभिन्न लोगों को विभिन्न रुचि और वाछांदि के भेद के कारण बहुत प्रकार से प्रकाश किया है और उसी नाम में अपनी सर्वशक्ति और महिमादि अर्पण कर दिया है। (इसके द्वारा नामी और नाम की अभिन्नता प्रकट की गयी है) ऐसे नाम के स्मरणादि के विषय में (अर्थात् श्रवण-कीर्तन-स्मरण में) किसी कालादि का नियम (अर्थात् देश, कालादि का विचार) भी नहीं रखा गया है (इसके द्वारा नामी से नाम की कृपाधिक्य का प्रकाश किया गया है) किन्तु हमारे प्रति आपकी ऐसी कृपा का विस्तार किये जाने पर भी यह

१. 'आपनि आचरि भक्ति सिखाइमू सभारे' (चै० १।३।१८)

हमारा दुर्दैव है कि ऐसे नाम में भी हमारा अनुराग अर्थात् हमारी प्रीति या आदर बुद्धि नहीं होती।

इस तरह से हमारे यह समझ में आ गया कि सत्यादि-युगवासियों का श्लाघ्य—वर्तमान इस नाम—प्रधान युग में, नाम के प्रति अनुराग अर्थात् प्रीति या आदर बुद्धि के अभाव को ही हम लोगों का दुर्दैव बताकर स्वयं नामी ने स्वकृत श्लोक द्वारा निर्देश किया है। अतएव श्री नाम के सम्बन्ध में प्राधान्य बोध एवं तत्जनित अनुराग व आदर बुद्धि ही नामाश्रय कहलाता है और नामाश्रय होकर भजनादि अनुष्ठित होने से आश्रित के पालक श्रीनाम ही की कृपा से अपराधादि अमङ्गल के होने की सम्भावना नहीं रहती। इस विषय में पहले भी कहा जा चुका है।

अब यह एक बात कुछ स्थिर भाव से सोचने पर समझ में आ ज वेगी कि प्रेम-धर्म के प्रवर्तक श्री चैतन्य के प्रगट लीला-काल में उनकी अति आश्चर्य और अस्वाभाविक कृपा वैशिष्ट्य से उस समय अपराध की भी बाधा न रहने से नाम ही प्रेमोदय का कारण होकर उसके द्वारा सर्वजीव के उद्धार की बात पहले अवगत हो चुकी है।

उनके अप्रकट काल में स्वाभाविक नियम से नामापराध और उसकी अनर्थकारिता विद्यमान रहने पर भी पूर्वोक्त भजन शीलगण प्रायः सभी कृष्ण नामपरायण अर्थात् नामाश्रित थे। उन लोगों के भजन पथ में अपराधादि रूप विघ्न अवरोध करने से समर्थ न थे। इसलिये उन लोगों को सुप्रसन्न नाम से यथाक्रम से ब्रज-प्रेम प्राप्त करने में किसी प्रबिन्धकता का सामना नहीं करना पड़ा। यह बात पूर्वोक्त आलोचना से समझ में आ सकती है।

आगत प्रायः प्रेम युग के अम्युदय की सूचना, असमय विदायोन्मुख कलिकर्त्तक अन्तिम प्रभाव विस्तार।

वर्तमान युगधर्म के वैशिष्ट्य की भांति वर्तमान युग का भी वैशिष्ट्य यही है कि असाधारण कलियुग की तरह इसके चार लाख ३२ हजार वर्ष कालस्थायी न होकर अदूरभविष्यत में ही इसका अवशिष्ट काल व्यापी—वर्तमान विश्व का प्रधान आकांक्षित जो है—उसी एक परमाशान्ति रूप प्रेम युग का या विश्व व्यापी एक प्रेमधर्म का अभ्युत्थान होगा। यही कारण है कि यह युग असमय विनिष्क्रान्त हुआ जाता है। इसीलिये इसके इस अतिअल्प अवशेष कालमें कलि का समुदय प्रभाव एकीभूत होकर निर्वाणोन्मुख प्रदीप जिस प्रकार एक बार शेष उद्दीप्त होकर निर्वापित होता है उसी तरह वर्तमान कालका यह अन्तिम प्रभाव सर्वत्र ही पूर्णरूप से परिव्याप्त और परिलक्षित होने पर भी, इसके द्वारा इसके विदा होना का लक्षणही सूचित होता है, इसलिये हम लोगों के लिये वर्तमान समय कल्प के मध्य में आगत प्रायः एक परम् सुदिन को पीछे करके असमय निर्गत प्रायः कलिकृत एक परम दुर्दिन है। इस विषय की आलोचना का अवकाश यहाँ न होने से हमारे वक्तव्य विषय के समर्थन में उस विषय का इंगित मात्र प्रदर्शन किया जाता है।^१

१. ग्रन्थकार कृत 'जीवेर स्वरूप और स्वधर्म' पुस्तक का परिशिष्ट देखना चाहिये।

वर्तमान समय में भजन पथ में नामापराध का संचार कलिप्रभाव कृत है।

यही कारण है कि पहले की अपेक्षा परवर्ती काल में क्रमवर्द्धमान कलि का प्रभाव प्रायः चरम सीमा के सन्निकर्षित होने से वर्तमान अध्यात्मिक जगत के लिये तत्कृत प्रधान अनर्थकारिता हो रहा है,—वह यह है कि सृष्टि की परम सार्थकता जिसमें है उस प्रेमधर्म के भजन पथ को अपराधादि बढ़ा कर अपराध करवाना। तभी तो देखा जाता है कि श्री चैतन्य चन्द्रामृतकार वर्णित 'कालः कलिर्वलिन इन्द्रियवैरिवर्गाः श्री भक्ति मार्ग इह कन्टक कोटिरुद्धः।' (१२५)। इत्यादि, किम्बा 'कलि घोर तिमिर गरासजल जगजन, धरम करम गेल दूर।' (श्री नयनानन्द) इत्यादि सभी महाजनोक्ति की उनके समय में वैसी सार्थकता न थी,—जैसी वर्तमान अत्युग्र कलिकृत सब अनर्थ के संघटन के विषय की भविष्यत्—वाणीरूप में सार्थकता हुयी है। अतएव वर्तमान समय में भजन पथ का प्रधान विघ्नस्वरूप जो अपराध करने की इच्छा है—उसे प्रवृद्ध कलि प्रभावकृत ही समझना होगा।

नामाश्रय से विच्युत कराना कलि की श्रेष्ठतम प्रतारणा।

केवल इतना ही नहीं अपितु जिस दुर्भेद्य दुर्ग के आश्रय में रहकर भजन अनुष्ठित होने से कलि के इस उन्मत्त रणताण्डव के मध्य में भी उसका सब आक्रमण प्रतिहत करके निर्विघ्न से भजन की सर्व कुशलता ही लाभ की जा सकती है, वही पूर्वोक्त नामाश्रय

कारिणी बुद्धि में क्रमशः विक्षेप आनयन पूर्वक उसे आश्रय से च्युत कराके उसी आश्रय हीनता के संयोग से कलि पूर्णरूप से जकड़ लेता है। इसीलिये अनेक स्थल में अङ्गी श्री नाम में आदर बुद्धि का अभाव कराकर नाम सब भजनाङ्ग के समान ही एक अङ्ग मात्र है—ऐसी समता बुद्धिके संयोग द्वारा नाम की अप्रसन्नता विधान रूप नामापराध का संचार कराकर भजन पथ की उग्र गति को निरुद्ध कर देता है। इस अपराध का विषमय फल यह होता है कि कहीं तो भजन शैथिल्य जनित निरुद्यमता ला देता है किम्बा कहीं भजन में लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि का समावेश कराकर उसे ही भजन की श्रेष्ठ सार्थकता ज्ञान करा देता है। कलियुग देवता कृत यह अनर्थसृजन वर्तमान जगत् के लिये सर्वश्रेष्ठ दुर्दैव है। यही भजन की जीवन मरण की समस्या है।

मरणोन्मुख कलिकृत इस घोर चक्रान्त जाल में निपतित न होकर अब भी यदि हम लोग विशेष भाव से नामापराध के सम्बन्ध में अभिज्ञता अर्जन कर सकें और उस विषय में सतर्कता अवलम्बन पूर्वक नामाश्रय दुर्ग के आश्रित हो सकें तो ऐसा होने से आश्रित रक्षक श्री नाम ही अपने आश्रित जनों की रक्षा हर प्रकार से करेंगे, यह सुनिश्चय है। केवल संरक्षण ही नहीं अपितु आश्रित का पालन भी करेंगे जिसके अमृतमय फल से भजन को सर्वकुशल समुदित होकर प्रेमोदय अनिवार्य ही जानना चाहिये।

केवल नामाश्रय ही कलिबाधा अपहारक।

कलि की प्रतारणा से विभ्रान्त और नामाश्रय से विच्युत होने से ही हमलोग इस प्रकार दुर्दैव ग्रस्त हुये हैं यह कहना निष्प्रयोजन है कि नाम के आश्रय में रहकर साधन भजनादि अनुष्ठित होने पर

कलि ऐसे नामाश्रित का केशाग्र भी स्पर्श नहीं कर सकता। तभी तो कलि के सब प्रकार के आक्रमण से आश्रित रक्षण में, कलिबाधा अपहारित्व महिमा विशेष में भी श्री नाम की ही प्राधान्य की बात शास्त्र में सुस्पष्टरूप से ही कीर्तित होते देखी जाती है, यथा—

हरिनाम परा ये च घोर कलियुगे नराः।

त एव कृतकृत्यश्च न कलिर्वाधते हि तान॥

(श्री हरि भक्ति विं धृत—११।१०३। बृहन्नारदीय वाक्य)

इसका अर्थ,—इस घोर कलियुग में जो सब व्यक्ति हरिनाम परायण है, वही, कृत कृतार्थ है। निश्चय ही कलि ऐसे व्यक्ति को बाधा प्रदान करने में समर्थ नहीं है। उक्त श्लोक में 'नाम परा' शब्द से नामपरायण अर्थात् नामाश्रित को ही निर्देश किया गया है। इस से यह सुनिश्चित रूप से समझ में आ जाता है कि नामाश्रयी को कलि किसी प्रकार की भी बाधा नहीं दे सकता है।

अतएव इस असाधारण कलियुग में स्वयं श्री नामी की विशेष कृपा से प्रवर्तित ब्रजप्रेम प्रद श्री नाम प्रायः सर्वजन ग्राह्य और सहजलभ्य युगधर्म रूप में आविर्भूत होकर स्वमहिमा से उत्तरोत्तर जगत् में प्रसारता लाभ कर रहा है। श्री नाम की इस व्याप्ति के विरुद्ध किसी प्रकार की बाधा डालने में लेश मात्र भी कलि में शक्ति नहीं है। किन्तु जो नाम केवल नामापराध वर्जन पूर्वक चाहे जिस भाव से हो, चाहे जिस व्यक्ति द्वारा ग्रहण किया गया हो, यथा क्रम से प्रेमोदय होने में इसयुग में किसी जीव को भी वंचित होने का कारण न था, उसी नाम को जन साधारण द्वारा बहुल भाव से ग्रहण करने पर भी—पूर्ववर्ती काल की भांति आज उस प्रकार

प्रेमोदय का लक्षण प्रायः परिदृष्ट नहीं होता! यही आज के जगत् के प्रति कलि की सर्वश्रेष्ठ प्रतारणा है और इस प्रकार कलिद्वारा प्रतारित होना ही वर्तमान युग के अति भाग्य लब्ध लोगों का सर्वाधिक दुर्दैव है।

पहले की भांति नामपरायण होकर नाम के आश्रय में न रहने से उसी आश्रय हीन अवस्था का अवसर पाकर सर्प की तरह क्रोधोन्मत्त कलि उक्त प्रकार से हम लोगों को प्रतारित और विडम्बित कर रहा है।

कलिकृत इस चकान्त जाल को छिन्न-भिन्न करके अभी भी यदि हम लोग—विशेषतः इस नाम प्रधान कलियुग में, अन्य किसी भी विषय के साथ नाम की तुल्य किम्बा न्यूनता चिन्ता न करते हुये नाम को ही सर्वश्रेष्ठ या सबों का अङ्गी समझकर आदर बुद्धि के साथ नाम करें तो यही नामाश्रय या नामपरायणता होगा! कलिकृत इस घोर संकट काल में भी यदि केवल नाम के आश्रय में रह सकें तो रुष्ट कलि से किसी आशंका का कारण नहीं रह जाता। तभी तो शास्त्र ने कलि-संकट-त्राण के लिये श्री नाम ही की प्राधान्य घोषणा करके कलिकृत त्रास से जीव को अभय दान किया है?—

कलिकाल कुसर्पस्य तीक्ष्ण दंष्टस्य मा भयम्।

गोविन्द नामदावेन दग्धो यास्यति भस्मताम्॥

(हरि भक्ति वि० धृत—११।१७३ स्कान्दे वाक्य।)

इसका अर्थ,—कलिकाल रूप तीक्ष्ण दन्तवाले क्रूर सर्प से भय नहीं है क्योंकि गोविन्द नाम रूप दावग्नि से वह दग्ध और

भस्मीभूत हो जायेगा।^१

अतएव यह सुनिश्चित है कि इस समय असमयविदायोन्मुख प्रवृद्ध कलिकृत घोर संकट के समय यदि नामाश्रय में रहकर भजन साधन निर्वाह किया जाय तो ऐसी सम्भावना नहीं हो सकती कि भजन का फलोदय न हो!

नाम परायण महत्गण का कृपाशीर्वाद ही हम लोगों के लिये नामाश्रित होने का उपाय।

क्षयोन्मुख कलिकृत इस घोरतर दुर्योग में सभी विघ्नादि की उपेक्षा करके जो सब नाम-परायण महानुभव भागवत् वृन्द आज भी पूर्ण रूप से भजनानन्द में निमग्न रहते हैं, ऐसे महानुभावों का यह भजन प्रभाव अब भी विश्व का कल्याण विधान करता है। इसलिये कलि-प्रभाव अब भी जगत् को पूर्ण विध्वस्त करने में समर्थ नहीं है। इन महानुभवों के पदांक अनुसरण से हम लोग भी श्री नामाश्रय में रहकर कलि के पराक्रम की उपेक्षा करते हुये नाम का पूर्ण फल प्राप्त करके अतिधन्य हो सकते हैं। वर्तमान कलि विडम्बिता जगत् के प्रति वह लोग यही कृपाशीर्वाद वर्षण करें—यही भजन निष्ठ महत्गण के श्री चरणांखुज में सकातर प्रार्थना है।

वर्तमान भजन पथ निर्देशक आदर्शवाणी।

कलि कुहेलिकाछन्न दिगभ्रान्त आध्यात्मिक जगत् को प्रकृष्ट

१. पूर्वोक्त श्लोक में 'हरिनाम परा' अर्थात् नामाश्रित को बात ही उक्त होने से यहाँ भी इसे नामाश्रित के पक्ष में ही समझना चाहिये।

पथ प्रदर्शन के निमित्त स्वयं श्री नामी द्वारा, विस्मृत प्राय अमूल्य शास्त्र निर्देश दिगदर्शन रूप में जनगण के सम्मुख जो संस्थापन किया गया था, वो काल-प्रभाव से क्रमशः पश्चातवर्ती होकर रह गया है। वही इस कलि घोरतिमिरावृत जगत् में कल्याणतम् निर्देश-वाणी अब फिर हम लोगों के लिये पुरोवर्तिनी होकर समुदित हो और हम लोगों के लिये पुरोवर्तिनी होकर समुदित और नाम की एक-मुख्यता के विषय में सचेतन कराकर वर्तमान साधन पथ के पथिक गण के लिये ध्रुवतारा रूप में विराजित हो!

‘हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामई केवल।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥’

(बृहन्नारदीय ३८।१२६)

हरिनाम हरिनाम हरिनामई केवल।

कलि ते नाई-ई नाई-ई नाई-ई अन्य गति,—

एक मुख्य-सर्वकारण श्री नामई सम्बल। श्री कृष्ण नाम बीज से वेदादि शास्त्र के सहित निखिल विश्व संसार का विकास हुआ है। इसलिये इसके मूल-आनुसंधान में जाने से सब अनुसन्धान श्रीनाम ही में पर्यवसान प्राप्त होते हैं। तभी तो श्री ब्रह्मा, श्री नारद, श्री व्यास, श्री शुक, श्री सूतादि, श्री भागवत सम्प्रदाय प्रवर्तक पूर्वाचार्यगण की निर्देश-वाणी का चरम विश्राम स्थल^१ यही श्री कृष्ण नाम है।

१. ‘विश्राम स्थानमेकं कविवर-वचसां—’ इत्यादि।

परिशिष्ट

इस असाधारण युग विशेष में अदूर भविष्यत में वर्तमान कलियुग अपना पूर्ण प्रभाव प्रदर्शन करके असमय अस्तमित हो जावेगा, तब साधन पथ का प्रधान विघ्न स्वरूप नामापराध भी नहीं रहेगा; इसलिये उस समय सब के लिये किसी बाधा के बिना ही श्रीनाम से यथाक्रम से प्रेमोदय एकान्त, सहज और स्वाभाविक हो जावेगा।

उस समय कलिकृत सब भेद नीति विलुप्त होकर महा मिलन के सुदृढ़ बन्धन में विश्व-मानव का हृदय एकीकृत हो जावेगा। जड़वाद की सब अपूर्णता, जड़ता का सब उत्ताप और अतृप्ति, मानव के हृदय की हिंसा—विद्वेष, अविश्वासादि सभी मालिन्य का अवसान हो जावेगा। इस सम्बन्ध में शास्त्र-प्रमाणादि सहित विस्तारित आलोचना की आवश्यकता है, इसलिये यहाँ उसका केवल इंगित मात्र साधारण भाव से किया जाता है।

आगामी सत्ययुग के पूर्ववर्ती समय तक इस सुदीर्घ काल व्यापी जगत् में एक नव युग का आविर्भाव होकर शान्तिहारा विश्व-मानव को परिपूर्णरूप में पराशान्ति का अधिकार प्रदान करेगा। यह अधिकार प्रति कल्प में केवल एक बार असमय कलि परित्यक्त इस असाधारण वर्तमान युग विशेष का ही प्राप्य विषय है। सृष्टि का चिर आकांक्षित यह परम शान्तिमय युग ही “प्रेम-युग” या “शुद्ध सत्त्व युग” होगा जो सत्युग का भी वरणीय और

वन्दनीय होगा!

कलि-प्रभाव कृत जड़वाद के विभ्रम में मानव देह और मानव आत्मा का पार्थक्य ज्ञान क्रमशः अधिकतर रूप में आवृत्त हो जाने से देहेन्द्रिय के अनुकूल वैषयिक सुख और आत्मा के अनुकूल शान्ति—इन दोनों में भिन्नता ज्ञान भी उसी परिमाण में लुप्त होने से, दैहिक सुख को ही शान्ति नाम से परिचित किया जाता है तथा कथित शान्ति के उपायरूप में जितना जड़ विज्ञान कर्तृक दिन दिन दैहिक सुख-सुविधा का अधिकतर समावेश किया जाता है, प्रकृष्ट शान्ति से मानवात्मा दिन दिन उतनी ही अधिकतर दूर होती जाती है; इसे अस्वीकार करने का उपाय नहीं है। स्थिर भाव से सोचने पर यह समझ में आ जायेगा कि आज जगत् में वैषयिक सुख के प्राचुर्य में भी उसके अनुपात में शान्ति का अभाव अनुभूत होता है। चिन्मय मानवात्मा, पारमात्मिक चिन्मय विषय में आश्रित और उसके द्वारा परिसिक्त रहने से जड़ीय बाह्य—सुखोपकरण न रहने पर भी जीव-जगत् में पूर्ण शान्ति बिराजमान रह सकती है—

**चिद् विज्ञान द्वारा इस परमाशान्ति का उपाय
अविष्कृत होगा!**

ग्रीष्म की धूलि धूसरित शुष्कता जिस तरह सहसा वर्षा की परिप्लावित सिक्तता में रूपान्तरित हो जाती है, उसी तरह अप्रत्याशित में ही काल के आवर्तन से और श्री भगवान की मंगलमयी इच्छा से वर्तमान विस्मय और विभ्रमकर जड़ विज्ञान

अपनी अन्तिम सीमा में पहुँचकर वहीं चिद्-विज्ञान की पाद पीठ में संस्पृष्ट हो जावेगा। वर्तमान जड़ विज्ञान, जड़ देहातिरिक्त आत्मा की प्रथम सत्ता को अप्रमाणित करने जाते ही चिद्-आत्मा की सुस्पष्ट प्रथक अस्तित्व प्रमाणित हो जावेगी जिसका फल यह होगा कि जड़वाद स्वयं ही अदृश्य हो जावेगा! उसकी जगह पर विश्व व्यापी चिद्-वाद—चिद्-विज्ञान की समुज्ज्वल अभिनव आलोक माला समुद्भासित हो उठेगा, जिस विज्ञान के वैज्ञानिक प्राचीन भारतीय आर्य ऋषिगण थे। तभी से विश्व मानव का मुख्य अभिप्राय अर्थात् जीवन का श्रेष्ठतम् वृत्त परमात्म वस्तु का अनुसन्धान होगा।

जीव की देह-दैहिक जड़-विषय के भेद रहने से, उससे सम्बन्धीय जो कुछ जड़ धर्म है, उनमें विभेद अनिवार्य है। किन्तु सभी जीव—सभी मानवात्मा की एकता रहने से, प्रकृष्ट जो कुछ आत्म धर्म है, उसमें भेद—कोई वैषम्य ही विद्यमान नहीं रह सकता। जिस प्रकार सभी लतिका के लिये पेड़ को अवलम्बन करने की चेष्टा स्वाभाविकी है, उसी प्रकार सभी जीवात्मा का अन्तर्निहित अभिप्राय—परमात्मा के आश्रय में—परमात्म-वस्तु की अनाबिल प्रीति के बन्धन में और उसके आलिङ्गनपाश में संबद्ध होकर अवस्थिति है। यही सब जीवों का स्वाभाविक आत्मधर्म है। जीव की यही स्वाभाविक सम अभिप्राय, देहात्मबोध से आच्छादित होकर नाना वासनाकार में प्रकाश होता है। यह आत्म धर्म—परमात्म-सम्मिलन की इस आकांक्षा में कोई भी वैषम्य नहीं है। क्योंकि इसमें वैषम्य मूलक जड़-सम्बन्ध का अभाव है। इसे चाहे

जिस नाम से या जिस भाव से निर्देश किया जाय, किन्तु सभी मानवात्मा के इस अभिप्राय में समता रहती है।

आत्मधर्म की जो चरम अभिव्यक्ति है—वह परमात्म वस्तु के परमस्वरूप का सन्धान लाभ करके उसके आश्रय में अवस्थिति और उसके आलिंगन प्राप्ति से जीवात्मा की परम परितृप्ति है। इस का ही नाम परमशान्ति है और यही आगामी प्रेम युग का सर्व जनीन अधिकार होगा जिस का दूसरा नाम 'प्रेम धर्म' है।

अपूर्ण जीव की चरम पूर्णता प्राप्ति का नाम 'प्रेम' है। उसी आगत प्राय प्रेम युग की परमशान्ति के दिन विश्वमानव के मिलित कण्ठ से शान्तिमय सुन्दर विश्व में फिर विश्वपति का जयगान अर्थात् उनका नाम कीर्तन मुखरित हो उठेगा। विश्वमानव के इस परम आत्म-धर्म का अभ्युदय मूर्तिमन्त प्रेमावतारी श्रीकृष्ण चैतन्य प्रवर्तित प्रेमधर्म की ही मूलनीति होगी।

‘प्रभु कहे आमि विश्वम्भर नाम धरि।

नाम सार्थक होय, यदि प्रेमे विश्व भरि॥

(श्री चै० १।६।५)

तात्पर्य—प्रभू ने कहा कि मेरा नाम विश्वम्भर है। यदि मैं विश्व को प्रेम से भर दूँ तो मेरा नाम सार्थक हो जाय। उनकी इस भविष्यवाणी की इसी में ही इस प्रेमयुग के अभ्युदय में ही पूर्ण सार्थकता होगी।

बीज से उसके कार्यरूप वृक्ष का विकास होता है। फिर वह वृक्ष अन्तर्हित होने के पहले बहुत से बीज भविष्य के बहुत से वृक्षों के कारण रूप में छोड़ जाता है। उसी तरह श्री गौर-लीला के समय

में नाम रूप बीज से जगत में प्रेम-विटपी का विकास कराकर उस लीला के अप्रकट में, उससे संजात असंख्य प्रेम-बीज-रूप श्री नाम, इस विश्व में व्यापक भाव से संचारित हो जाता है, जो अदूर भविष्य में अंकुरित हो उठेगा; और क्रमशः प्रेम धर्म—बहुत बड़े वृक्ष के रूप में अभिव्यक्त और व्यापक भाव से विश्व में फैलकर, वासना चंचल विश्व-मानव को सभी जड़ताप से अपनी स्निग्ध छाया में सुशीतल करके पूर्ण परितृप्ति दान करेगा। जीव की इस जड़सम्बन्धशून्य पूर्ण परितृप्ति का ही नाम 'परमाशान्ति' है। यह 'परमाशान्ति' प्रेम की सहचरी रूप में अनुगामिनी होकर रहती है। इसी में ही सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ सार्थकता होगी।

श्री चैतन्य-प्रवर्तित श्री नाम संकीर्तन से अभिव्यक्त इस प्रेम रूप परमाशान्ति को ही जीव का 'परम लाभ' बताकर, वर्तमान युग का ही प्राप्यविषयरूप में श्री भागवत में निर्देश किया गया है।

(‘नह्यतः परमो लाभो.....यतो विन्देत परमां शान्तिं—’। इत्यादि। भा० ११।५।३७ दृष्टव्य)

यही है—विश्व-मानव के प्रति भारत की पराशान्ति की शाश्वती वाणी।

‘जयति जगन्मंगलं हरेर्नाम॥’

श्री कृष्ण में समर्पित हो

वांछाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।

पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

अभिमत पत्रों से उद्धृत अंश निम्नलिखित हैं—

(हिन्दी अनुवाद)

(१)

प्रभूपाद श्रीमत् विनोद बिहारी गोस्वामी महाराज—काव्य—
व्याकरण—सांख्य—पुराण तीर्थ—भागवत वेदान्त रत्न, कालिदह श्री
वृन्दावन।

इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार की अतुलनीय मनीषा व सुनिपुण
रचना कौशल का परिचय मिलता है।

(२)

पण्डित श्रीमत् अद्वैतदास बाबाजी महाराज श्री गोवर्धन।

आपकी प्रणीत 'श्री भक्ति रहस्य कणिका' आस्वादन करके
मुझे तो यह समझ में आता है कि यह 'कणिका' नहीं है,—
कौस्तुभमणि है।

(३)

श्रीमत् हरिदास बाबाजी महाराज, कालिदह श्री वृन्दावन।

न्याय, वैशेषिक-शास्त्री-प्राच्य (नव्य न्यायाचार्य, काव्य—
व्याकरण—सांख्य वेदान्त मीमांसा—तर्क—तर्क—तर्क—वैष्णव दर्शन
तीर्थ, विद्यारत्न।

आपने कृपा करके श्री भक्ति रहस्य कणिका नामक अति

सुमधुर अनुपम ग्रन्थ भेजा जिसे पढ़कर परितृप्त हुआ।

(४)

श्रीमत् गौरागदास बाबाजी महान्तमहाराज श्री राधाकुण्ड।
आपके श्री भक्ति रहस्य कणिका नामक अपूर्व ग्रन्थ को पढ़कर
परम कृतार्थ हुआ इस ग्रन्थ में वेदादि विभिन्न शास्त्रों का सारमर्म
भक्ति का मुख्यत्व जैसा सरल भाव से समालोचना पूर्वक
प्रतिपादित हुआ है, वैसा अन्यत्र परिदृष्ट नहीं होता।

(५)

श्रीमत् प्रेमानन्द दास बाबाजी महाराज (शास्त्री) श्री राधा
कुण्ड।

इस ग्रन्थ के पढ़ने से भक्ति का निगूढ़ रहस्य अवगत हो
जाता है।

(६)

प्रभूपाद श्रीमत् प्राण किशोर गोस्वामी एम०ए० विद्या भूषण
महोदय कलकत्ता।

परम आदरणीय ग्रन्थकार महोदय ने कलियुग का एक मात्र
साधन व साध्य श्री नाम रहस्य के प्रकाश में जिस भाव से विभिन्न
क्रमावलम्बन से समालोचना विलसित किया है। वह साधक की
भावना में नवारुणोदय है।

(७)

प्रभूपाद श्रीमत् चैतन्य चन्द्र गोस्वामी महोदय (श्री गौड़ीय वैष्णव सम्मिलनी के सभापति) श्रीवास अंगन, श्री नवद्वीप।

यह 'कणिका' नहीं है—ग्रन्थ महाशूर है। इस ग्रन्थ का आद्योपान्त मधुर से सुमधुर है। आपकी कृपा से शान्ति लाभ किया।

(८)

प्रभूपाद श्रीमत् सीतानाथ गोस्वामी शास्त्री महोदय, गिरधारी कुन्ज, श्री नवद्वीप।

'श्री भक्ति रहस्य कणिका' नामक ग्रन्थ पढ़कर परम आनन्दित व उपकृत हुआ।

(९)

प्रभूपाद श्रीमत् दीनेश चन्द्र गोस्वामी भागवत शास्त्री, श्री नवद्वीप।

वर्तमान धर्मसंकट के दिनों में इस महा ग्रन्थ द्वारा जीव का अशेष कल्याण साधित होगा। ग्रन्थ पढ़कर मन में आता है, कि ग्रन्थकार ने जो कुछ लिखा है वह साक्षात् अनुभूति के बिना केवल शास्त्र ज्ञान या पांडित्य से संभव पर नहीं है।

(१०)

डा० श्रीयुत् राधा गोविन्द नाथ, एम०ए०डि—लिट, विद्या—

वाचस्पति, भक्ति सिद्धान्त भास्कर महोदय कलकत्ता।

आपकी कृपा का दान 'श्री भक्ति रहस्य कणिका' पाकर मस्तक पर धारण किया। पढ़कर विशेष उपकृत और आनन्दित हुआ। ग्रन्थ वास्तव में अति उपादेय हुआ है।

(११)

श्रीयुत् वंकिमचन्द्र सेन, भक्ति भारती भागीरथी महोदय (भूतपूर्व 'देश' के सम्पादक) कलकत्ता।

आपका कृपा प्रदत्त ग्रन्थ शिरोधार्य करके कृतार्थ हुआ। ग्रन्थ पढ़ने से प्रत्येक पृष्ठ में परम् विद्या की उपलब्धि होती है और शरीर व मन पुलकायमान हो जाता है पुनः पुनः पढ़ने पर भी पिपासा की निवृत्ति नहीं होती।

(१२)

पंडित प्रवर श्रीयुक्त सुन्दरानन्द विद्याविनोद महोदय, सिंथि कलकत्ता।

'श्री भक्ति रहस्य कणिका'—प्रसाद आस्वादन करके 'परम लाभवान' (भा० ११।५।३७) हुआ। ग्रन्थ का प्रत्येक विद्या वस्तु, विचार विश्लेषण चिन्ता शैली, सदगति सिद्धान्त यहाँ तक कि प्रत्येक वाक्य व शब्द एकान्त अनुभव सिद्ध परम श्रौतभाव-रसगर्भ मौलिक प्रतिभा का प्रकृष्ट निदर्शन है।

(१३)

श्रीमत् रामेश्वर मादुरी महोदय अध्यापक, मोपालपुर, पावना।

जो लोग शास्त्रज्ञ सुपंडित उच्च अंग्रेजी शिक्षित, जागतिक ज्ञानपिपासु, साहित्याभोदी और नाना शास्त्र पारदर्शी है, वह भी यदि निरपेक्ष भाव से इस ग्रन्थ की आलोचना करेंगे जिसमें सर्वशास्त्र मीमांसा भगवत कृपा लब्ध अगाध और असाधारण मनीषा का प्रकाश हुआ है तो वह लोग मुग्ध हुये बिना न रह सकेंगे।

संवाद पत्रों व सामयिकी पत्रिकाओं की समालोचना से उद्धृत अंश निम्नलिखित हैं—

(हिन्दी अनुवाद)

उज्जीवन .

इस पुस्तक में ग्रन्थ कर्त्ता, की ऐकान्तिक निष्ठा, प्रगाढ़पांडित्य और कुशल रचना शैली का समावेश परिदृष्ट होता है।

युगान्तर

इसमें जीव के परमप्रयोजन और परमाशान्ति का संधान दिया गया है। केवल संधान और गवेष्णात्मक विश्लेषण ही नहीं वास्तव वस्तु के साथ साक्षात् परिचय वस्तु लाभ और वस्तु सिद्धि का सहजतम् और उपाय भी सुविदित किया गया है। यह ग्रन्थ भक्ति व तत्त्वपिपासुगण का विशेष उपकार करेगा।

The Hindustan Standard

The book under review is from the pen of distinguished scholar and devout Vaishnav, who has already made name by his previous works. It mainly deals with all per vading sepremacry of Sri Krishna, Srimad Bhagwat, God name and unparalleled significance of Bhakti.

By his arguments citation of simple and popular examples and supporting slokas from Shastras the author has been able to dispel all suspicion to the satisfaction of devotees.



